पर अवलम्बित है, जो कभी कपोत से पृथक् नहीं होती। किन्तु मानव की स्थानानुगति 'संस्कार' पर अवलम्बित है। अतएव संस्कारों के अस्तव्यस्त होते ही मानव दिग्भ्रान्त हो जाता है। अतएव मानव अपने प्राकृत-स्थानों का अतिक्रमण कर बैठता है।

३५—पश्वादि की अपेक्षा से मानव की प्राकृत अपूर्णता, एवं विधि का विचित्र विधान—

न केवल पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि ही। अपितु प्रकृति के ही अवयवभूत, प्रकृति के द्वारा ही सञ्चालित नियन्त्रित प्राणात्मक असुर-देवता-पितर-गन्धर्व-अप्सरा-आदि इतर प्राकृत सर्ग भी स्व-स्व-प्राकृत क्षेत्रों से पूर्ण बने रहते हुए कदापि अपनी प्राकृत-सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करते, जबकि मानव * अतिक्रमण कर जाता है। और यही मानव की प्रकृति-निबन्धना अपूर्णता है, एवं मानवेतर यच्चयावत् प्राकृत प्राणों, तथा प्राणियों की प्रकृतिनिबन्धना पूर्णता है। और कैसा है यह विधि का विचित्र विधान, जिसने मानव जैसी श्रेष्ठविभूति को तो बनाया है प्रकृत्या अपूर्ण, एवं मानवापेक्षया कहीं अवरकक्षा में प्रतिष्ठित इतर प्राणियों को बनाया है प्रकृत्या पूर्ण।

३६—दिग्देशकालात्मिका प्रकृति से सीमित-नियन्त्रित-मनःशरीरमात्र प्राकृत प्राणियों का कामभोगात्मक 'जायस्व-म्रियस्व' मूलक समस्त जीवनेतिवृत्त—

दिक्-देश-कालात्मिका प्रकृति से सीमित, नियन्त्रित, एवं प्रकृति से ही सञ्चालित मानवेतर समस्त प्राणिवर्ग का एकमात्र महान् पौरुष (प्राकृतभाव) है-प्रकृति के क्रोड़ में उत्पन्न होजाना, प्रकृति के द्वारा जब भी, जो भी, जिस समय भी, जैसे भी, मिल जाय, उस से अपने प्राकृत स्वरूप को व्यक्त रखना, नहीं मिलने की दशा में, अथवा तो मात्स्य-न्यायानुसार किसी प्रबल प्राणी से कालग्रास बन जाना, और यों दिक्-देश-काल-सीमा-में हीं अपना सबकुछ समाप्त कर लेना।

३७—तत्समानधर्म्मा-आत्मबुद्धिविस्मृत, मनःशरीरमात्रपरायण, कामभोगानुगत, प्रत्यक्षवादी लोकायतिक मानव—

यदि मानव का स्वरूप भी ऐसा ही है, तो उस लोकचतुर प्राकृत-बुद्धिमान् का जीवन भी प्रशस्त ही माना जायगा, जो छल से, बल से, मायाचार से, तस्करवृत्ति से, पिशुनता से, अर्थगृध्नुता से, हिंसा से, परस्वापहरण से, येन केनाप्युपायेन आक्रान्त बन कर अपने प्राकृत मनः-शरीर-स्वरूप का भरण-पोषण करता हुआ कालान्तर में कालकवलित ही होजाता है अपने इसी प्राकृत स्वरूप से। ऐसा लौकिक-प्राकृत-मनःशरीर-धर्म्मा मानव ही 'लोकायतिक' वह मानव कहलाया है, जिस की दृष्टि में इस के वर्त्तमान मनःशीरात्मक भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त मानव की और कोई स्वरूपव्याख्या नहीं है। अतएव जिस की दृष्टि में शरीर के

*-नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः। मनुष्या एवैके--अतिक्रामन्ति।
—शतपथब्राह्मणे

भस्मसात् होने के साथ साथ मानव, और उसकी मानवता, मानवधर्म्म, आदि आदि सभी कुछ समाप्त हैं इतर प्राणियों की भाँति।

३८—भस्मान्तशरीरवादी अनात्मवादी-प्राकृत मानव का दिग्देशकालात्मक 'यथार्थवाद', एवं तद्द्वारा 'आदर्श' की उपेक्षा—

ऐसे भस्मान्तशरीरवादी प्राकृत–मानव यदि सुख सुविधा के लिए ऋण कर कर के घृतपान भी कर लेते हैं, तो इसमें भी ये अपना कौशल–चातुरी ही मानते हैं। क्योंकि आत्मानुगत–सांस्कारिक पुण्य का, एवं तदनुबन्धी परलोक का अस्तित्त्व ही नहीं है (पशुओं की भाँति) इन की भी दृष्टि में ÷। अतएव ऐसे महान् ? मानवों की दृष्टि में न जिज्ञासा का महत्त्व, न समाधान का महत्त्व। अपनी इसी प्राकृत–पशुवृत्ति का नाम रख रक्खा है इन्होंनें 'यथार्थ'। एवं मानव के कालातीत वास्तविक आत्मस्वरूप को 'आदर्शवाद' मानते हुए उस से विषधर सर्पवत् ये अपना परित्राण ही किए रहते हैं। अतएव इन की दृष्टि में अप्राकृत आदर्शभाव (आत्मभाव) काल्पनिक है, एवं प्राकृत–कल्पित–यथार्थ वास्तविक है।

३९—यथार्थवादी प्राकृत मानवों के पशुसमतुलित प्राकृत--जीवन की अपेक्षा 'जन्मान्तर' रूप असमभाव, एवं तदपेक्षया इन का निःसीम उत्पीड़न—

और सबकुछ तो ठीक ठीक समन्वित है इन का पशुओं के साथ। अन्तर केवल यही है ऐसे शरीर–धर्म्मा प्राकृत मानवों, तथा पश्वादि प्राकृत प्राणियों में कि, पश्वादि प्राणी जहाँ शरीरावसान के साथ ही जन्म–मृत्यु–द्वन्द्व से मुक्त होकर अव्यक्ता प्रकृति में विलीन होजाते हैं, वहाँ प्राकृत मानवों को पुनः पुनः यमपाश से आबद्ध होते रहना पड़ता है। क्योंकि इन में प्रकृति से पर अवस्थित वह आत्मभाव भी समन्वित रहता है, जिस से सम्बन्ध रखने वाले संस्कारों से इनका परित्राण कथमपि सम्भव नहीं है।

४०—आत्मलोकशून्य मानव की उभयलोकशून्यता का दिग्दर्शन—

यों आत्मलोकशून्य लोकायतिक प्राकृत मानव इस लोक में कब–कितना सुख कैसे कैसे जघन्य उपायों से भोगने में समर्थ ? बनते ? हैं ?, इस वर्त्तमानदिशा के अतिरिक्त इन्हें उन प्रचण्डतमा घोरघोरतमा 'यामी' यातनाओं से भी निरतिशयरूपपेण आर्त्त बनते ही रहना पड़ता है निरन्तर, जिन के आंशिक स्वरूप–बोध से भी प्राकृत–मानवों का कल्पित–यथार्थतामूलक व्यामोहन क्षणमात्र में धूलिधूसरित बन सकता है *। सचमुच

÷ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
—नास्तिकशिरोमणिर्बृहस्पतिः

* अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोकः, नास्ति पर–इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
—कठोपनिषत् १।२।५,६,।

यदि प्राकृत मानव के साथ दुर्भाग्यवश यह सांस्करिक-'साम्परायभाव' नहीं होता, यदि सचमुच भस्मान्त-दशामें इस का पश्वादिवत् सबकुछ निःशेष हो जाता, तो इस से बड़ा उत्कृष्ट पशु संसार में और कोई भी न होता।

४१-'संस्कार' रूप दुर्भाग्य से प्राकृत मानव की 'श्रेष्ठपशुरूपतापरिणति' में महान् प्रतिबन्ध—

किन्तु इस की सांस्कारिताने दुर्भाग्यवश प्राकृतता के क्षेत्र में भी इसे पशुश्रेणि से भी निम्नश्रेणि में ही ला खड़ा किया है। जबकि पशु वधिक के द्वारा एक ही बार निःशेष कर दिया जाता है, किंवा किसीप्रबल पशु से एक ही बार समाप्त कर दिया जाता है, किंवा यथाकाल स्वयं ही एक ही बार में सदा के लिए समाप्त हो कर भवबाधा से, जन्ममृत्युचक्र से मुक्त हो जाता है, वहाँ प्राकृत मानव वर्त्तमान जीवन में भी सबल प्राकृत मानवों के द्वारा अनुदिन पीड़ित-क्षतविक्षत-आर्त्त-बनता रहता है, किंवा प्रबल के द्वारा मार भी दिया जाता है, किंवा शरीर छोड़ भी देता है, तब भी इस के संस्कार इसे पुनः पुनः जन्म-मृत्यु-पाशों का अनुगामी बनाते रहते हैं। इससे बड़ा और क्या दुर्भाग्य होगा इस लोकायतिक-लोकचतुर-प्राकृत-बुद्धिमान् मानव का, जिसने अपनी सम्पूर्ण जीवनपद्धति को प्रकृति के अनुसार चलाने में ही महान् गौरव-मान लिया है। जिस की दृष्टि में दिग्-देश-कालात्मिका क्रमबद्धा प्राकृतिकी व्यवस्था ही मानव के लिए सर्वस्व बनी हुई है।

४२-तत्त्वमीमांसक दार्शनिकों से समतुलित भूतासक्त वैज्ञानिक-मानव-श्रेष्ठों के भूत-मन्थन--द्वारा सुख-सुविधा के नाम पर विश्वसंहारक कालकूट-हालाहल का सर्ज्जन, एवं तद्द्वारा विश्वशान्ति का विकम्पन—

दूसरा विभाग दार्शनिक मानव का आता है, जिस के महान् चिरन्तन इतिहास का निबन्ध के तृतीय-खण्ड में विस्तार से उपबृंहण हो चुका है। तीसरा शेष रह जाता है भूतवैज्ञानिक-विज्ञानधुरीण आज का वह मानवश्रेष्ठ, जिसने प्रकृति के मन्थन-द्वारा प्रकृति के क्रोड़ से उसीप्रकार हालाहल आविर्भूत कर ही तो डाला है सुख-सुविधा-अनुकूलता-आदि नामच्छलों के माध्यम से, जैसे कि समुद्र-मन्थन-द्वारा किसी समय अराल-समुद्र से भौम मानवदेवासुरोंनें हालाहाल विष उत्पन्न कर लिया था, एवं आगे चलकर अपनी इस भूल की उपशान्ति के लिए इन्हें पुनः उसी ज्ञानाधिष्ठाता महान् शिव की शरण लेनी पड़ी थी। एवं सृष्टिस्वरूपसंरक्षक भगवन् शङ्कर की ज्ञानग्रीवा में हालाहल के निबद्ध हो जाने से ही मानववंश का सन्त्राण हो सका था।

४३-दिग्देशकालातीत महाकाल-कालेश्वर मायी महेश्वर की आत्मग्रीवा में नियन्त्रित हालाहल की उपशान्ति से ही विश्वस्वरूप का संरक्षण, एवं भूतवैज्ञानिक के भूतविज्ञान की जिज्ञासा-समस्या-समाधान में असफलता—

अवश्य ही जबतक इस संहारक विज्ञानहालाहल को ज्ञानात्मक महादेव की ग्रीवा में * निबद्ध नहीं कर दिया जायगा, दूसरे शब्दों में जबतक इस कालक्रम-व्यवस्था-नुगत क्षणिक विज्ञान को प्रकृत्यतीत आत्म-

* —ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्

ज्ञानाधर पर प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जायगा, तबतक यह अपने स्वतन्त्र इस वर्त्तमान–प्राकृत–भौतिकरूप से तो प्राकृत मानवों की लोक–वित्तैषणाओं को अनुदिन प्रज्वलित करता हुआ अपनी संहारशक्ति का ही प्रसार करता जायगा, एवं इस संहारशक्ति को आवृत करने के लिए विज्ञान के आविष्कर्त्ता ये वैज्ञानिक-मस्तिक **'मानव की अनुकूलता, थोड़े समय में सुख–सुविधा'** आदि प्रतारणापथों के माध्यमों से अनुकूलतावादी प्राकृतमानवों को उत्तरोत्तर अपनी ओर अधिकाधिकरूप से आकर्षित ही करते जायँगे। अतएव च कदापि ऐसा वैज्ञानिक–मस्तिष्क भी मानव की पूर्वकथिता **'क्या खाते–पीते–ऐन्द्रियक–भोग भोगते हुए मर जाना हीं मानव का एकमात्र स्वरूप है ?'** इस जिज्ञासा का समाधान–समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होता रहेगा।

४४–प्रतीकात्मक भौतिक दृष्टान्तों को सिद्धान्त मान बैठने वाले दार्शनिक की, लोक–चतुर प्राकृत-बुद्धिमान् की, तथा भूतवैज्ञानिक की दिग्देशकालातीत आत्मभाव के प्रति अनास्था, एवं इस वर्गत्रयी के द्वारा मानव की सहज जिज्ञासा से आत्यन्तिक-तटस्थता—

न तो प्राकृत–लौकिक–बुद्धिमान् मानव ही हमारी इस आस्था पर अपने प्रक्रान्त जीवन में विश्वास करेगा, न वह भूतवैज्ञानिक ही, जिसे अपने अणुवीक्षणयन्त्रों के माध्यम से सृष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार का दम्भ हो गया है। एवं अपने इस यान्त्रिक परीक्षण में इस तत्त्वद्रष्टा ? वैज्ञानिक को यन्त्रलक्षीभूत अणुओं के पर्व–पर्व का विशकलन कर लेने पर भी भूतप्रकृति से अतीत कोई वैसा * अचिन्त्य अभौतिक तत्त्व आजतक उपलब्ध ही नहीं हुआ है चर्म्मचक्षुओं से। फिर भला वह अपने इस प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान की मान्यता के विपरीत, इस भातिसिद्ध जगत् के विपरीत उस शुद्ध सत्तासिद्ध किसी वैसे कालातीत–विश्वातीत तत्त्व के प्रति आस्था कर भी कैसे सकता है ?। अतएव लौकिक, तथा वैज्ञानिक को, और साथ ही प्रतीकात्मक दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठने वाले, अचिन्त्य आत्मतत्त्व को ज्ञानाधिकरण मान बैठने वाले आचारशून्य दार्शनिक को सचमुच हमारी नहीं, अपितु मानवमात्र की सहजसिद्धा अबुद्धिपूर्विका जिज्ञासात्मिका इस समस्या पर अपने जीवनक्षणों में कदापि विश्वास न हो सकेगा कि,–**"अपनी मरणवेला में, अथवा तो प्रकृति के किसी भयानक आघातक्षण में जीवन वेला में हीं, अथवा तो जन्मान्तरीय किसी पुण्यसंस्कारोदयक्षणों में सहसा पूर्वाविचारित रूप से ही यह जिज्ञासा हो ही तो पड़ती है कि-अरे क्या मैं इसीलिए उत्पन्न हुआ था ?। मैं कहाँ से आया ?, क्या किया मैंनें आकर ?, और अब क्या होगा मेरा ?"**।

४५--जड़विज्ञानरत भी मानवश्रेष्ठों में आत्मानुगता मानवता की क्षणिक अभिव्यक्ति से 'मानव' की कालातीता मानवता के सम्बन्ध में क्षणिक उद्बोधनोदय—

सर्वथा लौकिक, एकान्ततः जड़विज्ञानरत भी प्राकृत मानवों के जीवन में अवश्य ही वैसे पुण्यक्षण भी कभी न कभी आते ही हैं, जिन में उन्हें भी विवश हो कर अपने वर्त्तमान–प्राकृत–भौतिक जीवन के प्रति

---

*-प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।

सहसा स्वतः ही क्षोभ हो पड़ता है। और उन पावन-क्षणों में ये प्रकृतिविमूढ भी मानव अपनी सहजसिद्धा आत्मनिष्ठा के अनुग्रह से सहसा उन समस्याओं के चिन्तन के लिए व्यग्र हो पड़ते हैं, जिस चिन्तनधारा का प्राकृत-पशुजगत् से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। **कैसे यह विश्व बना ?, इस महतो महीयान् विश्व का कारण कौन होगा ?, 'अहं' नामक 'मैं' पदार्थ कहाँ से, कैसे आविर्भूत हो पड़ा ?, आविर्भूत 'अहं' कैसे अमुक अवधिपर्य्यन्त व्यक्तभाव का अनुगामी बना रहता** (जीवित रहता) **है ?, कहाँ, किस पर हम, और यह विश्व प्रतिष्ठित है ?,** इत्यादि जिज्ञासात्मक प्रश्न (जिसे वैदिक परिभाषा में **'सम्प्रश्न'** कहा गया है) अवश्य ही कभी न कभी सभी श्रेणियों के मानवों में आविर्भूत हो ही तो पड़ते हैं *, और उस स्थिति में प्राकृत मानवों की सम्पूर्ण लोकचातुरी, सम्पूर्ण, विज्ञानगर्व क्षणमात्र में शरदभ्रवत् इन के मानस में हीं विलीन हो जाता है ÷। मानव अन्ततोगत्वा मानव ही है। और 'मानव' जैसा मानव कदापि दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृत-व्यवस्थाओं की सीमा में हीं अपने इस महतो महीयान् मानवस्वरूप को परिसमाप्त नहीं कर देना चाहता। अपितु वह इस प्रत्यक्षदृष्ट-श्रुत-उपवर्णित-भुक्त-भोग्य-प्राकृत जगत् से ऊपर उठ कर भी कुछ जानना चाहता है, और जानना चाहता है सर्वप्रथम वह अपने इस **'मानवस्वरूप'** को ही।

४६-दिग्देशकालात्मक-प्रकृतिसिद्ध महान् भूतव्यामोहन से मानवतानुबन्धी क्षणिक आत्म-बोधोदय की उत्तर क्षण में अन्तर्म्मुखता, एवं मानव का 'प्रकृतिविजयात्मक'-काल्पनिक व्यामोहन —

किन्तु इसकी इस सहज-स्वरूपबोध-जिज्ञासा में इसका पशुसमतुलित प्राकृत-भौतिक-स्वरूप (मन, और शरीर) ही प्रतिबन्धक बना रहता है। शरीरानुगता भोगासक्ति, एव मनोऽनुगता कामासक्ति, इन दोनों का महान् प्राकृत व्यामोहन ही इसे इसके दिग्देश-कालातीत-नैष्ठिक-पूर्णस्वरूप की जिज्ञासा को पुष्पित-पल्लवित नहीं होने देता, नहीं होने देता ×। इस ओर कामभोगपरायणता-मूलक, मनःशरीरानुगत महान् प्राकृत व्यामोहन,

---

***- किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाताः, जीवाम केन, क्व च सम्प्रतिष्ठाः ॥**
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥
कालः, स्वभावो, नियति, र्यदृच्छा, भूतानि, योनिः पुरुषेति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखः-दुखः-हेतोः ॥२॥

—श्वे० उप० १।१,२,।

÷—सुनते हैं—सुप्रसिद्ध अमेरिकन वैज्ञानिक महाभाग सर्वश्री **आइन्स्टीन** को अपने मरणकाल से कुछ ही समय पूर्व भौतिकजगत् से परे की किसी अचिन्त्या शक्ति की ओर आकर्षित कर लिया था।

×-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः काम-भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।

—गीता-१६।१६।

और उस ओर की चिन्तन–धारा से सर्वथा ही असंस्पर्श, इसी विषमता से मानव अपने अप्राकृत 'मानव' के स्वरूप-संस्मरण से भी पराङ्मुख बना रह जाता है। और इसी पराङ्मुखता के निग्रहात्मक अनुग्रह से अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप कल्पित 'मानव-व्यक्तित्व' के संरक्षण के लिए आतुर बने रहने वाले इस प्राकृत बुद्धि–मान् मेधावी मानवश्रेष्ठ का सम्पूर्ण बुद्धिबल क्रम–व्यवस्थानुगत–काल–दिक्–देश–भावों से अनुप्राणित प्राकृत–भूत–भौतिक–पदार्थों के अन्वेषण–व्यवस्थापन–में हीं परिसमाप्त हो जाता है, और इस महान् व्यामोहनात्मक बुद्धिवाद को ही यह मान बैठता है **'प्रकृति पर मानव का विजय'**, जब कि स्थिति है इससे सर्वथा ही विपरीत।

४७–पुरुषविहीना प्रकृति के सहज क्षोभ की अनन्तता, तद्द्वारा तन्मात्रासक्त प्राकृत मानव पर 'प्रकृति का महान् विजय', एवं कल्पनाविभोर प्राकृत मानव की काल्पनिक–क्षोभपरम्पराएँ —

पुरुषविहीना यह प्रकृति, ज्ञानप्रतिष्ठा–वञ्चित यह भूतविज्ञान तो अपने वैविध्य से विविध–ज्ञानात्मक–बनता हुआ कभी विश्राम ले ही नहीं सकता। नानाविज्ञानभावान्विता नानाप्रकृति तो बुद्धि के शान्ति–स्वस्ति–स्थिति–लक्षण एकत्व को सर्वथा अन्तर्मुख ही बना देती है। **और यही प्रकृति का प्राकृत मानव पर विजय है।** अनन्त (असंख्य) विस्तार है इस विविधं–ज्ञानं–लक्षणं–'विज्ञानम्' का, एवं तन्मूला प्रकृति का, जिसका अंशात्मक प्राकृत मानव कदापि उसकी इयत्ता का मापदण्ड कर ही नहीं सकता। कभी इसे पार्थिव विवर्त्त अपनी ओर आकर्षित करते हैं, ग्रह-नक्षत्र आकर्षित करते हैं, कभी यह चन्द्रलोक के स्वप्न देखता है, तो कभी नवीन प्रजोत्पत्ति की (तत्त्वसंमिश्रण के आधार पर) कल्पना में विभोर बना रहता है।

४८–मयासुरादि प्राकृत वैज्ञानिक मानवों के द्वारा प्रकृति की सीमा में प्राकृत–सुख–स्वप्नों की सफलता, एवं वारुण-असुरों के द्वारा त्रैलोक्य–विजय—

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, इसके ये स्वप्न साकार नहीं होते। हो सकते हैं, निश्चयेन हो सकते हैं। मयासुरादि पूर्व मानवोंनें ऐसे स्वप्न साकार किए भी हैं, जिन्होंनें प्रकृतिविज्ञान के आधार पर नवीन चन्द्र-सूर्य्य बना डाले हैं। ब्रह्मास्त्र-वरुणास्त्र-आग्नेयास्त्र-जैसे विश्वविनाशक **दिव्यास्त्रों** की गुणगाथा से तो महाभारतप्रेमी सुपरिचित हैं हीं। प्रकृति के कालानुबन्धी दिग्देशानुगत निश्चित परिमाणों के बोध, तथा

मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः॥
—गीता ६।१२।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
—गीता ७।२५।

समन्वय-सम्मिश्रण से प्रकृति की सीमा में प्राकृत-मानव सभी स्वप्न पूरे कर सकता है, त्रैलोक्यविजयी बन सकता है। फिर क्या हुआ ?। क्या एतावता ही इसने प्रकृति के अवारपारीण अनाद्यनन्त स्वरूप पर विजय प्राप्त करली ?। क्या इन प्राकृत-विजृम्भणों के मूल्यदान से मानव सहज शान्ति-तुष्टि-समृद्धि का एकांश भी क्रीत कर सकेगा ?। असम्भव। सर्वथा असम्भव। प्रकृति का यह अन्वेषण, यह विजृम्भण तो मानव की एषणाओं को प्रवृद्ध करता हुआ किसी दिन '**महाभारत**' का ही पुनरावर्त्तन कर सकता है, जिस भय से आज का विज्ञानजगत् प्रतिक्षण विकम्पित होता जा रहा है अपनीं हीं इन विज्ञानविभूतियों ? से। तभी तो हमने निवेदन किया कि, यह सब अकाण्ड-प्राकृत- ताण्डव प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं है, अपितु यह तो उत्तरोत्तर प्रकृति से पराजित ही होना है।

४९–प्रकृति से सर्वात्मना आवृत भूतविज्ञान की प्रकृतिविजय में नितान्त असमर्थता, एवं कालातीत, प्रकृत्यधिष्ठाता अव्ययात्मा से ही सम्भावित 'प्रकृतिविजय'—

प्रकृति को सर्वात्मना आवृत कर लेना हीं प्रकृति पर विजय माना जायगा। विज्ञान जब स्वयं प्रकृति से आवृत है, प्रकृति के स्वल्पतम एकाणु–अंश में सीमित है, तो यह कैसे उस महान् प्राकृत विवर्त्त पर विजय-लाभ कर सकता है ?। प्रकृति को क्रोड़ में रखता है बुद्बुदवत् वह अनन्त अव्ययब्रह्म–'**सर्वमावृत्य तिष्ठति**'। वही प्रकृतिविजेता माना गया है, जिसके यत्किञ्चिदंश में हीं प्रकृति विराजमाना है। कालातीत अव्यय-ब्रह्म ही काल–दिक्–देशात्मिका प्रकृति का विजेता है, वही मानव के प्राकृतस्वरूप को नियन्त्रित रख सकता है, वही मानव को प्राकृत व्यामोहनों से बचा सकता है। और वही है मानव का वास्तविक स्वरूप, जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति से ही मानव परिपूर्ण बन रहा है, जिस परिपूर्णता का प्राकृत मानव कदापि साक्षात्कार नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। अतएव कदापि ऐसे पुरुषवञ्चित प्रकृतिमानव का प्राकृत दुःखों से परित्राण सम्भव ही नहीं है।

५०–चन्द्रलोक में गमनातुर भूतवैज्ञानिक की चान्द्रसुख-कामना, एवं तदनुगता सौरलोक-पारमेष्ठ्य-लोकादि-लौकिक-सुख-समृद्धि-परम्पराओं का श्रौत इतिवृत्त—

क्या प्राकृत मानव चन्द्रलोक में पहुँच कर भी सुखी नहीं हो जायगा ?। बस, क्या यहीं पर मानव ने अपनी कल्पना समाप्त करली ?। ऐसे असंख्य चन्द्रमाओं को बुद्बुद्वत् स्वमण्डल में प्रतिष्ठित रखने वाले सूर्य्य-संस्थान को उदाहरण बना लीजिए। ऐसे अनन्त–असंख्य–सौरमण्डलों को स्वमहिमामण्डल में अणुवत् गर्भीभूत रखने वाले पारमेष्ठ्य महासमुद्र पर पहुँच जाइए। और यही क्यों–ऐसे असंख्य पारमेष्ठ्य धामों को स्वसीमा में प्रतिष्ठित रखने वाले स्वयम्भू नामक आकाश को ही अपना आवासस्थान बना ही तो डालिए, जिससे बड़ा प्राकृत विश्व में और कोई दूसरा प्राकृत क्षेत्र तो नहीं है। कहिए ! है न यह आकाशात्मा स्वयम्भू तो आप के स्वप्नस्थानीय चन्द्रमा से कहीं 'महतो महीयान्' ?। यदि इस परम–महान्–स्वायम्भुव आकाशलोक में पहुँचने मात्र से भी आप की प्राकृत–भूत–सुख कामना पूरी न हो, तो अब आप इस आकाश को उसी प्रकार अपने भौतिक शरीर के चारों ओर वेष्टित कर लीजिए, जैसे कि शीत को निवृत्त करने के लिए आप

अपने शरीर के चारों ओर मसृण (चिक्कण) मृदुतम–केशलोमसमन्वित चर्म्म का (लबादे का) वेष्टन लगा कर सुखी बन जाया करते हैं। बोलिए ! अब तो आप प्राकृत सुख की पराकाष्ठा पर पहुँच गए न।

५१–स्वायम्भुव-परमव्योम-लक्षण परमाकाशलोक, उस का चर्म्मवत् आवेष्टन, 'प्रकृति-सुख' की तदनुगता अन्तिम सीमा, एवं तत्सुखव्यामोहन के सम्बन्ध में श्रुति का मानव को उद्बोधन-प्रदान—

कहाँ चन्द्रलोक, और कहाँ आकाशलोक। और उस पर भी केवल लोक ही नहीं, अपितु आकाशलोक का भी लबादे की भाँति पर्य्यवेष्टन। अब तो कोई भी कल्पना शेष नहीं रह गई प्राकृतिक लोकसुखों की दृष्टि से। क्या इस अन्तिम प्राकृत सुख पर पहुँचने से आप अपने प्राकृत दुःखों को परिसमाप्त करलेंगे ?। असम्भव। प्रकृति की सर्वोच्चभूमिका परमाकाशात्मक स्वायम्भुव आकाश (भूताकाश)। और उस पर पहुँचने पर भी, उसे चर्म्मवस्त्रवत् अपने शरीर के चारों ओर वेष्टित कर लेने पर भी प्राकृत मानव तबतक कदापि उस आत्मानन्द की तो कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसके संस्पर्श के बिना प्राकृत दुःखों का अन्त सर्वथा असम्भव ही बना रहता है। प्रकृतिजगत् के इसी अन्तिम–आकाश–उदाहरण को लक्ष्य बना कर ही आत्मनिष्ठ ऋषिमानव ने प्राकृतमानव का ध्यान आकाशात्मा उस परमदेव–आत्मदेव की ओर ही आकर्षित किया है, जो कि मानव का अप्राकृत वास्तविक सत्तासिद्ध स्वरूप है, एवं जिसके बिना प्राकृत दुःखों का तो अवसान कदापि सम्भव नहीं है। लक्ष्य बनाइए ! उदाहरणसमतुलनात्मिका इस श्रुति को, एवं तन्माध्यम से ही अपने क्षणिक विज्ञानविजृम्भण से अनुप्राणित चन्द्रलोकात्मक–गर्व का परित्याग कर उद्बोधन प्राप्त कीजिए ! **'तमेव विदित्वा–अतिमृत्युमेति, नान्यः–पन्था विद्यते–अयनाय'**।

> **यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।**
> **तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥**
>
> —उपनिषत्

५२–मानव की प्राकृतिक अपूर्णता के तथ्य का दिग्दर्शन—

"मानवेतर पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि प्राकृत प्राणी प्रकृत्या जहाँ परिपूर्ण हैं, वहाँ मानव प्रकृत्या अपूर्ण है" इस पूर्वोक्त वाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए। क्योंकि इसी वाक्य में मानव की स्वरूपजिज्ञासात्मिका महती समस्या भी प्रतिष्ठित है, एवं समस्या का समाधान भी प्रतिष्ठित है। मानव को इसलिए प्रकृत्या अपूर्ण बतलाया जारहा है कि, यह प्रकृति के गर्भ में प्रकृति का यत्किञ्चित् अंशात्मक एकांश बन कर प्रतिष्ठित है। मानवेतर प्राणी भी इस दृष्टि से तो प्रकृत्या अपूर्ण ही माने जायँगे। क्योंकि ये भी प्रकृति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले प्रकृति के एकांशरूप ही हैं। और यों प्रत्यक्षदृष्ट्या मानव, तथा मानवेतर प्राणी, दोनों हीं विभाग प्रकृत्या अपूर्ण ही माने जायँगे। फिर किस आधार पर मानव को अपूर्ण, तथा मानवेतर प्राणीवर्ग को पूर्ण कहा गया ?, यह सहज प्रश्न है। प्रश्न का समाधान कीजिए !

५३--पशु-पक्षी-आदि मानवेतर प्राणिजगत् की जन्मसिद्धा प्रकृतिमूला प्राकृतिक-योग्यता का दिग्दर्शन—

पशु–पक्षी–आदि प्राकृत प्राणियों को अपने मनःशरीरमात्रानुबन्धी प्राकृत जीवन की आवश्यकता के लिए जो कुछ आवश्यक–अपेक्षित है, प्रकृति स्वयं ही वह आवश्यक–अपेक्षित अंश इन प्राणियों को इन के जन्म के साथ साथ ही प्रदान कर देती है। साथ ही इन के प्राकृत जीवन का समस्त उत्तरदायित्व प्रकृति स्वयं अपने देश–कालानुबन्ध–स्वरूप से वहन करती रहती है। अतएव ये प्राणी अपने उत्तरदायित्वरूप महान् संघर्षों से बचे रहते हैं। सिंह–व्याघ्रादि का अपने निवास के लिए गुहा–कन्दराओं का अन्वेषण–निर्म्माण, चिड़ियाओं का प्रजननकाल में घोंसला-निर्म्माण, सुप्रसिद्ध **'बया'** नामक पक्षी का विचित्र शिल्पाकृति से समन्वित पञ्जरनिर्म्माण, शीतप्रधान देशों के प्राणियों का प्रचण्ड–शीतकाल में स्थानान्तरित होजाना, शीतसमाप्ति पर पुनः तत्रैव चले जाना, स्व–स्व–प्रजाओं का स्व–स्व–प्रकृत्यनुसार लालन–पालन, प्राप्त-वयस्कता के अनन्तर सब का स्वतन्त्ररूपेण विचरण, आदि आदि यच्चयावत् उत्तरदायित्व प्रकृत्या ही इन प्राकृत प्राणियों में जन्म से ही विद्यमान हैं। कदापि इन के लिए किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का वैसा शिक्षा-कौशल, अभ्यास प्राप्त नहीं करना पड़ता, जैसाकि मानव को अपने जीवनीय–आचार–व्यवहारादि के लिए स्वयं पहिले तद्विषयों की बुद्धिपूर्विका शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है, सीखना पड़ता है, तब कहीं यह अपने उत्तरदायित्व–निर्वाह में समर्थ बन पाता है।

५४–मानवेतर प्राणियों की एककेन्द्रभूता प्रकृति. एवं मानव की स्वकेन्द्रानुगतता, तथा इतरप्राणियों की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, और मानव की परतन्त्रता—

सम्पूर्ण प्राणियों का केन्द्र जहाँ एक प्रकृति है, वहाँ मानव स्वयं अपना केन्द्र है। अपने केन्द्र से सञ्चालित मानव केन्द्र की प्रेरणा के बिना सर्वथा दिग्भ्रान्त बना रहता है, जब कि प्रकृति के केन्द्र से सञ्चालित मानवेतर प्राणी कभी दिग्भ्रान्त नहीं बनते। मानव प्रातः सूर्य्योदय पूर्व उठने में विलम्ब कर सकता है केन्द्रविच्युत होकर, जब कि काक–चटक-कपोतादि प्राणी नियत समय पर स्वतः ही सूर्य्योदय से पूर्व जागरूक हो पड़ते हैं। मानवेतर प्राणी प्रकृति की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने प्राकृत स्वरूप के भरण पोषण के लिए प्रकृत्या ही सङ्केतित नियत स्थानविशेषों की ओर (आहारादि के अन्वेषण के लिए) चल पड़ते हैं, जबकि केन्द्रप्रेरणया यथासमय शय्या का परित्याग करने वाले मानव को आहारादि की चिन्ता से पूर्व अनेक चिन्ताओं का अनुगमन करना पड़ता है। यों अनेक प्रत्यक्ष दृष्टियों से यह सर्वात्मना प्रमाणित है कि, मानवेतर प्राणी जहाँ प्रकृत्या सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र हैं, यथेच्छाचार–विहार–परायण हैं, वहाँ मानव प्रकृत्या ही परतन्त्र है।

५५--मानवेतर प्राणिजगत् के भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-कालों का केवल वर्त्तमानकाल में अन्तर्भाव, द्वन्द्वात्मक विधि–निषेध से इस की असंस्पृष्टता, एवं प्रकृतिप्रेरणा से ही इस जगत् की तुष्टि-पुष्टि—

प्राणी का भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान–सबकुछ यह वर्त्तमान ही है। न इस के साथ भूत का सम्बन्ध, न भविष्यत् का। अपितु जो कुछ, जैसा कुछ यह जन्म में है, वैसा ही सदा बना रहता है। ऐसे व्यवस्थित हैं

इस के प्राकृत–कार्य्यकलाप, जिन में कभी द्वन्द्वभाव का समावेश होता ही नहीं। अतएव इसका प्राकृत–निर्णय सर्वथा सुनिश्चित बना रहता है। क्या कर्त्तव्य है ?, क्या अकर्त्तव्य है ?, कब क्या करना चाहिए ?, कब क्या नहीं करना चाहिए ?, इसप्रकार का द्वन्द्वात्मक विधि–निषेध कदापि प्राकृत प्राणियों को उत्पीड़ित–क्षुब्ध–नहीं करता। अपितु इन का एक ही, निश्चित ही निर्णय होता है, और इस निर्णय के लिए स्वयं इन को कोई अध्यवसाय–तपोऽनुष्ठान–शिक्षा–व्यासङ्गादि नहीं करना पड़ता। अपितु जिसप्रकार महायन्त्र की प्रेरणा से तत्सम्बद्ध छोटे यन्त्र स्वतः सञ्चालित रहते हैं, तथैव प्रकृति के महायन्त्र से ये प्राकृत प्राणी निर्द्वन्द्वता-पूर्वक, निश्चिन्तता–पूर्वक, बिना आयास–प्रयास के, प्रकृति की प्रेरणा–अनुग्रह से स्वतः ही अपने वर्त्तमान में तुष्ट–पुष्ट बने रहते हैं।

५६–प्रकृत्यैव महद्भाग्यशाली--भाग्यवशवर्त्ती--प्राणिजगत् की पूर्णता, एवं भाग्यवाद से वञ्चित प्रकृतिपरवश मानव की अपूर्णता—

निष्कर्षतः-प्राकृत प्राणी के प्राकृत संस्थान में प्राकृत प्राणी की आवश्यकता के लिए जो कुछ ज्ञान–क्रिया–अर्थ–चाहिएँ, वे सब प्राकृत ज्ञान–क्रिया–अर्थ–प्रत्येक प्राकृत प्राणी में प्रकृति के द्वारा प्राकृत प्राणी को जन्मतः ही, बिना ही प्रयास के उपलब्ध हैं। विधि (प्रकृति) ने इनका सर्वस्व भागधेय इन के प्राकृत-स्वरूप में हीं सुरक्षित–व्यवस्थित कर दिया है। और यों प्रकृत्या महाभाग्यशाली ही प्रमाणित हो रहे हैं ये प्राकृत प्राणी। इस निश्चिन्तता का नाम हीं इन की 'पूर्णता' है, जबकि मानव इस निश्चिन्तता से वञ्चित रहता हुआ इस प्राकृत--दृष्टि से 'अपूर्ण' ही प्रमाणित हो रहा है। मानव के लिए जो कुछ अपेक्षित–आवश्यक है, वह प्रकृति से ही मानव को स्वतः ही जन्म से ही उपलब्ध नहीं होजाता। इस दृष्टि से यदि इसे भाग्यहीन–अपूर्ण–कह दिया जाय, तब भी कोई क्षति नहीं है। भाग्यवादात्मक निश्चिन्तवाद के महान् भोक्ता तो केवल प्राकृत पश्वादि प्राणी हीं माने जायँगे। जबकि अप्राकृत, किंवा प्रकृत्या अपूर्ण मानव को तो प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रेरणा से, अपने पौरुष से ही काम लेना पड़ेगा।

५७–शिक्षामाध्यम से साध्या मानव की प्राकृत--योग्यता, तदर्थ इस की छन्दोबद्धता, तदनुगता पुरुषार्थपरायणता, एवं पुरुषात्मानुगता पूर्णता से ही मानवीया परि-पूर्णता की अभिव्यक्ति—

सबकुछ प्रयासपूर्वक इसे सीखना पड़ेगा, सीख कर तदनुकूल आचरण करना पड़ेगा, अथ से इति पर्य्यन्त अपने प्राकृत–जीवन को सच्छन्दस्क-मर्य्यादित बनाना पड़ेगा, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मिका स्वैराचारपरायणता का परित्याग कर अपने आपको सर्वात्मना सुव्यवस्थित बानना पड़ेगा, प्राकृतिक व्यामोहनों से जागरूकता–पूर्वक अपना सन्त्राण करते रहना पड़ेगा, और तब कहीं इस का पुरुषार्थ सफल हो सकेगा। इस प्राकृत संघर्ष–मूलक-महान् उत्तरदायित्व के कारण हीं इसे उन उत्तरदायित्व–शून्य--सर्वतन्त्र--स्वतन्त्र--पश्वादि--प्राकृत–प्राणियों के समतुलन में अपूर्ण कहा जायगा। केवल प्रकृति से इस का कोई कार्य्यनिर्वाह न होगा, जैसेकि पशुओं का निर्वाह केवल प्रकृति से ही होजाता है। यही इस की प्राकृत–अपूर्णता होगी। अपितु इसकी यह प्राकृत अपूर्णता तो इसे अपने उस 'पुरुष' भाव (आत्मभाव) से ही दूर करनी पड़ेगी, जो पुरुषभाव मानव की प्रकृति को नियन्त्रित बनाने की क्षमता रखता है। यह पुरुषता ही इस की परिपूर्णता कहलाएगी, एवं यह पौरुष ही इस का पूर्णभाव कहलाएगा, जिस आत्मपौरुष से प्राकृत प्राणी एकान्ततः वञ्चित हैं।

५८–अनन्त-परिपूर्ण-अव्ययात्मपुरुष, तदेकांश में बुद्बुद्वत् समासीना प्रकृति, एवं पुरुषात्मापेक्षया अस्तित्व-विहीन मानवेतरप्राणी, और इनकी प्राकृतिक पूर्णतामूला भातिसिद्धता—

अनन्त-पूर्ण-है पुरुष, जिस के एकांश में प्रकृति बुद्बुद्वत् समासीना है। उस अनन्तपुरुष की अपेक्षा से इस सादिसान्ता प्रकृति का अस्तित्व 'न' के समान हीं माना जायगा। और इस दृष्टि से तो मानवेतर प्राकृत प्राणियों का कोई स्वरूप ही नहीं माना जायगा। पुरुषात्मना प्राकृत प्राणी न केवल अपूर्ण ही कहलाएँगे, अपितु केवल भातिसिद्ध ही माने जायँगे। और इस तथ्य के आधार पर अब यह कहा जायगा कि,–प्राकृत प्राणी जहाँ प्रकृत्या पूर्ण हैं, वहाँ आत्मपुरुष की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये प्राणी सर्वथा ही अपूर्ण, अकिञ्चित्कर, तथा शून्यं-शून्यं हीं हैं।

५९–मानव की पुरुषानुगता पूर्णता, आत्मानुबन्धी 'पूर्ण' शब्द, तदपेक्षया अपूर्णा प्रकृति, एवं प्राकृत विश्व, तथा प्राकृत प्राणियों की अपेक्षा पुरुषात्मनिष्ठ मानव की ही पूर्णता—

उधर मानव केवल प्राकृतभावानुबन्ध से (मनःशरीरानुबन्ध से) जहाँ अपूर्ण है, शून्यं-शून्यं है, वहाँ यही अपने पुरुषात्मानुबन्ध से (आत्मबुद्ध्यनुबन्ध से) सर्वात्मना परिपूर्ण ही है। वस्तुतस्तु 'पूर्ण' शब्द एकमात्र पुरुषाव्ययानुगत आत्मभाव में हीं निरूढ़ है। प्रकृति तो सदा ही अपूर्णा है अथ से इति पर्य्यन्त। जो अपरिवर्त्तनीय है, शाश्वत सनातन है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, वही 'पूर्ण' है। अतएव बिना पुरुष के सहयोग के कदापि इस में व्यावहारिक-पूर्णता का भी उदय सम्भव नहीं है। अतएव जो प्रकृत्या पूर्ण, **अतएव जो मनसा, शरीरेण च पूर्ण होगा, उसे अपूर्ण ही कहा जायगा, एवं जो पौरुषेण (आत्मना, बुद्ध्या च) पूर्ण होगा, उसे ही पूर्ण कहा जायगा**। पश्वादि प्राणी प्रकृत्या पूर्ण होते हुए भी क्योंकि पौरुषेण अपूर्ण ही हैं, अतएव इन्हें अपूर्ण ही कहा जायगा।

६०–अव्ययपुरुषानुगता पूर्णता की अभिव्यक्ति से वञ्चित मानव की पशुरूपता, एवं मनः-शरीरमात्रपरायण प्राकृत मानव का शोचनीय-प्राकृत-इतिवृत्त—

मानव क्योंकि पौरुषेण (पुरुषात्मना) प्रकृत्या च उभयथा पूर्ण है, अतएव इसे परिपूर्ण ही कहा जायगा। तात्पर्य्य यही है कि, बिना आत्मपुरुषबोध के मानव पश्वादि प्राणियों की अपेक्षा प्रकृत्या भी जहाँ अपूर्ण है, ऐसे आत्मवञ्चित मानव की अपेक्षा प्राकृत पशु ही पूर्ण हैं, वहाँ आत्मबोधान्वित मानव न केवल पश्वादि की अपेक्षा से ही, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अपेक्षा से आत्मना परिपूर्ण होता हुआ प्रकृत्या भी पूर्ण ही बन जाता है। ऐसी उभयात्मिका परिपूर्णता का महान् अधिष्ठाता मानव प्राकृत–व्यामोहन में आसक्त हो कर प्राकृत पश्वादि प्राणियों की भाँति जब मनःशरीरानुगत काम–भोगों में आसक्त होता हुआ दिग्देशकाल–व्याख्याओं को ही अपना सर्वस्व पौरुष मानने–मनवाने की भ्रान्ति में निमग्न हो जाता है, तो ऐसे बुद्धिवादी प्राकृत–मानव के सम्बन्ध में अवश्य ही ये उद्गार अभिव्यक्त हो पड़ते हैं कि–**'अरे ! ऐसे प्राकृत मानवों**

की अपेक्षा तो वे पशु-पक्षी ही कहीं श्रेष्ठ हैं, जो अपनी प्राकृत-मर्य्यादाओं का तो अतिक्रमण नहीं करते'–(न पशवः अतिक्रामन्ति, मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति)।

६१–बुद्धिवादात्मक-प्राकृत-अनुभवों से समन्वित मानव का प्राकृत–व्यक्तित्त्व, तन्निबन्धना अनुभव–परायणता, तदनुगता दिग्देशकालबन्धनता, एवं तथाभूत बौद्धिक-अनुभव से सीमाबन्धनरूपा जड़ता का उदय—

प्राकृत–बुद्धिवादात्मक–अनुभव से लाभ उठाते हुए प्राकृत मानवने अपने मानस-पटल पर प्राकृत संस्कारों का जो महान् भार सञ्चित कर लिया है, वही मानव का व्यक्तित्त्व बन बैठा है। दिक्-देश-काला-नुबन्धिनी-क्रमव्यवस्थाओं से पुष्पित–पल्लविता ये प्राकृत–अनुभूतियाँ हीं मानव का वह 'अनुभव' कहलाया है, जिसे मानव अपना व्यक्तित्त्व मान रहा है, जबकि है यह वस्तुतः मानव का व्यक्तित्त्व-विमोहन ही। अपने प्राकृत जीवन के एक बड़े भाग को अत्यन्त परिश्रम-श्रम-अध्यवसायपूर्वक-प्राकृत-भूत-भौतिक–पदार्थों के परीक्षण–चिन्तन–आलोडन–विलोडन–आदि में व्यतीत कर देने वाला, चिरकाल की आराधना करने वाला, अपने भौतिक-प्राकृतिक-अन्वेषणों की सफलता के लिए दिक्–विदिक् में, देश–प्रदेशों में अनुधावन करने वाला, यों इन दिक्-देश-कालानुधावनों के द्वारा महान् प्रयास से भूतों की काल–क्रम-व्यवस्था का समन्वय करता हुआ मानव सचमुच ही तो अपने मानस–पटल पर वैसा 'अनुभवपुञ्ज' प्रतिष्ठित कर लेता है, जिसके भार से यह स्वयं ही उत्पीड़ित हो पड़ता है। इसी उत्पीड़नात्मक महान् अनुभव को यह मान लेता है मानव का व्यक्तित्त्व। यही व्यक्तित्त्वभार इस प्राकृत मानव को चिर अभ्यस्त देशकाल की सीमा से बाहिर निकलने हीं नहीं देता।

६२–अनुभवपरायण बुद्धिमान् मानव का निःसीम-प्राकृत अभ्यास, तदनुगत दिग्देश-काल–सापेक्ष व्याख्याव्यामोहन, एवं तदनुग्रह से दिग्देशकालातीत अप्राकृत तत्त्व के नामश्रवणमात्र से भी इसका विकम्पन—

इसकी बुद्धि दिग्देशकालानुबन्धों में चिर अभ्यास के कारण इस सीमापर्य्यन्त प्राकृत बन जाती है कि, यह इस अभ्यास के दृढ़मूल बन जाने के अनन्तर वैसी कोई बात सुनना भी अनुरूप नहीं मानता, जिसका दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्याख्या से कोई सम्बन्ध न हो। दिक्–देश–कालात्मक–प्राकृत–भूतजगत् को छोड़कर इसकी प्राकृत बुद्धि दिग्देशकालातीत किसी अप्राकृत तत्त्व की कल्पना भी तो नहीं कर सकती। बिना भूत-माध्यम के, बिना इसकी दिग्देशकालात्मिका क्रमव्यवस्थात्मिका बुद्धिगम्या ? व्याख्या के इसका प्राकृत मन, प्राकृत बुद्धि, प्राकृत अनुभव कुछ भी सुनना–देखना अभीप्सित नहीं मानता। यदि कभी इसके सम्मुख यह दृष्टिकोण आकस्मिकरूप से आ भी जाता है कि, **'तुम्हारा यह सम्पूर्ण अनुभव उस दिग्देशकालातीत पुरुष के समतुलन में 'नहीं' के समान है,'** तो इस वाक्यश्रवणमात्र से भी यह प्राकृत मानव उद्विग्न हो पड़ता है। क्योंकि यह यत्किञ्चित् सा ही आघात इसके महान् परिश्रम के द्वारा सञ्चित अनुभव को धूलिधूसरित करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है।

६३–अनुभवदम्भ के परित्याग से लोकानुबन्धी प्राकृत व्यक्तित्त्व के मूलोच्छेद की सम्भावना, तद्भय से कालातीत सनातन तत्त्वों पर तर्काक्रमण, एवं बौद्धिक तर्कजाल के द्वारा इसकी आत्मरति से पराङ्मुखता—

यदि मानव अपने इस अनुभवदम्भ को छोड़ देता है, तो इसका कल्पित व्यक्तित्त्व ही उच्छिन्न हो जाता है, जिस अनुभवात्मक व्यक्तित्व के कारण यह समाज में अपना एक गौरवास्पद स्थान प्रतिष्ठित किए हुए है। अतएव यह अपने व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक इस कल्पित व्यक्तित्त्व के संरक्षणमात्र के लिए (स्वयं अपने अन्तर्जगत् में मानवसुलभ ऋजुभाव के विद्यमान रहते हुए भी) अपने बुद्धिवादात्मक भौतिक–दिग्देशकालात्मक–परिच्छिन्न–तर्कों से उस तर्कातीत पर आक्रमण आरम्भ कर देता है।

६४–दिग्देशकालाभ्यासानुगता प्रचण्डा तर्कशक्ति, तत्साम्मुख्य में तर्कातीत आत्म-पुरुष की मौनता, तन्मूला विजयभ्रान्ति, एवं तदनुबन्धी मानव का निःसीम दुर्भाग्य—

अवश्य ही दिग्देशकालाभ्यासों से इसकी तर्कशक्ति प्रचण्डतमा बनी रहती है, जिसके समतुलन में उस तर्कातीत को मौन ही होजाना पड़ता है। अवश्य ही इसके तर्कजाल से इसका अन्तरालवर्त्ती अप्राकृत आत्मस्वरूप इससे परोक्ष ही बन जाता है। और दुर्भाग्यवश इस आत्मपरोक्षता को ही यह अपना महान् विजय भी उद्घोषित करने लग पड़ता है। किन्तु इन सब महान् आरम्भों–प्रयासों से भी इसे पुरुषमूला यह आत्मशान्ति तो उपलब्ध नहीं ही होती, जिसके समतुलन में इसकी इस विजयश्री का कुछ भी तो महत्त्व नहीं है। दिग्देशकालानुबन्धी–प्राकृत–अनुभवात्मक–बुद्धिवादात्मक मानव के इस महान् शत्रु व्यक्तित्त्व–विमोहनात्मक कल्पित व्यक्तित्त्व ने हीं 'मानव' जैसी महती विभूति (दिग्देशकालातीता अव्ययात्मनिबन्धना परिपूर्णता) से इस मानव को वञ्चित किया है, जिससे बड़ा दुर्भाग्य प्राकृत–मानव का और कुछ भी तो नहीं होसकता।

६५–'बाल्येन तिष्ठासेत्'-उद्बोधन-सूत्र के द्वारा सम्भावित आत्मत्राण, एवं सहज जिज्ञासात्मक परिप्रश्न, तथा सम्प्रश्न शब्दों के तात्त्विक बोध का समन्वय—

'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादि महान् उद्बोधनसूत्र के अनुगमन के बिना कदापि मानव इस व्यक्तित्त्वविमोहन से आत्मत्राण नहीं कर सकता। एवं इस उद्बोधनसूत्रानुगति का अधिकार प्राप्त है उन जिज्ञासु मानवों को ही, जो आस्था–श्रद्धा–पूर्वक जिज्ञासामात्र करते हैं, कुछ जानना चाहते हैं–जानने के बुद्धिवादात्मक दम्भ से, तथा व्यक्तित्त्वविमोहन से अपने आपको ऋजुभावपूर्वक असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए। ये प्रश्न नहीं करते, अपितु प्रणतभावपूर्वक आस्था-श्रद्धा के माध्यम से '**सम्प्रश्न**' करते हैं, जिसे गीता की परिभाषा में '**परिप्रश्न**' कहा है। प्रश्न, और सम्प्रश्नात्मक परिप्रश्न में वही अन्तर है, जोकि तर्कात्मिका '**वादबुद्धि**', एवं सत्य–ऋजुभावात्मिका '**सहजबुद्धि**' में अन्तर है। अपने अनुभवों के आधार पर अपनी एक निश्चित मान्यता बनाकर उसे सर्वोपरि स्थापित करने के लिए तर्कपूर्वक अपने अनुभूत दिग्देशकालानुबन्धी–

प्रत्यक्षसिद्ध-ऐन्द्रियक-भूतभौतिक-भावों के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपनी मान्यताओं की साटोप व्याख्या करते हुए अपने स्वतन्त्र उद्‌गार अभिव्यक्त करने का नाम जहाँ 'प्रश्न' है, वहाँ अपने अनुभव को समाप्त कर सर्वथा-प्रणतभाव से, अपने आप को अज्ञ मानते हुए महर्षि दीर्घतमा की सुप्रसिद्धा * भाषा का अनुगमन करते हुए जिज्ञासा करना हीं 'सम्प्रश्न' है ÷, एवं इसी का नाम 'परिप्रश्न' है ×।

६६-अनुभवात्मक 'प्रश्न' शब्द की भौतिकता के व्यामोहन से परित्राण का आदेश, तदनुबन्धी कालसूक्त-संस्मरण, एवं तद्द्वारा 'सम्प्रश्न' के माध्यम से मानव का मानवीय-स्वरूप की ओर सहज आकर्षण—

प्रश्न में कुतर्कात्मक भौतिक तर्क है, इन्द्रियसापेक्ष तर्क है। ऋषि कहते हैं, सावधान! ऐसे तर्क से बचाओ अपने आप को। कदापि ऐसा भौतिक तर्क तुम्हें स्वरूपबोध न होने देगा +। ऐसे सम्प्रश्न-पथानुगामी, प्रणतभावेन परिप्रश्नपथानुवर्त्ती आस्था-श्रद्धा-शील आरुरुक्षु जिज्ञासुवर्ग के उद्‌बोधन के लिए ही महर्षिने दो सूक्तों के द्वारा परमदेवात्मक उस प्राकृत-काल का स्वरूप अभिव्यक्त किया है, जिस की सीमा में हीं प्रकृति के सापेक्ष सादि-सान्त-व्यक्तकाल, दिक्, देश, प्रदेशादि भाव प्रतिष्ठित हैं। इस कालस्वरूप से, एवं चतुर्विधा कालमहिमा से अवश्य ही जिज्ञासु मानव का कालात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हो जाता है। एवं उपशान्ति के साथ साथ ही इस कालप्रतीक के माध्यम से ही काल की अनन्तता के द्वारा मानव का ध्यान कालातीत अपने 'मानव' स्वरूप की ओर अवश्य ही आकर्षित हो जाता है।

---

* अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
—ऋक् सं० १।१६४।

÷ यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या॥
—ऋक् सं० १०।८२।३।

× तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
—गीता ४।३४।

+ नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥
—कठोपनिषत् १।२।९।

६७–जिज्ञासात्मक सहज आकर्षण से आत्मबोधनिष्ठ बन जाने वाले मानवश्रेष्ठ की अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसिद्धि, तदनुगत दिग्देशकालमीमांसेतिवृत्त, एवं तन्माध्यम से ही लोकभावुकता–संरक्षक–आचारात्मक–दिग्देशकालानुबन्धी लौकिक स्वरूप का उपक्रम—

अपने इसी सहजाकर्षण से आत्मबोधनिष्ठ बन जाने वाला कालातीत मानव (आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव) अपने हीं विवर्त्तरूप कालात्मक मानव (मनःशरीररूप मानव) स्वरूप से कालक्रमव्यवस्था–पूर्वक प्राकृत–आचार का यथाविधि–यथाकाल–यथादेश–यथादिक्–यथाप्रदेश–अनुगमन करता हुआ अपने इस कालिक–दैशिक–प्राकृत स्वरूप को भी पूर्णरूपेण अभ्युदयपथानुवर्त्मा प्रमाणित कर लेता है, एवं स्वानुगत आत्ममानव–रूपेण परिपूर्ण बनता हुआ निःश्रेयस् का भी अधिकारी बन जाता है। और यही कालसूक्तद्वयी की उक्ता मन्त्रार्थसमन्वयसङ्गति से अनुप्राणिता प्रस्तुत–'**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**' का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे आधार बना कर ही अब दो शब्दों में लोकभावुक मादृश प्राकृत मानवों के मनोऽनुरञ्जनात्मक लोकसंग्रह–संरक्षण के लिए ही दिग्देशःकालभावों का लौकिक स्वरूप व्यक्त कर दिया जाता है लोकभाषा में हीं। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

६८–भूत–भौतिक–प्रधाना बुद्धिगम्या-लोकानुरञ्जनात्मिका आचारभावानुगता–दिग्देश-कालानुबन्धिनी लोकव्याख्या, एवं तन्मूलक 'सर्वमिदं प्राकृतिकं-भूत–भौतिक–मेव' इत्यादि प्राकृत–सूत्र—

'सर्वमिदं प्राकृतिकं, भूतभौतिकमेव' इस प्राकृत–मूलसूत्र के आधार पर ही दिग्देशकालभावों की बुद्धिगम्या लोकानुरञ्जनात्मिका आचारभावात्मिका वह लोकव्याख्या प्रस्तुत हो रही है, जिसके साथ चिदात्म–लक्षण '**अव्ययात्मा**' ('**चैतन्य**') का, तथा चित्प्रकृतिलक्षण '**अक्षर**' ('**चेतना**') का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु सम्बन्ध है, लोकदृष्टि के साथ विकृतिलक्षणा क्षरभावान्विता उस 'भूतप्रकृति' के साथ, जो इन्द्रिय–स्पृष्ट–दृष्ट–भूत–भौतिक–प्राकृतिक–पदार्थों की स्वरूपाधिष्ठात्री बन रही है, एवं जिस इस भूतप्रकृति के आधार पर ही भौतिक काल–दिक् देश–प्रदेशादि–भाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। भूतप्रकृति–सापेक्ष व्यक्त मूर्त्त–काल ही जब भूतसापेक्ष–मूर्त्तकाल है, तो तदभिन्ना दिक्, एवं तदभिन्न देशात्मक प्रदेश की भूतसापेक्षता में तो कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। मानव की प्राकृत–बुद्धि, भूतानुगता लोकबुद्धि की इन्द्रियसापेक्षा, भूतसापेक्षा–बुद्धिगम्या व्याख्या के आधार ये तीनों भूतसापेक्ष प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत–उपवर्णित काल–दिक्–प्रदेश–भाव ही तो बने हुए हैं।

६९-अप्राकृत–आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव की जिज्ञासाधारभूता 'काल–दिक्-देश-त्रयी', एवं प्राकृत–मनःशरीरभावुक लोकमानव की प्रश्नाधारभूता 'दिक्–देश–काल–त्रयी, तथा दोनों दृष्टिकोणों में महान् अन्तर—

प्राकृत मानव जब भी, जहाँ भी, जो भी कुछ बोलेगा, चिन्तन करेगा, सर्वप्रथम वह दिक् को ही पकड़ेगा, दिशा–बिन्दु के अनन्तर तत्सीमित देश–प्रदेशात्मक–भूत को लक्ष्य बनाएगा, एवं उस दिग्देशात्मक भूत–

पदार्थ को कालक्रमानुपात से ही समन्वित करने का प्रयास करेगा। अतएव अप्राकृत मानव अपने कालातीत पुरुषाव्ययरूप से चलकर जहाँ काल–दिक्–देश–प्रदेश–इस क्रम का अनुगमन करेगा, वहाँ कालात्मक प्राकृत मानव सर्वप्रथम दिक् को लक्ष्य बनाएगा, दिक् के द्वारा देशात्मक भूतप्रदेश (वस्तु) को लक्ष्य बनाएगा, तन्माध्यम से तद्वस्तु की कालमीमांसा करेगा–'कब बनी ?, क्या क्या परिणाम हुए किस किस काल में ?, अमुक वस्तु का कालान्तर में क्या स्वरूप होजायगा ?, इत्यादि रूपेण। यों इस प्राकृत बुद्धिवादी मानव की ज्ञानमीमांसात्मिका (तत्त्वमीमांसात्मिका)–बुद्धिगम्या–व्याख्या में काल–दिक्–देश–यह क्रम न रहकर दिक्–देश–काल–यह क्रम रहेगा। कदापि यह काल के द्वारा दिक्–देशात्मक भूत के साथ सान्निध्य नहीं करेगा। अपितु यह तो दिग्देशात्मक वस्तुपदार्थ को अपनी भूतेन्द्रिय के सम्मुख–रख लेगा, तभी उसके कालस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होसकेगा, और तभी वह यह बतला सकेगा कि,-'अमुक पदार्थ ईसा से अमुक वर्ष पूर्व का है, अमुक शककाल का है, अमुक गुप्तकाल का है, अमुक हूणकाल का है, किंवा अमुक लिच्छवियों के गणतन्त्रात्मक संघकाल का है, इत्यादि।

७०–बुद्धिवादी प्राकृत मानव के द्वारा 'भूतेतिहास' की क्रमबद्धा–व्यवस्था, तन्मूलक–'पुरातत्त्ववाद', तदनुगत ध्वंसावशेष, तन्मूला जीवनपद्धति का महान् व्यामोहन, एवं तद्द्वारा प्राकृत–कालयापन—

इसी कालक्रमानुपात से यह बुद्धिवादी भूतपदार्थों के क्रमबद्ध इतिहास व्यवस्थित करेगा, इसी भूतेतिहास को वह 'पुरातत्त्व' कहेगा, एवं इसी के आधार पर यह मानव की प्राकृत–भौतिक–लौकिक–जीवन–पद्धतियों से सम्बन्ध रखने वालीं भौतिक सभ्यताओं का कालविनिर्णय करेगा। और यों दिग्देशानुबन्धी इसी गणनकाल के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त यह बुद्धिवादी पुरातत्त्वाभिनिविष्ट कभी मृण्मय लोष्ठों को, कभी पुरातन भग्न त्रुटित मृण्मय पात्रखण्डों को, कभी भूगर्भस्थ पाषाण–धातु–निर्मित प्रतिमाओं को, कभी १००–२००–वर्षों की पुरानीं चीवर–कन्थाओं को, तो कभी तत्तद्युगानुगता–रजत–सुवर्णादि मुद्राओं को माध्यम बना बना कर, इन्हीं को अपना परमाराध्य मान कर इनके आधार पर ही कालक्रम–व्यवस्था का समन्वय करता हुआ कालयापन करता रहेगा।

७१–दिग्–देश–कालात्मक भौतिक–विवर्त्तों के आनन्त्य से कालिक–दैशिक–व्यामोहनों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, तन्मूलक एषणात्मक इस का ऐतिहासिक दम्भ, तद्द्वारा ऋषिप्रज्ञा पर निर्लज्ज आपेक्ष, इत्यालप्यालमेव—

कदापि इस का दिग्देशानुबन्धी यह कालचङ्क्रमण उपशान्त न होगा। क्योंकि अनन्त हैं-दिग्भाव, अनन्ता दिक् से अनुप्राणित अनन्त हैं देश-प्रदेशात्मक पदार्थ। एवं अनन्त-असंख्य हैं गणनात्मक व्यक्तकाल, जिन का मन्वन्तर के माध्यम से खण्डारम्भ में हीं दिग्दर्शन कराया जा चुका है। भूतविज्ञाननिष्ठ आज के पुरातत्त्ववित्-इतिहासमर्मज्ञ इस के क्रमबद्ध (कालक्रमबद्ध) इतिहास का यही सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस का बड़े गर्व–मद–मान-से उद्घोष करता हुआ यह कालाभिनिविष्ट भारतीय ऋषिप्रज्ञा की इसप्रकार की हीन आलोचना करता हुआ लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बन जाता कि-''**इन भारतीयों का कोई क्रमबद्ध इतिहास रहा**

हो नहीं। यदि कभी रहा होगा भी, तो अज्ञातवश, किंवा सभ्यता के पूर्ण विकसित न होने से क्रमबद्धरूपेण लिखा ही नहीं गया। जो कुछ लिखा भी गया, वह ऐसा ऊटपटाँग-अस्तव्यस्त-विचित्र विचित्र कल्पनाओं से समन्वित रहा, जिस का मानवबुद्धि के द्वारा कालक्रमव्यवस्थानुपात से समन्वय ही सम्भव नहीं"। 'आलप्यालम्' के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं कहा जासकता इस अभिमानी पुरातत्त्ववित्-इतिहासमर्म्मज्ञ आज के आलोचक के लिए, जिसने भारतीय-पारिभाषिक शब्दों के अक्षरार्थमात्र-समन्वय से भी अपने आप को एकान्ततः बञ्चित ही रख लिया है। तभी तो-'मुखमस्तीति वक्तव्यं-दशहस्ता हरीतकिः' को अक्षरशः चरितार्थ करता हुआ यह बुद्धिवादी उस ऋषिदृष्टि पर यों अनर्गल आक्रमण करने की धृष्टता कर बैठता है, जिस ऋषिदृष्टि के अक्षरार्थमात्र-समन्वय के लिए भी अभी इसे ऋषिशाला की तो वर्णमातृका का ही सर्वप्रथम अभ्यास करना पड़ेगा।

७२-विनश्वर-प्राकृत-मनःशरीरनिबन्धन-तात्कालिक भूतपदार्थों के साथ-'इति-ह-आस' मूला भूत-भविष्यत्-मर्य्यादा का असंस्पर्श, एवं भारतीय शाश्वत सनातन-इतिहास-बीजों का संस्मरण—

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, यहाँ विनश्वर प्राकृत-भावों के जायस्व-म्रियस्व-रूप परिवर्त्तन को 'इति ह-आस'-'रूप इतिहास' माना ही नहीं गया। मन, और शरीर के अतिरिक्त इस मूर्त्त दिग्देशकाल का कोई इतिहास नहीं, एवं ऐसे मृत्युस्मारकरूप परिचयचिह्नों की समष्टि से सम्बद्ध इतिहास का आत्मनिष्ठ मानव की शाश्वत चैतन्यधारा में कोई उपयोग नहीं। ऋषिवंश-पितृवंश-देववंशादि-प्राणवंश ही भारतीय शाश्वत इतिहास के मूलबीज हैं, जिन का भूतवंश से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि मर्त्य-भूत के साथ परम्परानुगत-इतिहास-शब्दानुबन्धी 'वंश' का सम्बन्ध ही नहीं है। अतएव भूतपदार्थों के माध्यम से, इन भग्नावशेषों के माध्यम से मानवेतिहास के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त होने जैसा 'बालकर्म्म' तो और कोई हो ही नहीं सकता।

७३--अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से मानव के चिरन्तन 'आत्मेतिहास' की आराधना, एवं अनन्तकाल के द्वारा अनुमेय अनन्त आत्मभाव—

'काल'-प्रतीक-माध्यम से अवश्य ही मानव के चिरन्तन-आत्मेतिहास की आराधना का प्रयास किया जा सकता है। किन्तु भूतानुबन्धी-भूतसापेक्ष गणनकाल के माध्यम से नहीं। अपितु परमदेवतात्मक अव्यक्त-अनन्त-अमूर्त्त-उस काल के माध्यम से, जिस का मानवबुद्धि अनुमान भी नहीं लगा सकती। आस्तां तावत्। अभी तो हमें प्राकृत मानव के सापेक्ष-दिक्-देश-काल-भावों के माध्यम से ही इस के प्राकृत भूतविवर्त्त की बुद्धिगम्या व्याख्या का समादर कर लेना है। सम्भव है-लोकभावुकता-संरक्षक इस भूतवाद के माध्यम से भी हम इस प्राकृत मानव का ध्यान काल के उस अनन्तभाव की ओर आकर्षित कर सकें।

७४-अनन्त दिग्देशकालात्मक अनन्त भौतिक-विश्व का माङ्गलिक-संस्मरण—

हाँ, तो प्राकृत मानव भी यह तो स्वीकार करता ही है कि, यद्यपि-पूर्व-पश्चिमादि के भेद से दिग्भाव दस ही संख्याओं में विभक्त है। तथापि क्योंकि देशात्मक, किंवा प्रदेशात्मक प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भूत दिग्-

भावों से नित्य आक्रान्त है, एवं देशप्रदेशात्मक भूतपदार्थ संख्या से क्योंकि अनन्त हैं। अतएव तदनुबन्धी दशधा विभक्त–दशावयव दिग्भाव भी यों अनन्त भूतों की अनन्त असंख्य–अपेक्षा से अनन्त ही प्रमाणित हो रहा है। इस दिगानन्त्य से काल भी अनन्तभावों का ही अनुगामी बन रहा है। देशात्मक भौतिक पदार्थ अनन्त, तत्सापेक्ष दिगभाव भी अनन्त। प्रत्येक भूतपदार्थ का काल पृथक् पृथक्। अतएव काल भी अनन्त–असंख्य ही। अनन्तकालानुगत-अनन्त दिग्भाव से समन्वित इन अनन्त प्रदेशात्मक पदार्थों की समष्टि का नाम ही है–'अनन्तदिग्देशकालात्मक अनन्त भौतिक विश्व'।

७५–व्यष्टिरूप प्रत्येक भौतिक-पदार्थ से अनुप्राणिता दिग्-देश-काल-भावों की अनन्तता का समन्वय, एवं कालविभूतियों की अनाद्यनन्तता –

अब प्रत्येक उस भूत पदार्थ की दृष्टि से अनन्तता का समन्वय कीजिए, जिसमें एक काल, एक दिक्, एवं एक देश समन्वित है। प्रत्येक भूतवस्तु में असंख्य रूप–गुण–भाव समन्वित हैं। महाभूतस्वरूपसम्पादक पञ्चभूतात्मक अनन्त–असंख्य रेणुभूत समाविष्ट हैं प्रत्येक पदार्थ में। प्रत्येक रेणुभूत में तत्स्वरूपसम्पादक अनन्त–असंख्य अणुभूत समाविष्ट हैं। प्रत्येक अणुभूत में अनन्त–असंख्य गुणभूत (पञ्चतन्मात्राएँ) प्रतिष्ठित हैं। तदित्थं–प्रत्येक भूतपदार्थ, दिग्देशात्मक प्रत्येक वस्तुभाव अपने गुण–अणु–रेणु–भूत–महाभूत–भेद से अनन्तभावात्मक ही प्रमाणित हो रहा है। तथैव अमुकामुक परमाकाश–समुद्राकाश–गुणाकाश–अणवाकाश–रेणवाकाश–भूताकाश–महाभूताकाशादि भेद से अनन्ताकाश देश, किंवा प्रदेश भी अनन्त ही बन रहा है। अनन्त हैं दिक्, अनन्त हैं आकाशात्मक देश-प्रदेश। एवमेव निमेष–क्षण–मुहूर्त-अहः–रात्रि–पक्ष–मास–ऋतु–अयन–सम्वत्सर–मानवयुग–पितृयुग–देवयुग–ब्राह्मयुगादि के भेद से गणनात्मक काल भी अनन्त ही है, जिसके परिगणन में अन्ततोगत्वा सख्याओं का प्रक्रमात्मक अभिक्रम ही समाप्त होजाता है। और यों सहसा सर्वथा सादि–सान्त भी प्रतीयमान दिक्–देश–काल अपने इन विभूतिभावों से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहे हैं।

७६–मूर्त्त–व्यक्त–भौतिक–दिग्देशकालों के व्यष्ट्यात्मक आनन्त्य की सूचीमात्र से पराभूता मानव की लोकप्रज्ञा, एवं तदपेक्षया मानवेतर पश्वादि प्राकृत–प्राणियों की विशेष योग्यता–शालिता—

मानव की प्रज्ञा थक थक जायगी, किन्तु वह कदापि इस आनन्त्य की सूचीमात्र भी सम्पन्न न कर सकेगी। अतएव अपने इस बुद्धिगम्य प्राकृत भूतजगत् की दृष्टि से भी प्राकृत मानव का ऐसा बुद्धिदम्भ सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित हो जायगा कि,–"उस ने दिग्देशकाल की क्रमव्यवस्था के आधार पर भूतों की इयत्ता जान ली है, पहिचान ली है"। यदि यत्किञ्चित् जान भी लिया है, तो ऐसा यत्किञ्चित् ज्ञान तो पशु-पक्षियों की प्राकृत-बुद्धियों में भी सहजरूप से ही, जन्म से ही व्यवस्थित है, जबकि प्राकृत मानव को इस यत्किञ्चित्ता के लिए भी महान् प्रयास ही करना पड़ता है। यही नहीं, इस दिशा में तो मानवापेक्षया उन प्राकृत प्राणियों का काल-ज्ञान–दिग्ज्ञान–देशज्ञान कहीं अधिक क्रम–व्यवस्थित माना जायगा, जो पहिले से ही शुभाशुभ-घटनाओं को जानकर तदनुपात से अपने अनुरूप दिक्–देश–कालों की व्यवस्था निश्चित कर लेते हैं। यह सत्य है कि,

यदि किसी समुद्रतट–प्रान्तवर्त्ती प्रदेश में ज्वालामुखी का विस्फोटन सम्भावित होता है, तो वहाँ के प्राकृत प्राणी उस प्रदेश को पहिले से ही छोड़ देते हैं, जबकि कालक्रमव्यवस्था का दम्भ करने वाला बुद्धिवादी प्राकृत मानव उस ज्वाला में हीं आहुत होजाता है इसे न जानने के कारण। दिक्–देश--कालानुबन्धिनी सम्पूर्ण–भूतविज्ञानपद्धति का एतावान् ही महत्त्व है, जिस के द्वारा मानव आजतक भी पशुओं के प्राकृत-विज्ञान की भी समता नहीं कर पाया है।

७७–प्राकृत वैज्ञानिक मानव के 'प्रकृतिविजय' का सम्पूर्ण इतिवृत्त, तदनुगामी विज्ञान-दम्भ, एवं तन्निग्रह से मानव की बुद्धि में भूतजड़ता का उदय –

यही इसके प्राकृत–दिग्देशकालभावों का वह महत्त्व पूर्ण इतिवृत्त है, जिस के बल पर आज यह अपने आपको–'**प्रकृतिविजेता**' मान बैठा है। यही इस का वह विज्ञानदम्भ है, दिग्देशकालव्यवस्थानुगत वह बुद्धिवाद है, जिसके आवेश में आकर इसने अपने विज्ञानवाद को ही मानवजीवन का चरम--लक्ष्य मानने--मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है। इसी भ्रान्ति ने मानव की बुद्धि में, मानव की प्रज्ञा में एक वैसी जड़ता उत्पन्न करदी है, जिस जड़ता से न तो यह चेतनारूप अनन्त--अव्यक्त--अमूर्त--अक्षरकाल से ही परिचित होने पाता, एवं न कालातीत चिद्रूप–अव्यक्तातीत चिदात्मा का ही संस्मरण कर पाता। इसी वैषम्य के कारण तद्वञ्चित इस विज्ञान से अन्ततोगत्त्वा मिलता है, मिलेगा सर्वनाश, जिस के द्वारा आज सम्पूर्ण मानवता का ही उच्छेद सम्भव बनता जारहा है इसी की दृष्टि में, जबकि भारतीय ऋषिदृष्टि की तो–'**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' ही सहजनिष्ठा है। न केवल भूतविज्ञानवादी ही, अपितु तथाविध सभी अनात्मवादी-शून्यवादी--क्षणवादी--स्वलक्षणवादी--मानव इसी प्राकृतिक विजृम्भण के अनुग्रह से दुःखं दुःखं उद्गार ही-अभिव्यक्त करते रहे हैं पूर्वयुगों में भी, एवं करते ही रहेंगे आत्मबोधनिष्ठा से पराङ्मुख बने रहते हुए वर्त्तमान, तथा भविष्य में भी।

७८–उपनिषदनुगता अक्षरोपासना, आगमानुगता शक्त्युपासना, कर्म्मकाण्डानुगता यज्ञोपासना, गीतानुगता बुद्धियोगोपासना, आदि आदि प्रकार-माध्यमों से उत्पीड़क–व्यक्त–काल के उपशमनकर्त्ता–पीड़ानिवर्त्तक–व्यक्तकालपीड़क–अनन्तकाल के द्वारा भूतजड़ता से परित्राण—

कैसे मानव का तथाकथित कालव्यामोहन उपशान्त हो !, कैसे प्राकृत–मानव की प्राकृत बुद्धि दिक्--देश--कालानुगता भौतिक--क्रमव्यवस्था से अपना परित्राण कर बुद्धि से अतीत, अतएव कालातीत अपने अनन्त स्वरूप को प्राप्त करे !, इत्यादि प्रश्नों की समाधानभूमि **कालपुरुष** के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। काल ही मानव को इस के कालिक व्यामोहन से उन्मुक्त करने की क्षमता रखता है, काल ही मानव को काल के उत्पीड़न से बाहिर निकाल सकता है, जो काल ही काल को उत्पीड़ित कर तद्द्वारा मानव को (मानव के प्राकृत स्वरूप को) उत्पीड़ित करता रहता है। जो उत्पीड़न का कारण है कालमाध्यम से, वही, अपने हीं माध्यम से इस प्राकृत उत्पीड़न को उपशान्त करने की भी क्षमता रख रहा है, जिस के लिए इस उत्पीड़ककाल के माध्यम से मानव को उस पीड़ानिवर्त्तक काल की ही आराधना में प्रवृत्त होना

पड़ेगा, जिस उस कालोपासना को ही तान्त्रिकोंनें-'**शक्त्युपासना**' कहा है, वेदशास्त्र में जो उपासना प्रणवात्मिका '**अक्षरोपासना**' कहलाई है, कर्म्मकाण्डदृष्ट्या जो उपासना '**यज्ञोपासना**' कहलाई है, एवं गीता के शब्दों में जो उपासना अबुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' नाम से प्रसिद्ध हुई है * ।

७९-अनन्त कालपुरुषात्मक अक्षर की उपासना का माध्यम व्यक्तकालात्मक क्षरात्मक यज्ञपुरुष, एवं तत्प्रतीकात्मक उपास्य भगवान् सूर्य्यनारायण—

कालपुरुषात्मक अक्षर की (पराप्रकृति की) उपासना का माध्यम क्योंकि यज्ञपुरुषात्मक क्षर (अपराप्रकृति) ही बनता है । अतएव '**स्थूलारुन्धती**'-न्याय से यज्ञपुरुष के माध्यम से ही हमें उस पीड़ानिवर्त्तक कालपुरुषात्मक अक्षर की उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए । जिसे हम प्राकृत मानव 'काल' (समय) कहा करते हैं, वह वस्तुतः काल का क्षरात्मक 'यज्ञरूप' ही माना गया है । महाकालपुरुष, और उसकी महाशक्ति काली, दोनों के कालातीत दाम्पत्य से आविर्भूत 'यज्ञपुरुष' का नाम हीं वह व्यक्तकाल है, जिसे हम अपनी प्राकृत-लौकिक-भाषा में 'वर्षकाल' कहा करते हैं, जो कि वर्षकाल वैदिक भाषा में-'**सम्वत्सर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी कि भारतीय आस्तिक प्रजा 'सूर्य्य' रूप से आराधना करती रहती है ।

८०-यज्ञ-सम्वत्सर-सूर्य्य-वर्ष-काल-समय-आदि शब्दों की समानार्थकता, एवं सौर सम्वत्सरात्मक व्यक्त-मूर्त्त-काल की अनन्तता का समन्वय—

यज्ञ, सम्वत्सर, सूर्य्य, वर्ष, चारों शब्द इस व्यक्त सामान्यधर्म्म से समानार्थक बने हुए हैं । यही प्रदेशात्मक, किंवा दिगात्मक व्यक्त काल है, यही मूर्त्तकाल है, यही सृष्टिकालात्मक 'वर्त्तमानकाल' है, यही-'पुण्याहकाल' है, जो अपने अनन्त पुण्याह स्वरूप को मानव के एक 'वर्ष' से सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है । जिसे हम अपनी भाषा में-व्यवहार में वर्ष (बरस) कहते हैं, सूर्य्यात्मक वर्ष इस वर्ष से कहीं महतो महीयान् है । मानव के कई अर्ब-खर्ब-वर्ष मिलकर सूर्य्यरूप एक वर्ष का स्वरूप प्रज्ञा में अनुमेय बनता है । अतएव मानव के ३६५ अहोरात्रात्मक एक वर्ष के अनुपात की दृष्टि से तो सौरसम्वत्सरात्मक एक वर्ष भी सर्वात्मना अनन्त ही प्रमाणित हो रहा है । सौरसम्वत्सरात्मक एक वर्ष ही एक सृष्टिकाल है, यही है एक ब्राह्म अहःकाल (ब्रह्मा का एक दिन) । भारतीय प्रज्ञा के समस्त धार्मिक विधि विधान यद्यपि सम्पन्न होते हैं इस के अपने ३६५ अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से (मुहुर्त्त से) ही । तथापि सर्वत्र इसके प्रज्ञात्मक संकल्प में मूलप्रतिष्ठा बना रहता है वह अनन्त सौरकालात्मक-पुण्याह कालरूप ब्राह्म-दिन लक्षण 'सौरसम्वत्सर' ही, जैसा कि-'**श्वेतवराहकल्पे सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे०**' इत्यादि संकल्प-सन्दर्भ से स्पष्ट है ।

८१-दैवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, मानवसम्वत्सरात्मक सौरवर्ष, एवं अव्यक्तकाल-सौरकाल-मानवकाल-भेद से काल के तीन महिमा-विवर्त्त—

यों अब दैवसम्वत्सरान्मक सौरवर्ष, मानवसम्वत्सरात्मक पार्थिववर्ष-भेद से दो प्रकार के व्यक्तकाल हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं । तीसरा वह अव्यक्त अमूर्त्तकाल है, जिसे हमने '**महाकालपुरुष**'

---

*-देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'**बुद्धियोगपरीक्षा**' त्मक षष्ठ खण्ड (७०० पृष्ठात्मक) ।

कहा है, एवं जिसकी प्रथमा अभिव्यक्ति को ही हमने **'सौरकाल'** कहा है। उसके व्यक्तीभाव का नाम सौरकाल, एवं सौरकालके व्यक्तीभाव का नाम मानवकाल, यों **अव्यक्तकाल-सौरकाल-मानवकाल** भेद से एक ही काल के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इदमत्रावधेयम्–समन्वयदृष्ट्या। सौर-व्यक्तकाल के अभिव्यञ्जक अव्यक्त-कालात्मक महाकाल के ही–'स्वायम्भुव–अव्ययाक्षरात्मक-**अनन्तकाल**, तथा पारमेष्ठ्य–महदक्षरात्मक–**अव्यक्तकाल**, भेद से दो महिमा विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें अव्ययानुगत अक्षरात्मक स्वायम्भुव अनन्तकाल की अभिव्यक्ति का नाम ही महदक्षरात्मक–पारमेष्ठ्य–**अव्यक्तकाल है**, इस अक्षरात्मक अव्यक्तकाल की अभिव्यक्ति का नाम ही क्षरानुगत अक्षरात्मक **व्यक्त-मूर्त्त-सौरकाल है**, एवं इस सौर–व्यक्त–मूर्त्त–क्षर–काल की अभिव्यक्ति का नाम ही पृथिव्यनुगत-विकारक्षरात्मक–**चान्द्र-मूर्त्ति-रूप-व्यक्तकाल** है।

८२–वृत्तात्मक 'छन्द', छन्दोरूप 'सम्वत्सर', तद्रूप अनन्त--अमूर्त्त--मूर्त्त--मूर्त्ति-रूप चतुर्विध कालविवर्त्त, एवं कालात्मिका सम्वत्सरचतुष्टयी का -'वसुधानकोशात्मक सम्बन्ध'—

यों अथ से इति पर्य्यन्त काल के चार महिमा–विवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें क्रमशः **अनन्त-अमूर्त्त-मूर्त्त-मूर्त्ति-** नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, जैसा कि पूर्व में तालिकारूपेण स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० ३९६ की तालिका)। **वृत्त का ही नाम वर्षात्मक सम्वत्सर है, वृत्त का ही नाम छन्द है, छन्द ही सम्वत्सर की स्वरूप–परिभाषा है**। स्वयम्भू भी वृत्तात्मक है, परमेष्ठी भी वृत्तात्मक है, सूर्य्य भी वृत्तात्मक है, एवं पृथिव्यनुगत चन्द्रमा भी वृत्तात्मक है। अतएव वृत्तात्मक-छन्दोमय-इन चारों ही कालविवर्त्तों को **सम्वत्सरवृत्तात्मक वर्ष** की अभिधा से समन्वित किया जा सकता है। इन चारों वर्षों में परस्पर **दहरोत्तर सम्बन्ध है**, जिसे कि **'वसुधानकोशसम्बन्ध'** भी कहा गया है।

८३–ब्राह्मकालात्मक अनन्तकाल, पैत्र्यकालात्मक-अमूर्त्तकाल, दैवकालात्मक मूर्त्तकाल, मानवकालात्मक मूर्त्तिकाल-चतुष्टयी के साथ क्रमशः मानव के भूतात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-शरीरात्मा नामक चार पर्वों के साथ समसमन्वय—

चान्द्रसम्वत्सरात्मक मूर्त्तिकालात्मक-चौथा-अन्तिम-सम्वत्सरात्मक वर्ष ३६५ अहोरात्र का है, जिसे ही हम **'मानववर्ष'** (मानव आयु का एक वर्ष) कहा करते हैं। ऐसे अर्ब–खर्वादि–अनन्त–असंख्य–मानव-वर्षों की समष्टिरूप सौरसम्वत्सरात्मक–मूर्त्तकालात्मक–ब्राह्म अहर्लक्षण–तीसरा सम्वत्सरात्मक–वर्ष ही–**'दैववर्ष'** है। ऐसे असंख्य–अगणित–सौर–ब्रह्माण्डरूप मूर्त्तकाल–सम्वत्सरों को स्वमहिमामण्डल में **द्रप्सरूप** से प्रतिष्ठित रखने वाला गणनातीत–संख्यातीत–अनन्त्य से समन्वित–पारमेष्ठ्य सम्वत्सरात्मक -अमूर्त्तकालात्मक-दूसरा सम्वत्सरात्मक वर्ष ही **'पैत्र्यवर्ष'** है एवं अपने अणु अणु में ऐसे ऐसे एक एक पारमेष्ठ्य-ब्रह्माण्डों को, अनन्त-असंख्य-पारमेष्ठ्य-सम्वत्सरवृत्तों को अवग्लापन से असंस्पृष्ट रहते हुए स्व परमाकाशसीमा में अणुवत् गर्भीभूत रखने वाला, मानव की प्राकृत संस्था से सर्वथा ही अतीत-अव्ययानन्त्य से समन्वित-स्वायम्भुव--सम्वत्सरात्मक--अनन्तकालात्मक पहिला सम्वत्सरात्मक वर्ष ही **'ब्राह्मवर्ष'** है। **[1]स्वयम्भूब्रह्मा, [2]परमेष्ठी पितर, [3]सूर्य्यदेव, [4]चन्द्रमामानव**, इन चार भावों से अनुप्राणित, **[1]स्वायम्भुव-[2]पारमेष्ठ्य-**

¹सौर-⁴चान्द्र-सम्वत्सरवर्षात्मक, ¹अनन्त-²अमूर्त्त-³मूर्त्त--⁴मूर्त्ति--नामों से समलङ्कृत, ¹ब्राह्मकाल-²पैत्र्यकाल-³दैवकाल-⁴मानवकाल-अभिधाओं से उपश्रुतोपवर्णित ये चारों 'प्राकृतकाल' ही मानव के उस चतुष्पर्वा प्राकृत-स्वरूपमात्र के व्यवस्थापक हैं, जो मानवीय प्राकृत पर्व क्रमशः ¹भूतात्मा-देही-जीवात्मा-²विज्ञानात्मा (बुद्धि)-³प्रज्ञानात्मा-(मन)-⁴शरीर-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

८४-चतुर्विध कालविवर्त्तों में से भूतविज्ञानवादी का लक्षीभूत चतुर्थ भौतिक मूर्त्तिकाल, तन्निबन्धना इसकी कालज्ञता-भ्रान्ति, एवं काल के अनन्त विस्तार के सम्बन्ध में पुराणपुरुष भगवान् व्यास के उद्गार—

प्राकृत भूतात्मा स्वायम्भुव ब्राह्मकाल से अनुप्राणित है, प्राकृत विज्ञानात्मा पारमेष्ठ्य पैत्र्यकाल से अनुप्राणित है, प्राकृत प्रज्ञानात्मा सौर दैवकाल से अनुप्राणित है, एवं प्राकृत शरीर चान्द्र-पार्थिव-मानवकाल से अनुप्राणित है। प्राकृत मानव जिस कलनात्मक-क्रमसिद्ध-काल के आधार पर भौतिक विज्ञान को व्यवस्थित करता है, जिस भौतिक विज्ञानगर्व में आकर यह अपने आपको प्रकृतिविजेता मान बैठता है, चान्द्र-कालात्मक-शरीरभूतानुगत-मानववर्षात्मक वह काल तो प्राकृतकाल का भी वैसा सा, उतना सा प्रत्यंशतमात्मक यत्किञ्चिदंश ही प्रमाणित हो रहा है इसके ऊर्ध्वस्थित शेष तीनों मूर्त्त-अमूर्त्त-अनन्त-दैव-पैत्र्य-ब्राह्म--कालों के समतुलन में। ऐसी स्थिति में केवल चतुर्थ-चान्द्रसम्वत्सरात्मक-मानवकाल को ही अपना सर्वस्व मानने वाले वैज्ञानिक की प्रकृतिविजय का, किंवा कालविजय का, किंवा दिग्देशकालविजय का क्या, और कितना महत्त्व शेष रह जाता है ?, प्रश्न का उत्तर पुराणपुरुष भगवान् व्यास से ही सुनने का अनुग्रह कीजिए !

> **क्वाहं तमो महदहंखचराग्निवाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।**
> **क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्।**
>
> —श्रीमद्भागवते

८५-परिलेखानुगता चतुर्विध-कालमहिमाओं का संग्रहात्मक समन्वय—

परमाकाशात्मक स्वयम्भूकाल से आरम्भ कर चन्द्रकाल-पर्य्यन्त व्याप्त, महिमाचतुष्टयी-रूप इस 'विराट्काल' के महतोमहीयान् अचिन्त्य-अप्रत्यक्र्य-स्वरूप के समतुलन में मानववर्षात्मक-चान्द्रकाल को एक प्रादेशात्मक 'प्रदेशकाल' ही माना जायगा, जिस प्रादेश का मापदण्ड है-सार्द्धदशाङ्गुलभाव। कहाँ विराट्काल, और कहाँ यह मानव का क्रमसिद्ध-गणनात्मक-प्रादेशमित-प्रदेशात्मक-काल ! । इस प्रदेशात्मक चान्द्रकाल की अपेक्षा मूर्त्त सौरकाल (दिव्यसहस्रयुगात्मक) देशात्मककाल माना जायगा, तदपेक्षया आपोमय-पारमेष्ठ्य-अमूर्त्तकाल को 'दिगात्मककाल' कहा जायगा। सर्वान्त के प्राणमय स्वायम्भुव अनन्तकाल को 'कालात्मककाल' कहा जायगा। यों इन चारों कालों के साथ क्रमशः काल-दिक्-देश-प्रदेश-इन चारों कालविवर्त्तों का सम्बन्ध माना जा सकेगा। परिलेख के द्वारा लक्ष्य बनाइए इस कालमहिमा को, एवं तदाधार पर ही अपनी प्राकृत-मान्यताओं से अनुप्राणित दिग्देशकालभावों के समन्वय का प्रयत्न कीजिए।

कालमहिमाचतुष्टयी-परिलेखः—

१–स्वायम्भुवकालः-अनन्तः (स्वायम्भुववर्षः-ब्राह्मकालः)–कालः (कालकालः–स्वायम्भुवः)।

२–पारमेष्ठ्यकालः–अमूर्त्तः (पारमेष्ठयवर्षः-पैत्र्यकालः)–दिक् (दिककालः–पारमेष्ठयः)।

३–सौरकालः——मूर्त्तः (सौरवर्षः——दैवकालः)—देशः (देशकालः–सौरः)।

४–चान्द्रकालः—मूर्त्तिः (चान्द्रवर्षः—मानवकालः)-प्रदेशः (प्रदेशकालश्चान्द्रः)।

——*——

प्राकृतकालानुगतः-प्राकृतमानवः–(अक्षरविवर्त्त मिदम्)

१–अव्ययानुगताक्षरकालः–प्राकृत एव–तदनुगतः–भूतात्मा (मानवस्य) स्वायम्भुवः।

२–अक्षरानुगताक्षरकालः–प्राकृत एव–तदनुगतः–विज्ञानात्मा-(मानवस्य)–पारमेष्ठयः।

३–क्षरानुगताक्षरकालः—प्राकृत एव—तदनुगतः–प्रज्ञानात्मा (मानवस्य)–सौरः।

*४–विकारानुगतः-क्षरकालः–प्राकृत एव–तदनुगतं–शरीरं (मानवस्य)–चान्द्रपार्थिवम्।

——*——

८६–अनन्तकाल की पूर्ण अभिव्यक्तिस्वरूप अमूर्त्तकाल, तत्पूर्णाभिव्यक्तिस्वरूप मूर्त्तकाल, तत्पूर्णाभिव्यक्तिस्वरूप मूर्त्तिकाल, एवं–'पुरुष एवेदं सर्वम्' मूलक पुरुषानन्त्य का संस्मरण—

इदमप्यत्र संस्मरणीयं, अविस्मरणीयश्च। यत्–अव्ययानुगत, अनन्ताक्षरात्मक–ब्राह्मकालात्मक–स्वायम्भुव–कालकालात्मक–सम्वत्सर अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–पारमेष्ठयकाल के रूप में। अक्षरानुगत, अमूर्त्ताक्षरात्मक–पैत्र्यकालात्मक–पारमेष्ठय–दिक्कालात्मक यह सम्वत्सर अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है सौरकाल के रूप में। क्षरानुगत, मूर्त्त–अक्षरात्मक–सौर–देशकालात्मक–यह सम्वत्सर अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है चान्द्रकालरूप में। एवं विकारक्षरानुगत, मूर्त्ति–क्षरात्मक–चान्द्र–प्रदेशकालात्मक–यह सम्वत्सर अपने अथ से इतिपर्य्यन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है मानवरूप में।

***–मानवेतर–प्राकृतप्राणिनांतु–तस्मिन्न तस्मिन्–चतुर्थे प्रकृत्यंशभूते प्रदेशात्मके–प्रादेशात्मके वा चान्द्रपार्थिवकाले–एव सर्वात्मना अन्तर्भावः, इति तेषामियत्तायाः परिमाणम्।**

यों उत्तर-उत्तर के कालविवर्त्त अपने पूर्व-पूर्व के कालविवर्त्तों को अभिव्यक्त करते हुए सर्वात्मक ही बन रहे हैं। अतएव मूर्त्तिरूप चन्द्रकाल मूर्त्त-अमूर्त्त-अनन्त भी है, मूर्त्तरूप सौर काल अमूर्त्त-अनन्त भी है। अमूर्त्तरूप पारमेष्ठय काल अनन्त भी है। और अनन्त स्वयम्भू तो अनन्त है ही। अतएव प्रदेशात्मक चान्द्रतत्त्व भी अनन्त है, देशात्मक सौरतत्त्व भी अनन्त है, दिगात्मक पारमेष्ठ्य तत्त्व भी अनन्त है। अनन्त स्वायम्भुव काल के विवर्त्तरूप सभी काल, सभी दिग्भाव, सभी देशभाव, सभी प्रदेशभाव अनन्त ही प्रमाणित हो रहे हैं, इति नु अहो कालमहिमा कालकालस्यानन्तपुरुषस्य। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं-यच्च भाव्यम्'।

८७-अनन्तकाल की 'कालरूपता', अमूर्त्तकाल की 'दिग्रूपता', मूर्त्तकाल की 'देशरूपता', मूर्त्तिकाल की 'प्रदेशरूपता', एवं कालातीत अनन्तात्मपुरुष के माध्यम से ही चतुर्विध कालविवर्त्तों का समन्वय—

स्वयम्भूरूप अनन्तकाल से आवृत परमेष्ठीरूप अमूर्त्तकाल यदि काल है, तो मूर्त्त-सूर्य्यकाल 'दिक्' है, चन्द्रकाल 'देश' है, चान्द्रावयव 'प्रदेश' हैं। यदि पारमेष्ठय-अमूर्त्तकाल से आवृत सौरकाल 'काल' है, तो चन्द्रकाल दिक् है, चान्द्रावयवरूप अयन-ऋतु-मास-पक्ष-अहोरात्रादि पर्व-देश है, एवं तदनुप्राणित साम्वत्सरिक भूतभौतिक-पदार्थ प्रदेश हैं। यों अन्तरान्तरीभाव-सम्बन्ध से महतोमहीयान् अनन्तकाल-स्वायम्भुवकाल से आरम्भ कर अणोरणीयान्-हृद्यकालपर्य्यन्त मध्य के सभी विवर्त्त पारस्परिक अपेक्षा से काल-दिक्-देश-प्रदेशात्मक बनते हुए अन्ततोगत्त्वा कालात्मक हीं प्रमाणित हो रहे हैं, जिस इस कालात्मकता का समन्वय कदापि कालिक-प्राकृत-मानव तो नहीं हीं कर सकता अपनी प्रदेशकालात्मिका चान्द्री बुद्धि (मनोवशवर्त्तिनी लोकबुद्धि) से। मानव का कालातीत अप्राकृत निरपेक्ष आत्मभाव ही इस काल का यथावत् समन्वय कर सकता है, किया है कालातीत-ब्रह्मवित् महामहर्षिमानवोंनें। नात्र सन्देहलेशावसरः।

८८-भूतलक्षण अनन्तकाल, भविष्यल्लक्षण अमूर्त्तकाल, भवल्लक्षण मूर्त्तकाल, अभवल्लक्षण मूर्त्तिकाल, एवं-'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि' मूलक महदक्षरकाल का संस्मरण—

अब भूत-भविष्त्-भवत्-दृष्टि से कालस्वरूप का समन्वय कीजिए। भूत-भूतभविष्यत्-भवत्-और अभवत्, रूप से उक्त कालमहिमा के ही ये चार विवर्त्त मान लिए जायँगे। महाभूतादिरूप, अतएव 'महद्भयं-वज्रमुद्यतम्' रूप, ब्रह्मदण्डात्मक महाभूतात्मक-परमाकाशात्मक स्वयम्भू-ब्रह्मकाल ही 'भूतकाल' है, जिसका अर्थ है 'सत्तासिद्धकाल'। जन्य-जनक-मर्य्यादा से अतीत, कार्य्यकारणातीत यह 'भूतकाल' सर्वाधारकाल ही माना गया है, जो कलनात्मक-कालभाव से-परिवर्त्तन से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ एकरस ही प्रमाणित है। नात्र दिग्भावः। नास्य दिग्भावः। नापि वा देशभावः। प्रदेशभावस्य तु कथैव का। अपितु कलनात्मकाः सर्वे अमूर्त्त-मूर्त्तकालाः, सर्वा दिशः, सर्वे देशाः, प्रदेशाश्चात्रैवानन्तकाले गर्भीभूताः, इति दिग्देशप्रदेशकालातीतः—सर्वातीतः—सर्वव्याप्तः—सोऽयं कालकालः—अनाद्यनन्तः—स्थाणुः, सर्वसाक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च चेतनालक्षणः—परमदेवः—इति नु—'सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः—स ईयते परमो नु देवः'। त्रिकालातीत भूतकालात्मक अनन्त-स्वयम्भू-काल की यही तटस्थ-स्वरूप-परिभाषा है। अव्ययानुगत, अतएव अव्ययात्मक अक्षरकाल ही यह 'भूतकाल' है, जो-'सर्वमावृत्य तिष्ठति'।

अब कालत्रयानुबन्धी भूत--भविष्यत्--काल को लक्ष्य बनाइए । स्वायम्भुव निरपेक्ष 'भूतकाल' के आधार पर प्रतिष्ठित, इसी के यजुर्मय वागाकाश के विवर्त्तरूप, अक्षरानुगत--अक्षरात्मक--पारमेष्ठ्य--महदक्षरकाल का नाम ही हैं--'**भूत-भविष्यत्काल**', जो अपनी स्वायम्भुवी-अनुगति से सृष्टि का पूर्वभावात्मककाल बनता हुआ जहाँ भूतकालात्मक है, वहाँ यही सृष्टि के उत्तरभावानुबन्ध से भविष्यत्कालात्मक भी बन रहा है। व्यक्त सौरकाल की पूर्वावस्था ही इस का भूतकालत्व है, एवं व्यक्तसौरकाल की उत्तरावस्था ही इस का भविष्यत्-कालत्व है, जिन इन दोनों विवर्त्तों के मध्य में हीं वर्त्तमानकालात्मक भवत्काल प्रतिष्ठित है । '**अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः**' के अनुसार अमूर्त्त--अव्यक्त--तत्त्व ही 'अक्षर' की परिभाषा है । महदक्षररूप पारमेष्ठ्य अक्षर ही अव्यक्ताक्षर है, जो **अव्यक्तादि, व्यक्तमध्य, अव्यक्तान्त**--रूप से तीन भावों में परिणत होता हुआ **सृष्टि का पूर्वरूप, सृष्टि का मध्यरूप, सृष्टि का उत्तररूप**--भेद से तीन कालभावों से समन्वित हो रहा है । उसी महदक्षर की पूर्वा--अव्यक्तावस्था का नाम--'**भूत अक्षरकाल**' है, उसी महदक्षर की मध्या--व्यक्ता--अवस्था का नाम '**भवत्--अक्षरकाल**' है, एवं उसी महदक्षर की उत्तरा--अव्यक्तावस्था का नाम '**भविष्यत्--अक्षरकाल**' है । यों उस निरपेक्ष--अनन्त--स्वायम्भुव भूतकाल की साक्षी में यह पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल ही पूर्व--मध्य--अन्त--अवस्था रूपेण त्रिकालात्मक बन रहा है । मध्य का व्यक्तरूप भवत्काल कहने मात्र के लिए व्यक्त है । तत्त्वतः अपने प्रतिक्षण--विलक्षण--भावानुबन्ध से इसका मध्यस्थ व्यक्तक्षण भी अव्यक्तभाव से ही समन्वित रहता है । अतएव महदक्षरकाल को--भूत, तथा भविष्यत्कालात्मक ही मान लिया गया है, जैसाकि--'**भूतं--भविष्यत्प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्**' रूपेण स्पष्ट है ।

८९-परिलेखमाध्यमेन भूत-भविष्यत्-भवत्-अभवत्-रूपा कालचतुष्टयी का समष्ट्यात्मक समन्वय—

भूत-भविष्यल्लक्षण--अव्यक्त--अमूर्त्त--पारमेष्ठ्य--महदक्षरकाल के यत्किञ्चिदंशात्मक भृग्वङ्गिरोरूप से अभिव्यक्त--व्यक्त सौरकाल का नाम हीं भवत्काल है, यही वर्त्तमानकाल है । एवं इस सौरकाल के यत्किञ्चित् प्रवर्ग्यभूत सावित्राग्निकाल से अभिव्यक्त--मूर्त्तिरूप--पार्थिव--चान्द्रकाल का नाम हीं 'अभवत्' काल है, जिस के लिए श्रुति ने--'**अभूत्**' कहा है । **अभूद्वा इयं पृथिवी**--(सचन्द्रा) ही इसका भूमित्त्व है । अभवत्कालता ही 'अभूत्' भाव है, जैसाकि--"**अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा । तद्भूमिरभवत् । यदप्रथयत्-सा पृथिव्यभवत्**" (शत० ६।१।१।१५) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । तदित्थं-ब्राह्म स्वायम्भुवकाल **भूतकाल है**, पैत्र्य-पारमेष्ठ्य काल **भूतभविष्यत्काल** है, दैवसौरकाल **भवत्काल है**, एवं इन तीनों की समन्वितावस्थारूप चान्द्रपार्थिव मानवकाल **अभवत्काल है** । 'अभवत्' की प्रतिष्ठा 'भवत्' है, भवत् की प्रतिष्ठा भूतभविष्यत् है, एवं सर्वप्रतिष्ठा है त्रिकालातीत--निरपेक्ष--भूतकाल । और यही इन चारों कालविवर्त्तों का त्रिकालानुबन्धी समन्वय है ।

१—अव्ययात्मकोऽक्षरकालः——स्वायम्भुवः——त्रिकालातीतो भूतकालः (कालात्मकः)
२—अक्षरात्मको महदक्षरकालः-पारमेष्ठ्यः——भूत-भविष्यत्कालः (दिगात्मकः)
३—क्षरात्मकोऽक्षरकालः——सौरः—— ——भवत्कालः (देशात्मकः)
४—विकारात्मकः क्षरकालः——चान्द्रः-पार्थिवश्च-अभवत्कालः (प्रदेशात्मकः)

——*——

६०-सर्वाधाररूप-'सत्यस्य सत्यम्' रूप काल—

अब एक अन्य दृष्टि से कालचतुष्टयी का समन्वय कीजिए, एवं इस दृष्टि से-'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का अन्वेषण कीजिए। अनन्ताक्षरमूर्त्ति स्वायम्भुव-**भूतकाल**, तथा अमृताक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य **भूतभविष्यत्-काल**, इन दोनों कालों की समष्टि को अपने सहजसिद्ध अव्यक्तभाव के कारण एक ही '**अव्यक्तकाल**' मान लिया जा सकता है, मान लिया गया है दोनों के दाम्पत्यभाव से। भूतकालात्मक स्वयम्भूब्रह्म यदि **महाकाल-पुरुष है**, तो भूतभविष्यत्कालात्मक पारमेष्ठ्य सुब्रह्म इसी पुरुष की महाशक्ति **महाकाली है**। इन दोनों की समष्टि ही वह प्रथम दाम्पत्य है, जिससे भवत्कालात्मक व्यक्त सूर्य्यपुत्र का आविर्भाव हुआ है। 'सत्य' सूर्य्य का जन्मदाता, सौरब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता यही महाकाल '**सत्यस्यसत्यम्**' काल है, और यही प्रस्तुत दृष्टि-कोण का प्रथम '**सर्वाधारकाल**' है।

६१-सत्यस्य सत्यात्मक महदक्षरकाल, सत्यात्मक सौर सम्वत्सरकाल, ऋतसत्यात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल, ऋतात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल, तदनुप्राणिता अनन्त-वर्ष-अहः-मास-रूपा कालचतुष्टयी, एवं-'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का संस्मरण—

इस सर्वाधार प्रथमकाल के आधार पर ही सुप्रसिद्ध **सत्यसौरसम्वत्सरकाल**, **ऋतसत्यपार्थिव-सम्वत्सरकाल**, तथा **ऋतचान्द्रसम्वत्सरकाल**, ये तीन क्रमकाल क्रमशः प्रतिष्ठित-आहित-समाहित हैं। सौरकाल उसमें **प्रतिष्ठित है**, पार्थिवकाल उसमें **आहित है**, एवं चान्द्रकाल उसमें **समाहित है**। इन तीनों सम्वत्सरकालों का पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। (देखिए पृ० सं० ३५६ की तालिका)। सत्यस्यसत्यंरूप स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सम्वत्सरप्रतिष्ठा--तत्व पर प्रतिष्ठित सत्यमूर्त्ति सौरसम्वत्सर ही ऋतसत्यमूर्त्ति पार्थिवसम्वत्सर के, तथा ऋतमूर्त्ति चान्द्रसम्वत्सर के समन्वय से उस **प्रजासृष्टि के प्रवर्त्तक** बनते हैं, जिनके अर्द्धभाग में **पुरुष** प्रतिष्ठित है, एवं अर्द्धभाग में **स्त्री** प्रतिष्ठत है। सत्यात्मक सूर्य्य ही '**सत्यम्' है**, ऋतसत्यात्मक पार्थिवविवर्त्तरूप पुरुष ही '**शिवं**' है, एवं ऋतात्मक चान्द्रविवर्त्तरूपा स्त्री ही '**सुन्दरम्**' है। 'सत्यं' रूप सौरसम्वत्सर ही '**वर्ष**' है, 'शिवं' रूप पार्थिवसम्वत्सर ही '**अहः**' है, एवं 'सुन्दरं' रूप चान्द्र-सम्वत्सर ही '**मासः**' है। तीनों सम्वत्सरों का परस्पर अतिमानसम्बन्ध है। अतएव तीनों मिलकर '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' रूप एक सम्वत्सर है। अतएव '**अहर्वाविसंख्यानात्**' इत्यादि मीमांसा-सिद्धान्तानुसार वर्ष-मास-अहः-तीनों विचालीभाव हैं। जो वर्ष है, वही मास भी है, अहः भी है। जो मास है, वही वर्ष भी है, अहः भी है। एवं जो अहः है, वही वर्ष भी है, मास भी है। हिरण्मय वैश्वरूप्यात्मक सौर सम्वत्सर रूप 'सत्य' का निरूपक शास्त्र ही '**सूर्य्यपुराण**' है। इलान्दवैश्वरूप्यात्मक पार्थिव ऋतसत्यसम्वत्सररूप 'शिवं' का निरूपक शास्त्र ही '**शिवपुराण**' है। एवं नक्षत्रवैश्वरूप्यात्मक चान्द्रसम्वत्सररूप 'सुन्दरं' का निरूपक शास्त्र ही '**शक्तिपुराण**' (**देवीभागवत-मार्कण्डेयपुराण**) है। यों इस दृष्टि से भी सम्वत्सरात्मक महाकाल के चार विवर्त्तों का समन्वय किया जा सकता है।

१–सत्यस्यसत्यसम्वत्सरः–स्वा०पा० (अनन्तभावः)—सर्वप्रतिष्ठा (ब्रह्मपुराणे–प्रपञ्चितम्)।

२–सत्यसम्वत्सरः—सौरः (वर्षभावः)—सत्यम् (सूर्य्यपुराणे— ,,)।

३–ऋतसत्यसम्वत्सरः-पार्थिवः (अहर्भावः)-शिवम् (शिवपुराणे —,,)।

४–ऋतसम्वत्सरः—चान्द्रः (मासभावः)-सुन्दरम् (शक्तिपुराणे–,,)।

—*—

६२–निर्विशेष–निरपेक्ष–अनन्तब्रह्म का प्रतीक सत्यस्य सत्यकाल, तत्प्रतीक सत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतसत्यकाल, तत्प्रतीक ऋतकाल, एवं काल के सत्यं–शिवं–सुन्दरं–रूप सौर–पार्थिव–चान्द्र–भावों का दिग्दर्शन—

निर्विशेष–निरपेक्ष–अनन्तब्रह्म का प्रतीक माना जायगा अनन्तकालात्मक स्वायम्भुव–सत्यस्य–सत्यरूप सम्वत्सर को। इस का प्रतीक माना जायगा सत्यात्मक सौरसम्वत्सर को। इसका प्रतीक माना जायगा शिवात्मक पार्थिवसम्वत्सर को। एवं इसका प्रतीक माना जायगा सुन्दरात्मक चान्द्रसम्वत्सर को। इस प्रतीकता का अर्थ होगा वह दृष्टान्तविधि, जिस के माध्यम से ही मानवप्रज्ञा अनन्तब्रह्म का अनुमान लगाने में समर्थ बना करती है। और यह दृष्टान्तपरम्परा अनन्तस्वयम्भू–काल पर जाके परिसमाप्त हो जाती है। कदापि यह दृष्टान्त उस अन्तिम अनन्त धरातल पर पहुँच कर भी स्वयं 'सिद्धान्त' नहीं बनने पाता। यही इस 'कालदृष्टान्त' की विलक्षणता है, जबकि कालातिरिक्त अन्य यच्चयावत् भौतिक दृष्टान्त सिद्धान्त बनते हुए मानव को अनन्तभाव से पराङ्मुख ही प्रमाणित कर देते हैं। क्योंकि कालातिरिक्त सभी दृष्टान्त सादि–सान्त बने रहते हुए कदापि उस अनन्तब्रह्म के प्रतीक नहीं बन सकते। अतएव महर्षि ने कालसूक्त के माध्यम से अनन्तब्रह्म की अनन्त महिमा का अनन्तकाल के द्वारा ही यशोगान किया है, जिस इस अनन्तकालदृष्टान्त की उपेक्षा कर, तत्स्थान में अध्यासवादमूलक भौतिक–सादि–सान्त–उदाहरणों को प्रतीक बना कर व्याख्याताओंनें इन दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त प्रमाणित कर दिया है। और यही अन्तोपक्रममूलक दार्शनिकों का वह महान् स्खलन है, जिसके निग्रह से ये इस अन्त के पाशबन्धन से बाहिर निकल ही नहीं पाए हैं, जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

अनन्तब्रह्मणो निर्विशेषस्य—

१–अनन्तकालः—महदक्षरः–एव–प्रतीकः–दृष्टान्ताधारात्मकः–दृष्टान्तः–सत्यस्य सत्यम्–

२–तस्यानन्तस्य—सौरसम्वत्सरः—प्रतीकः (सत्यम्)

३–तस्य सौरकालस्य-पार्थिवसम्वत्सरः-प्रतीकः (शिवम्)

४–तस्य पा० सं०–चान्द्रसम्वत्सरः–प्रतीकः (सुन्दरम्)

प्रकृतिसर्गे–सर्वश्रेष्ठ–दृष्टान्तस्तु–अनन्तकाल एव।

६३–दिग्देशकालातीत अनन्तकाल की मनःप्राणवाग्रूपता, मनोमय--अमूर्त्तकालात्मक 'सत्यं' काल, प्राणमय मूर्त्तकालात्मक 'शिवं' काल, एवं वाङ्मय मूर्त्तकाला--त्मक--'सुन्दरं' काल का स्वरूप–समन्वय—

'काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्' इत्यादि अथर्वमन्त्र (अष्टमसूक्त सप्तम मन्त्र) के अनुसार किसी 'काल' नामक तत्त्व के आधार पर मन, प्राण, और नामोपलक्षिता वाक्, ये तीन भाव प्रतिष्ठित–आहित–समाहित हैं। उक्त कालचतुष्टयी ही इस दृष्टिकोणका अनुरूप समन्वय है। अनन्तकाल ही 'काले' है, सौरसम्वत्सरकाल ही 'मन' है, पार्थिवसम्वत्सरकाल ही 'प्राण' है, एवं चान्द्र–सम्वत्सरकाल ही 'वाक्', किंवा वाङ्मय 'नाम' है। ये तीनों हीं क्रमशः सापेक्षभावापन्न काल–दिक्–देश–भाव हैं। सौर–सम्वत्सरकालात्मक मनोभाव ही सापेक्ष मूर्त्तकालात्मक 'काल' है, पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक प्राणभाव ही 'दिक्' है, एवं सापेक्ष चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक वाग्भाव ही 'देश' है। यों सत्यस्यसत्यंरूप स्वायम्भुव अनन्तकाल के आधार पर ही मनः-प्राण–वाङ्मय–काल--दिक्--देश--रूप सापेक्ष कालविवर्त्त प्रतिष्ठित--आहित–समाहित हैं। इन तीनों की समष्टि ही मूर्त्त--व्यक्त--काल है, जिसे प्राकृत–जड़काल--कहा गया है। एवं तीनों का आधारभूत अनन्तकाल ही प्रकृतिरूप अमूर्त्त--अव्यक्तकाल है, जिसे 'चेतनकाल' माना गया है। अक्षरकाल चेतनकाल है, क्षरकाल ही अचेतनकाल है। प्राकृत मानव जिसे दिक्--देश--काल--कहते--मानते हैं, वह यह त्रिमूर्त्ति क्षरकाल ही है। एवं आत्मनिष्ठ अप्राकृत मानव जिसे काल कहते हैं, वह वही सर्वाधिष्ठाता अक्षर-काल है। ब्रह्म का प्रतीक यही अक्षरकाल है, अव्यक्तकाल है, अनन्तकाल है, जबकि विश्व के प्रतीक क्षरकालात्मक काल--दिक्–देश--भाव भी बने रहते हैं। अतवए कदापि इन क्षरात्मक सापेक्ष--जड़भावापन्न--मूर्त्त--दिग्--देश--काल--भावों की प्रतीकता से उस कालातीत निरपेक्ष अनन्तब्रह्म की अभिव्यक्ति नहीं होसकती। उसकी अभिव्यक्ति का तो एकमात्र प्रतीक अमूर्त्त--अनन्तकाल ही माना गया है, जिसमें न तो क्रमात्मक कलनभाव है, न पूर्वादि दिग्भाव है, न देश--भाव। अतएव जबतक मानव की दिग्देशकालानु–गता बुद्धि बुद्धिगम्या इस क्रमव्यवस्था को ही प्रधान मानती रहेगी, तबतक कदापि यह अपनी इस बुद्धिगम्या सापेक्ष--व्याख्या से उस कालातीत का स्मरणाधिकार भी प्राप्त नहीं कर सकेगी। क्योंकि वह इन व्याप्य--परिच्छिन्न--धर्म्मों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है।

१--अनन्ताक्षरकालः-मनःप्राणवाग्रूपः-दिग्देशकालातीतः-सर्वाधारभूमिः } ---अमूर्त्तकालः अक्षरकालः

२–सौरकालः——मनोमयः—सोऽयं कालः (रूपाधारभूमिः)
३--पार्थिवकालः—-प्राणमयः—सेयं दिक् (कर्म्माधारभूमिः)
४--चान्द्रकालः—-वाङ्मयः—सोऽयं देशः (नामाधारभूमिः)
} —मूर्त्तकालः क्षरकालः

——*——

(१) **जगतामाश्रयः कालः**——अमूर्त्तकालः–प्रकृतिकालः–अक्षरकालः–अनन्तकालः
(२) **जन्यानां जनकः कालः**—मूर्त्तकालः-प्राकृतकालः-क्षरकालः—अन्तकालः

१–सौरकालः—कालात्मकः–कालः (सत्यम्)
२–पार्थिवकालः-दिगात्मकः–कालः (शिवम्) —वर्त्तमानकालः
३–चान्द्रकालः–देशात्मकः–कालः (सुन्दरम्)

——*——

६४--क्रमसिद्धतत्त्वात्मक-'कालभाव', तदनुबन्धी क्रमभाव, एवं तदनुगत क्रमव्यवस्था-सिद्ध दिग्-देश-प्रदेश-भावों का समन्वय—

बुद्धिगम्या वैखरी वाणी के अनुसार 'काल' का अर्थ है–'**क्रमसिद्ध तत्त्व**', जिसका हम एक–दो–तीन–चार–इत्यादि गणनक्रम से, कल–आज–परसों–तरसों–आदि भावक्रम से, भूत–वर्त्तमान–भविष्यत्–आदि कालक्रम से, युग–वर्ष–अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–होरा–क्षण–निमेष–आदि अवयवक्रम से अपने व्यावहारिक जगत् में संग्रह–अनुगमन–करते रहते हैं। क्रमसिद्ध-कलनभावात्मक, अतएव कलाभावात्मक-अनेक खण्डों–अवयवों की समष्टि का नाम हीं क्रमसिद्ध काल है, जिस की उपक्रमभूमि दिक् ही, दिगनुगत देश ही बना हुआ है। दिगनुगत देश, देशात्मक प्रदेश से ही इस क्रमसिद्ध काल का संग्रह–बोध हुआ करता है। देशात्मक प्रदेश ही काल में क्रमव्यवस्था का आधान करता है। यदि दिग्देशात्मक प्रदेशभाव को काल से पृथक् कर दिया जाता है, तो उस अवस्था में काल का क्रमभाव सर्वथैव अव्यक्तभाव में परिणत हो जाता है। एवं उस अवस्था में यही क्रमसिद्ध–मूर्त्तभावापन्न–व्यक्त–सीमित काल अपने स्वाभाविक–अमूर्त्त–अव्यक्त–निःसीम–अनन्तभाव में आजाता है। संख्या-सिद्धा कालगणना, किंवा गणनात्मक काल, मास–वर्ष–युगादि–काल, आदि आदि कलात्मक सम्पूर्ण मूर्त्तकाल–भावों का आधार वह मूर्त्ति ही मानी गई है, जिसका कोई आकार (दिक्) होता है, जिस आकार से सीमित उस वस्तु का कोई नामरूप होता है (देश-प्रदेश होता है)। यदि इन दिग्देशात्मक–सौर–चान्द्र–पार्थिवादि यच्चयावत् पदार्थों को विस्मृत कर दिया जाय, तो उस दशा में क्रमसिद्ध मूर्त्तकाल ही विस्मृति-पथानुगामी बन जाय। अतएव काल का क्रमभाव, संख्यानभाव दिग्देशप्रदेशानुबन्धी ही माना जायगा, माना गया है।

६५–कलनात्मक मूर्त्तकाल के मानसकाल–निमेषकाल–गणनकाल–नामक तीन विवर्त्त, एवं तीनों की सापेक्षता—

दिक्–देश–कालानुबन्धी, अतएव क्रमानुबन्धी कलनात्मक–शब्दात्मक,–तथा परिमाणात्मक इस मूर्त्तकाल को हम इसके तथोक्त काल–दिक्–देश–मनः–प्राण–वाग्–भावों की अपेक्षा से तीन विभिन्न दृष्टियों से समन्वित मान सकते हैं बुद्धिगम्या व्याख्या के माध्यम–द्वारा। सौरसम्वत्सरकालात्मक '**कालरूप**' मनोमय काल को ही '**मानसकाल**' कहा जायगा, जिसे मानव अपने **मनस्तन्त्र** से अनुप्राणित कर सकेगा, अतएव इसे

'संकल्पकाल' भी कहा जासकेगा। पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक 'दिग्रूप' प्राणमय काल को ही 'प्राणकाल' माना जायगा, जिसे मानव अपने प्राणात्मक निमेष से अनुप्राणित कर सकेगा, अतएव इसे 'निमेषकाल' भी कहा जासकेगा। चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक 'देशप्रदेश' रूप वाङ्मय काल को ही 'वाचिककाल' कहा जायगा, एवं इसे ही लोकप्रसिद्ध 'गणितकाल', किंवा 'गणनकाल' माना जासकेगा। इसप्रकार एक ही मूर्त्त व्यक्त सौरकाल के सूर्य्य–पृथिवी–चन्द्रमा–नामक तीन काल–दिक्–देश–विवर्त्तों के कारण मानसकाल–निमेषकाल–गणनकाल–ये तीन सापेक्षकाल व्यवस्थित बन जायँगे।

९६–सापेक्ष एकत्व से उपक्रान्त परमपरार्ध्यान्त व्याप्त गणनकाल, तदाधारभूत निमेषकाल, एवं तदाधारभूत मन्वन्तरकालात्मक मानसकाल—

इन तीनों में कलनात्मक काल गणनकाल ही माना जायगा, जिसका सापेक्ष एक (१) संख्या से आरम्भ कर परमपरार्ध्यसंख्या-पर्य्यन्त विस्तार हुआ है। एवं जिस इस गणनकाल के आधार पर ही ज्योतिषशास्त्र सुप्रतिष्ठित है, एवं जिसका मुख्य आधारस्तम्भ दिग्भावानुगत देशात्मक प्रदेश ही बन रहा है। देश-प्रदेशभाव गौण हैं। मुख्य तो दिग्भाव ही है। अतएव ज्योतिषशास्त्र के मूहुर्त्तगणनप्रसङ्ग में 'दिक्' को ही प्रधानता दी गई है। चान्द्रभावानुगत गणनकाल ही इस शास्त्र का क्योंकि मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अतएव मुहूर्त्तविशोधनात्मक गणनकाल में चान्द्रीस्थिति (तिथि) के अनुकूल-प्रतिकूल-भावों को ही प्रमुखता दी जाती है। इन तीनों कालों में से आज के भूतविज्ञानवादी प्राकृत मानव के सम्पूर्ण भूतविज्ञान का प्रमुख आधार यह क्रमसिद्ध-कलनात्मक-गणित-कालात्मक-चान्द्रकाल ही बना हुआ है, जबकि ज्ञानानुगत भारतीय विज्ञान के मौलिक सिद्धान्त गणितकाल के आधार भूत निमेषकाल से भी अतीत मानसकालरूप मन्वन्तरकाल से ही अनुप्राणित माने गए हैं।

९७–'अङ्गिरा मन उत्साहः' रूप मानसकाल, एवं तद्द्वारा निमेषकाल के माध्यम से गणनकाल की व्यवस्था—

अवश्य ही मुहूर्त्त–ग्रहगणित–आदि के लिए गणितकाल का भी उपयोग हुआ है भारतीय विज्ञानकाण्ड में। किन्तु सर्वत्र प्रमुखता रही है मानसकाल की ही। अतएव महर्षि अङ्गिरा ने–'अङ्गिरा मन उत्साहः' रूपेण मानस सत्यसंकल्प को ही मुहूर्त्त मान लिया है। गणितकाल विश्व का व्यवस्थापक नहीं है, अपितु मानसकाल ही निमेषकाल के द्वारा गणितकाल का व्यवस्थापक बना हुआ है। सौरसम्वत्सरकालात्मक मानस–संकल्पकाल ही निमेषकालात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल (दिग्भाव) का अभिव्यञ्जक बनता है, एवं इसके माध्यम से ही वही मानसकाल गणनकालात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल (देश–प्रदेशभाव) का अभिव्यञ्जक बनता है।

९८–मानसकाल से आवृत निमेषकाल, तेन आवृत गणनकाल, एवं भूतविज्ञानवादियों का गणनकाल से गणनातीत काल को आवृत करने का भातिरूप प्रयास, तथा तदुद्बोधनात्मक अनन्तकाल—

मानसकाल से निमेषकाल आवृत है, निमेषकाल से गणनकाल आवृत है, जबकि भूतविज्ञानवादी गणनकाल से ही उस गणनातीत तत्त्व को आवृत करने का निरर्थक प्रयास करता जा रहा है। उधर से इधर

आने में हीं तत्त्व का समन्वय सम्भव है। अनन्त से ही अन्त की ओर आया जाता है, जब कि भूतविज्ञान के सभी प्रकार अन्त को उपक्रम बना कर ही आज प्रक्रान्त हो रहे हैं, जिस इस अन्तोपक्रमता का निश्चित परिणाम अन्ततोगत्वा 'सर्वस्वान्त' ही बन जाया करता है। अनेक मिल कर एक नहीं बना करता, अपितु एक के ही अनेक महिमाभाव हुआ करते हैं। अतएव प्रत्येक महिमा अपने अपने रूप से परिपूर्ण है। यही उस अनन्त की अनन्त महिमा है, जिसके कारण उसका प्रत्येक अंश अपने अंशी के सम्पूर्ण स्वरूप को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक अंश स्वयं भी अंशी ही प्रमाणित हो रहा है। उस अनन्त पुरुष का अंशभूत प्रत्येक पुरुष स्व स्व आधार से अनन्त ही बना हुआ है। सर्वमिदमानन्त्यमेव।

९९–'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूप अनन्तकाल की अनन्तता के समतुलन में गणनकाल का निःसारत्त्व—

गणितकाल में कहाँ यह सामर्थ्य है, जो सहस्रधा महिमानः सहस्रं–रूप उस अनन्त का संग्रह कर डाले ?। इसीलिए तो पुनः पुनः हमें यही निवेदन करना पड़ रहा है कि, प्राकृत बुद्धिवादी की गणनक्रमसिद्धा बुद्धिगम्या दिग्देशकालात्मिका व्याख्या का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता उस अनन्त के समन्वय प्रसङ्ग में, जिसके आनन्त्य के समतुलन में गणनकाल की कौन कहे, तदाधारभूत निमेषकाल की, एवं तदाधारभूत मानसकाल की भी कोई स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता नहीं है।

१००–अनन्तात्मब्रह्म के आनन्त्य–संस्पर्श से पराःपरावृत, अतएव मानव की सहज शान्ति के विघातक भूतविज्ञानकाण्ड की कुकाण्डता, एवं अनन्तोपासक मानव की तन्निग्रहेण लक्ष्यहीनता—

जिसे अनन्तकाल कहा गया है, जिस महदक्षररूप अनन्तकाल के यत्किञ्चित् प्रदेश में ये मानस–निमेष–गणन–कालात्मक काल–दिक्–देश–भाव–बिन्दुमात्र बने हुए हैं, सर्वाधारभूत वह अनन्त–अक्षरकाल भी जिस अनन्तब्रह्म के एकांशमात्र में (यत्किञ्चिदंशमात्र में) बिन्दुरूपेण अवस्थित है, उस अनन्तानन्त (अनन्तकाल के भी आधारभूत अनन्त ब्रह्म) को गणनकालात्मक–चान्द्रकाल से जानने पहिचानने की धृष्टता करना, इस धृष्टता को कार्य्यरूप में परिणत होता न देखकर अपने गणनकालात्मक भूतविज्ञान को ही मानवस्वरूप का सर्वस्व मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करते जाना, इस विज्ञानभ्रान्ति के चाकचिक्य से मानव को उत्तरोत्तर अशान्त–विकम्पित–प्रमाणित करते रहना हीं यदि इस क्रमसिद्ध विज्ञान का एकमात्र महान् पौरुष है, तब तो एक आस्तिक भारतीय मानव की दृष्टि से तो अकाण्डताण्डवात्मक ऐसा विज्ञानकाण्ड निश्चयेन मानव की सहजशान्ति का महान् विघातक एक कुकाण्ड ही माना जायगा।

१०१–अनन्तकालाधार पर प्रतिष्ठित मूर्त्त–दिग्देशकाल की उपयोगिता का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही भारतीय विज्ञानाकाण्डात्मक यज्ञकाण्ड की व्यवस्थिति—

कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, भारतीय प्रजा भूतविज्ञान से कोई शत्रुता रखती है, किंवा गणनात्मक, दिग्देशकालात्मक भूतविज्ञान को वह मानव के अभ्युदय के लिए कोई प्रतिबन्धक समझती है।

कदापि भारतीय प्रज्ञा का एकमात्र यही पौरुष नहीं है कि, वह विश्वातीत अनन्तब्रह्म की अचिन्त्या-अप्रतर्क्या-कल्पनामात्र में आत्मविभोर बनी रहती हुई उसी अनन्तब्रह्म के महिमामय विश्व-सौन्दर्य्य से कोई लाभ न उठाते हुए अपने प्राकृत-भौतिक-स्वरूप को उपेक्षित कर लोकसुखों को जलाञ्जलि समर्पित कर अकर्म्मण्य रूपेण हाथ पर हाथ धरे ही बैठी रहे। अपितु अनन्तज्ञानब्रह्म की भाँति उसकी दृष्टि में तो उसी का महिमारूप यह प्राकृत भौतिक सत्य-विज्ञान-रूप विश्व भी वैसा ही आराध्य है (था), जिसकी आराधना के लिए ही सम्वत्सरमूलक वह **'यज्ञविज्ञान'** आविर्भूत हुआ था इसी आत्मप्रज्ञा के द्वारा, जिस ब्रह्मविद्यामूलक यज्ञविज्ञान के आधार पर वैध-यज्ञकर्म्म के वितान से ज्ञानविज्ञाननिष्ठ भारतीय मानव सम्पूर्ण लोकवैभवों का सम्राट्-स्वराट्-विराट्-भोक्ता बनता हुआ ही अनन्तब्रह्मसाधना में सफल होता रहता था।

१०२-अनन्तब्रह्मानुगत भूतविज्ञान की इष्टसाधनता-सर्वकामपूरकता, एवं साम्प्रदायिक-मतवाद-परम्पराओं से तीन सहस्र वर्षों से तद्विज्ञान की अन्तर्म्मुखता—

अनन्तब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित इसका भूतविज्ञान इसके नियन्त्रण में रहता हुआ सदा इसका इष्टसाधक ही बना रहता था *। इसका सम्पूर्ण यज्ञविज्ञान उस साम्वत्सरिक गणनकाल पर ही प्रतिष्ठित था, जिसका सुप्रसिद्ध **'चयनविज्ञान'** में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। जिस परमपरार्ध्यसंख्या का आज भूतविज्ञान में नामस्मरण भी उपलब्ध नहीं हो रहा, उस अन्तिम गणन के माध्यम से तो यहाँ का यज्ञविज्ञान व्यवस्थित हुआ था, जो दुर्भाग्यवश जगन्मिथ्यात्ववादी कल्पित ब्रह्मवादी वेदान्ती की कुदृष्टि से विगत २-३ सहस्र वर्षों से भारतीय प्रज्ञा से अन्तर्हित ही बन चुका है। अवश्य ही विज्ञानदृष्टि, तन्मूलक यज्ञविज्ञान, तन्मूलक पदार्थविज्ञान, तदनुगता विज्ञानपरिभाषाएँ आदि आदि सभी कुछ विस्मृत कर चुका है आज का यह भारतीय मानव।

१०३-विज्ञानाधारभूत-ज्ञानात्मक--शेषभूत-सांस्कृतिक बीजों के अनुग्रह से ज्ञानप्रतिष्ठा-वञ्चित, अतएव क्षणिक भूतविज्ञान की महती विभीषिका से भारतीय मानव का सम्भावित-आत्मत्राण—

तदपि इस के सांस्कारिक-पारम्परिक-प्रज्ञाकोश में विज्ञानाधारभूत ज्ञान के वे बीज तो आज भी प्रतिष्ठित हैं हीं, जिनके द्वारा यह आज के प्राकृत भूतविज्ञानपाश से तो अपना परित्राण कर ही सकता है अपनी शेषभूता भी ज्ञाननिष्ठा के अनुग्रह से। कदापि इसे आज का यह ब्रह्मप्रतिष्ठावञ्चित, आत्मस्वरूपप्रतिद्वन्द्वी, अतएव मानव के आत्मभाव का विस्मारक, अतएव च सर्वात्मना अशान्तिप्रवर्त्तक, ध्वंससर्ज्जक, प्राकृतबुद्ध्या समन्वित, नास्तिसार भूतविज्ञान प्रभावित नहीं कर सकता। और यही इस भारतीय मानव का महत्सौभाग्य

---

*-सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता

है, जिस के बल पर आज भी यह अपनी आत्मनिष्ठा के बलपर ही अपना लक्ष्य निर्द्धारित करने की क्षमता रख रहा है। एवं इसी क्षमता के बलपर आज की अपनी अवैज्ञानिक दशा, किंवा दुर्दशा में भी उन सुदशा-शाली भूतविज्ञानवादियों को ब्रह्मप्रतिष्ठावञ्चित उनके सर्वविनाशक भूतविज्ञान के प्रति उद्बोधन प्रदान कर ही सकता है, जिसे स्वीकार करना, न करना तो उनके सदसद्विवेक से ही अनुप्राणित माना जायगा।

१०४-वर्त्तमान भूतविज्ञान के सङ्गदोष से समुत्पन्ना भारतीय वेदभक्तों की महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा भारतीय वैदिक आर्षविज्ञान के मौलिक-स्वरूप की अन्तर्म्मुखता—

भूतविज्ञानप्रसङ्ग से सम्बद्धा यह प्रासङ्गिक-चर्चा एक विशेष उद्देश्य से ही यहाँ प्रवृत्त हो पड़ी है। वर्त्तमान भूतविज्ञान के सङ्गदोष से इधर कुछ समय से वेदभक्त भारतीय विद्वान् वैदिक शब्दों के जोड़-तोड़ के माध्यम से वेदशास्त्र को भी विज्ञानसिद्ध-प्रमाणित कर देने के लिए आतुर बनते जारहे है। और इस 'विज्ञान' की खोज के माध्यम से आज के प्रतीच्य-विज्ञानवादी के सम्मुख वे यह प्रमाणित कर देना चाहते हैं कि, "जिस विज्ञान से वे आज विश्व को चमत्कृत करते जारहे हैं, वह सम्पूर्ण विज्ञान इन के वेदादि शास्त्रों में भी निहित है। अतएव ये भी उनके समानासानों पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं"। कहना न होगा कि, भारतीय विद्वानों का यह विज्ञानाभिनिवेश न केवल निरर्थक ही है, अपितु वेदशास्त्र का मौलिक स्वरूप विकृत ही बनता जारहा है इन भारतीयों की इसप्रकार की परप्रत्ययनेयमूला भावुकता से सम्बन्ध रखने वाली विज्ञान की खोज से।

१०५-विकारात्मक वर्त्तमान विज्ञान से असंस्पृष्ट ज्ञानानुगत भारतीय सृष्टिविज्ञान, तदाधारभूत-'न त्वहं तेषु--ते मयि' सूत्र का समन्वय, एवं तद्द्वारा ही स्वनिष्ठा-त्मक स्वस्वरूप का संरक्षण—

वैदिक विज्ञान का आज के भूतविज्ञान से कुछ भी तो साम्य नहीं है। 'न त्वहं तेषु, ते मयि' सिद्धान्तानुसार यह बहुत सम्भव है कि, उनके वर्त्तमान-भूतविज्ञान के अमुक सिद्धान्तों को भारतीय विज्ञान-काण्ड में भी आंशिक प्रश्रय मिल जाता हो गच्छतः स्खलनरूप से, घुणाक्षरन्यायेन। किन्तु स्वयं भारतीय विज्ञान अपने महिमामय स्वरूप से तो कदापि उन के आंशिक जड़-भूत-विज्ञान में गर्भीभूत नहीं हो सकता। अतएव वे अवश्य ही अपनी प्रामाणिकता के लिए भारतीय विज्ञान की शरण ले सकते हैं। किन्तु भारतीय वेदविज्ञान को अपनी प्रामाणिकता के लिए उन के तत्त्ववाद की, उनकी दिग्देशकालक्रमव्यवस्थामूला भूत-विज्ञान-पद्धतियों के अनुगमन की न केवल आवश्यकता ही नहीं है, अपितु ऐसा करके तो भारतीय विज्ञान अपना मौलिक स्वरूप भी विस्मृत कर सकता है।

१०६–भारतीय आर्षविज्ञान का मूलाधारभूत अनन्त--अमूर्त्त--लक्षण--अधामच्छद–प्राणात्मक 'ऋषि' तत्त्व, तत्साक्षात्कर्त्ता भारतीय मानव की 'वैज्ञानिक--महर्षि' उपाधि का समन्वय, एवं तदुपाधि के सम्बन्ध में अभिनव--विद्वानों का भावुकता-पूर्ण स्खलन—

क्योंकि भारतीय यज्ञविज्ञान का मूलाधार जहाँ दिग्देशकालातीत, अमूर्त्त अनन्त–कालात्मक 'ऋषि' नामक 'प्राण' तत्त्व है, वहाँ प्रतीच्य भूतविज्ञान का मूलाधार दिग्देशकालानुगत–गगनकालोपबृंहित–स्थूल भूत ही बन रहा है। रूपरसगन्धस्पर्शशब्द नामक पञ्चतन्मात्राभावों से अतीत, अधामच्छद सुसूक्ष्म ऋषिप्राण का नाम हीं 'देवता' है, तन्मूलक 'देवताविज्ञान' का नाम हीं भारतीय विज्ञान है, जिसे ऋषिप्राण-सम्बन्ध से 'ऋषिविज्ञान' भी कहा जा सकता है। इस ऋषिप्राणात्मक नित्यविज्ञान के समन्वयकर्त्ता मानव–महर्षि ही 'वैज्ञानिक–महर्षि' कहलाए हैं। 'ऋषि' शब्द यों अपने प्राणात्मक ऋषिधर्म्म से एकमात्र भारतीय महर्षि मानव में हीं निरूढ है। कदापि उस भूतवैज्ञानिक को 'ऋषि' नहीं कहा जासकता, जिसके भूतविज्ञान में 'ऋषिप्राण' का संस्मरण भी नहीं हुआ है। 'भूतवैज्ञानिक' ही उपाधि पर्य्याप्त होगी इन वर्त्तमान विज्ञानवादियों के लिए। किन्तु देखते हैं–इन के भूतविज्ञान से प्रभावित, साथ ही भारतीय–'ऋषिविज्ञान' (प्राणविज्ञान) के पारिभाषिक–समन्वय में असमर्थ कतिपय वे भारतीय वर्त्तमान वेदभक्त–जो वेदशास्त्र के साथ वर्त्तमान भूतविज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आतुर हो रहे हैं–**'ऋषि वैज्ञानिक थे, तो आज के वैज्ञानिक ऋषि हैं'** इसप्रकार के भावुकतापूर्ण उद्गारों से भावुक--जनता को भ्रान्तिपथानुगामिनी ही बनाते जारहे हैं।

१०७–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मूलक 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' लक्षण अनाद्यनन्त दिग्देशकालातीत--ऋषिविज्ञानात्मक-आर्षविज्ञान के साथ दिग्देशकालात्मक–सादि–सान्त वर्त्तमान–भूतविज्ञान का आत्यन्तिक असम्बन्धात्मक--सम्बन्ध—

कदापि कोई भी साम्य नहीं है भारतीय **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** पर प्रतिष्ठित, ऋषिप्राणमूलक–**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** लक्षण भारतीय ऋषिविज्ञान के साथ आज के सादिसान्तभावापन्न–क्षणिक भूतविज्ञानात्मक प्राकृत विज्ञानविजृम्भण का, जिस से मानव के प्राकृत–भूत जीवन को वैसा समुत्तेजन ही मिलता जारहा है, जो समुत्तेजन कालान्तर में मानव को प्राकृत अनुकूलता देता हुआ इसे संघर्षशून्य–मृत्युगह्वर में हीं प्रक्षिप्त कर देगा। अतएव कदापि हमें इस समन्वय–व्यामोहन का स्मरण भी नहीं करना चाहिए। इससे वेदविज्ञान का मौलिक स्वरूप तो अन्तर्हित होगा ही, साथ ही हमारी विज्ञानमूला वह आचार-पद्धति भी इस भूतविज्ञानव्यामोहन से शिथिल हो जायगी नित्यविज्ञानसिद्धा जिस आर्षपद्धति से, आर्षधर्म से आजतक भारतीय मानव अपनी आत्मनिष्ठा सुरक्षित रखता आया है।

१०८–त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षता के निग्रह से अन्तर्मुखप्रमाणिता भारतीय–ज्ञानविज्ञाननिधि की परीक्षणात्मिका तात्कालिक–अभिव्यक्ति की दुराशा, एवं तथाविध संकटकाल में एकमात्र अनन्यशरण विज्ञानमूलक भारतीय सांस्कृतिक–आचारों का अनुगमन, तथा तन्निष्ठारक्षणाय भूतविज्ञान–विजृम्भण से निष्ठापूर्वक आत्मपरित्राण—

प्रतीच्य भूतविज्ञानसंस्कारों के सम्पर्क में आने वाले, साथ ही उन्हीं प्रतीच्य–जीवनपद्धतियों को विज्ञान–सिद्धा–सर्वोत्कृष्टा पद्धतियाँ मानने मनवाने–जैसे 'अन्तर्राष्ट्रीयख्याति' रूप महान् व्यामोहन में आपादमस्तक–निमज्जित वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र के निग्रह से, विगत अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्ता साम्प्रदायिक दृष्टिनिग्रह से, तथा तद्दृष्टिसमर्थक लोकलिप्सु तद्युग के साम्प्रदायिक विद्वानों की भावुकता से, सर्वोपरि सत्तातन्त्रभक्त आज के प्रतीच्यविचारोच्छिष्टभोगी भारतीय अर्वाचीन विद्वानों की महती कृपा से यह सम्भव है, सम्भव ही क्या, अज्ञातकालावधिपर्य्यन्त तो यह निश्चित ही है कि, भारतीय–प्राच्य–ऋषिदृष्टिकोण के माध्यम से न तो वैदिक तत्त्ववाद का पारिभाषिक अन्वेषण ही अभी सम्भव, एवं न परीक्षण ही सम्भव। ऐसी स्थिति में ऋषि-प्राणमूलक अभ्युदयकर यज्ञविज्ञान का पुनरुद्धार भी दुर्भाग्यवश अभी कालप्रतीक्षा का ही अनुगामी मान लिया जायगा, जबकि आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भी भारतराष्ट्र में सहस्राब्दियों से अन्तर्मुख बने हुए वेदादि शास्त्रों के तत्त्वपूर्ण–पारिभाषिक अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था भी सुदुर्लभा ही प्रमाणित हो रहा है। ऐसी विषमा स्थिति में तो विज्ञानसिद्ध आचारात्मक श्रौत-स्मार्त्त–धर्म्म, एवं तदनुगता सहज जीवनपद्धति का यथाशक्य अनुगमन ही वर्त्तमान भारतीय आस्तिक मानव के लिए एकमात्र अशरणशरणभूमि बना रहना चाहिए। निश्चयेन यह अपने आचारधर्म्मानुष्ठानमात्र से भी आज की विज्ञान की घुड़दौड़ में विजेता ही बना रहेगा इस आचारधर्म्म के अनुग्रह से मानवसुलभ–मानवता, सुख, शान्ति–आदि परिणामों की दृष्टि से। कदापि इसे उस भूतविज्ञान के विजृम्भण का तो स्मरण भी नहीं हीं करना चाहिए, जिसका मूल उद्देश्य ही लोकैषणा–त्मिका वित्तैषणा ही बनी हुई है अथ से इति पर्य्यन्त *।

१०९–प्रकृतानुसरण–दिक्–देश–काल–शब्दार्थों का बुद्धिगम्य, अतएव भावुकता-संरक्षक–समन्वय, एवं तदर्थ उदाहरणविध्यात्मक आम्रवृक्ष का संस्मरण—

प्रकृतमनुसरामः--पापपाशं तरामः। बुद्धिगम्या प्राकृत-व्याख्या के अनुसार 'काल' का अर्थ गणनात्मक-कलनात्मक-क्रमसिद्ध--अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन-आदि पर्वों की समष्टि रूप 'वर्ष' ही है, जिसे वैदिकपरि-भाषा में हम सौर-पार्थिव-सम्वत्सरानुगत चान्द्र-'ऋतसम्वत्सर' नाम से व्यवहृत करेंगे। इस काल का परिचायक है प्रदेशात्मक वह पदार्थ, वह भौतिक--वैकारिक--धामच्छद--द्रव्य, जिस में बाह्याकार, तथा बाह्याकार से आकारित भूत पदार्थ, ये दो भाव समन्वित हैं। पदार्थों का बाह्याकार ही पदार्थ का 'दिक्'--भाव है, एवं इस दिग्रूपा बाह्यसीमा से परितः (चारों ओर से) वेष्टित–छन्दित--सीमित--धामच्छद--स्थानावरोधि भौतिक द्रव्य

---

* देखिए–'भारतीय दृष्टिकोण से--'विज्ञान' शब्द का समन्वय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

ही देशात्मक प्रदेश है। दिगात्मक देशरूप इस प्रदेश के आधार पर ही पूर्वोक्त कलनात्मक--क्रमसिद्ध--विविध-पर्वात्मक--वर्षकाल अपने कालिक स्वरूप से अभिव्यक्त हो रहा है, जिसके लिए एक आम्रवृक्ष को ही उदाहरण बना लेना पर्य्याप्त होगा।

११०-सम्वत्सरकालानुबन्धिनी--दिग्देशकालात्मिका ऋतुओं के द्वारा आम्रवृक्ष में बाल--युवा--वृद्ध--अवस्थात्रयी का उपभोग—

आम्रबीज (आम की गुठली) को यथासमय (चैत्र में, अथवा तो आषाढस्य प्रथमदिवसे) भूगर्भ में न्युप्त कर उस में जलसेक कर दिया जाता है, गर्त्त को सम बना दिया जाता है। कालान्तर में इसी दिग्देशात्मक बीज के आधार पर ऋतुकालानुपात से अङ्कुर निकल पड़ता है, जिस अङ्कुर का दिक्-देश बीज के दिग्देश से सर्वथा पृथक् ही होता है। यों पुनः-पुनः-जलसेक से-अङ्कुरतः-अङ्कुर-परम्परा से कालान्तर में वही आम्रबीज 'आम्रवृक्ष' रूप में परिणत होता हुआ आम्रमञ्जरी-अपरिपक्व आम्रफल (कैरी)-परिपक्व आम्रफलादि के रूप में परिणत होता जाता है स्व स्व ऋतुकालों में। अनन्तर इस प्रजननकाल की परिसमाप्ति पर ह्रासकाल आरम्भ होता है। फल-पत्ते-झड़ने लगते हैं। होते होते शरत्काल में तो पुनः डण्ठलमात्र ही शेष रह जाता है। शिशिरपर्य्यन्त इसी ह्रासकाल का साम्राज्य रहता है। तदनन्तर वसन्तकाल आता है। पुनः नवीन पत्ते अङ्कुरित होते हैं, पुनः वही मञ्जरी, वे ही फल, और वही वितान। यों एक सम्वत्सरकालभोग में आम्रवृक्ष अपनी बाल-युवा-वृद्ध-तीनों अवस्थाओं का अनुगामी बन जाता है। मानो सम्वत्सरकाल ही एक सम्वत्सर में अपने पूर्णस्वरूप का उपभोग कर लेता है इस एक ही आम्रवृक्ष में।

१११-सम्वत्सरकाल के आधार पर एक सम्वत्सरकाल की एक सम्वत्सरकाल में पूर्ण स्वरूपाभिव्यक्ति, अभिव्यक्तिमूला सम्वत्सरत्रयी, एवं सम्वत्सरकालत्रयी--मूर्त्ति एक आम्रवृक्ष—

'सम्वत्सरकाल सम्वत्सरकाल में पूर्णस्वरूप का भोग कर लेता है' वाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए कालस्वरूप-समन्वय के लिए। जबतक दो सम्वत्सरकाल नहीं मान लिए जाते, तबतक इस वाक्य का वाक्यार्थ समन्वित नहीं होसकता। अवश्य ही दो ही सम्वत्सरकाल विद्यमान हैं एक सम्वत्सर में। लीजिए यह तीसरा 'सम्वत्सर' और आगया। **"एक सम्वत्सर में प्रतिष्ठित एक सम्वत्सर एक सम्वत्सर कालावधि में अपना सम्पूर्ण स्वरूप भोग लेता है"** इस वाक्य का अब वाक्यार्थ-समन्वय हुआ-**'काले कालः कालावधौ सर्व-कृत्स्नं-स्वरूपमुपभुङ्क्ते'**। **'काले, अर्थात् मानसकाले, कालः-अर्थात्-निमेषकालः-कालावधौ-अर्थात्-गणनकालावधौ'** यही अर्थ होगा इस वाक्य-समन्वय का। मानसकाल है मनोमय कालात्मक सौरसम्वत्सरकाल, निमेषकाल है प्राणमय-दिगात्मक-पार्थिव-सम्वत्सरकाल, एवं गणनकाल है वाङ्मय-देशात्मक-चान्द्रसम्वत्सरकाल। इन तीनों कालों के समन्वितरूप का ही नाम है-**'आम्रवृक्ष'**।

११२-कालाधार पर काल की ही कालरूप में परिणति का समन्वय, एवं-'सर्वं कालात्मकमेव'—

कालाधार पर काल ही कालरूप में परिणत हो रहा है। स्वयं काल ही कालरूप से आधार बनता है, स्वयं यह काल ही अपने एकांश से गतिशील बन कर दिग्भाव में परिणत होता है, एवं स्वयं यही काल

अपने एकांश से धामच्छद् बन कर देशभाव में परिणत होता है । काल ही रसाधार है, काल ही रस है, काल ही रसचिति है । और यों काल ही काल है, काल ही दिक् है, काल ही देशात्मक प्रदेश है । और यही आद्यन्त के कालरूप दिग्देशकालात्मक आम्र-स्वरूप के कालिक स्वरूप का अथ से इति पर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है । 'तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्' के अनुसार काल में काल से निर्म्मित काल का ही नाम आम्रवृक्ष है । वही आधार है, वही आधेय है, वही आधाता है । सर्वमिदं कालात्मकमेव ।

११३–सत्तासिद्धकाल, एवं भातिसिद्धकाल, नाम की कालद्वयी का स्वरूपदिग्दर्शन —

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए इसी बुद्धिगम्या व्याख्या का । एक है सत्तासिद्ध काल, एवं एक है भातिसिद्ध काल । दोनों के नामों में क्योंकि कालसाम्यात् साम्य है । अतएव इन दोनों के पार्थक्यबोध में थोड़ी अड़चन आजाती है । अपिच दोनों क्योंकि अन्तरान्तरीभाव–सम्बन्ध से एक दूसरे में ओतप्रोत हैं । इसलिए भी दोनों को पृथक् पृथक् कर के समझ लेना थोड़ा कठिन हो जाता है । **वस्तुरूप काल का नाम है सत्तासिद्धकाल, एवं वस्तुरूप काल की भोगावधिरूप भोगकाल का नाम है भातिसिद्धकाल । जिस कालतत्त्व से दिग्देशकालात्मक पदार्थ का स्वरूप–निर्म्माण होता है, उस का नाम है–** सत्तासिद्धकाल । एवं जितनी **अवधि–समय-में इस सत्तासिद्धकाल से सत्तात्मक पदार्थ का निर्म्माण होता है, उस अवधि–काल का नाम है–भातिसिद्धकाल** । सापेक्ष है यह सत्ता, और सापेक्ष है यह भाति । एक काल वैसा भी है, जो न सापेक्षसत्ता से सम्बन्ध रखता, न सापेक्षभाति से । अपितु जो सर्वथा निरपेक्षकाल है इन दोनों हीं सापेक्षभावों से । वही जगतामाश्रयः–अनन्तकाल है, जिसे हम अभी थोड़ी देर के लिए तटस्थ ही मान लेते हैं ।

११४-सार्थककाल-निरथककाल-शब्दों की लोकव्यावहारिकता का समन्वय—

अस्मदादि प्राकृत–लोकमानव कालावधिरूप भातिसिद्ध काल को ही 'काल' नाम से पहिचानते हैं, जबकि हमारे उपयोग में इस भातिसिद्धकाल से समन्वित सत्तासिद्धकाल ही आता है । सत्तासिद्धकाल की उपेक्षा कर देने पर भातिसिद्धकाल का कोई उपयोग शेष नहीं रह जाता हमारे लिए । उस अवस्था में तो हमें यही मान लेना पड़ता है, कह देना पड़ता है कि, "हमने काल को (भातिसिद्ध–**'समय'**–नामक काल को) व्यर्थ ही खो दिया । इसी आधार पर **निरर्थककाल, सार्थककाल**-रूपेण काल के दो विवर्त्त लोकव्यवहार में भी प्रसिद्ध हैं । यदि भातिसिद्धा कालावधि में हमने किसी सत्तासिद्धकाल (लक्ष्य) को सिद्ध कर लिया, तो हमारे लिए प्रकृति से नियत यह भातिसिद्धकाल **सार्थककाल (सत्तासिद्धकाल से समन्वित भातिसिद्धकाल)** बन गया । यदि इस कालावधि में हमने सत्तासिद्धकालात्मक लक्ष्य सम्पन्न नहीं किया, तो वही भातिसिद्धकाल हमारे लिए सर्वथा **निरर्थककाल (सत्तासिद्धकाल से वञ्चित केवल भातिसिद्धकाल)** ही बना रह गया । जिसने अपने भातिसिद्धकाल में सत्तासिद्ध लक्ष्य समाविष्ट कर लिया, उसका भातिसिद्धकाल (जीवनकाल) सफल बन गया, एवं जिसने इस जीवनावधिरूप भातिसिद्धकाल में कोई लक्ष्य पूरा न किया, उसका जीवन-काल निष्फल ही चला गया निर्लक्ष्य पश्वादि प्राकृत–प्राणियों की भाँति ।

११५–भातिसिद्धकाल की सार्थकता का मूलबीज सत्तासिद्ध काल, सत्तात्मक मानवीय व्यक्तित्त्व, भात्यात्मक पश्वादि–प्राकृतिक-रूप, अमृतपथानुगामी मानव, एवं मृत्युपथारूढ मानवेतर पश्वादि-प्राणी—

सत्तासिद्ध काल ही भातिसिद्ध काल की सार्थकता का मूलबीज है, और यही कुछ समझने जैसा सूक्ष्म दृष्टिकोण सुव्यवस्थित है भारतीय दृष्टि से। जहाँतक मानव के प्राकृत स्वरूप का प्रश्न है, वहाँतक तो मानव भी भातिसिद्ध ही प्रमाणित होरहा है। 'सत्ता' ही वह मौलिक प्रतिष्ठा है, जो मानव को आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व लक्षण 'व्यक्तित्त्व' से समन्वित करती है, जिस व्यक्तित्त्व का मानवेतर प्राकृत प्राणियों में सर्वथा अभाव ही है। "पशु उत्पन्न होते हैं मरने के लिए ही"। 'मरना' ही इनके प्राकृत जीवन का महान्, एवं मुख्य उद्देश्य है, जबकि "मानव अभिव्यक्त होता है अपने प्राकृत स्वरूप से अमर होने के लिए ही"। 'मृत्योर्मा–अमृतं गमय, असतो मा सद्गमय' ही मानव के प्राकृत जीवन का सत्तासिद्ध लक्ष्य है, जिसका आत्मबुद्ध्यनुगत ग्रन्थिबन्धन-विमोकात्मक 'मोक्ष' से ही सम्बन्ध माना गया है।

११६-मुमुक्षानुगत-आत्मबुद्धिसम्मत-आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठ-सत्तोपासक मानव, एवं सिसृक्षानुगत-मनःशरीरभावुक-भात्यनुगत-प्राणिजगत—

मुक्तिकामना, तदनुगत बन्धनविमोचक आत्मबुद्धिसम्मत आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान ही मानव के चरम लक्ष्य हैं, जबकि प्राकृत पश्वादि प्राणियों के मन.शरीरानुबन्धी सम्पूर्ण लक्ष्य केवल इन के प्राकृत-स्वरूप के संवाहक–मात्र बनते हुए कालान्तर में इन्हें 'मृत्युलक्ष्य' पर ही पहुँचा देते हैं। सत्तासिद्ध 'अस्तिब्रह्म' की उपलब्धि का इन आत्मबुद्धिशून्य पश्वादि प्राणियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। चान्द्रसम्वत्सरात्मक भातिसिद्ध सम्वत्सर से कृतरूप प्राकृत प्राणियों के मनःशरीरभाव भी भातिसिद्ध ही हैं। एवं ऐसे भातिसिद्ध मनः-शरीरभावों के संवाहक मानसिक काम, शारीरिक–भोगात्मक-प्राकृत लक्ष्य भी भातिसिद्ध ही हैं।

११७–आत्मबुद्धिधर्म्मा अप्राकृत मानव के मनःशरीररूप की प्राकृतता, तद्रूपा इस की भातिसिद्धता, तन्निबन्धन मानसिक काम, शारीरिक अर्थ–संसाधक यच्चयावत् लौकिक कर्म्मों का पशुकर्म्मों से समतुलन, तथा तन्निबन्धन मानव के काल की निरर्थकता—

अतएव पश्वादि प्राणी आद्यन्त के 'भातिसिद्ध' ही प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि मानव अपने चान्द्र-पार्थिव मनःशरीरात्मक प्राकृतरूप से भातिसिद्ध है, वहाँ यही अपने सौर–स्वायम्भुव बुद्धि–आत्मात्मक अप्राकृत स्वरूप से सत्तासिद्ध ही प्रमाणित हो रहा है। मानव के प्राकृत शरीर का लक्ष्य है अर्थ, एवं प्राकृत मन का लक्ष्य है काम। और इन दोनों प्राकृत पर्वों की दृष्टि से तो प्राकृत पश्वादि प्राणियों में, तथा मानव के इस प्राकृत स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं है *। इस दृष्टि से मानव, और मानव के कामार्थरूप लक्ष्य, सभीकुछ

---

* आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

पशुजगत् की भाँति भातिसिद्ध ही बने हुए हैं, जिनका पशुसृष्टिवत् 'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं है। प्रकृति की प्रेरणा से कामनापूर्वक शारीरिक-मानसिक कर्त्तव्यों में यन्त्रवत् प्रवृत्त रहना, कर्त्तव्यफलरूप भौतिक साधन-परिग्रहों से अपने कामार्थमय मनःशरीर-पर्वों को पशुवत् तुष्ट-पुष्ट-करते रहना, और यों खाते-पीते-हँसते-खेलते-कालानुसार पशु--पश्वादिवत् कुदकते--फुदकते--चहकते--चटकते--नाचते--गाते--एक दिन मृत्युमुख में प्रविष्ट हो जाना यामीयातनाओं का स्वागत करने के लिए, यही ऐसे प्राकृत-मानवों का सम्पूर्ण लक्ष्येतिवृत्त है। ऐसे कामभोगात्मक भातिसिद्ध लक्ष्य तो मानव के भातिसिद्धकाल को कदापि सार्थक नहीं बना सकते, जैसाकि लोकचतुर प्राकृत मानवों नें, तथा भूतविज्ञानधुरीणोंनें आज मान रक्खा है।

११८-लोकचतुर-दिग्देशकालात्मक युगधर्म्मवित् बुद्धिमान्-प्राकृत मानवों के मनः-शरीरनिबन्धन तुष्टि-पुष्ट्यात्मक कर्म्मकौशलों का दुःखपूर्ण-जघन्यतम-मलीमस इतिहास—

लोकचतुर उसे ही सब से बड़ा कौशल मानते हैं कि, वे अपने कर्त्तव्यों से अपने भौतिक-स्वरूप को (मनःशरीर को) सुख-सुविधापूर्वक तुष्ट पुष्ट रखलें। एवमेव भूतविज्ञान का भी एकमात्र चरम लक्ष्य यही है कि, वह विज्ञानजनित आविष्कारों, यन्त्रों, आदि साधनों से कम से कम समय में अनुकूलतापूर्वक-सुख-सुविधापूर्वक-अधिक से अधिक मात्रा में वैसे मानसिक-शारीरिक भूत-भौतिक-परिग्रह-सञ्चित करने में सफल हो जाय, जिनके सञ्चय के अनन्तर फिर इसके अपने मन और शरीर को चिन्तित उत्पीड़ित न होना पड़े"। लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् मानवों के लोकचातुर्य्यरूप लोककर्त्तव्यात्मक लक्ष्यों से, तथा भूतविज्ञानधुरीण वैज्ञानिकों के भूत-भौतिक-वैज्ञानिक-साधनों से मानवसमाज के मानसिक कामभावों, तथा शारीरिक भोगभावों की किस सीमापर्य्यन्त वर्त्तमान वीसवीं सदी के लोकचतुरयुग में, तथा वैज्ञानिकयुग में तुष्टि-पुष्टि हुई ?, प्रश्न के दुःखपूर्ण-जघन्यतम--घोर-घोरपतनात्मक--अशान्त--परिमाणों के मलीमस इतिहास के विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है।

११९-मनोमूलातुष्टि, एवं शरीरमूला पुष्टि के लिए आतुर विज्ञानजगत् के द्वारा आविष्कृत सुख-सुविधाजनक-कामार्थमय साधनों की कृपा से विकम्पिता आत्म-शान्तिमूला, तथा बुद्धितृप्तिमूला मानवता—

क्योंकि, हम ऐसा अनुभव कर रहे हैं इस प्रश्न के सम्बन्ध में अपने अन्तर्जगत् में कि,--अपनी कल्पित लोकचातुरी से इसके स्रष्टा--भाग्यविधाता लोकचतुर राष्ट्रीय नेता, तथा अपने प्रवृद्ध भूतविज्ञान के स्रष्टा--द्रष्टा भूतवैज्ञानिक महाभाग, दोनों हीं आज चिन्तित हो पड़े हैं अपने इन दोनों हीं साधनों से उत्पन्न हो पड़ने वालीं विभीषिकाओं से। "एक ओर सम्पूर्ण विश्व के लोकचतुर बुद्धिमान् मानव आज विश्वबन्धुत्त्व-शान्ति-मैत्री-मानवता-सहास्तित्त्व--पञ्चशील--आदि की तुमुल घोषणाओं के साथ मानव को उद्बोधन प्रदान करने के लिए आतुर बनते जारहे हैं, तो दूसरी ओर विश्व के उच्चकोटि के वैज्ञानिक सम्मिलित प्रार्थनापत्रों के साथ इन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रमुख उपभोक्ता अमेरिका--

रूस--इंग्लैण्ड--जापान--फ्रान्स--आदि प्रतीच्य राष्ट्रों के कर्णधारों से यह आर्त्तनाद अभिव्यक्त करते प्रतीत होरहे हैं कि, इन आविष्कारों का परीक्षण अविलम्ब अवरुद्ध कर देना चाहिए, नहीं तो इनसे मानवता के लिए भयानक संकट उपस्थित हो जायगा"।

१२०-मनःशरीरनिबन्धना भूतासक्ति के द्वारा आविष्कृत भौतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में लोकचतुरों के काल्पनिक सुझाव, तद्द्वारा इनकी निर्म्माणोपयोगिता--भ्रान्ति, एवं इत्थंभूत 'सुझाव' के सम्बन्ध में एक प्रश्न—

कितने एक लोकचतुर, साथ ही भूतविज्ञानभक्त इस सम्बन्ध में यह भी सुझाव रखने का निःसीम अनुग्रह करते जारहे हैं कि, "भूतविज्ञान, और उसके भूतभौतिक आविष्कार तो मानव के लिए अत्यन्त ही मङ्गलप्रद हैं-यदि इनका निर्म्माणकार्य्यों में उपयोग लिया जाय तो। अतएव हमें वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव के रचनात्मक-निर्म्माणात्मक-लक्ष्य ही सम्पन्न करने चाहिएँ, एवं इनके द्वारा होने वालीं ध्वंसात्मिका प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए"। कौन हाथ पकड़ रहा है इस मङ्गलमयी विज्ञानमयी प्रवृत्ति के लिए ?। सभी तो आविष्कर्त्ता उच्चकोटि के बुद्धिमान् हैं, सभी तो विश्वबन्धुत्त्व के महान् समर्थक हैं। सभी तो विज्ञानाविष्कर्त्ताओं को प्रश्रय प्रदान कर रहे हैं। अमुक प्रभूत--साधनशून्य निरीह वैज्ञानिक अपने बल पर तो तथाविध घातक परीक्षण नहीं कर रहा। यह परीक्षण होरहा है उन्हीं के अनुग्रहदान से, जो मानवता के भावी संकट से प्रतिक्षण चिन्तामात्र अभिव्यक्त करते जारहे हैं। ऐसा क्यों ?। क्यों जानते हुए भी, मानते हुए भी इसप्रकार शान्तिसन्देश के वाहक वे ही मानवकल्याणवादी--सहास्तित्त्ववादी--पञ्चशीलवादी राष्ट्र आज स्वयं ही सर्वसंहारिका परीक्षाप्रणाली के संयोजक बने हुए हैं ?।

१२१-कामभोगात्मिका लोकचातुरी से अनुप्राणित सुझावों की निःसारता, एवं आत्मनिष्ठावञ्चिता तथाविधा लोकचातुरी, तथा ज्ञानप्रतिष्ठा से एकान्ततः वञ्चित कामभोगमूलक तथाविध भूतविज्ञान—

प्रश्न का उत्तर स्पष्टतम है। इत्थंभूता लोकचातुरी का मूल ही कामभोगात्मक है। तथैव तथाविध भूतविज्ञान का आरम्भ ही मनःशरीरैषणापोषक प्राकृत--भातिसिद्ध भूतों से ही हुआ है। न लोकचातुरी के मूल में आत्मनिष्ठा प्रतिष्ठित, न विज्ञान के मूल में ज्ञाननिष्ठा प्रतिष्ठित।

१२२-आत्मनिष्ठानुगता लोकचातुरी से अनुप्राणित, विश्वशान्ति का सृष्टिविज्ञानात्मक भारतीय यज्ञविज्ञान, उसकी 'इष्टकामधुक्ता', एवं तथाभूत नित्यविज्ञान के आधारभूत कालातीत तत्त्व से असंस्पृष्ट आज का लोकचतुर वैज्ञानिक मानव, अतएव तद्द्वारा आविष्कृत भूतविजृम्भणों की निर्म्माणात्मिका प्रवृत्तियों में आत्यन्तिक असमर्थता—

जिस लोकचातुरी का आधार आत्मनिष्ठा बन जाती है, कदापि उसके द्वारा मानव की वञ्चना सम्भव ही नहीं। वैसा मानव कदापि कामभोगपरायण बनता ही नहीं। लोक--वित्तैषणाएँ वैसे मानव को आकर्षित करतीं

हीं नहीं । एवमेव जिस भूत के आधार में ज्ञान प्रतिष्ठित हो जाता है, उस भूत से वैसे घातक आविष्कार सम्भव ही नहीं, जिनके लिए आविष्कारानन्तर इसे चिन्ता करनी पड़े । फिर तो इससे वैसा **'यज्ञविज्ञान'** ही आविष्कृत होगा, जिसके द्वारा **'इष्टकामधुकृता'** के अतिरिक्त अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है । किन्तु वह आत्मनिष्ठा, वह ज्ञानधरातल प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका सीमित बुद्धि की पकड़ में आज नहीं आ रहा । यदि प्रयत्नपूर्वक वह इसे पकड़ने का प्रयास करता भी है, तो इससे इसे अपने बाह्य वातावरण-रूप लोकचातुर्य्य, तथा समस्त विज्ञानदम्भ का वह चोला उतार फैंक देना पड़ता है, जो इसका कल्पित व्यक्तित्व बना हुआ है । इन कृत्रिम चोलों को उतार फैंक देने के अनन्तर तो फिर इस निरीह का उस सामान्य अपठित ग्रामीण बन्धु जितना भी व्यक्तित्त्व शेष नहीं रह जाता, जो राम राम जपता हुआ लूखी सूखी खाकर तुष्टिपूर्वक कालयापन करता रहता है । निश्चेयन–जबतक आज के लोकचतुर नेता–महाभाग, एवं विज्ञान–धुरीण वैज्ञानिक अपने इस व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक कल्पित–व्यक्तित्व को नहीं छोड़ देते, तबतक इन्हें अपने हीं प्राकृत मानव के गर्भ में सुगुप्त अप्राकृत दिग्देशकालातीत उस महान् मानव के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो ही नहीं सकता, जिस स्वरूपबोधात्मक ब्रह्मप्रतिष्ठान के बिना इनकी लोकोत्तरा चातुरी से, लोकचतुर–चाणाक्ष–साम्प्रदायियों के कल्पित शून्यवादात्मक–मानवतावादों से, एवं वैज्ञानिकों के वैज्ञानिक आविष्कारों से तो इनके अपने मनः शरीरात्मक प्राकृतरूप की भी प्रकृतिस्थता इन्हें नहीं प्राप्त होसकती । फिर आत्म-बुद्धि–निबन्धना स्वस्थता की तो कथा ही विदूर है ।

१२३–अभ्युपगमवादात्मिका मान्यता से मान्य लोकचातुर्य्य की भूतविज्ञानमूला उपयोगिता के सम्बन्ध में तदुपयोगितावादियों से पशु–समतुलिता-मानवस्थिति के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न,–एवं तत्समाधान–प्रयास—

आलप्यालम् । अभ्युपगमवादात्मक तुष्यद्दुर्जन्यायके माध्यम से, प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि, लोकचातुर्य्यरूप लौकिक कर्त्तव्यों से, तथा वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव को सुख सुविधा मिल जाती है । क्या परिभाषा करते हैं आप इस सुख सुविधा की ? । यही न कि, विभिन्न स्वादयुक्त खाद्य-चर्व्य लेह्य-चोष्य-भोजनद्रव्यों की प्रभूतता, विशिष्ट वस्त्रों का प्राचुर्य्य, मानसिक अनुरञ्जन के लिए नृत्य, गीत, कविता-रस रागादि की सुविधा । कोश में सञ्चित अर्थ । तद्द्वारा सेवक सेविकाओं की असंख्य-संख्यात्मकता, अनुकूल वाहन, उद्यान, भव्य प्रासादादि का आवास–निवास, इत्यादि इत्यादि की सुलभता से प्राप्ति, तद्द्वारा मानस-शारीरिक भावों की तुष्टि–पुष्टि—(जबकि है यह सब कल्पना ही कल्पना) । अलमतिपल्लवितेन । क्या यही मानव का, इसके जीवन का एकमात्र महान् उद्देश्य मान लिया जायगा ? । तब तो प्राकृत पश्वादि प्राणियों में, एवं इसमें कोई भी अन्तर नहीं रहेगा । यदि **'कोई भी अन्तर न रहे'** यही पक्ष उचित मान लेता है यह मानव, तब तो अब इसे और कुछ भी आवेदन निवेदन नहीं करना है । क्योंकि **'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः'** लक्षणा 'नष्ट' उपाधि सुरक्षित हो गई है प्रकृतिरहस्यवेत्ताओं के द्वारा ऐसे आत्मबुद्धिविमूढ–मनः–शरीरपरायण–पशुसमतुलित प्राकृत मानवों के लिए । ऐसे प्राकृत मानव हीं **'मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्'** को अक्षरशः चरितार्थ करते रहते हैं । आत्ममूलक मोक्ष की, तथा बुद्धिमूलक धर्म्म की शाश्वतता से वञ्चित मनोमूलक स्वैराचारपरायणात्मक काम, तथा शरीरमूलिका–अच्छन्दस्का स्वच्छन्दा–आहारपरायणता तो मानव को, एवं इसके

भातिसिद्ध काल को कदापि सत्तासिद्ध नहीं हीं बनने देते । यह तो केवल **'कालयापन'** ही कहलाया है, जिसका प्राकृत पशु के कालयापन से यत्किञ्चित् भी तो अधिक महत्त्व नहीं है ।

१२४–सत्तासिद्ध कालानुगत सार्थक काल की आचारात्मिका स्वरूप-परिभाषा, तदाधारभूत कालातीत–'स्व' लक्षण आत्मपुरुष से अनुगता 'स्वस्थता', एवं कालप्रकृत्यनुगता 'प्रकृतिस्थता' का स्वरूप--समन्वय––

अतएव सत्तासिद्धकाल का अर्थ माना जायगा–"आत्मसम्मत मोक्षकर्म्म, बुद्धिसम्मत धर्म्माचरण, आत्म-बुद्धिधर्म्म से नियन्त्रित धर्म्मानुगत काम (दाम्पत्यजीवनात्मक गृहस्थकर्म्म), एवं धर्म्मानुगत अर्थ (श्रम–परिश्रम–पूर्वक अर्जित अर्थ, तथा तत्साधक लौकिक कर्म्म)" यह । आत्मबुद्धिसम्मत मोक्षधर्म्मात्मक कर्म्मों से जहाँ मानव कालातीता स्व-स्वरूपानुगता **'स्वस्थता'** प्राप्त करता रहेगा, वहाँ यही स्वस्थता के आधार प्रतिष्ठित धर्म्मसम्मत कामार्थों से **प्रकृतिस्थता** का भी निरापदरूपेण उपभोक्ता प्रमाणित होता रहेगा । और यों मानव के ये कालातीत अप्राकृत, तथा प्राकृत, दोनों विवर्त्त समदर्शनात्मक विषमवर्त्तन से स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ बने रहते हुए मानव को सर्वात्मना आत्मना स्वस्थ–शान्त, तथा शरीरेण प्रकृतिस्थ–सुखी बनाए रहेंगे । यही इसके भातिसिद्ध शतायुः-रूप गणनकालात्मक काल की सार्थकता मानी जायगी । इस समन्वय से विरुद्ध इसके सभी लौकिक वैज्ञानिक विजृम्भण इसके तात्कालिक मनःशरीरों के लिए सुखाभास बनते हुए भी दुःखात्मक मृत्यु-प्रवर्त्तक लोकमोहजनक सन्तापात्मक भातिसिद्ध कर्म्म हीं मानें जायँगे । और ऐसे भातिसिद्ध कर्म्मकालात्मक लक्ष्यों से समन्वित इसका आयुर्भोगात्मक भातिसिद्ध काल सर्वथा निरर्थक ही माना जायगा । और अवश्य ही बिना किसी संकोच के मादृश ऐसे भातिसिद्धकर्म्मानुगामी लोकव्यासक्त प्राकृत मानव के सम्बन्ध में यह कह दिया जायगा कि, **"ऐसे मानव ने तो अपना समय सर्वथा व्यर्थ ही खो दिया पशुवत् केवल खाते–पीने रहने में, और अन्ततोगत्त्वा यामी यातनाओं को भोगने के लिए मर जाने में हीं, जब कि इसका मुख्य लक्ष्य था–अपने भातिसिद्ध जीवनकाल को सत्तासिद्ध काल से समन्वित कर इसकी सार्थकता से अपने सहजसिद्ध अमरत्त्व को प्राप्त करना"** इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन ।

१२५–भातिसिद्ध काल की स्वरूप-परिभाषा, तदनुबन्धी लोकप्रसिद्ध 'समय' शब्द, एवं तदाधारभूत अग्नीषोमात्मक सत्तासिद्ध काल,–तथा तत्समर्थक श्रौतसन्दर्भ-

हाँ, तो भातिसिद्ध काल उस काल का नाम है, जिसे हम अपनी स्थूलभाषा में 'समय' कहा करते हैं, जिसके रात–दिन–पक्ष–मासादि–अवयव हैं । एवं सत्तासिद्ध काल उस काल का नाम है, जो वस्तुस्व-रूपात्मक है, जो तत्त्वात्मक है, अक्षरगर्भित क्षरात्मक है, अग्नीषोमात्मक है । अग्नि, और सोम, दोनों ऋतात्मक हैं, जिनके समन्वय से ही 'ऋतु' का स्वरूप–सम्पन्न होता है । दोनों में प्रधानता क्योंकि अग्नि की ही है इसके अन्नादधर्म्म के कारण । अतएव इस सत्तासिद्ध काल को **अग्निकाल**, किंवा **कालाग्नि** ही कह दिया जाता है, जब कि है यह अग्नि-सोमात्मक ही । अग्नि-सोम की समष्टि का नाम हीं है **'यज्ञ'** । इस यज्ञ का ही नाम है सम्वत्सराग्नि (ऋतसोमगर्भित अग्नि) । यही है सत्तासिद्ध सम्वत्सरकाल, जिसका बृहज्जाबालोप-निषत् में निम्नलिखितरूप से विस्तार से उपबृंहण हुआ है । सुनिए ! और स्वयं अपनी आर्षप्रज्ञा से इन वचनों का समन्वय कीजिए !

१–अग्नेरमृतनिष्पत्तिः, अमृतेनाग्निरेधते । (अमृतेन-सोमेन)
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥

२–ऊर्ध्वशक्तिमयं सोम, अधःशक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटिताभ्यां–शश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥

३–अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यं–अमृतं विसृजत्यधः ॥

४–अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात् पावनं भवेत् ॥

५–आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥

६–शिवश्चोर्ध्वमयः शक्ति, रूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥

७–यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च तथोदितम् ।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ॥

८–शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा शक्तिसोमामृतेन यः ।
प्लावयेद् योगमार्गेण सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

—बृ० जा० उ० २ ब्राह्मण

१२६–सौरसम्वत्सरकालात्मक सत्यभाव, पार्थिवसम्वत्सरकालात्मक शिवभाव, चान्द्र-सम्वत्सरकालात्मक सुन्दरभाव, एवं सत्यकालानुगत कालाग्नि, तथा कालसोम–

सत्यसोमगर्भित–सत्यसावित्राग्निमूर्त्ति–सौरसम्वत्सरकाल ही '**सत्यम्**' है, यही '**काले**' है। इस सत्य-सौरकालाधार पर प्रतिष्ठित ऋतसोमगर्भित-सत्यगायत्राग्निमूर्त्ति-पार्थिवसम्वत्सरकाल ही '**शिवम्**' है, यही '**कालाग्नि**' है। एवं इसी के प्रवर्ग्यभाग से कृतरूप–ऋत अग्निगर्भित–ऋतसोममूर्त्ति–चान्द्रसम्वत्सरकाल ही '**सुन्दरम्**' है, यही '**कालसोम**' है। पार्थिव कालाग्नि, तथा चान्द्र कालसोम–शिव–शक्तिरूप–इन दोनों के दाम्पत्यस्वरूप का नाम ही है वह सत्तासिद्ध काल, जो–सत्यस्यसत्यंरूप अनन्त काल से आवृत 'सत्यं' रूप सौरकालाधार पर प्रतिष्ठित होकर भातिसिद्ध कालात्मक गणनकाल के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का सर्जक बना हुआ है। स्मरण कीजिए उस पूर्व वाक्य का, जिसके द्वारा हमने–'**काले कालः--कालावधौ कृत्स्नं स्वरूपमुपभुङ्क्ते**' यह समन्वय किया था (देखिए पृ० सं० ४४०)। "**सत्यकाले शिव–सुन्दर--कालः--गणनकालावधौ**"--"**सौरसम्वत्सरकाले**

पार्थिवसम्वत्सरकालानुगत--चान्द्रसम्वत्सरकालः-भोगावधिरूपे काले"--"मनोमयकाले निमेषात्मकः कालः गणनकालावधौ" इत्यादि अनेक समन्वय किए जासकते हैं उक्त वाक्य के। "सत्तात्मक सौरसम्वत्सरकालाधार पर-सत्तासिद्ध पार्थिवचान्द्रसम्वत्सरकाल भातिसिद्ध गणनकाल में अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है", यही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से उपक्रान्त, एवं अत्र विश्रान्त दृष्टिकोण का निष्कर्ष है।

अमूर्त्तकालः
- १--महदक्षरात्मकः--पारमेष्ठ्यकालः
- २--तत्प्रतीकभूतः— सौरसम्वत्सरकाल;

— सत्यकालः-सत्यात्मकः (सत्यकालः) (१)-काले

मूर्त्तकालः
- १--पार्थिवसम्वत्सरकालः--कालाग्निः
- २--चान्द्रसम्वत्सरकालः—कालसोमः

—सत्तासिद्धकालः (शिवकालः-(२) कालः सुन्दरकालश्च)

- १-गणनभावात्मकः-अवधिरूपः

—भातिसिद्धकालः-अभिव्यञ्जककालः (३) कालावधौ सर्वं-कृत्स्नं स्वरूपमुपभुङ्क्ते-इति सर्व-समन्वयः

१-सत्यकालः——मानसकालः (अनन्तः-अमूर्त्तश्च)।

२-सत्तासिद्धकालः--निमेषकालः (सादिसान्तः-मूर्त्तश्च)।

३-भातिसिद्धकालः-गणनकालः (मूर्त्तकालसंग्राहकः)।

—— * ——

१२७-दर्शनसम्मता तत्त्वमीमांसानुगता दिग्देशकालत्रयी का स्वरूप--दिग्दर्शन, तदनुगत कालिक परिणामवाद, एवं परिणामवाद की महिमामय विवर्त्त के समतुलन में आत्यन्तिक शिथिलता—

अब दार्शनिक-जगत् में सुप्रसिद्धा 'ज्ञानमीमांसा' नाम की उस 'तत्त्वमीमांसा' के माध्यम से इस बुद्धिगम्या त्रयी (दिक्-देश-काल-त्रयी) का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिस का

सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु जो तत्त्वमीमांसा उन दार्शनिक मानवों की अपनी भाति–प्रतीति–रूपा-मानसकल्पना से ही सम्बन्ध रखती है, एवं जिसके साथ सत्तासिद्ध आचारधर्म्म का संस्पर्श भी नहीं हो पाया है। **'दर्शन'** का अर्थ है-**'देखना'**, देखने का अर्थ है–**'साक्षात्कार करना'**, साक्षात्कार करने का अर्थ है–अगोचर को **'गोचर'** बना लेना, गोचर बना लेने का अर्थ है—अतीन्द्रिय तत्त्व को इन्द्रियधरातल पर खड़ा करते हुए उसकी मीमांसा में प्रवृत्त होजाना, एवं इस मीमांसा-प्रवृत्ति का नाम ही है-**'तत्त्वमीमांसा'**, और यही है वह दार्शनिक **'ज्ञानमीमांसा'**, जिसके द्वारा समस्त दार्शनिक उस अदृष्ट–अश्रुत–इन्द्रियातीत–दिग्देशकालानवच्छिन्न–अनन्त–अप्रमेय–आत्मब्रह्म के दृष्टिमूलक दर्शन के लिए आतुर बने रहते हैं। **अन्यद्धि आत्मानुशीलनम्, अन्यच्च आत्मदर्शनम्।** आत्मानुशीलन अन्य वस्तुतत्त्व है, एव आत्मदर्शन विभिन्न वस्तुतत्त्व है। आचारसापेक्ष है **अनुशीलन,** एवं दृष्टिसापेक्ष है **दर्शन**। अनन्तोपक्रम है अनुशीलन, एवं अन्तोपक्रम है दर्शन। अनन्त को आधार मान कर सृष्टिसर्गानुगामी बनना, सृष्टिस्वरूप का समन्वय करना हीं अनुशीलन है, एवं अन्त को आधार मान कर सृष्टिस्वरूपसमन्वय के लिए प्रवृत्त होना हीं दर्शन है। उधर से अनायासपूर्वक इधर आना हीं अनुशीलन है, एवं इधर से उधर जाने का व्यर्थ प्रयास करना हीं दर्शन है। अनन्त से चलकर सर्वत्र अनन्तविभूति की ओर ही अनुगमन करना अनुशीलन है, एवं अन्त से चलकर अन्त पर ही विश्राम ग्रहण कर लेना दर्शन है। **अनन्तात्ममूलकं हि आत्मानुशीलनम्। सादिसान्तमूलकं हि आत्मदर्शनम्।** व्यापक–अनन्त के गर्भ में व्याप्य–विश्व का महिमारूप से समन्वय करना हीं आत्मानुशीलन है, एवं व्याप्य भौतिक पदार्थों के गर्भ में व्यापक विश्वातीत को देखने–पहिचानने का प्रयास करना हीं आत्मदर्शन है। आत्मानुशीलन में सम्पूर्ण विश्व उस अनन्त की महिमा है, विवर्त्त है, जबकि आत्मदर्शन में सम्पूर्ण विश्व उसका परिणाम है, फिर भले ही वह अविकृत परिणाम ही क्यों न हो। अनन्तमूलक तत्त्वाचरण हीं आत्मानुशीलन है, जिसमें भातिसिद्ध–सापेक्ष–दिग्देशकालभावों का, तदनुप्राणिता गोचरभावात्मिका क्रमसिद्धा–बुद्धिगम्या व्याख्या के काल्पनिक–दार्शनिक भावों का प्रवेश भी निषिद्ध है। एवं अन्तमूलक तत्त्वमीमांसन ही आत्मदर्शन है, जिसमें भातिसिद्ध–सापेक्ष–दिग्देशकाल–भाव, एवं तदनुप्राणिता–गोचरभावात्मिका–क्रमसिद्धा–बुद्धिगम्या व्याख्या ही प्रधान बनी रहती है। एक के आधार पर अनेकों का महिमारूप से समन्वय करना हीं आत्मानुशीलन है, एवं अनेकों के आधार पर इन अनेकों में ही एक को ढूँढने का प्रयास करना आत्मदर्शन है। और **आत्मानुशीलन,** तथा **आत्मदर्शन,** इन दोनों में यही वह महान् अन्तर है, जिसका यथावत् समन्वय किए बिना मानव की लोकबुद्धि दर्शनानुगत उस व्यामोहन से कदापि आत्मत्राण नहीं कर सकती, जिस दार्शनिक व्यामोहन ने हीं दार्शनिक, अतएव धर्म्मानुशीलनपराङ्मुख प्रकृतिवादी मानव के मस्तिष्क से दिग्देशकालानुबन्धिनी काल्पनिकी बुद्धिगम्या व्याख्या का आविर्भाव करवा लिया है, इति नु महतीयं विडम्बना दार्शनिक–तत्त्वमीमांसायाः, ज्ञानमीमांसाया वा।

"वाङ्मय भूत ही अन्नमय कोश है। इसके भीतर इससे सूक्ष्म प्राणमय कोश है। इसके भीतर इससे भी सूक्ष्म मनोमय कोश है। इसके भीतर इससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय कोश है। इसके भी भीतर–सबके भीतर सब से सूक्ष्म आनन्दमय कोश है, उसे ही ढूँढना चाहिए, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी का दर्शन करना चाहिए, मनन–चिन्तन–करना चाहिए। वही अमृतात्मा है, और यही है आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार", इसी क्रमदर्शन का नाम आत्मदर्शन

है, जिसे दार्शनिक ज्ञानमीमांसा कहा करता है, जिसका उपक्रम–उत्थान अन्नमयकोशात्मक (भौतिकपदार्थात्मक) दिग्देशकालानुबन्ध से ही हुआ है। मान रहा है दार्शनिक आत्मब्रह्म को दिग्देशकालातीत, किन्तु ढूँढ रहा है उसे वह दिग्देशकालात्मक भूतों के भीतर। न इसके 'भीतर' का ही कुछ अर्थ है, न इसके 'सूक्ष्म--सूक्ष्मतर--सूक्ष्मतम' शब्दों का ही कोई महत्त्व है। वाक्छल के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है इस दार्शनिक--दृष्टि--परम्परा में। ये ही स्थूल से सूक्ष्म को ढूँढने के वे दार्शनिक प्रकार हैं, जिन प्रकारों के अन्वेषण--समन्वय करते रहने में ही दार्शनिक की तत्त्वविजृम्भणात्मिका--दिग्देशकालक्रमानुगता--सम्पूर्ण बुद्धिगम्या व्याख्या समाप्त होजाती है। और परिणाम में अन्त में यह परिणामवादी ही बना रह जाता है, जबकि कार्य्यकारणात्मक--परिणाम का अनन्तब्रह्म के अनन्त विश्व से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। दिग्देशकालात्मक परिणामवाद तो दार्शनिक की विशुद्ध कल्पनामात्र ही है।

१२८–'आत्मानुशीलन' की स्वरूप–परिभाषा, एवं–'न त्वहं तेषु, ते मयि' सिद्धान्त का रहस्यपूर्ण समन्वय—

'न त्वहं तेषु-ते मयि' ही आत्मानुशीलन है, एवं यही अनन्तब्रह्म का महिमात्मक समन्वय है। अनन्तब्रह्म के यत्किञ्चित् अंशरूप एकांश के महिमामय विवर्त्त का नाम हीं विश्व है। वह बहुत बड़ा है इससे। भला वह इसमें कैसे समा सकता है ?। उसमें यह सबकुछ अवश्य ही समाविष्ट है, उसके भी यत्किञ्चिदंशात्मक एकांश में ही। वह अपने अनन्त स्वरूप से इन सादिसान्त भावों में सर्वात्मना समा भी कैसे सकता है ?। यही आत्मानुशीलनात्मक धर्म्मपथ है। वह **'भूतभृत्'** अवश्य है, किन्तु **'भूतस्थ'** नहीं है। सम्पूर्ण भूत-भौतिक-प्रपञ्च उसीके प्रत्यंश में महिमारूप से समाविष्ट हैं, जबकि-वह भूतसीमा से, दिग्देशकालसीमा से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। मानते हैं, उपनिषदों की भाँति यद्यपि गीता की भाषा भी है तो दार्शनिक ही। तथापि गीता का पारिभाषिक महिमाविवर्त्त अधिकांश में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अनन्तात्मक ब्रह्मसिद्धान्त से ही समतुलित है। **'सर्वमावृत्य तिष्ठति'-'पादोस्येहाभवत्पुनः-अतो ज्यायांश्च पूरुषः'** इत्यादिवत् गीताशास्त्र में भी–**'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'–'एकांशेन जगत्सर्वम्'–'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** इत्यादिरूप से अनन्तमूलक आत्मानुशीलन का ही उपबृंहण हुआ है, एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त भारतीय वाङ्मय विवर्त्त में ऐसा समतुलनात्मक **'साम्यसौभाग्य'** एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है, जिसने केवल * **'न त्वहं तेषु-ते मयि'–"मैं उनमें नहीं हूँ, अपितु वे मुझमें हैं--अर्थात् अनन्त के गर्भ में अन्तभाव प्रतिष्ठित हैं, रह सकते हैं। कदापि अन्तभावों में अनन्त का समावेश सम्भव नहीं है"**–इस एक ही वाक्य से अनन्तात्मानुशीलन का सम्पूर्ण महिमेतिवृत्त स्पष्ट कर दिया है। आगे चलकर नवम अध्याय में भगवान् ने इसी **'मूलसूत्र'** की दो श्लोकों में जो व्याख्या की है, उसके द्वारा तो स्पष्ट ही तथाकथित आत्मानुशीलन-धर्म्म का सर्वात्मना समर्थन हो जाता है। लक्ष्य बनाइए आगे के दोनों श्लोकों को, एवं तदाधारेण आत्मानुशीलन का समन्वय कीजिए !

---

* **ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।**
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु, ते मयि ॥
—गीता ७।१२।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
—गीता ९।४,५,।

१२९–अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति से ही महिमामय विश्व का वितान, एवं सुप्रसिद्ध व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा जन्म–स्थिति–भङ्ग- कारणभूत कालब्रह्म का स्वरूप–समन्वय—

'अक्षरं ब्रह्म परमम्'–'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' के अनुसार–**'कालः स ईयते परमो नु देवः'** से उपवर्णिता अव्यक्ताक्षरकालात्मिका प्रकृति के द्वारा ही इस महिमामय विश्व का महिमारूप से ही वितान हुआ है, जिसका–**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना'** से स्पष्टीकरण हुआ है । कालातीत अनन्त, अस्मच्छ–ब्दवाच्य अव्ययब्रह्म अपने एकांशरूप–पराप्रकृतिलक्षण–अव्यक्त अक्षरकालरूप से ही विश्ववितानरूप में परिणत हुआ है । सम्पूर्ण भूतभौतिक-व्यक्त विश्व अव्यक्ताक्षर से समन्वित, अतएव अव्यक्ताक्षरमूर्त्ति अनन्त-अव्यय के इस एकांशरूप अव्यक्ताक्षररूप प्राकृत विवर्त्त पर ही प्रतिष्ठित है । अतएव इस अव्यक्त-माध्यम-दृष्टि से उस अव्यक्ताक्षराधार-सर्वाधार अनन्त ब्रह्म को भी **'भूतभृत्'** (भूतविश्व को धारण करने वाला) कह दिया जासकता है । किन्तु साक्षात्–आधारत्त्व तो भूतप्रकृतिरूपा अव्यक्ताक्षरप्रकृति (अमूर्त्तकाल) को ही उपलब्ध है ; दो प्रकार की है यह आधारभूमि । **तटस्थाधारभूमि, समन्वयाधारभूमि,** भेद से भूतभृत्ता का दो प्रकार से समन्वय सम्भव है । कारण कार्य्य को उत्पन्न कर प्रतिष्ठारूप से अपने कार्य्य में प्रविष्ट हो जाया करता है, जिसका–**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** से स्पष्टीकरण हुआ है । इसी को **'सृष्टानुप्रविष्टब्रह्म'** कहा गया है, जिसके लिए–**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** प्रसिद्ध है । यही **'विश्वचर'** ब्रह्म (मूला-क्षरप्रकृति) है । यही विश्वात्मा विश्वेश्वर (कालात्मा–अव्यक्ताक्षर) है । और यही कार्य्यात्मक भूतजगत् के गर्भ में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रहने वाला **'भूतभृत्'** विश्वात्मा-है, जिसके लिए–**'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते'–'प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** इत्यादि प्रसिद्ध है । यही विश्वाधार विश्व की समन्वयाधारभूमि है, यही विजिज्ञास्य वह ब्रह्म (अक्षर) है, जिसके समन्वय से विश्व समन्वित है, एवं जो अपनी कालात्मिका कारणता से विश्व के जन्म–स्थिति–भङ्ग-भावों का प्रवर्त्तक बन रहा है । और यही है शास्त्रयोनिभूत वह ब्रह्म, जिसका प्रकृतिरहस्यविश्लेषणात्मक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । एवं यही है वह भूतभृत्–कालात्मक–परमदेव–मूर्त्ति–विश्वात्मा–विश्वाध्यक्ष–सगुण–प्रकृतिब्रह्म, जिसका–**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा,-तत्तु समन्वयात्–जन्माद्यस्य यतः-शास्त्रयोनित्त्वात्''**—इस सुप्रसिद्धा व्याससूत्रचतुष्टयी के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है ।

१३०-क्षरात्मक विश्व के आधारभूत 'भूतभृत्' अक्षरकाल के भी आधारभूत तटस्थ-द्वितीय 'भूतभृत्' का संस्मरण, एवं-'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्यादि गीता-सिद्धान्त का तात्त्विक समन्वय--

दूसरा है तटस्थ भूतभृत्, और वह है इस अव्यक्त अक्षर से भी अतीत सनातन-अनन्ताव्ययब्रह्म-'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः'। यही तटस्थ रूपात्मक भूतभृत् है। साक्षी-चेता-केवलो-निर्गुणश्च-रूप यह वैसा भूतभृत् है, जो कभी किसी भी भूत का कारण नहीं बनता। अतएव जिसे भूतगर्भ में प्रवेश की कोई अपेक्षा ही नहीं। अतएव जो गीता के ही शब्दों में-'अजः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सात्त्विक-राजस-तामस-भावापन्न तीन गुणों से समन्विता अज-अव्यय की त्रिगुणात्मिका अव्यक्ताक्षरप्रकृति ही कारणरूप से कार्य्यात्मक-गुणान्वित विश्व में प्रविष्ट रहती है गर्भरूप से। अवश्य ही इस कारणप्रकृति के द्वारा उस निष्कारण को तटस्थ-कारणता भी प्राप्त है। किन्तु कदापि कारणभूता प्रकृति की भाँति वह इन के गर्भ में प्रविष्ट नहीं है। हाँ, सप्रकृतिक ये सम्पूर्ण गुणभाव इस के गर्भ में अवश्य ही प्रविष्ट माने जासकते हैं। इस तटस्थ-कारणता की दृष्टि से ही इस अव्ययब्रह्म को 'भूतभृत्' मान लिया जासकता है। अतएव कह दिया जासकता है कि-सम्पूर्ण भूत उसी अनन्ताव्यय में धृत हैं, प्रतिष्ठित हैं। किन्तु कदापि वह इन में अवस्थित नहीं है। अर्थात् मूलप्रकृतिरूप अव्यक्ताक्षर जैसी गर्भानुगता प्रतिष्ठा का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। और-'मत्स्थानि सर्वभूतानि-न चाहं तेष्ववस्थितः' का यही समन्वय है, जो कि-'नत्वहं-तेषु, ते मयि' इस मूलसूत्र की व्याख्यामात्र ही है।

१३१-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' लक्षण कालाक्षरभाषा, तन्माध्यम से ही तद्-भाषा का कालातीताव्यय-भाषात्व, एवं-'न च मत्स्थानि भूतानि-पश्य मे योगमैश्वरम्' वचन का तात्त्विक-समन्वय—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा वस्तुतः अक्षर की भाषा है। क्योंकि-'अक्षरस्य-प्रशासने-गार्गि०' इत्यादि रूपेण अक्षरात्मा ही (कालात्मा ही-प्रकृति ही) भूतपदार्थों के केन्द्र में अन्तर्य्यामी-रूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्पूर्ण भूतों को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखता है। अतएव वही 'भूतस्थ' माना गया है। भूतस्थ ही 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (सम्पूर्ण भूत मुझ पर ठहरे हुए हैं) यह कह सकता है। अतएव यह उस अव्यक्तातीत--कार्य्यकारणातीत--कालातीत--सर्वातीत अनन्ताव्यय की भाषा हो ही नहीं सकती। हो-सकती है एकमात्र--अव्यक्तमूर्त्तिना। अव्यक्ताक्षर के माध्यम से ही इसे अव्यय की भाषा मान लिया जासकता है, मान लिया गया है। और इसी आधार पर-'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना' यह कह भी दिया गया है। एवं इस अव्यक्ताक्षर के माध्यम से ही उस की-'मत्स्थानि सर्वभूतानि' यह भाषा भी मान ली जासकती है। किन्तु इस मान्यता के साथ ही प्रयुक्त-'न चाहं-तेष्ववस्थितः' इस उपसंहारवाक्य से इस मान्यता का सम्वरण भी होजाता है। अतएव इस विशुद्ध-निर्विशेष-अव्ययब्रह्म की अपेक्षा से तो अत्र यह भाषा अक्षर की ही भाषा बनी रह जाती है। 'अव्ययपुरुष' क्या बोलते हैं इस अपने कालातीत निर्विशेष-भाव से ?, प्रश्न का उत्तर है-"न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योगमैश्वरम्"। कदापि अव्ययपुरुष कारणात्मक भूतभृत् नहीं हैं। कदापि यह भूतस्थ नहीं है। कदापि यह भूतों की गर्भात्मिका प्रतिष्ठा नहीं है। अव्यक्तमूर्त्तिना यथाकथञ्चित्

इसे तटस्थरूप से 'भूत-भृत्' तो फिर भी कहा जा सकता। किन्तु कदापि इसे 'भूतस्थ' (भूतगर्भ में प्रविष्ट) तो नहीं ही कहा जासकता।

१३२–'भूतात्मक, कालातीताव्ययपुरुष, 'भूतभावन' अव्यक्तकालात्मक अक्षर, तथा 'भूतयोनि' व्यक्तकालात्मक क्षर, एवं गीताश्लोकद्वयी से दार्शनिकों की आधारशून्या सविशेषभावनिबन्धना मान्यता का मूलोच्छेद––

जो **भूतभावन** होगा, वही भूतस्थ बन सकेगा। भूतों की भावना, किंवा सृष्टिसंकल्प करने वाला ही 'भूतभावन' कहलाएगा, और वह होगा अव्यक्ताक्षर। अतएव 'भूतभावन' उपाधि का सम्मान इस अक्षरप्रकृति को ही मिलेगा, जैसे कि–'भूतयोनि' का सम्मान उसी भूतातीत अव्यय की अपराप्रकृतिरूप क्षर को मिला हुआ है। भूतभावन स्वयं अव्यय नहीं है, अपितु आत्ममहिमाविवर्त्त रूपा पराप्रकृति है। भूतभावन वह स्वयं नहीं है, उस का यह भूतभावन है–'**सामुद्रो हि तरङ्गः-क्वचन समुद्रो न तारङ्गः**'। उस का यह आत्मा है, महिमा है–जो कि भूतभावन है। अतएव भूतभावन अक्षरात्मा ही 'भूतस्थ' है–'**भूतभृन्न च भूतस्थोऽव्ययः, ममात्मा भूतभावनः-अक्षर एव भूतस्थः**' इसप्रकार इन दो श्लोकों से दार्शनिकों की उस मान्यता का सर्वथा ही मूलोच्छेद हो जाता है, जो प्रकृतिभावात्मक प्राकृत–सविशेष–ब्रह्म (कालात्मक अक्षरब्रह्म) के प्रतिपादक –'**तदन्तरस्य सर्वस्य०**' इत्यादि वचनों का, एवं–कोशब्रह्मविभूतियों का समन्वय करने में असमर्थ बने रहते हुए इन सीमित–दिग्देशकालात्मक–भूतों की दृष्टि के माध्यम से उस भूतातीत–अगोचर के दर्शन के व्यामोहन से व्यामुग्ध बन अपनी काल्पनिक तत्त्वमीमांसा का विजम्भण करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं।

१३३–भूतों के गर्भ में भूतातीत के अन्वेषण के लिए आतुर हमारे दार्शनिकबन्धु, एवं तदन्वेषणकर्म्म का अन्ततोगत्वा शून्यवाद पर विश्राम––

ये ही दार्शनिक महाभाग भूतों के गर्भ में भूतातीत को ढूँढने के लिए अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं का निरर्थक वितान करते रहते हैं। ये ही दार्शनिक–'**येयं प्रेते विचिकित्सास्ति०**' जैसी भावुकतापूर्णा बिचिकित्सा से दिग्भ्रान्त बने रहते हैं। ये ही दार्शनिक शरीर में मन, मन में बुद्धि, एवं बुद्धि में आत्मा को ढूँढा करते हैं दिग्देशकालानुबन्धिनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं के माध्यम से। इस भूतान्वेषणमूला दृष्टि का तो वही अन्तिम परिणाम होता है, जो कदलीस्तम्भ के भीतर किसी तत्त्व को ढूँढने वाले का हुआ करता है। भावुक मानव ऐसी भ्रान्ति कर ले सकता है कि, कदलीस्तम्भ (केलवृक्षस्थूण) के भीतर कहीं, कोई बीज अवश्य होगा। इसी भ्रान्ति से जब यह स्तम्भ के ऊपर के आवरण को हटाता है, तो भीतर भी इसे वैसा ही दूसरा पुट मिलता है। यों देखते देखते अन्ततोगत्वा इस देखने का पर्य्यवसान शून्य पर ही हो जाता है।

१३४–शून्यवाद--परिणाममूला प्रज्ञास्तब्धता से अनुप्राणिता जड़ता का 'आत्मशान्ति' नामकरण—

उस अभावात्मक शून्य पर पहुँच कर अपने इस महान् प्रयास से थक कर वह अन्वेषक निराशा में निमग्न हो पड़ता है। और यहीं इसकी सम्पूर्ण क्रियाशक्ति उपशान्त होजाती है। और होपड़ती है–इसी क्षेत्र

में एक नवीन भ्रान्ति। भूतों के पर्व-पर्व के विश्लेषण का प्रचण्ड-प्रयास, केवल तत्त्वमीमांसा के द्वारा अपने बौद्धिक जगत् में हीं। इस अथक प्रयास के अनन्तर उपलब्ध होने वाला शून्यभाव, तदनुप्राणिता उपरति, और इसी उपरति का नाम होगया 'आत्मशान्ति'।

१३५–मोहासक्त आतुर--बालक की निराशा-पूर्ण स्तब्धता, एवं तत्समतुलिता दार्शनिक की विश्वसौन्दर्य्यवञ्चिता अभावात्मिका--शून्यं--शून्यं--लक्षणा अध्यासवादिता—

जैसे अभिलषित-ऐच्छिक-पदार्थों को ढूँढने में व्यस्त एक बालक इतस्ततः अनुधावन करता हुआ मिलने की आशा से कभी हँसता है, न मिलने की दुराशा से कभी रोता है। यों हँसता-रोता-हुआ अन्ततोगत्वा इन संघर्षों से, साथ ही निष्ठाशून्य भावुक अभिभावकों के द्वारा उपलब्ध-भर्त्सन-ताड़नादि-आक्रमणों से थक कर निस्तब्ध-जड़वत्-शून्यवत् बन जाता है, तो उस दशा में बालक भी सम्भवतः यही मान लेता होगा कि, उसे अब ऐच्छिक शान्ति मिल गई। साथ ही अभिभावक तो यह मान ही लेते हैं कि, "अब इस की इच्छा शान्त हो गई, अब यह ज्ञानवान् बन गया, समझदार-सयाना बन गया"। ठीक यही स्थिति उस दार्शनिक-शिरोमणि की होजाती है, जो भूतों को तो मान बैठता है आरम्भ से ही मलीमस, भवबन्धक। अतएव ढूँढने लग पड़ता है इनके भीतर छिपे हुए किसी वैसे सूक्ष्म तत्त्व को, जिस से इसे त्रिविध दुःखों से सदा के लिए छुटकारा ही मिल जाय। दुःखनिवृत्तिरूप 'अभाव' ही लक्ष्य बनता है इस दार्शनिक का। आनन्द-शान्ति-समृद्धि-ऐश्वर्य्य-आदि सत्तासिद्ध, सत्यं शिवं सुन्दरं-रूप विश्ववैभव इसके लक्ष्य नहीं हैं। अपितु इसका लक्ष्य है-दुःखाभाव। दुःख का अभाव हो जाता है, अथवा नहीं ?, यह तो नहीं कहा जासकता। हाँ 'अभाव' यदि कोई पदार्थ है, तो वह अवश्य ही मिल जाता है-इसे। भूतों की उपेक्षा से सम्पूर्ण प्राकृत-अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरणात्मक-प्रतीक-धर्म्मों से तो यह आरम्भ में हीं वञ्चित होजाता है-भूतों के भीतर छिपे हुए किसी अलौकिक-सूक्ष्म-तत्त्व के प्रलोभन में। दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतोपक्रान्ति से भूतों के गर्भ में तो वह इसे नहीं ही मिलता। भूतसौन्दर्य्य और खो बैठता है इस अपने ही कल्पित अध्यास-व्यामोहन में। परिणाम में इस के लिए पारिशेष्यात् शेष रह जाता है-शून्यं-शून्यम्-हीं।

१३६–सर्वशून्यात्मक--जड़तालक्षण--कल्पित--'निर्वाणपद', तन्मूलक--कल्पित 'मोक्ष', तन्निग्रह से राष्ट्रीया श्री-समृद्धि की आत्यन्तिक अन्तर्मुखता, एवं तदनुगत शून्य-वादात्मक पुरुषार्थ ?—

इसी शक्तिक्षयरूपा-म्लानभावापन्ना-सर्वशून्यता का नाम रख लेता है यह अपने अन्तिम महान्-व्यामोहन से-'निर्वाणपद'। यही इसके मोक्ष का समस्त इतिवृत्त है। दार्शनिक की शून्यवादात्मिका इसी मोक्षपरम्पराने आचारनिष्ठ भारतराष्ट्र के समस्त भौतिक-सौन्दर्य्य को सर्वात्मना श्रीविहीन ही तो प्रमाणित कर दिया है। इसी दार्शनिकवाद से शून्यवादात्मक वह अनात्मवाद आविर्भूत हो पड़ा है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठाशून्या-कल्पित-सत्य-अहिंसा-मानवता-पञ्चशील-संयम-आदि आदि परम्पराओं से सुसमृद्ध भी भारतराष्ट्र विगत २-३-सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर शून्यं-शून्यं-क्षणिकं-क्षणिकं-दुःखं-दुःखं-का ही यशोगान करता आरहा है, और मानता चला आरहा है इसी शून्यवाद को मानव का महान् पुरुषार्थ। उस

मानव का महान् पुरुषार्थ, जो उस विश्वातीत रसैकघन आनन्दघन सर्वमूर्त्ति अव्ययब्रह्म का एकमात्र महान् प्रतीक ही नहीं, अपितु प्रतिमान है । जो अनन्तब्रह्म अपनी अनन्ता–पूर्णा–अभिव्यक्ति से कदापि किसी भी भूत के गर्भ में प्रविष्ट नहीं हुआ करता, वही पूर्णब्रह्म एकमात्र मानव में हीं सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है । ऐसा है यह मानव, जिसने अपने बुद्धिवादात्मक व्यामोहन में आकर, आचारशून्या काल्पनिक दार्शनिकता में पड़ कर अपने इस महान् कालातीत अनन्त स्वरूप को विस्मृत ही कर दिया है । जिस भूतप्रपञ्च के लिए अनन्ताव्ययब्रह्म की 'न त्वहं तेषु, ते मयि' यह भाषा है, वही अनन्ताव्ययब्रह्म अपने पूर्णस्वरूपाभिव्यक्तिस्व-रूप परिपूर्ण, प्रतिमानात्मक मानवश्रेष्ठ के लिए क्या भाषा बोलता है ?, प्रश्न का समाधान भी उसी के पूर्णावतार–मानवावतार भगवान् वासुदेव कृष्ण के मुख से सुन लीजिए !

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति, न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या–'मयि ते, तेषु चाप्यम्' ॥

—गीता ९।२९।

१३७–'मयि ते, तेषु चाप्यहम्', एवं–'न त्वहं तेषु–ते मयि' वाक्यों का तात्त्विक समन्वय, तथा दार्शनिक की भूतानुगता आत्मस्वरूपान्वेषणवृत्ति की आत्यन्तिक निरर्थकता—

'न त्वहं तेषु–ते मयि'–और–**'मयि ते, तेषु चाप्यहम्'**, इन दोनों का समतुलनमात्र कर लेने से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है । अक्षरप्रकृतिमूलक–त्रिगुणात्मक–भूतभौतिक पदार्थों में वह नहीं है, जबकि ये सब पदार्थ उसी में हैं महिमारूप से । किन्तु मानव का स्वरूप तो उसी कालातीत अव्ययब्रह्म का प्रतिमान है । वह, और यह तो अभिन्न ही है । अतएव मानवानुबन्ध से यह कहा ही जासकता है कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूप मानव उस में है, एवं वह मानव में है । गर्भात्मक समन्वय नहीं है, अपितु विभूतिरूप समन्वय है, जिस के द्वारा स्पष्ट यही करना है भगवान् को कि वह, और मानव (मानव का प्रकृत्यतीत कालातीत अनन्ताव्ययभाव), दोनों एक ही वस्तुतत्त्व है, जिस एकत्वानुगत आनन्त्य की अभिव्यक्ति भक्तियोगात्मक–धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य–ऐश्वर्य्य–लक्षण बुद्धियोग से ही हुआ करती है । **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'** से इस बुद्धियोगात्मक भक्तियोग की ओर ही सङ्केत हुआ है, जिस अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग के बिना मानव सदा प्राकृतपाश में आबद्ध रहता हुआ दिग्देशकालानुगता बुद्धिगम्या व्यवस्था के व्यामोहन में आसक्त होकर उसे भूतों के गर्भ में ढूँढने का व्यर्थ का ही प्रयास करता रहता है ।

१३८–तथाविधा शून्यवादात्मिका दार्शनिकता के व्यामोहन से 'सन्तपरम्परा' की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–भारतीय–आचारधर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तम्मुखता, और उस के भीषण परिणाम—

इसी भ्रान्ता दार्शनिकताने आगे चल कर इस पुण्यभूमि धार्म्मिक भारतराष्ट्र में वैसी 'सन्तपरम्परा' अभिव्यक्त कर ही तो दी, जिसने बाहिर के सब द्वार अवरुद्ध कर भीतर के पट खोलने–खुलवाने में हीं अपनी

सम्पूर्ण शक्ति समर्पित करदी । बाहिर के पट इस दृढ़ता से बंद होगए कि, आततायी आक्रान्ताओंनें कब इन के
इन बाह्य द्वारपटों को तोड़–फोड़ डाला, कब इन के भीतर के पटों को भी धूलिधूसरित कर डाला ?, इत्यादि
दुर्वृत्तों का बोध ही न हो सका इन सन्तों को । ये विचरते रहे अपने किसी अलौकिक तत्त्व के प्राङ्गण में,
और इन की इस विचरणवृत्ति का लाभ उठाते रहे आक्रान्ता । वैसा सा ही तो आज भी कुछ घटित विघटित
हो रहा है । यह अपनी उसी कल्पिता आचारशून्या--अकर्म्मण्यतानुगता आध्यात्मिकता के काल्पनिक घोष में
निमग्न है, तो इस की इस कल्पित मानवता--अहिंसा--दया--करुणा--मूला भावुकता से लाभ उठा कर आक्रान्ता
कुनैष्ठिक मैत्री के छल से इस का सर्वस्व निगरण करते जारहे हैं । आलोचक कहते हैं-हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र
धर्म्मनिरपेक्ष बन कर बड़ी भूल कर रहा है । हम कहते हैं, यह सत्तातन्त्र की भूल नहीं है । अपितु ये तो
उस दार्शनिकता के महान् प्रसून हैं, जिनका जन्म आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था, एवं जो
विगत युगानुगता सन्तपरम्पराओं से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आरहे हैं । आचारसिद्ध धर्म्म का स्थान
ग्रहण कर लिया जगन्मिथ्यात्वमूला दार्शनिकता ने, तत्परिणामस्वरूप प्रवृद्ध हो पड़ा शून्यवाद, इस शून्यवाद
से जन्म ले पड़ी अन्त:पटविभोरा सन्तपरम्परा, और यों अभ्युदय--निःश्रेयसकर धर्म्म का आचारपक्ष सर्वथा
ही अभिभूत होगया इन ग्रहपरम्पराओं से, जैसाकि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है ।
इन्हीं सब आडम्बरों से सन्त्रस्त हमारे सत्तातन्त्र ने धर्म्मनिरपेक्षता की घोषणा कर डाली, और तत्स्थान में
उपलब्ध एकमात्र विकल्प प्रतीच्य देशों की भौतिक--जीवनपद्धति ही इस का आदर्श बन गई । यों आज तो
सभी कुछ····आलप्यालमेव ।

१३९–गोचरभावाभिनिविष्ट दार्शनिकों की काल्पनिकी दिग्देशकालत्रयी, एवं काल्पनिक 'काल' के सम्बन्ध में बुद्धिवादी दार्शनिक से सम्प्रश्नात्मक प्रश्न—

जिस अनन्ताव्ययरूप निर्विशेष ब्रह्म के साथ सापेक्ष--दिक्कालदेशभावों का स्वाप्निक सम्पर्क भी नहीं
है, उसी को भूतगर्भ में गोचरभाव से देखने--समझने के लिए आतुर बन जाने वाली दार्शनिक--दृष्टि के
अनुग्रह से ही भातिसिद्ध दिक्–देश--काल--त्रयी का काल्पनिक आविर्भाव हो पड़ा है, जिस इस तथ्य का
समन्वय बुद्धिवादी प्राकृत मानव तो कदापि नहीं करसकेगा । ऐसे बुद्धिवादी से प्रणतभावपूर्वक क्या यह प्रश्न
नहीं किया जासकेगा कि, जिसे वह पूर्व--पश्चिम--उत्तर--दक्षिण--आदि दिशाएँ कहता--मानता चला आरहा
है, क्या भौतिक--सत्तासिद्ध पदार्थों की भाँति वह इन दिशाओं की स्वरूप--व्याख्या कर सकेगा ?। क्या वह
बतला सकेगा कि 'दिक्' नामक पदार्थ का यह रूप है, यह कर्म्म है ?, और अमुक स्थानविशेष में अमुक
नामरूप--गुणकर्म्म से वह दिग्भाव प्रतिष्ठित है ?। भौतिक द्रव्यों--पदार्थों की भाँति क्या आप इस अपने
बौद्धिक, अतएव सर्वथा काल्पनिक दिग्भाव पर कोई परीक्षण कर लेंगे ?। ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो
उनके सापेक्ष दिग्भाव की सत्ताशून्यता, एवं भातिरूपता, अतएव काल्पनिकता व्यक्त कर रहे हैं ।

१४०–काल्पनिक कालानुगत काल्पनिक दिक्–देश--भावों के सम्बन्ध में दार्शनिक से प्रश्न—

यही स्थिति ऐसे काल्पनिक दिग्भाव से समन्वित काल्पनिक--प्रदेशात्मक देशभाव की है । जिसे आप
अङ्गुलि से छू कर 'देश', किंवा प्रदेश कहते हैं, वह तो आप के दर्शन का तो विषय नहीं बनसकता ।

क्योंकि आप जिस देश, किंवा प्रदेश को देख रहे हैं, उस से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है सत्तासिद्ध देशप्रदेश, जैसाकि अथर्वसूक्तद्वयी के पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है । **जिसे आप छूकर देश बतलाते** हैं, वह '**छूना**' पृथक् है, एवं '**बतलाना**' पृथक् है। छूते हैं आप सत्तासिद्ध देशप्रदेश को, एवं बतलाते हैं आप देखे हुए देश--प्रदेश को । दृष्टि का विषयभूत देशप्रदेश आप के मानस--काल्पनिक--जगत् के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व में कहीं भी तो नहीं है । अन्यो हि स्पृश्यभावः, अन्यो हि दृश्यभावः । आपकी दार्शनिकता तो दृष्टिमूला है । आप तो प्रत्यक्षप्रामाण्यवादी हैं । अतएव आप तो जिसे देखते हैं, उसे ही मानते हैं । आप जिस देश--प्रदेश--को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखते हैं, वह तो आप की कल्पना से ही प्रसूत, अतएव आप के मानसजगत् में ही विराजमान भातिसिद्ध वह काल्पनिक देशप्रदेश ही है, जिस का भी काल्पनिक दिग्भाव की भाँति कोई सत्तासिद्ध भौतिक--परीक्षण आप कदापि नहीं कर सकते । फिर बतलाइए ! आपके कल्पित देश-प्रदेश के प्रत्यक्षाग्रहमूलक प्रामाण्यवाद का क्या महत्त्व रहा ? ।

१४१--भातिसिद्ध--गणनात्मक--काल की स्वरूप-व्याख्या से पराङ्मुखा दार्शनिक-प्रज्ञा—

ठीक यही स्थिति कलनात्मक--क्रमभावात्मक--संख्यासिद्ध, अतएव भातिसिद्ध काल की है । निरपेक्ष एकत्व को छोड़कर सापेक्ष एक संख्या से आरम्भ कर परमपरार्ध्यरूपा जितनी भी संख्याएँ (गणनाएँ) हैं, वे सब केवल आपकी कल्पना के काल्पनिक प्रसूनमात्र हीं हैं। मूलभूता एकत्वसंख्या का वैतानिक भाव ही दो-तीन-चार-आदि संख्यानन्त्य है ! सर्वत्र-'**अयमेकः--अयमेकः**' इत्यादि रूपेण एकत्व का ही साम्राज्य **है-"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**' । अपिच जिन प्रदेश--देश--भावों के माध्यम से आप कलनात्मक--संख्यासिद्ध--काल का परिगणन करते हैं, वे देशप्रदेश ही जब पूर्वकथनानुसार कल्पित हैं, तो फिर तदाधार पर ही व्यवस्थित क्रमसिद्ध-गणनसिद्ध--काल का क्या महत्त्व शेष रह जाता है ? । मान लेते हैं, आप जिसे 'काल' कहते हैं, वह कोई तत्त्व होगा । किन्तु स्वरूप-व्याख्या तो कीजिए आप अपने इस माने--जाने, और पहिचाने हुए काल की ? । करसकेंगे क्या आप इसकी स्वरूप-व्याख्या ? । असम्भव । जिसप्रकार दूरत्व--अपरत्व--गुरुत्व--आकुञ्चनत्व--प्रसारणत्व--आकर्षण--विकर्षण--व्यवधान--चोषण-शोषण--आदि आदि कल्पना--प्रसूत असंख्य-सापेक्ष--भावों की कोई सत्तासिद्धा स्वरूप--व्याख्या सम्भव ही नहीं है इनकी भातिसिद्धता के कारण, तथैव इस भातिसिद्ध, अतएव सर्वथा काल्पनिक गणनकालात्मक काल की भी आप कोई स्वरूप-व्याख्या नहीं हीं कर सकेंगे ।

१४२--दिग्देशकालक्रमव्यवस्थानुगत बुद्धिवाद की काल्पनिकता का नग्नचित्रण, एवं बुद्धिमान् दार्शनिक के कल्पनाप्रश्न—

तदित्थं--आपकी बुद्धिगम्या व्याख्या के महतोमहीयान् महत्त्वपूर्ण दिक्--देश--काल--नामक तीनों हीं महान् अभ्व, महान् यक्ष सर्वथा काल्पनिक ही प्रमाणित होरहे हैं, जिनके आधार पर ही लोकचतुर प्राकृत बुद्धिमान् अपने लोककर्त्तव्य--व्यवस्थित करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं । जिनके आधार पर ही अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा इन कल्पित दिक्--देश--कालानुबन्धी भूतपदार्थों के माध्यम से इनके गर्भ में ही आत्मदर्शन के लिए आतुर बने रहते हुए दार्शनिक व्यामुग्ध हैं, तो इन्हीं कल्पनाप्रसूनों के माध्यम का महान् डिण्डिमघोष करने वाले आज के भूतविज्ञानवादी अपने भातिसिद्ध क्षणिक विज्ञानवादों के गर्व से धरातल को विकम्पित करते जारहे हैं । ऐसे ही लोकचतुर बुद्धिमान्, तत्त्वमीमांसक दार्शनिक, तथा तत्त्वविश्लेषक

वैज्ञानिक बड़े ही दम्भ से यह उद्घोष करते रहते हैं अपने अपने मन्तव्यों की कार्य्यकारणताओं का कि,-* "जो दिग्देशकाल-व्यवस्थाओं से अनुप्राणित होगा, जो क्रम-व्यवस्था-सम्मत-होगा, अतएव जो बुद्धिगम्य होगा (किंवा बुद्धिवादात्मक होगा), अतएव च जिस की क्रमबद्धा बुद्धिगम्या व्याख्या की जासकेगी, उस प्रत्यक्षसिद्ध तत्त्व को ही हम मानेंगे, उसी पर श्रद्धा करेंगे, उसी पर आस्था करेंगे। क्योंकि दिग्देशकालातीत-'आत्मब्रह्म' जैसा कोई तत्त्व दिग्देशकाल से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ बुद्धिगम्य नहीं है। अतएव उसे तो केवल 'कल्पना' ही कहा जायगा"।

*-भारतीय दर्शनशास्त्र भी इसी सापेक्षवाद का पोषक बना हुआ है। अतएव भारतीय दर्शन भी धर्म्मानुगता आचारनिष्ठा से सर्वथा पराङ् मुख ही प्रमाणित है, जैसा कि द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपित है, जिसकी प्रासङ्गिक-सन्दर्भ-सङ्गति का संक्षिप्त इतिवृत्त सुरभारती (संस्कृत) के माध्यम से यों समन्वित हो रहा है कि-"अगोचरस्य गोचरभावे दृष्टिरेव दर्शनम्। दर्शनदृष्ट्या बुद्धौ दिक्-देश-काल-भावानां सहैवाविर्भावः कल्पनामाध्यमेन। सैषा प्रत्ययैकसत्योपनिषत्। मानवस्य स्वबुद्धेर्व्याख्यैवास्य दार्शनिक-तत्त्वमीमांसा, ज्ञान-मीमांसा वा। तस्यैतस्य स्वरूपविमोहनात्मकरूपबौद्धिकव्यक्तित्वविमोहनस्य रक्षार्थमेव-कल्पनयैव दार्शनिकै-रेषा कल्पनात्रयी--आविष्कृता, इति महतीयं प्रतारणा मानवबुद्धेः-मानवेनैव। न यत्र मानवस्य कल्पनाबुद्धेः समावेशः, न तत्र मानवस्य मान्यता, श्रद्धा वा, आस्था वा। तार्किकानां-नैय्यायिकानां-ईश्वरसिद्धिर्व्यामोहनं, वैशेषिकानां-विशेषानुगतित्वं, क्षणिकभूतविज्ञानवादिनाञ्च विज्ञानदम्भत्त्वं, सर्वमपि दिग्देशकालभावैः-सर्वथैव काल्वालीकृतरूपमेवेति नास्त्यत्र सन्देहलेशावसरः, इति नु सर्वेषामेतेषां दार्शनिकानां, वैज्ञानिकानाञ्च स्खलनं, महत्स्खलनमेव।

प्राधानिकाः-कापिलास्तु-अत्र मानवबुद्धिमीमांसायां किञ्चिदिव-असंस्पृष्टाः-इति महत्सौभाग्यं भारतवर्षस्य। नात्र चतुर्विंशतिसंख्यामितायां तत्त्वगणनायां दिग्देशकालभावानां परिगणनम्। अतएव लोकसंग्राहकेन भगवता वासुदेवेन-'यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं-तद्योगैरपि गम्यते' इत्येवंरूपेण प्राधानिकानां-लोकसंग्रहः-समन्वितः। प्रकृते परः पुरुषः सांख्यमते। सोऽयं पुरुषोऽत्र वस्तुगत्या अक्षरपुरुष एव। सा तु पराप्रकृतिरेवा-व्ययपुरुषस्येति सांख्याभिमतः-पञ्चविंशः पुरुषोऽपि प्रकृतिरेव। तथा च-पुरुषदृष्ट्या तु सांख्यदर्शनस्यपि स्खलनमेव। इन्द्रियगोचरभावो हि दर्शनम्। सर्वमपि प्राकृतविवर्त्तमिन्द्रियगोचरमेव। सर्वेऽपि दार्शनिकाः-प्रकृतितत्त्वविमर्शपरा एवेति नात्र दर्शनेषु-अनन्तात्मस्वरूपोपलब्धिः। संख्यातीतं ज्ञानं, संख्यातः सिद्धं ज्ञानमेव सांख्यम्। तत्तु प्राकृतिकमेव, संख्यासापेक्षत्वात्। तथा च यद्यपि दिग्देशकालात्मिका मानवबुद्धिसापेक्षा व्याख्या नात्र सांख्ये। तथापि-इन्द्रियगोचरत्वात्-स्खलनमेवास्यापि दर्शनस्य-इतरदर्शनवत्, इति सर्वाणि दर्शनानि दर्शनान्येव। तस्माच्च-कर्म्मसंन्यसनात्तु-कर्म्मयोग एव विशिष्यते, इत्याह भगवान् योगेश्वरः श्रीकृष्णः—

'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते'

—इति सर्वमेव सुस्थम्।

१४३–काल्पनिक--भातिसिद्ध--'दिग्देशकाल' की सत्तासिद्धता का व्यामोहन, सत्तासिद्ध 'कालदिग्देश' की भातिसिद्धता का आवेश, एवं दार्शनिक की भूताश्चर्य्यमयी प्रज्ञा—

कैसा आश्चर्य ! यों मानव ने, प्राकृत मानव ने, भूतासक्त मानव ने अपने कल्पित दिग्देशकाल से अनुप्राणित वाग्विजृम्भण को तो मान लिया है सत्तासिद्ध, एवं जिसकी सत्ता से, सत्ता के एक प्रत्यंशतम से ये भातिसिद्ध भूत अपनी भाति को जीवित रख रहे हैं, वह बन गया है इन बुद्धिवादियों के लिए भातिसिद्ध। यों आत्मनिष्ठ जिसे दिन कह रहे हैं, उसे ये लोकमुग्ध प्राकृत जन रात्रि मानते हैं। एवं आत्मनिष्ठों की दृष्टि में जो रात्रि है, वह दिन बना हुआ है इनकी दृष्टि में, जैसे कि अन्य प्राणियों का दिन उलूक के लिए रात्रि, तथा अन्य प्राणियों की रात्रि इन उलूकों के लिए दिन बना रहता है। सत्तामय ज्योतिर्ब्रह्म को 'तम' मान बैठना, एवं भातिरूप तम को ज्योति कहने लग पड़ना, यही तो आत्मनिष्ठ लोकातीत मानव की दृष्टि में, तथा लोकव्यासक्त लोकायतिक मानव की दृष्टि में वह महान् अन्तर है, जिसका भगवान् ने इन शब्दों में अभिनय किया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—गीता

१४४-'विकृति' (क्षर) की 'प्रकृतिवादिता', प्रकृति (अक्षर) की 'पुरुषवादिता', एवं तन्मूला भ्रान्ति, और दार्शनिक का व्यामोहन—

विकृति को प्रकृति मान बैठना, एवं प्रकृति को पुरुष मान बैठना हीं दार्शनिक–व्यामोहन का मूल कारण बना है। दिक्–देश–कालात्मिका–बुद्धिगम्या व्याख्या से इन्हें जो कुछ प्रतीत हुआ, उसे ही इन्होंनें 'प्रकृति' मान लिया, इसी का नाम रख लिया इन्होंनें 'प्राकृतजगत्'। इसे आधार बना कर इन्होंनें उसी दिग्देशकाल के माध्यम से तत्त्वमीमांसा का उपक्रम कर डाला। अवश्य ही इस मीमांसा से इन प्राकृत-भूतों के गर्भ में इन्हें सूक्ष्मभाव की उपलब्धि भी हुई। किन्तु जिसकी यह उपलब्धि हुई, वह भी प्रकृति से अतिरिक्त और कुछ भी न निकला। जिस उपलब्धि को यह अन्तर्य्यामी–प्रजापति–भूतात्मा–भूतभावन–कहने लगे, वह सिवाय प्रकृति के और कुछ भी तो नहीं है। यदि आरम्भ में हीं अपनी मान्या प्रकृति के विकृतित्व का ये समन्वय कर लेते, तो कदापि अनन्तर उपलब्ध हो पड़ने वाली प्रकृति को ही ये पुरुष मान बैठने की भ्रान्ति न कर बैठते। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि–"**विकृति को प्रकृति मान बैठना, एवं प्रकृति को पुरुष कह बैठना हीं दार्शनिक-भ्रान्ति का अन्यतम कारण बना है**"।

१४५–दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रज्ञासमाप्ति का काल्पनिक केन्द्र आत्मानुगत काल्पनिक चैतन्यवाद, एवं तदनुगता प्राकृत--दृष्टि के अनुग्रह से नास्तिकदर्शन का आविर्भाव—

प्रकृति कारण है, यही परमाक्षररूप अमूर्त्त अनन्त कारण है, जो चेतना–लक्षणा है। एवं विकृति कार्य्य है, यही अवर–क्षर–रूप मूर्त्त–सादिसान्त काल है, जिसकी अभिव्यक्ति का ही नाम दिग्देश है, और

जो जड़ है। बस, सम्पूर्ण दार्शनिक-दृष्टि इन जड़-चेतन-प्राकृत-वैकृत-विवर्त्तों में ही परिसमाप्त है। जिसे दार्शनिक 'आत्मा' कहता है, उसे वह चेतन मानता है। किंवा चेतनत्व ही वह आत्मा का लक्षण करता है, उसे ही चेतनपुरुष कहता है, और इसे ही ज्ञानवान् मानता है। एवं जड़त्व ही इसकी दृष्टि से प्रकृति का लक्षण है। जब कि वस्तुस्थिति सर्वथा कुछ और ही है। 'चेतन', और 'जड़', ये दोनों तो एक ही प्रकृति के पूर्व-उत्तर-लक्षण दो विभिन्न भाव हैं। प्रकृति का पूर्वरूप ही 'प्रकृति' है, यही अक्षर है, यही अमूर्त्तकाल है, अविभाज्य चेतनकाल है, जगतामाश्रयः काल है, इसी का नाम है **'ज्ञानवान् आत्मा'**, जो प्राणीसर्ग में 'जीव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है*। यही दार्शनिकों का वह ज्ञानाधिकरण-ज्ञानाश्रय-'आत्मा' है, जिसकी कृपा से ही लोकायतिकों का अनात्मवादात्मक-शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा है। सच पूँछा जाय, तो अनात्मभावात्मक-नास्तिकमत के आविर्भाव का प्रधान श्रेय भारतीय आस्तिक दर्शनों की इस चेतनलक्षणा-दृष्टि को ही समर्पित किया जा सकता है। अपने आपको आस्तिक कहने-कहलवाने वाले भारतीय दार्शनिकों की इत्थंभूता प्राकृत-दृष्टि ने ही लोकायतिकों को जन्म दिया है।

१४६-सत्तासिद्ध-आधिदैविक-आचारात्मक-अनन्तकाल के आश्रय से वञ्चित केवल अध्यात्म-अधिभूतासक्त-भातिसिद्धकाल-व्यासक्त दार्शनिक की कालस्वरूपानभिज्ञता, एवं तदनुगता जड़भूतपरायणता—

उस चेतनप्रकृति (अनन्त-अमूर्त्ता कालप्रकृति) का कार्य्यात्मक विश्व ही विकृतिरूप है जड़भाव, जिसे व्यक्त-क्षरात्मक-व्यक्त-मूर्त्तकाल कहा गया है, और इसी का नाम है भातिसिद्धकाल, जिसकी भातिसिद्धता उस प्रकृतिभूत-सत्तासिद्ध-चेतन-अमूर्त्त-काल पर ही अवलम्बित है, जिससे विकृतिवादी प्राकृत मानव सर्वथा ही अपरिचित है। क्योंकि वह अनन्तकाल इसकी सादिसान्ता-जड़भूतनिबन्धना-व्यक्ता दिग्देशकालात्मिका बुद्धि में आ ही नहीं पाता। जब कि यह अक्षरप्रकृतिभूत अनन्तकाल का भी अनुमान नहीं लगा सकता, तो ऐसी स्थिति में वह अनन्तकाल जिस अनन्त अव्ययब्रह्म का एकांशमात्र है, उसकी तो यह कल्पना भी कैसे कर सकता है ?। अपनी सीमित दिग्देशकालमिता प्रज्ञा को तत्र विषये कुण्ठित होता देखकर यह उस ओर से विमुख ही बन जाता है। और इसी वैमुख्य से यह अपने बुद्धिवाद के द्वारा उत्तरोत्तर जड़ता का ही सर्जन-अर्जन-समर्थक-अनुमोदन-करने लग पड़ता है, एवं सत्तासिद्ध कालाश्रय से वञ्चिता यह दिग्देशकालदृष्टि ही मानव को मानव के लोकातीत अनन्त स्वरूप का बोध नहीं होने देती। इसकी इसी महती समस्या के निराकरण के लिए परम कारुणिक महर्षि ने कालसूक्तद्वयी के द्वारा निरपेक्ष उस अनन्तकाल को प्रतीकविधि से इसके सम्मुख रक्खा है, जिस कालदृष्टान्त के माध्यम से अवश्य ही इसका अपना कल्पित दिग्देशकालव्यामोहन उपशान्त हो जाता है स्वतः ही। एवं इस उपशान्ति के अनन्तर वह स्वतः ही कालानन्त्यप्रतीकता से अपनी अनन्त-प्रतीकता का समन्वय-बोध प्राप्त कर लेता है।

*-इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्। (गीता)।

१४७-निर्विशेषानन्त्य, सविशेषानन्त्य-मूलक शान्तानन्द-समृद्धानन्द, तदनुगत शान्ति-सुख, तदाधारभूत अभ्युदय-निःश्रेयस्--भावों का माङ्गलिक संस्मरण—

प्राकृत-मानव के उद्बोधन-प्रसङ्ग में दो प्रकार से 'आनन्त्य' का समन्वय किया जायगा, जिन्हें क्रमशः **निर्विशेषानन्त्य,** तथा **सविशेषानन्त्य,** इन नामों से व्यवहृत किया जा सकेगा। अक्षरभावात्मक आनन्त्य को ही **प्राकृतिकानन्त्य** कहा जायगा, जिस की दृष्टि से काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है, एवं देश भी अनन्त है, जिसके कि गर्भ में व्यक्ताक्षरात्मक सादि-सान्त-बुद्धिगम्य दिक्-देश-काल प्रतिष्ठित हैं अणुवत्। यही प्राकृतिकानन्त्य सविशेषानन्त्य है। कालातीत (अनन्ताक्षरकाल से भी अतीत) अव्ययपुरुषानन्त्य को ही **'पौरुषानन्त्य'** कहा जायगा, जिसके एकांश में प्राकृतिकानन्त्य-(अक्षरानन्त्य) प्रतिष्ठित है अणुवत्। यही पौरुषानन्त्य निर्विशेषानन्त्य है। निर्विशेषानन्त्य का नाम **शान्ति** है, एवं सविशेषानन्त्य का नाम **सुख** है। शान्ति का अर्थ है-**'शान्तानन्द'**, एवं सुख का अर्थ है-**'समृद्धानन्द'**। शान्तानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-**'निःश्रेयस्'**, एवं समृद्धानन्द का ही पारिभाषिक नाम है-**'अभ्युदय'**।

१४८-धर्म्ममूलक 'भूमासुख' की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिद्वन्द्वी दुःख—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः-स धर्म्मः' के अनुसार धर्म्म ही अभ्युदयरूप 'समृद्धानन्द' का कारण है, एवं धर्म्म ही निःश्रेयस् रूप 'शान्तानन्द' का कारण है। प्रतीकात्मक--आचारात्मक--**'आचरणधर्म्म'** से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है, एवं अप्राकृत--शाश्वत--धर्म्मात्मक **'अनुशीलनधर्म्म'** से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति होता है। प्राकृत मानव को, बुद्धिगम्य--व्याख्यावशवर्त्ती लौकिक-मानव को भी यह तो मान हीं लेना पड़ता है कि, **'मानव का एकमात्र लक्ष्य सुख की प्राप्ति ही है'**। इस सुखप्राप्ति के लिए ही इस के लौकिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक-आदि-आदि सम्पूर्ण प्राकृतिक विजृम्भण प्रक्रान्त रहते हैं। सुखैषणा-सुखकामना हीं इन सब प्रक्रान्तियों का एकमात्र मूलाधार है। सुख की परिभाषा है-**'भूमा'**। **"यो वै भूमा-तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमानमित्युपास्व"** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अल्पता का नाम हीं दुःख है, एवं भूमा का नाम हीं सुख है।

१४९-अनुकूल-प्रतिकूल-वेदनात्मक सुख-दुःख-द्वन्द्व, सुख-दुःख--शब्दों का निर्वचन, एवं तदनुगत आद्यन्त का दुःखी मानव—

विकृतिभावानुगत दिग्देशकालानुबन्धी सभी परिणाम अपने भातिसिद्धभाव से सर्वथा अल्प बने हुए हैं। अतएव इन की आस्था-मान्यता से तो मानव को-**'अनुकूलवेदना'** हीं उपलब्ध हो सकती है, जिस का नाम हीं इसने अपनी प्रतारणा के लिए 'सुख' रख लिया है। ऐन्द्रिक--परितृप्ति ही 'सुख' का सुखत्त्व है। विकृतिभावों से इन्द्रियों की कण्डूमात्र तो तात्कालिकरूप से शान्त होसकती है। किन्तु कदापि बिना प्राकृतिक आचार के, आचारधर्म्म के इन इन्द्रियों की, इन **'ख'** भावों की **'सु'** रूपा परिपूर्णता सम्भव ही नहीं है। अतएव ऐसे अनुकूलवेदनात्मक-सुखाभासरूप तात्कालिक-वैकारिक-सुख से तो मानव अपने 'ख' **विवरों (इन्द्रिय-विवरों)** को पूर्ण बना लेने में असमर्थ प्रमाणित होता हुआ आद्यन्त का दुःखी ही बना रहता **है**।

१५०–प्राकृतात्ममूलक--धर्म्मलक्षणात्मक--प्राकृत–सनातनधर्म्म, एवं तन्मूलक सनातन–प्राकृत–सुख—

उक्त लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए तो इसे प्राकृतानन्त्य की ही शरण में आना पड़ेगा। वही इसे 'अभ्युदय' नामक परिपूर्ण–लोकसुख प्रदान कर सकेगा, जिसे लौकिक–वैज्ञानिक–मानवों की भाँति दार्शनिक मानवने भी सूक्ष्मान्वेषण के व्यामोहन से विस्मृत ही कर दिया है। जिस उपाय से यह प्राकृतानन्त्य प्राप्त होता है, उसी का नाम है प्राकृत–आचारधर्म्म, जिसे कि 'प्रतीकधर्म्म' माना गया है, जो कि प्राकृत प्रजापति (अक्षरप्रजापति) के द्वारा ही सृष्ट है, (देखिए ! शतपथ १४।८।२।२६।) जो कि अनन्ताव्यय की महिमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

१५१–पुरुषार्थरूप--अप्राकृत--शाश्वतधर्म्म, तन्मूला निर्विशेषानन्तता, एवं तद्द्वारा कल्पित--भ्रान्तियों का मूलोच्छेद—

दूसरा है मानव का पुरुषार्थरूप निर्विशेषानन्त्यरूप निःश्रेयसभाव। अभ्युदय नामक समृद्धानन्द (सुख) मानव का 'प्रकृत्यर्थ' माना गया है, एव तत्साधक धर्म्म प्राकृतधर्म्म कहलाया है, जबकि निःश्रेयस् का साधक अनुशीलनात्मक अप्राकृत धर्म्म ही 'पुरुषाथ' कहलाया है। यह धर्म्म स्रष्टा है, सृष्टि नहीं है, जिस के गर्भ में सृष्ट–प्रतीकधर्म्म प्रतिष्ठित है। अव्ययपुरुष ही इस की स्वरूप–परिभाषा है। अतएव यह–'**शाश्वतधर्म्म**'* नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस इस शाश्वत–स्रष्टा–धर्म्म के आधार पर ही प्राकृत–सनातनधर्म्म प्रतिष्ठित है। प्राकृत सनातनधर्म का स्वरूप लक्षणात्मक है, एवं अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अलक्षण है। देश–काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा–आदि के समन्वय–तारतम्य से कृतरूप प्राकृत सनातनधर्म्म का स्वरूप प्रकृत्यनुसार व्यवस्थित है, जबकि इन सब समन्वयों से अतीत अप्राकृत शाश्वतधर्म्म अपने आप में हीं व्यवस्थित है। सम्भवतः क्रमप्राप्त–'**प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा**' नामक संकल्पित अग्रिम खण्ड में इन दोनों हीं धर्म्मों के सम्बन्ध में विशेष निवेदन किया जासकेगा। अतएव इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर प्रकृत में यही निवेदन कर देना है कि, निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य, इन दो आनन्त्यों के समन्वय–समतुलन से मानव के अप्राकृत–प्राकृत–दोनों स्वरूपों का भलीभाँति समन्वय–हो जाता है। एवं तदाधारेणैव दिग्देशकालानुगता इस की कल्पित भ्रान्ति का सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है।

१५२–अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य, तदनुगत प्राकृत-धर्म्म, एवं तन्निबन्धन अभ्युदयरूप प्राकृत–सुख—

अनन्तकालानुगत सविशेषानन्त्य का नाम हीं प्राकृतिकानन्त्य है, यही प्राकृत मानव के 'अभ्युदय' नामक समृद्धानन्द (लोकसुख) की मूलप्रतिष्ठा है। प्राकृत मानव इसी को अपनी प्राकृत दृष्टि से क्योंकि प्राथम्य देता आया है। अतएव सर्वप्रथम कालानन्त्य–माध्यम से हम इसी की ओर प्राकृत मानव का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। मनःशरीरधर्म्मा प्राकृत मानव को इस अनन्तकाल का प्रतीक माना जायगा सम्वत्सर के माध्यम से, एवं इसी प्रतीकता के माध्यम से प्राकृत मानव को इस के सविशेषानन्त्यरूप कालानन्त्य का स्मरण कराते हुए तन्माध्यम से ही इस की सीमित–दिग्देशकालभ्रान्ति के निराकरण का उपाय किया जा सकेगा।

*–ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य' सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गीता १४।२७।)।

१५३–परमाक्षरमूर्त्ति-परमकालात्मक-अनन्तकाल, तदभिन्न अश्वत्थमूर्त्ति-महाकालात्मक मायी महेश्वर, तदनुगता महिमामयी विभूति, एवं तत्प्रतिष्ठारूप महाकाल के महतोमहीयान् आनन्त्य का संस्मरण—

महामायी षोडशीप्रजापति का स्वरूपाभिव्यञ्जक, अश्वत्थब्रह्मस्वरूपसम्पादक, महामायावृत्तात्मक–परमाक्षरमूर्त्ति–पराप्रकृतिमूर्ति परमकाल ही वह अनन्तकाल है, जो महामायी–अश्वत्थप्रजापति के स्वरूप से अपना सम्पूर्ण महिमामय स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। जिस महामायी अश्वत्थप्रजापति में एक सहस्र पञ्चपुण्डीरा वल्शाएँ गर्भीभूत हैं, वैसे महतोमहीयान् महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति को तो उस मायावृत्तात्मक अनन्तकाल का एकांश ही माना जायगा। क्योंकि एक ही नहीं है यह मायावृत्त। अपितु उस निर्विशेष–अनन्त–परात्पर–धरातल पर अनन्त–असंख्य–हैं वैसे कालात्माक–मायावृत्त, जो प्रत्येक माया–वृत्तात्मक कालवृत्त एक एक अश्वत्थप्रजापति का अभिव्यञ्जक बना हुआ है। कालत्वेन वे सम्पूर्ण मायावृत्त एक ही मायावृत्तात्मक एक ही महाकाल है, जिस के एक एक अंश का नाम है–अश्वत्थानुगत एक एक मायावृत्त। ऐसा वह अनन्तानन्त–(अनन्त भावापन्न अनेक मायावृत्तों को स्वसीमा में प्रतिष्ठित रखने वाला अन्तिम अनन्तरूप महतोमहीयान् एक मायावृत्त)–लक्षण महामायावृत्त ही वह महाकाल है, जिस के यत्किञ्चिदंशरूप–(एक मायावृत्तरूप–कालवृत्तरूप) में हीं सहस्रवल्शेश्वर अश्वत्थप्रजापति प्रतिष्ठित है।

१५४–असंख्य–अनन्त–अश्वत्थमहेश्वरों की महाकालसमतुलन में एकांशरूपा–यत्किञ्चिदंशता, एवं–'एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' का समन्वय—

विदित नहीं, ऐसे कितने अगणित–असंख्य–अश्वत्थब्रह्म उस महामायावृत्तात्मक कालात्मक अनन्ता–नन्तकाल के गर्भ में आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं सामुद्र बुद्बुदवत्, जिनमें से केवल एक ही अश्वत्थब्रह्म हमारा लक्ष्य बन रहा है, जिसे हम उस महाकाल का प्रतीक मान रहे हैं। यह ठीक है कि, वह एतावान् ही नहीं है। इस एक ही अश्वत्थब्रह्म में उस का आनन्त्य परिसमाप्त नहीं है। यह तो उस का महिमात्मक एकांशमात्र ही है। वह इससे बहुत बड़ा है, बड़े से भी बड़ा है। **'अतो ज्यायांश्च पूरुषः-एतावानस्य महिमा'**। तदपि यह तो कहा ही जा सकता है इस प्रतीकभूत एक अश्वत्थब्रह्म के लिए भी कि, वह अनन्तानन्तकाल अपने एकांशरूप–प्रतीकभूत–इस एक अश्वत्थस्वरूप से भी अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त तो कर ही रहा है। जैसा स्वरूप महतोमहीयान् का होता है, अणोरणीयान् का भी वैसा ही, किंवा वही स्वरूप माना गया है विज्ञानजगत् में।

१५५–अणोरणीयान् कालकेन्द्र, तथा महतोमहीयान् कालमहिमा का अभिन्नत्व, एवं एक मायावृत्तात्मक, एकांशरूप अश्वत्थकाल के द्वारा कालातीत के प्रथम आनन्त्य की अभिव्यक्ति का समन्वय—

महिमा, और केन्द्र, दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो महिमा है, वही केन्द्र है। जो केन्द्र है, वही महिमा, है। अतएव दोनों हीं अनन्त हैं। वह अनन्तमहिमाशाली है, तो यह उसका एक केन्द्रबिन्दुमात्र है, और

इस दृष्टि से तो यह उसका एकांश ही है। किन्तु वह इस एकांशरूप ह्रस्वभाव से ही अपने समस्त महिमामय-स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। ध्यान रहे--अनन्तकाल पर बिन्दु--बिन्दु--रूप से प्रतिष्ठित यच्चयावत् मायी अश्वत्थब्रह्म एक दूसरे से विभिन्न हैं। सब अपने अपने रूप से उसी के प्रतीक हैं। और सब--(प्रत्येक) अपने अपने एकांश से भी उस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति प्रमाणित होते हुए अपने अपने रूप से परिपूर्ण ही बने हुए हैं। कोई किसी से छोटा, अथवा तो बड़ा नहीं है। कोई किसी का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। सब स्व--स्व महिमा से परिपूर्ण हैं। प्रत्येक परिपूर्ण है, समष्टि परिपूर्ण है, समष्टि की समष्टि भी परिपूर्ण है। सर्वत्र--सब में-प्रत्येक में यों अनन्तकाल अपनी परिपूर्णता से व्याप्त होरहा है। इसी का नाम है सविशेषानन्त्य, यही है प्राकृतिकानन्त्य, और इसी का एक अनन्त--उदाहरण है एक मायावृत्तात्मक एक अश्वत्थब्रह्म, जो अपनी प्रतीकता से प्रकृतिरूप अनन्तकाल के सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। इतिनु प्रथमानन्त्य-समन्वयः।

१५६--अनन्तमहाकाल के प्रथमावतार अनन्ताश्वत्थकाल के द्वितीय-अवताररूप अनन्त-परोरजाकाल का स्वरूप--समन्वय--

आगे चलिए। अनन्तकाल के एकांशरूप-प्रतीकरूप अश्वत्थब्रह्म का नाम होगा-**'अनन्ताश्वत्थकाल'**, जिसे हम अपनी सीमित दृष्टि से उस अनन्तकाल का **प्रथमावतार** कहेंगे (जबकि ऐसे असंख्य अश्वत्थावतार पूर्वकथनानुसार उस अनन्तकाल--धरातल पर इतस्ततः बुद्बुद्वत् विचरण कर रहे होंगे, निश्चयेन कर रहे हैं, अतएव डरते डरते ही हमें इस एक अश्वत्थ के लिए केवल अपनी अपेक्षा से स्तुतिभावानुबन्ध से ही **'प्रथम'** शब्द अभिव्यक्त कर देना पड़ रहा है)। उस अनन्तकाल के एकांश--प्रतीकरूप-अनन्ताश्वत्थकाल के सहस्र महिमा--विवर्त्त हैं, जो **'पञ्चपुण्डीरा--प्राजापत्यवल्शा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। अश्वत्थवृक्ष की हजार शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा में **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूः--चन्द्र**--नामक पाँच पाँच पुण्डीर हैं। पाँचों पुण्डीरों की समष्टिरूपा एक शाखा का नाम हीं 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' है, जिसका एक स्वतन्त्र छन्द **है--'योगमाया'**। योगमायावृत्तात्मक यह एक वल्शाकाल ही उस अश्वत्थब्रह्म का एक प्रतीककाल है। और ऐसे सहस्रकाल प्रतिष्ठित हैं सहस्रशाखारूप से उस अनन्ताश्वत्थकाल के गर्भ में। यच्चयावत् शाखाब्रह्म पर-स्पर विभिन्न हैं, किन्तु सबके लिए वह सहस्रशाख--अश्वत्थ अभिन्न है। अर्थात् वह अपनी प्रत्येक शाखा के माध्यम से शाखारूप में हीं अपना सम्पूर्ण अनन्त स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है। अतएव प्रत्येक शाखा अपने अपने योगमायावृत्त में परिपूर्ण है, अनन्त है। और यही उस अनन्तकाल का **द्वितीयावतार** है, जिसे हम समझने के लिए **'शाखावतार'** कह सकते हैं। ९९९ शाखावतारों का हम से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है भी, तो वह हमारे आचारात्मक पक्ष से तो सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। ज्ञानीय सम्बन्ध हो सकता है उन के भी साथ, होगा ही, है ही। किन्तु आचारात्मक सम्बन्ध की आधारभूमि तो हमारे लिए वही एक शाखाब्रह्म है, जिस में हम प्रतिष्ठित हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। अतएव उन सब अनन्त प्रतीकों को अपने ज्ञानीय जगत् में अपनी प्रणतियाँ समर्पित करते हुए अब हम इस एक शाखानन्त्य को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, जो अपने इस एकांश से ही उस सहस्रशाखात्मक अनन्ताश्वत्थ की परिपूर्णता का संग्राहक बना हुआ है। इस एक के परिज्ञान से ही वह सर्वात्मना परिज्ञात बन रहा है--**'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**। क्योंकि वह इस एकांशरूपा एक भी वल्शावत् (इतर वल्शाओं की भाँति) अपना सम्पूर्ण--परिपूर्ण-

अनन्त--स्वरूप अभिव्यक्त कर रहा है । अनन्तकाल का प्रथमावतार सहस्रवल्शेश्वर **अनन्तकालात्मक–अश्वत्थब्रह्म**, उसी अनन्तकाल का द्वितीयावतार एकवल्शेश्वर–**अनन्तकालात्मक–शाखाब्रह्म** ।

१५७–अव्यक्त स्वयम्भू , एवं व्यक्त स्वयम्भू-रूप से शाखेश्वर अव्यक्तकाल के दो महिमा–विवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय—

और आगे चलिए । यहाँ थोड़ा नामसाम्यमूलक सूक्ष्मचिन्तन अपेक्षित होगा । वैज्ञानिकोंनें स्वयम्भू के **अव्यक्तस्वयम्भू–व्यक्तस्वयम्भू**–रूप से दो महिमाविवर्त्त माने हैं । अव्यक्तस्वयम्भू वह स्वयम्भू है, जो पाँचों विश्वपुण्डीरों (पर्वों) का अवारपारीण एक आत्मा है, एक ईश्वर है । इस का नाम है **'बल्शेश्वर'–'शाखेश्वर'–'विश्वेश्वर'** । वल्शेश्वर नामक यह अव्यक्त स्वयम्भू अपने निरतिशय अव्यक्तभाव के कारण अश्वत्थवत् अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनुपाख्यतमोरूप ही बना हुआ है, जो सृष्टिकर्म्म का अश्वत्थवत् तटस्थ साक्षीमात्र ही है । जो केन्द्र अश्वत्थ का है, वही इस अव्यक्त स्वयम्भू का है * । भूतसाक्षीमात्र यह अव्यक्तस्वयम्भू तो अश्वत्थवत् अव्यक्ता प्रकृति की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त है । यह वह अव्यक्तस्वयम्भू है, जिसके गर्भ में व्यक्तस्त्रयम्भू प्रतिष्ठित है, जिससे **'प्रकृतिवाद'** उपक्रान्त होता है । अव्यक्त-प्रकृतिरूप भूतसाक्षी स्वयम्भू के गर्भ में पुण्डीररूप से व्यक्त--प्रकृतिवादोपक्रमभूत--भूतादि--वृत्तौजा--स्वयम्भू ही दूसरा विवर्त्त है । अव्यक्तस्वयम्भू **परोरजा** है, **विश्वाध्यक्ष** है, तो पुण्डीरस्वयम्भू–लक्षण व्यक्तस्वयम्भू **रजःप्रवर्त्तक** है, विश्वकर्म्मा है ।

१५८–द्विविध स्वयम्भू-विवर्त्तों का तात्त्विक स्वरूप–दिग्दर्शन—

वह लोकसाक्षी है, तो यह लोकप्रवर्त्तक--लोकस्रष्टा--विधाता है । वह विश्वेश्वर स्वयम्भू है, तो यह उपेश्वर स्वयम्भू है उपेश्वर पाँच हैं, जबकि विश्वेश्वर एक ही है । स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य–भूः--चन्द्रः-ये पाँच हैं उपेश्वर, जिन का आदिभूत–महाभूतादि–वृत्तौजा पुण्डीर स्वयम्भू ही है । इन पाँचों उपेश्वरों का आधारभूत--साक्षीरूप--अवारपारीण--विश्वेश्वर स्वयम्भू ही अव्यक्त स्वयम्भू है, जिसे हमने अनन्ताश्वत्थ का द्वितीय अवतार बतलाया है । नाम दोनों के स्वयम्भू ही हैं । अतएव नामसाम्य से दोनों के प्रकृतिनिबन्धन--प्रकृतिवादनिबन्धन--पार्थक्य का समन्वय थोड़ा दुर्बोध्य अवश्य बन जाता है, जिस दुर्बोध्यता को राजर्षि ने **स्वयम्भू , और ब्रह्मा**, इन दो नामभेदों से अंशतः समन्वित कर दिया है । स्वयम्भू दोनों का समान ही नाम है । किन्तु 'ब्रह्मा' पुण्डीरस्वयंभू का ही नाम है । क्योंकि यही यजनकर्त्ता-सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक-स्रष्टा प्रजापति है, जबकि अव्यक्त स्वयम्भू तो केवल सृष्टिसाक्षी ही है अपने अव्यक्त अनुपाख्यतमोभाव से । निम्नलिखित मानवीय–वचन इन्हीं दोनों स्वयम्भू -विवर्त्तों का यशोगान कर रहे हैं—

---

*–निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-मूलभूतेन--एकस्वरूपेण । एवं सविशेषानन्त्य-प्रसङ्गों में 'एकेन' का सर्वत्र अर्थ होगा-तूलभूतेन-एकांशेन । **'उसके एकत्त्व से इन नानाभावों का समन्वय'** यह निर्विशेषात्मक प्रकार होगा । एवं **'इस के एकांश के समन्वय से उस की सर्वरूपता का बोध'** यह सविशेषात्मक प्रकार होगा । अश्वत्थ के परिज्ञान से बल्शा का ग्रहण, यह निर्विशेष पक्ष माना जायगा । एवं बल्शा के परिज्ञान से अश्वत्थानन्त्य की आराधना, यह सविशेष पक्ष माना जायगा । यहाँ सविशेषता के आधार पर ही समन्वय हो रहा है ।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ —मनुः १।५।	—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ —मनुः १।६।	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः—सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः	—अव्यक्तस्वयम्भूः साक्षी
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः । यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ —मनुः	—व्यक्तस्वयम्भूः स्रष्टा

१५६—अनन्तकाल के तृतीयावतार पुण्डीर—स्वयम्भूकाल का स्वरूप—समन्वय—

अव्यक्त प्रकृति के व्यक्तीभाव की उपक्रमभूमि अव्यक्त स्वयम्भू ही बनता है, जिसकी प्रथम अभिव्यक्ति का नाम है—'व्यक्तस्वयम्भू', जो उस अव्यक्तस्वयम्भू का ही एकांश माना गया है। अपने इस व्यक्तस्वयम्भूरूप एकांश से वह अव्यक्त—विश्वेश्वर—विश्वसाक्षी—स्वयम्भू अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, जो कि सम्पूर्ण स्वरूप सहस्रशाखानुबन्धन से सहस्र—अव्यक्त—स्वयम्भू—विवर्त्तों में विभक्त हो रहा है।

वह सहस्रात्मक सम्पूर्ण स्वरूप इस एक पुण्डीरस्त्रयम्भू के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। पुण्डीर-स्वयम्भू के विज्ञान से अनन्त अव्यक्त स्वयम्भू का सम्पूर्ण स्वरूप विज्ञात बन जाता है। और यही उस अनन्तकाल का तृतीयावतार है।

१६०-अनन्त महाकाल के चतुर्थ अवतार महदक्षरकाल का, एवं पञ्चमावतार चराचर-मूर्त्ति व्यक्त--हिरण्यगर्भकाल का स्वरूप--समन्वय—

अनन्ताश्वत्थकाल का प्रतीक अनन्ताव्यक्त एक शाखात्मक-स्वयम्भूकाल, एवं इसका प्रतीक अनन्त-व्यक्त पुण्डीरस्वयम्भू-काल। आगे चलिए। इस महाभूतादि वृत्तौजा स्वयम्भूकाल के यजुः रूप एकांश से अभि-व्यक्त आपोमय परमेष्ठी ही उस अनन्तकाल का **चतुर्थ अवतार** माना जायगा, जिसके द्वारा अनन्तकाला-त्मक पुण्डीरस्वयम्भू अपने सहस्रपुण्डीरात्मक सम्पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त कर रहा है। और यहाँतक वह अनन्तकाल लोकप्रसिद्ध 'सम्वत्सर' मर्य्यादा से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है–**'न ह ततः पुरा सम्वत्सर-आस'** (शतपथब्राह्मण)। लोकप्रसिद्ध-ऋतु-मास-पक्षादि-रूप सम्वत्सरकाल की प्रथम अभिव्यक्ति तो उस सौरमण्डल में ही आकर होती है, जो उस परमेष्ठीकाल के गर्भ में परमेष्ठी का प्रतीक बनकर द्रप्सरूप से प्रतिष्ठित है। अनन्तकालात्मक परमेष्ठी अपने सम्पूर्ण आनन्त्य को इस सौरब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। सौरमण्डल का ही नाम है–सौरसम्वत्सर, और यही है दिव्यसहस्रयुगात्मक वह एक वर्षात्मक एक सम्वत्सरकाल, जिसके मानववर्षानुपात से अर्ब खर्बादि गणनकालपर्व मान लिए गए हैं, मन्वन्तरकालगण-नात्मिका जो काल-इयत्ता भी मानव की बुद्धि से अतीता ही प्रमाणित हो रही है। यही वर्षात्मक पुण्याहात्मक सौरसम्वत्सरकाल उस अनन्त परमेष्ठी का एकांशमात्र है। एकांशमात्र भी यह सौरसम्वत्सरकाल परमेष्ठी के माध्यम से क्योंकि अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, अतएव इसे भी उसीका **पञ्चमावतार** मान लिया है वैज्ञानिकोंनें।

१६१-अनन्तकाल के षष्ठ अवतार इलान्दकाल का, एवं सप्तम अवतार–'नक्षत्रकाल' का स्वरूप–समन्वय, तथा परिलेख–माध्यम से अनन्तकाल के सात कालावतारों का संकलन—

और आगे चलिए। सौरसम्वत्सरकाल के एकांशरूप प्रवर्ग्यभाग से उपग्रहरूपेण अभिव्यक्त सम्पूर्ण ग्रहमण्डलों से समन्वित–पार्थिवसम्वत्सरकाल इसी सौरकाल का प्रतीक बना हुआ है, जिसके द्वारा सौरकाला-नन्त्य का सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त हो रहा है। एवं जो यह पार्थिवसम्वत्सरकाल सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ-विराट्मूर्त्ति--साक्षीसुपर्ण--नामक महासुपर्ण की आधारभूमि बना हुआ है, जिस महासुपर्ण के अंशभावों का नाम हीं जीवात्मक भोक्ता सुपर्ण है। इस पार्थिव सम्वत्सरकाल के प्रवर्ग्यरू एकांश से ही उस लोक--प्रजा--जन--विश्रुत चान्द्रसम्वत्सर की अभिव्यक्ति हुई है, जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिवसम्वत्सर-काल यदि उसी अनन्तकाल का **षष्ठ अवतार** है, तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल उसी का **सप्तम अवतार** है। और यहाँ आकर उस अनन्तकालचक्र का एक परिभ्रमणक्रम उपरत होरहा है। अतएव चान्द्रसाम निधनसाम नाम से प्रसिद्ध हो गया है। उपरत है **'लोकवितान'** की दृष्टि से। किन्तु **'प्राणवितानदृष्टि'** से तो यह चान्द्रसम्वत्सरकाल ही

अत्र प्रजाकाल की उपक्रमभूमि बनने वाला है। जिसप्रकार पार्थिवसम्वत्सरकाल सौर अनन्तकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है, तथैव तत्प्रतीकभूत यह चान्द्रसम्वत्सरकाल भी उसी क्रमधारा से पार्थिवसम्वत्सरकाल के माध्यम से उस अनन्तकाल की सम्पूर्ण परिपूर्णता को सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। और मानव की प्राकृत-दृष्टि से हम अत्र इस लोकप्रसिद्ध चान्द्रसम्वत्सररूप 'एकवर्ष' को ही उस अनाद्यनन्तकाल का प्रतीक मान लेते हैं, जो कि वर्षकाल उसका सातवाँ अवतार बना हुआ है।

कालः— अनन्तमायावृत्तात्मकोऽनन्तोऽनादिकालः—परमकालः— } —महाकालकालः } प्रकृतिः

कालमहिमा-विवर्त्तानि-कालात्मकानि अनन्तान्येव-समष्ट्या-व्यष्ट्या च

१-तस्य प्रथमावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्ताश्वत्थकालः } —अश्वत्थकालः

२-तस्य द्वितीयावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तशाखाकालः -अव्यक्तस्वयम्भुरूपः- } —अव्यक्तकाल

३-तस्य तृतीयावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तस्वयम्भुकालः -व्यक्तस्वयम्भुरूपः— } —स्वयम्भुकालः

४-तस्य चतुर्थावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तपारमेष्ठ्यकालः } —परमेष्ठिकालः

५-तस्य पञ्चमावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तसौरसम्वत्सरकालः } —सूर्य्यकालः

६-तस्य षष्ठावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तपार्थिवसम्वत्सरकालः } —भूकलः

७-तस्य सप्तमावतारः—प्रतीकभूतः-अनन्तचान्द्रसम्वत्सरकालः -वर्षकाल- } —चन्द्रकालः

सप्तविवर्त्तात्मकः प्राकृतात्मा

१६२-पूर्व-पूर्व-कालविवर्त्तों के सर्व-कृत्स्न-आनन्त्य के अभिव्यञ्जक उत्तर-उत्तर-कालविवर्त्त, एवं अनन्त की अनन्तता का व्यापकत्त्व—

अनन्त-असंख्य-महामायावृत्तात्मक-अनन्तानन्ताकाशमूर्त्ति-कालकालात्मक-परमदेवस्वरूप-प्रकृति-रूप-'**अनन्तकाल**' अपने समस्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप सहस्रपुण्डीरावच्छिन्न एक '**अश्वत्थब्रह्म**' के रूप में। सहस्र-अतएव अनन्त-पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शाओं से समन्वित, महामायावृत्ता-त्मक-अनन्ताकाशमूर्त्ति-महाकालात्मक-मायी महेश्वर नामक '**अनन्ताश्वत्थकाल**' (प्रथमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है-स्व-एकांशरूप पञ्चपुण्डीरावच्छिन्न-वल्शाध्यक्ष, योगमायावृत्तात्मक-अव्यक्ताकाशमूर्त्ति-परोरजा-साक्षी-कालात्मक योगमायी विश्वेश्वर अव्यक्तस्वयम्भू के रूप में। यह अव्यक्तस्व-

यम्भू–काल (द्वितीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप–चतुःपुण्डीराध्यक्ष–विश्वस्रष्टा–उपयोगमायावृत्तात्मक–व्यक्ताकाशमूर्त्ति–रजःप्रवर्त्तक–स्रष्टा–कालात्मक–व्यक्तस्वयम्भू के रूप में। यह व्यक्तपुण्डीरस्वयम्भूकाल (तृतीयावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–स्व–एकांशरूप-पुण्डीरत्रयाध्यक्ष–विश्वरूप–महदक्षरमूर्त्ति–भूत–भविष्यत्कालात्मक–भृग्वङ्गिरोरूप–परमेष्ठी के रूप में। यह पारमेष्ठ्य काल (चतुर्थावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–सम्वत्सरवेलात्मक–दिव्यसहस्र-युगानुगत–चतुर्दशमन्वन्तरात्मक–व्यक्त–सौरसम्वत्सरकाल से रूप में। यह सौरम्वत्सरकाल (पञ्चमावतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–पार्थिवसमम्वत्सरकाल के रूप में। एवं यह पार्थिवसम्वत्सरकाल (षष्ठ–अवतार) अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है–उस चान्द्रसम्वत्सरकाल के रूप में, जो 'वर्ष' (मानववर्ष) नाम से प्रसिद्ध हैं। असंख्य अनन्त हैं ये वर्षकाल। साथ ही सभी वर्ष सर्वथा पृथक पृथक हैं। किन्तु प्रत्येक वर्ष शेषभूत उन समस्त अनन्त वर्षों का प्रतीकविधि से प्रातिनिध्य कर रहा है। प्रत्येक वर्ष स्व स्व सम्वत्सरसीमा मे उस अनन्तकाल के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। और यों व्यक्तदृष्ट्या सादिसान्त भी प्रतीयमान वर्षात्मक सम्वत्सरकाल अपने उस आधारभूत अनन्ताव्यक्त–कालानुबन्ध से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है।

१६३–सर्वबलविशिष्टरसैकघननिर्विशेषानन्त्यरूप अनन्त ब्रह्म का एकांशविवर्त्तरूप, सप्तकालविवर्त्तजन्मदाता–अनन्त–अमूर्त्त–महाकाल, उसकी 'बल' रूपता का समन्वय, एवं प्रकृति–स्वरूप–समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य-समन्वय के लिए तो अमूर्त्त–मूर्त्त–शब्दों को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। जिस अनन्तकाल का यशोगान किया जारहा है, उस से भी अतीत, अतएव कालातीत–अनन्त परात्पररूप निर्विशेष ब्रह्म की सर्वबलविशिष्टरसैकघनता का पूर्व में ÷ अनेकधा * बहुधा-यशोगान किया जाचुका है। बलविशिष्टरसैकघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के बलात्मक एकांश का ही नाम वह अनन्तकाल है, जिस के सात अवतारों की चर्चा प्रक्रान्त है। 'बल' ही प्रकृति का मौलिक स्वरूप है, जबकि रस को ही अनन्त पुरुष का मौलिक स्वरूप माना गया है। बलात्मिका प्रकृति ही अक्षरप्रकृति है, एवं इसी का नाम अनन्तकाल है, जो अपनी इस स्वरूपरक्षा के लिए, बलवत्ता के लिए रस को ही आवृत किए रहता है। **रस से आवृत बल ही प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप है।**

१६४–रसानुबन्धिनी–प्राकृतिक–कालानन्तता–अमूर्त्तता, एवं बलानुबन्धिनी प्राकृतिक–कालसादिसान्तता–मूर्त्तता का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रकृतिकाल की यह अनन्तता वस्तुतः रसानुबन्धिनी ही है। क्योंकि बल तो संख्या से अनन्त (असंख्य) होता हुआ भी दिग्देशदृष्ट्या सादिसान्त ही है। यों एक ही प्रकृति में, किंवा प्रकृतिरूप काल में अनन्तरस,

---

÷–तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्त–'मनेकधा'। (गीता० ११।१३।)।

*–एकं सद्विप्रा–'बहुधा' वदन्ति। (ऋक्सं० १।१६४।४६।)।

सादिसान्त बल--दोनों का समन्वय संसिद्ध हो रहा है। प्रकृति का यह अनन्त रसभाव ही इसका **अमूर्त्त-अनन्त-भाव** है, एवं प्रकृति का यह सादिसान्त बलभाव ही इसका **मूर्त्त-सादिसान्त भाव** है। इसप्रकार इस प्राकृतकालब्रह्म के ही रस-बलानुबन्धेन **अमूर्त्त--मूर्त्त**--ये दो महिमाविवर्त्त हो जाते हैं। अनन्तकाल को उस अनन्त के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला यदि मान लिया जासकता है, तो इस अभिव्यक्त अनन्तकाल की रसाभिव्यक्ति को **अमूर्त्ताभिव्यक्ति**, एवं बलाभिव्यक्ति **मूर्त्ताभिव्यक्ति** कहा जासकता है, मानलिया जासकता है, जबकि ऐसा मान लेना मान्यता ही है। इस मान्यता की आस्थारूप में परिणति तो उस अनन्तब्रह्म के अन्यतम प्रतीकरूप मानव के द्वारा ही होगी, जैसाकि सम्भवतः आगे चलकर स्पष्ट हो सकेगा।

१६५-प्रतीकाधार की अमूर्त्तता, एवं प्रतीक की मूर्त्तता, तथा-'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' श्रुति का समन्वय—

जो प्रतीक है, वही मूर्त्त है, एवं जिसका प्रतीक है-वही अमूर्त्त है। जिसका जो प्रतीक है, वह प्रतीक भी तो वही है। वही तो प्रतीकरूप में परिणत हुआ है। एकांशरूप प्रतीक उस ज्यायान् अंशी से अभिन्न ही तो है। कालप्रतीकता से समन्वय कीजिए इस दृष्टिकोण का। अनन्तकाल का रसभाव 'अमूर्त्त' है, अनन्त-काल का बलभाव 'मूर्त्त' है। यों स्वयं मूलभूत अनन्तकाल ही-'**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे--मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च**' रूप से दो महिमाभावों में परिणत होरहा है। अतएव इसके पूर्वप्रतिपादित सातों हीं प्रतीक-विवर्त्तों में-प्रत्येक में-अमूर्त्त-मूर्त्त-दोनों महिमाभाव समाविष्ट रहेंगे। तभी तो इनका प्रतीकत्व सुरक्षित रहेगा। और तभी तो यह कहा जासकेगा कि, वह अपने एकांशरूप प्रतीकभाव से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, तो एकांशरूप यह अपनी एकांशता से उस अंशी के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। अमूर्त्त-मूर्त्त, दोनों का संग्रह ही इस समग्रता का कारण बन रहा है।

१६६-सप्तकालविवर्त्तानुगत अमूर्त्त-मूर्त्तभाव, सविशेष कालविवर्त्तों की प्राकृतता, एवं नात्र ऐकान्तिकामृतत्त्वस्य तु--आशास्ति—

और यों अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त व्याप्त आठों कालविवर्त्तों के प्रत्येक के **अमूर्त्तकाल, मूर्त्तकाल**-रूपेण दो दो विवर्त्त होजाते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह अवश्य ही अवधानपूर्वक समन्वय करते जाना चाहिए कि, पूर्व-पूर्व के कालविवर्त्त उत्तर उत्तर के कालविवर्त्त की अपेक्षा से अमूर्त्त-काल बन रहे हैं, एवं उत्तर-उत्तर के काल पूर्व-पूर्व की अपेक्षा मूर्त्तकाल बन रहे हैं। अमूर्त्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त्त अनन्त हैं, यही सविशेषानन्त्य है, प्राकृतिकानन्त्य है। एवं मूर्त्तदृष्ट्या सभी कालविवर्त्त सादिसान्त हैं, यही सविशेषप्राकृतभाव है, प्राकृतिक अन्त भाव है--**नात्र-ऐकान्तिकामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति**। सापेक्षानन्तत्व ही इस प्राकृतानन्त्य का एकमात्र महान् उदर्क है, जिसे शास्त्रीय-भाषा में लोकसमृद्धिरूप 'अभ्युदय' कहा गया है।

१६७-कालात्मक-अक्षरप्रजापतिरूप--प्राकृत विवर्त्त के अमूर्त्त-मूर्त्त-भावानुबन्धी--अर्द्ध--अर्द्धात्मक अमृत-मर्त्य--भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

रसानुबन्धी अनन्तभाव ही अमूर्त्त कहलाएगा सर्वत्र, सभी विवर्त्तों में, एवं छन्दः पदार्थ, एवं छन्दित **पदार्थ** ही इन अमूर्त्त-मूर्त्त-भावों की तात्त्विक परिभाषा होगी। छन्दः पदार्थ ही **महिमा**-कहलाएगा, एवं

छन्दित पदार्थ ही **मूर्त्ति** कहलाएगी। महिमा ही **'पुनःपदम्'** होगा, एवं मूर्त्ति ही-**'पदम्'** होगा। पुनःपदरूप महिमाभाव ही अमृतरसात्मक अमूर्त्त भाव होगा, एवं पदात्मक मूर्त्तिभाव ही मर्त्यबलात्मक मूर्त्तभाव होगा। छन्दोरूप-अमृत-रसात्मक–महिमाभाव ही उसी काल का **'अमूर्त्तकाल'** रूप माना जायगा, एवं–छन्दित–मर्त्य–बलात्मक मूर्त्तिभाव ही उसी काल का **'मूर्त्तकाल'** रूप माना जायगा। छन्दःकाल का पारिभाषिक नाम होगा **'काल'**, एवं छन्दित काल का पारिभाषिक नाम होगा दिगनुगत देश। यों अपने रस–बलात्मक अमूर्त्त–मूर्त्त भावों से स्वयं अनन्तकाल ही अमूर्त्तदृष्टया अनन्तकाल–अनन्तदिक्–अनन्तदेशात्मक बना रहेगा, तो यही मूर्त्तदृष्टया सादि–सान्त–दिक्–देश–कालात्मक बना रहेगा। अनन्तकालदिग्देशरूप महिमामण्डल ही अमूर्त्तकाल है, यही अक्षरप्रजापति का अमृतरूप है, जिस के गर्भ में हीं सादिसान्त दिग्देशकालरूप वस्तुपिण्ड (मूर्त्ति) प्रतिष्ठित है। यही अक्षरप्रजापति का मर्त्यरूप है, एवं–**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** का यही रहस्यात्मक समन्वय है।

१६८-'प्र' और-'कृति', 'कृति' की प्रागवस्था का 'प्रकृतित्त्व', एवं 'कृति' की उत्तरावस्था का 'विकृतित्त्व', तथा प्रकृति का अमूर्त्तकालत्त्व, और विकृति का मूर्त्तकालत्त्व—

क्षरानुबन्धी अमूर्त्तकाल, तथा बलानुबन्धी मूर्त्तकाल, दोनों के समन्वितरूप का नाम हीं **है–'प्र–कृति'** लक्षणा **'प्रकृति'**। **'कृति'** नाम है **कार्य्यभाव का**। इस कार्य्य की प्रथमावस्था–पूर्वावस्था ही वह कारणावस्था है, जिसे 'प्राग्' भाव के कारण **'प्र'** कहा गया है। **'प्र' रूप** कारणात्मक अव्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का अमूर्त्त अक्षरभाव, एवं 'कृतिरूप' कार्य्यात्मक व्यक्तभाव का नाम है प्रकृति का मूर्त्त क्षरभाव। अक्षररूप रसभाव क्योंकि क्षररूप बल से अविनाभूत है। अतएव 'प्र' (अक्षर) **के** साथ भी 'कृति' (क्षर) समन्वित हैं। एवमेव क्षररूप बल भी क्योंकि अक्षररूप 'प्र' (अक्षर) के बिना अनुपपन्न है। अतएव 'कृति' (क्षर) के साथ भी 'प्र' (अक्षर) जुड़ा हुआ है। यों अक्षरप्रधान अमूर्त्तभावात्मक 'प्र' भाव भी 'प्रकृति' बन रहा है, तथा क्षरप्रधान मूर्त्तभावात्मक 'कृति' भाव भी 'प्रकृति' बन रहा है। अव्यक्ता–अक्षरप्रकृति का अर्थ है बलगर्भित रस, किंवा क्षरगर्भित अक्षर। एवं व्यक्ता क्षरप्रकृति का अर्थ है–रसगर्भित बल, किंवा अक्षरगर्भित क्षर। उभयात्मक (रसबलात्मक–अक्षरक्षरात्मक) अक्षर का नाम है अमूर्त्तकाल, एवं उभयात्मक (क्षराक्षरात्मक) क्षर का नाम है मूर्त्तकाल। अमूर्त्तकाल काल है, एवं मूर्त्तकाल दिग्देश है।

१६९–अश्वत्थकालात्मक–अमूर्त्तकाल के 'खस्वस्तिक' रूप सुसूक्ष्म काल–दिग्–देश–भाव, एवं अमूर्त्तकालात्मक अश्वत्थ–परोरजा–स्वयम्भू–महदक्षर–रूपा अनन्त-कालचतुष्टयी के सम्बन्ध में मूर्त्तभावापन्न दिग्–देश–काल–भावों की प्रासङ्गिक-जिज्ञासा—

क्या परिभाषा होगी अश्वत्थब्रह्मात्मक कालविवर्त्त में दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव की ?, जबकि वहाँ दिग्देश का कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत हो रहा। दिग्देश की प्रतीति तो बहुत आगे जाकर पाँचवें सौर-सम्वत्सरकाल में ही हुआ करती है। इस विप्रतिपत्ति का एकमात्र समाधान है **'स्वस्तिकभाव'**। अवश्य ही लोकप्रसिद्ध, सर्वानुभूत–दृष्ट–श्रुत–उपवर्णित दिग्देशात्मक मूर्त्तभाव न तो अश्वत्थब्रह्म में ही है, न तदंशभूत

अव्यक्तस्वयम्भू में ही है, न तदंशभूत पुण्डीरस्वयम्भू में ही है, न तदंशभूत महदक्षरमूर्त्ति पारमेष्ठ्य मण्डल में ही है। इस चौथे परमेष्ठी के आपोभावात्मक पुष्करपर्ण से ही दिग्भावात्मिका–मूर्त्तभावापन्ना–छन्दोमयी–मूर्त्ति का उपक्रम होता है। जबकि अनन्तकालावताररूप इन चारों अश्वत्थ–अव्यक्त–स्वयम्भू–परमेष्ठी–नामक कालविवर्त्तों में दिग्देशभाव अनुपपन्न हैं भूतदृष्ट्या, तो फिर इनके सहजसिद्ध–मूर्त्त–भावों, किंवा मूर्त्तिभावों का कैसे, क्या समन्वय किया जाय ?।

१७०–प्रकृतिनिबन्धन सत्कार्य्यवादसिद्धान्तमूलक–प्रश्न–समाधान का समन्वय—

प्रश्न अवश्य महत्त्वपूर्ण है, अतएव समादरणीय भी। वस्तुतः भूतदृष्ट्या जिसे मूर्त्त, किंवा मूर्त्ति कहा जाता है, उस की अभिव्यक्ति तो सौरमण्डल से ही उपक्रान्त होती है। और इस भूतदृष्टि से तो सौरमण्डल से परस्तात् के सभी कालविवर्त्त अपनी प्राणात्मिका रसप्रधानता से अव्यक्त–अमूर्त्त–प्रधान बनते हुए केवल कालात्मक ही माने जायँगे। मूर्त्यनुगत मृत्युभाव तो सूर्य्य के भूतभाग से ही उपक्रान्त बनता है। यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी इस तथ्य के साथ भी गजनिमीलिका नहीं की जासकती कि, जिस मूर्त्तभाव की, किंवा मूर्त्ताकारभाव की, किंवा मूर्त्ति की सौरसंस्था से उपक्रान्ति होती है, उसका बीज इसकी कारणभूता पारमेष्ठ्या महदक्षरप्रकृति में अवश्य ही होना चाहिए। यदि परमेष्ठी में वह मूर्त्तबीज है, तो स्वयम्भू भी उस से वञ्चित नहीं माना जासकता। फिर तो सर्वाधारभूत उस अनन्तकाल में भी वह मूर्त्तबीज मान ही लेना पड़ेगा, जिसके बिना परमेष्ठी में भी बीजभाव अनुपपन्न है। जो है, उसी की अभिव्यक्ति होती है। जो नहीं है मूलप्रकृति, किंवा मूलकाल में, वह कदापि तूलकालात्मक भूत–व्यक्त–विवर्त्त में नहीं हो सकता। यही तो प्रकृतिमूलक वह सत्कार्य्यवादसिद्धान्त है, जिसका भगवान् ने भी समर्थन किया है *।

१७१–बलचितिरूपा संसृष्टि, चयनानुगता इष्टकाचिति, चित्यात्मक–रासायनिक–सम्मिश्रणरूप–याग, एवं तदाधारभूत केन्द्रबल का समन्वय—

भूतानुगत मूर्त्तभाव, किंवा मूर्त्तिभाव का अर्थ है–अमूर्त्त प्राणात्मक रस के आधार पर मूर्त्तभूतमात्रात्मक बलों की परस्पर–चिति, यागात्मक अन्तर्य्याम–सम्बन्ध, परस्पर ग्रन्थिबन्धन, चयन। इसी बलचिति का नाम है बलों की 'संसृष्टि'। और यही संसृष्टि इस बलचिति को मूर्त्त, किंवा भूतरूप प्रदान करती है, जिस में दिक्, और तदनुगत देशात्मक प्रदेश अभिव्यक्त रहता है। अवश्य ही इस मूर्त्त, किंवा मूर्त्तिभाव की अभिव्यक्ति-स्वरूपनिष्पत्ति के लिए बलों की चिति अपेक्षित है, जो चयनयज्ञपरिभाषा में–'**इष्टकाचिति**' कहलाई है, जिसका आधार सप्तचितिक प्रजापति, एवं पञ्चचितिक सम्वत्सराग्नि ही माना गया है। बलचिति का अर्थ है–गतिधर्म्मा विरुद्ध अनेक बलों का पारस्परिक सम्मिश्रण। इस सम्मिश्रण का आधार है–कोई वैसा सीमित क्षेत्र, जो इन बलों के गमनागमन का 'सरणि' रूप एक सञ्चारपथ बना रहता है। इस सीमाबद्ध सञ्चारपथ के कारण हीं गत्यागतिशील बलों को बाहिर की ओर वितत होने–फैलने के लिए क्योंकि असीम–धरातल

***–नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

—गीता ७।२५।।

नहीं मिलता। अतएव इस सीमाक्षेत्रबन्धन से चारों ओर से घिरे हुए बलों को सीमा के केन्द्र में परस्पर संश्लिष्ट हो ही जाना पड़ता है, एवं इसी को 'बलचिति' कहा गया है। परस्पर सम्मिलित हो जाने वाले बलों की इस चिति का नाम मूर्त्त, किंवा मूर्त्ति अवश्य है। किन्तु इस की सूक्ष्ममूर्त्ति तो उस सीमावृत्त को ही माना जायगा, जिसका एक सुनिश्चित केन्द्र होता है। एवं जिस केन्द्रबल की सिसृक्षात्मिका प्रेरणा से ही, केन्द्रबल पर ही गत्यागतिशील बल सञ्चित होते हुए स्थूल मूर्त्तरूप में परिणत हो जाते हैं।

१७२–संक्लेदनात्मक--संघर्ष का जन्मदाता पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूला संसृष्टि, एवं तत्पूर्ववर्त्ती कालविवर्त्तों का संसृष्टिभावों से पार्थक्य—

मानते हैं–स्वयं अनन्तकाल से आरम्भ कर महदक्षररूप परमेष्ठि-पर्य्यन्त बल चिति-अवस्था में परिणत नहीं हो सकते इन विवर्त्तों के अमूर्त्तप्रधान होने से, एवं परमाकाशात्मक होने से, प्राणात्मक बने रहने से। किन्तु बलचिति का आधारभूत सीमावृत्त, एवं चितिप्रवर्त्तक बल तो तत्रापि विद्यमान हैं हीं। अनन्तकाल महामाया-वृत्तात्मक है। यह वृत्त ही वह सीमाक्षेत्र है, जिस में संशरबन्धनात्मक असंख्य–अनन्त बल इतस्ततः सञ्चरण करते ही रहते हैं। रसानुगता अव्यक्तता की प्रधानता से अवश्य ही इन में चिति नहीं हो पाती। अतएव इन का मूर्त्तभाव भी अभिव्यक्त नहीं हो पाता। मन्थनात्मक प्रचण्ड संघर्ष का उपक्रम तो होता है आपोमय परमेष्ठी में हीं, जैसाकि–"**संक्लिश्य--अप्सु प्राविध्यत्। स पराङ्रसोऽत्यक्षरत्। स कूर्म्मोऽभवत्**" इत्यादि से स्पष्ट है। यह संक्लेदनात्मक संघर्ष क्योंकि वहाँ नहीं है। अतएव विद्यमान भी वृत्तसीमा के, विद्यमान भी हृदयबल के, एवं विद्यमान भी बलों के व्यक्तभावात्मिका बलचिति नहीं होने पाती उसीप्रकार, जैसे कि दुग्ध में, किंवा दधि में विद्यमान भी घृत मन्थनात्मक संघर्ष के बिना व्यक्त नहीं हो पाता। ठीक यही स्थिति उन अव्यक्त–विवर्त्तों में समझ लीजिए।

१७३–'महिमान आसन्' मूला विभूतिसृष्टि, एवं 'रेतोधा आसन्' मूला चित्या सृष्टि, तथा तदनुबन्धी स्वाहा-स्वधा-शब्दों का समन्वय

थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। एवं इस स्पष्टीकरण के लिए-'**रेतोधा आसन्--महिमान आसन्**' * इस मन्त्रवाक्य को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बना लीजिए। इसी मन्त्रवाक्य का पूरक है–'**स्वधा--अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्**' यह वाक्य। दोनों वाक्यार्थों के समन्वय से मूर्त्तामूर्त्तविषयक यच्चयावत् सम्प्रश्न(जिज्ञासाएँ) गतार्थ बन जाते हैं। कथमिति चेत्?, श्रूयताम्। अनन्तकाल में जबकि सृष्टि का आधारभूत सीमावृत्त है, सृष्टिकामना का उक्थरूप हृदयबल विद्यमान है, सृष्टि का आरम्भक (उपादानद्रव्य) बलतत्त्व विद्यमान है, तो सृष्टि की अभिव्यक्ति तो होनीं ही चाहिए, फिर वह अनन्तकालविवर्त्त हो, अथवा तो तन्महिमारूप अश्वत्थब्रह्म हो, किंवा अव्यक्तस्वयम्भू-व्यक्तस्वयम्भू-महदक्षररूप-परमेष्ठी, कोई भी क्यों न हो। यहाँ

***–तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।**
रेतोधा आसन्--महिमान आसन्--स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्॥
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

अव्यक्तस्वयम्भू-तथा-व्यक्तस्वयम्भू-दोनों को एक स्वयम्भू विवर्त्त मान लेते हैं-साम्यात् । एवं महामाया-वच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म का महामहिम-महामायावृत्तात्मक अनन्तकाल में अन्तर्भाव मान लेते हैं । यों इन पाँच विवर्तों के तीन हीं प्रमुख विवर्त्त रह जाते हैं । अनन्तकाल, और अनन्त अश्वत्थ, दोनों की समष्टि को हम **'अनन्तकाल'** कहेंगे, एवं **अनन्तअव्यक्तस्वयम्भू**, तथा अनन्तपुण्डीरस्वयम्भू-दोनों को **'अनन्त स्वयम्भू'** कहेंगे, एवं तीसरा **'अनन्तपरमेष्ठी'** रहेगा । और इस त्रित्त्व को आधार बना कर ही **'रेतोधा आसन०'** इत्यादि के समन्वय का अन्वेषण करना पड़ेगा ।

१७४-कलनभावात्मक कलात्मक काल, तदनुबन्धी षोडशकल अश्वत्थपुरुष की काल-रूपता, तद्विभूतिरूप सृष्टिविवर्त्त, एवं अनन्तकाल, तथा अव्ययाश्वत्थकाल की अभिन्नता—

काल ही कलनभाव का आधार है, जिस कलनभाव को ही-'कला' कहा गया है । अव्ययपुरुष भी पञ्चकल है, अक्षर भी पञ्चकल है, क्षर भी पञ्चकल है । तभी तो अश्वत्थब्रह्म षोडशी (षोडशकल) कहलाया है । कलनात्मक काल का ही नाम 'अक्षरप्रकृति' है । अतएव कलात्मक अव्यय भी तत्त्वतः अक्षररूप ही है, कलात्मक क्षर भी अक्षररूप ही है, एवं स्वयं की अक्षररूपता तो स्पष्ट ही है । कालातीत निष्कल अनन्ताव्यय-ब्रह्म पृथग् वस्तुतत्त्व है । एवं कलात्मक, अतएव कालात्मक पञ्चकल अव्यय ता अक्षरप्रकृतिरूप ही बन रहा है, और यही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है । तात्पर्य्य यही है कि, जब अक्षरप्रकृतिकाल अव्यय को आधार बना लेता है, तो इसके द्वारा **अव्ययसृष्टि** (अव्ययात्मिका अक्षरसृष्टि) हो पड़ती है । यही कालप्रकृति (अक्षर) जब स्वयं को लक्ष्य बना लेती है, तो इसके द्वारा **अक्षरसृष्टि** हो पड़ती है । अव्ययात्मिका अक्षर-कालसृष्टि का नाम हीं **है-अनन्तकाल** (जिस में अनन्तकाल, और अव्ययाश्वत्थषोडशी ब्रह्म, दोनों समन्वित हैं) ।

१७५-कलासृष्टि का स्वरूप-परिचय, एवं 'कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्' का समन्वय—

अक्षरात्मिका अक्षरकालसृष्टि का ही नाम **है-'स्वयम्भूकाल'** (जिस में अव्यक्त स्वयम्भू, एवं पुण्डीरस्वयम्भू-दोनों समन्वित हैं) । ये दोनों सृष्टियाँ संसृष्टियाँ भले ही न हों, किन्तु 'सृष्टि' इनको अवश्य ही कहा जासकता है । अनन्तकाल-धरातलानुगता अव्ययसृष्टि का नाम हीं **है-'कलासृष्टि'**, जिस से अनन्ता-व्ययमूर्त्ति अक्षरकाल अश्वत्थषोडशीब्रह्म-रूप में परिणत हो रहा है । यही मानसीसृष्टि है, यही भावसृष्टि है, जिस में सभी महिमामय बने हुए हैं । यहाँ का सृष्ट्याधारभूत कालवृत्त भी महिमामय है, अत्र प्रतिष्ठित बल भी भावात्मक ही हैं, एवं सिसृक्षोक्थरूप हृदय भी भावात्मक ही है । जिसे मानसिक चित्र कहा जाता है लोक में, जो मनोदृष्ट्या चित्र है, किन्तु जिसकी अभी लोक में अभिव्यक्ति नहीं हुई है । ऐसी सी ही कुछ स्थिति समझिए उस प्रथम अव्ययात्मक अक्षरमूर्त्ति अनन्तकालधरातल में । इसी प्रथम-**कलासर्गात्मक भावसर्ग को**, अधामच्छदरूप **संकल्पसर्ग को** लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥
—श्वे० उप० ५।१४।

१७६–गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग, तदभिन्न 'प्राणसर्ग', एवं-'गुणांश्च सर्वान् विनि-- योजयेद्यः' का समन्वय —

जब कालप्रकृतिरूप अक्षर स्वयं अपने को ही सृष्टि का लक्ष्य बना लेता है, तो इस अक्षरात्मक अक्षरकाल का नाम होता है–अव्यक्तस्वयम्भूकाल । इस की वेदप्राणात्मिका अव्यक्ता अक्षरसृष्टि का नाम ही है–'गुणसर्ग', जो कि गुणसर्ग रूपरसगन्धस्पर्शशब्द नामक 'पञ्चतन्मात्रा–सर्ग' नाम से भी समन्वित हुआ है । स्वयम्भू ब्रह्म वेदात्मा है । यही गुण–भूतात्मक मात्रासर्ग का प्रवर्त्तक है, जो कि 'प्राणसर्ग' नाम से भी प्रसिद्ध है । निम्नलिखित श्रौत–स्मार्त्त वचन इसी उस अक्षरप्रधान गुणसर्गात्मक पञ्चतन्मात्रासर्ग की ओर सङ्केत कर रहे हैं, जिसके सीमावृत्त, बल, हृदय, आदि सभी विवर्त्त प्राणात्मक अव्यक्तभाव के कारण महिमामय ही बने हुए हैं । भावसर्ग जहाँ महिमारूप था, वहाँ यह गुणसर्ग भी महिमामय ही बन रहा है ।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
—श्वे उप० ५।५।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति गुण-कर्म्मतः ॥
—मनुः

१७७–मूर्त्तिसृष्टि की आधारभूता रेत-रेतोधा-योनि-त्रयी का दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी विकारसर्ग—

मानस भावविवर्त्त, प्राणात्मक गुणविवर्त्त, ये दोनों हीं महिमाविवर्त्त हैं । इन्हीं के लिए 'महिमान आसन्' कहा गया है, जिनमें ग्रन्थिबन्धन का अभाव है । सृष्टि है, किन्तु मनोमयी (भावमयी), और प्राणमयी (गुणमयी) । मैथुनीसृष्टि का नाम हीं मूर्त्तसृष्टि, किंवा मूर्त्तिसृष्टि है, जिसमें 'रेत–रेतोधा-योनि' इन तीनों का समन्वय अपेक्षित है । एवं इस सृष्टि का उपक्रम होता है आपोमय-सोममूर्त्ति परमेष्ठी से ही । पारमेष्ठ्य-भृग्वङ्गिरोभाव ही वह 'शुक्र' (रेत) है, जिसका मातरिश्वा नामक वायव्यप्राणरूप रेतोधा से सावित्राग्निरूप योनि में आधान होता है । और रेतोधा मातरिश्वा* के द्वारा सावित्राग्निरूप योनि में आहुत पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोरूप आपः

*-अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥१॥
स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ॥
कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—ईशोपनिषत्

शुक्र की आहुति से ही व्यक्तमूर्त्ति प्रथम-सन्तति भगवान् सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। यही तीसरा 'विकारसर्ग' है। अक्षर जब क्षर का आलम्बन ग्रहण कर लेता है, तो क्षरात्मक यह अक्षर ही महदक्षर-रूप परमेष्ठीकाल कहलाने लगता है। यहीं रेतोधामूला वैकारिकी सृष्टि उपक्रान्त हो जाती है। इसी के लिए **'रेतोधा आसन्'** कहा गया है।

१७८–अनन्ताश्वत्थकाल के प्रमुख तीन महिमाविवर्त्त, विवर्त्तत्रयानुगता भाव-गुण-विकार-सर्गत्रयी, एवं परस्तात्सर्ग-अवस्तात्सर्ग–मूलक 'स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय—

यों अव्यय–अक्षर–क्षर–भावानुबन्ध से एक ही अक्षरकाल क्रमशः **अनन्ताश्वत्थकाल, अव्यक्त स्वयम्भूकाल-व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठीकाल**–भेद से तीन भावों में परिणित हो कर तीनों स्थानों में क्रमशः **मनसा–प्राणेन–वाचा-भाव-गुण-विकार**-नाम की तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। तीनों में भाव, और गुण–नामक दो महिमासर्ग **परस्तात्सर्ग** हैं, जिनका केवल बलगतिरूप **'प्रयतिः'**-से ही सम्बन्ध है। इनमें चितिरूप बलाधान (रेत के आधान का अभाव है। एवं विकारसर्गात्मक पारमेष्ठ्यसर्ग (स्वयं परमेष्ठी नहीं, अपितु परमेष्ठी से सृष्ट सूर्य्य-भूः-चन्द्रादि मूर्त्त-व्यक्त सर्ग) रूप 'रेतोधा' सर्ग अवस्तात् सर्ग हैं, जिनका बलचितिरूप **'स्वधा'** से सम्बन्ध है। संचरणमात्रावस्था में केवल बलगतिमात्र है, बलचिति नहीं। अतएव बलों का बलों पर आधान नहीं होता इस महिमासर्गद्वयीरूप परस्तात्सर्ग में–**'प्रयतिः परस्तात्'**। किन्तु रेतोधारूपा संसृष्टिलक्षणा विकारसृष्टि तो होती ही तब है, जबकि बलों का बलों पर आधान होजाता है, चिति हो जाती है। यही स्वाधानरूपा-स्वस्मिन्धत्ते-रूपा **'स्वधासृष्टि' है—'स्वधा–अवस्तात्'**।

१७९–सर्गत्रयानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ का यही है कि, विकारसृष्टिरूपा मूर्त्त-सृष्टि के बीज का नाम है गुणसृष्टि, एवं गुणसृष्टि के बीज का नाम है भावसृष्टि। उसी अक्षर से अव्ययसाक्षी में भावसृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल परस्पर **विभूति-सम्बन्ध** से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। उसी अक्षर से स्वसाक्षी में गुणसृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल परस्पर **'योगसम्बन्ध'** में हीं परिणत रहते हैं। एवं उसी अक्षर से क्षरसाक्षी में विकार-सृष्टि होती है, जिसमें सम्पूर्ण बल **'ग्रन्थिबन्ध-सम्बन्ध'** में हीं परिणत रहते हैं। तदित्थं-बलों के **विभूति-योग-बन्ध**-नामक तीन पारस्परिक सम्बन्धों के कारण हीं सृष्टि-सर्ग त्रिधा विभक्त हो रहा है, जिनमें अव्यानुगत अक्षरसर्गरूप भावसर्ग, स्वानुगतसर्गरूप गुणसर्ग, ये दोनों सर्ग तो अमूर्त्त हैं, एवं क्षरानुगताक्षरसर्गरूप विकार-सर्ग **मूर्त्त सर्ग** है। बीजाधानकर्तृत्त्व, बीजस्वरूपनिर्म्मातृत्त्व, बीजकार्य्यस्वरूपनिष्पत्तित्त्व, इन तीन पर्वों में विभक्त है सृष्टितत्त्व। बीजाधानकर्तृत्त्व अव्ययात्मक अक्षर का धर्म्म है–**'अहं बीजप्रदः पिता'** (गीता)। बीजस्व-रूपनिर्म्मातृत्त्व अक्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है-**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'** (गीता)। एवं बीज को बीजाङ्कुरन्यायेन वृक्षरूपात्मक मूर्त्तस्वरूप में निष्पन्न करना क्षरात्मक अक्षर का धर्म्म है-**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** (गीता)।

१८०-सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा का समाधान--बीज 'स्वस्तिकभाव', एवं सम्प्रश्न के तात्विक समाधान का परिलेख-माध्यमेन समन्वय -

स्थिति का स्पष्टीकरण तो हुआ। किन्तु सम्प्रश्न का अभी सर्वात्मना समाधान न हो सका। मान लिया कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी-कालपर्य्यन्त अव्यय-अक्षरानुगत भाव, तथा गुणभावापन्न 'महिमानः' रूप अव्यक्त-अमूर्त्त-सर्ग ही है। किन्तु बतलाया तो यह गया था कि, आठों हीं कालविवर्त्तों में समष्टि, और व्यष्टि, रूप से सर्वत्र अमूर्त्त-मूर्त्त नामक अव्यक्त-व्यक्त-दोनों भाव हैं। अव्यक्तता, एवं तदनुबन्धिनी अमूर्त्तता तो समझ में आती है उन विवर्त्तों में। किन्तु मूर्त्तभाव समझ में नहीं आ रहा। समझ में इसलिए नहीं आ रहा, नहीं आसकता कि, हमारी समझ स्वकल्पनाप्रसूत दिग्देशकालात्मक उस भौतिक मूर्त्तभाव में अभ्यस्ता बन गई है कि, बीजभावापन्न, अतएव मनः प्राणात्मक ही, अतएव च अमूर्त्तभावप्रधान ही सुसूक्ष्म मूर्त्तभाव को स्थूलमूर्त्तभावासक्ता हमारी समझ पकड़ ही नहीं पाती। बुद्धि पकड़े, अथवा न पकड़े, सत्तारूपेण अमूर्त्तात्मक मूर्त्तभाव-बीजरूपेण हैं अवश्य ही उन अव्यक्त-अमूर्त्त विवर्त्तों में, जिनका लोकप्रसिद्ध 'स्वस्तिक' से समन्वय किया जा सकता है। अनन्तकाल भी महामायावृत्तात्मक है, तदवच्छिन्न अनन्ताश्वत्थ-काल भी मायावृत्तात्मक है, अव्यक्तस्वयम्भू भी योगमायात्त्वेन मायावृत्तात्मक है, एवं पुण्डीरस्वयम्भू का तो-'वृत्तौजात्त्व' स्पष्ट ही है-आकाशरूपेण। तथैव परमेष्ठी की रेतोऽण्डवृत्तता भी तत्त्वसम्मत है। प्रत्येक वृत्त ६० ६०-के अनुपात से चतुर्भुजात्मक है। यह चतुर्भुजता ही वह छन्द है, जिसे आकार कहा गया है, जो कि आकार ही दिग्रूप सूक्ष्म छन्द माना गया है। इस छन्दोरूप दिक् से, वृत्त से सीमित भावात्मक बल, तथा गुणात्मक बल ही देश का बीजात्मक सूक्ष्मदेश है। "जिसमें चतुष्कोणानुगत-चतुर्भुज-समन्वित हों, चतुर्भुजात्मक जिस इस वृत्त में वयोरूप-वस्तुभावरूप तत्त्व प्रतिष्ठित हो, उसीका नाम तो 'मूर्त्त', किंवा मूर्त्ति है"। पूर्वोक्त सभी कालविवर्त्त वृत्तात्मक हैं, अतएव चतुर्भुज-स्वस्तिकात्मक हैं, और यही इनकी सुसूक्ष्मा दिग्रूपता है। सभी कालवृत्त विभूति, तथा-योगसम्बन्धावच्छिन्न बलभावों से समन्वित हैं अपने अपने भावात्मक, तथा गुणात्मक सर्गों से। और यही इनकी सुसूक्ष्मा बीजात्मिका देशरूपता है। एवं कालात्मकता तो स्वतःसिद्धा है ही। यों मूर्त्ति, किंवा मूर्त्तभावानुबन्धी काल-दिक्-देशरूप तीनों सूक्ष्मभाव विद्यमान हीं हैं अनन्तकाल विवर्त्त से आरम्भ कर-परमेष्ठी-पर्य्यन्त। काल-दिक्-देश की समन्वितावस्था का नाम हीं अव्यक्ता-अमूर्त्ता-प्रकृति है, एवं दिक्-देश-काल की समन्वितावस्था का नाम हीं व्यक्ता-मूर्त्ता-प्रकृति है। अमूर्त्ता प्रकृति भी मूर्त्तभाव से समन्विता है, एवं मूर्त्ता प्रकृति भी अमूर्त्तभाव से समन्विता है। अन्तर स्थितिमात्र में है। अमूर्त्ता प्रकृति के गर्भ में मूर्त्तभाव महिमानः रूप से प्रतिष्ठित हैं, एवं मूर्त्ता प्रकृति के गर्भ में अमूर्त्ता प्रकृति प्रतिष्ठित है बुद्धिगम्या व्याख्या की दृष्टि से। **अव्यक्त के मूर्त्तभाव महिमानः हैं**, एवं **व्यक्त के मूर्त्तभाव रेतोधा** हैं। हैं दोनो स्थानों पर दोनों हीं। इसप्रकार सभी सम्प्रश्न सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं, जिनका परिलेख के माध्यम से समन्वय किया जा सकता है।

- १—अनन्तकालः
- २—अश्वत्थकालः
  - }—अनन्तकालः—अव्ययानुगतोऽक्षरकालः (१)-अनन्तः]-भावात्मकः

- ३—अव्यक्तस्वयम्भुकालः
- ४—पुण्डीरस्वयम्भुकालः
  - }—स्वयम्भुकालः—स्वानुगतोऽक्षरकालः (२)-अव्यक्तः]-गुणात्मकः

- ५—परमेष्ठिकालः
  - }—परमेष्ठिकालः—क्षरानुगतोऽक्षरकालः (३)-अमूर्त्तः

- ६—सौरसम्वत्सरकालः
- ७—पार्थिवसम्वत्सरकालः
- ८—चान्द्रसम्वत्सरकालः
  - }—अक्षरानुगतो—विकारकालः (३)——मूर्त्तः

(५ से ८ तक) —विकारात्मकः

—*—

कालः (१)

- १-महामायावृत्तम् (अनन्तः) (*)
- २-मायावृत्तम् (अश्वत्थः) (७)
  - }—अव्ययाश्रिता प्रकृतिरक्षरः-अनन्तः-मनोमयः
  - – ततो-भावसृष्टिर्विभूतिलक्षणा –

कालमहिमानः—कालावताराः—सप्तैव (२-८)

- ३-योगमायावृत्तम् (परोरजाः) (६)
- ४-उपयोगमायावृत्तम् (पुण्डीरः) (५)
  - }—स्वाश्रिता प्रकृतिरक्षरः-अव्यक्तोऽमूर्त्तः-प्राणमयः
  - – ततो गुणसृष्टिर्योगलक्षणा –
- ५-रेतोऽण्डवृत्तम् (परमेष्ठी) (४)
- ६-यशोऽण्डवृत्तम् (सूर्य्यः) (३)
- ७-पोषाण्डवृत्तम् (भूपिण्डः) (२)
- ८-अस्त्वण्डवृत्तम् (चन्द्रमाः) (१)
  - }—क्षराश्रिता प्रकृतिरक्षरः-व्यक्तो मूर्त्तः-वाङ्मयः
  - – ततो-विकारसृष्टिर्बन्धलक्षणा –

—*—

कालः स ईयते-परमो नु देवः (नवमसूक्त ५ मन्त्र)

१—कालकालः (अनन्तानन्तः)
२—अश्वत्थकालः (अनन्तः)
३—परमाकाशकालः (अव्यक्तः)
४—भूताकाशकालः (स्वायम्भुवः)

महिमान आसन् प्रयतिः परस्तात्
अमूर्त्तश्च— मूर्त्तसमन्वितम् कारणप्रकृतिः 'प्र' भावः

५—महासमुद्रकालः (पारमेष्ठ्यः)

६—हिरण्मयकालः (सौरः)
७—इलान्दकालः (भौमः)
८—नक्षत्रकालः (चान्द्रः)

रेतोधा आसन् स्वधा—अवस्तात्
मूर्त्तश्च अमूर्त्तसमन्वितम् कार्य्यप्रकृतिः 'कृति'भावः

प्रकृतिभावोऽक्षरः—स एष काल एव
'कालः स ईयते-प्रथमो नु देवः' (अष्टमसूक्त ९ मन्त्र)

१८१—परस्तात्-कालविवर्त्तों के बीजात्मक मूर्त्तभावों के सम्बन्ध में तत्राभिव्यक्तिरूप एक नवीन सम्प्रश्न—

अब केवल एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न और शेष रह जाता है इस सम्बन्ध में, जिसका दो शब्दों में समन्वय कर यह दिग्देशकालमीमांसा उपरत होरही है । कालाक्षर के तालिकोद्धृत आठ विवर्त्तों में से आरम्भ के पाँच कालविवर्त्तों में जब बीजात्मक भावात्मक, तथा गुणात्मक सुसूक्ष्म—काल—दिग्—देशरूप मूर्त्तभाव विद्यमान हैं, तो वहीं ये बीजांकुरन्यायेन पुष्पित पल्लवित क्यों नहीं होगए ?। क्यों नहीं अनन्तकाल से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रात्मक परमेष्ठीकाल—पर्य्यन्त के परस्तात् कालविवर्त्तों में बीजात्मक 'कालदिग्देश' भाव मूर्त्तरूपेण सर्वात्मना अभिव्यक्त होगए ?। क्यों इन परस्तात् कालविवर्त्तों में लोकप्रसिद्ध मूर्त्तभाव अभिव्यक्त नहीं हुआ ?।

१८२—कालतत्त्व के ऋजु, तथा वक्र-भावों के माध्यम से सम्प्रश्न का समाधान, 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' मन्त्रभाग का तात्त्विक समन्वय, एवं 'सीधी-अङ्गुलियों से घी नहीं निकला करता' लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण दिग्दर्शन—

उक्त महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न का उत्तर है—'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' । (ऋक् सं० १०।१२९।५।) । दो पारिभाषिक शब्दों को लक्ष्य बनाने से इस सम्प्रश्न का भी समाधान हो जाता है । 'ऋजु', और

'वक्र' दोनों शब्द लोकप्रसिद्ध हैं, जिन का लौकिक भाव 'सरलता–कुटिलता' इन नामों से लोक में प्रसिद्ध हैं। कहते हैं-'सीधी अङ्गुलियों से घी नहीं निकला करता'। जबतक अङ्गुलियों को तिरश्चीन नहीं कर लिया जाता, ढेढा–कुटिल–नहीं बना लिया जाता, जबतक पात्रस्थ घृत पात्र से बाहिर नहीं हुआ करता सीधेपन से, ऋजुता से कदापि कार्य्यसिद्धि नहीं हुआ करती।

१८३–दिग्देशकालात्मक मूर्त्तभावापन्न लक्ष्यों का पूरक कुटिलकाल, एवं ऋजुकाल से मूर्त्तकार्य्यसिद्धि की अन्तम्मुखता—

कार्य्यसम्पादन के लिए, व्यक्त–मूर्त्त–भौतिक–स्थूल–कार्य्य–सम्पादन के लिए तो वक्रमार्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा ही कुटिल–काल का कुछ स्वभाव है। सम्भव है काल का ऋजुस्वरूप भी हो। किन्तु मूर्त्त–भूत–स्थूल-जगत् के स्थूल-भौतिक–कार्य्यों में उस सरल–सीधेसाधे –ऋजु–काल का कोई उपयोग नहीं। काल का वक्रभाव-कुटिलभाव–टेढापन हीं भौतिक–मूर्त्त–कार्य्य की स्वरूपसिद्धि का कारण बनता है, जिस टेढेपन का नाम हीं 'परोक्षभाव' है। यदि बात सीधी–सच्ची–ऋजुतापूर्वक कह दी जाती है, तो उस ऋजुपथानुगामी सीधी--सच्ची--कह देने वाले को तो प्राकृत--बुद्धिमान् लोकचतुर मानव 'भोंदू' कह कर उस की उपेक्षा ही कर दिया करते हैं। मूर्त्तजगत् के निर्म्माता कुटिलकाल से निर्मित मूर्त्त प्राकृत मानव ऋजुकालानुबन्धिनी सीधी--सच्ची बातें सुनना ही नहीं चाहते। सुन कर भी उन पर ध्यान ही नहीं देना चाहते। अपितु उस ऋजुपथ को तो वे सर्वथा उपेक्षित ही मान लेते हैं।

१८४–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' लक्षण निष्ठासूत्र का आचारात्मक समन्वय—

अतएव आवश्यक हो जाता है कि, लोकतन्त्र में जो कुछ कहा जाय, जो कुछ किया जाय, परोक्षरूप से ही कहा, और किया जाय। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते' *। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। यही तो वह निष्ठासूत्र है, जिस के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही प्रस्तुत लोकनिबन्ध उपनिबद्ध हुआ है! इस कुटिल संसार में सीधी सची बात का तबतक कोई मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता, जबतक कि उसे घुमा–फिरा कर--वक्रित--कर--तोड़--मरोड़ कर--घटा--बढ़ा--कर न कह दिया जाय। यही मूर्त्त–भूत--संसार का सहज स्वरूप है, जिस लोकनिष्ठातथ्य को विस्मृत कर देने के कारण हीं सीधी--सची--बातें कहने सुनने वाले निष्ठावञ्चित भारतराष्ट्रने सम्पूर्ण लोकवैभव विलीन ही कर लिया है। इति नु सामयिक--उद्बोधनम्।

१८५–वृत्तौजालक्षण पञ्चविध अनन्तकाल-विवर्त्तों की ऋजुरूपता, तन्मूला 'अवक्रता,' एवं तन्निबन्धन सहज सञ्चरणरूप विभूतिभाव—

बात हमें कहनी यह है कि, अनन्तकाल से आरम्भ कर परमेष्ठी–काल पर्य्यन्त–जो भी कालवृत्त हैं, वे सब 'वृत्तौजाः' ही बने हुए हैं। यद्यपि परमेष्ठीवृत्त में थोड़ी वक्रता आ जाती है। किन्तु यदि इसे इस के वि-

---

*–उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्त्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भर्तृहरिः।

शुद्ध रूप से देखा जाय, तो यह भी स्वयम्भूवृत्तवत् ऋजुवृत्त ही बना रहता है । वक्रता का उपक्रम अवश्य हो जाता है परमेष्ठीवृत्त में । अतएव इसे 'आण्डवृत्त' मान भी लिया जाता है । तदपि अपने स्वायुम्भुव भावानुबन्ध से परमेष्ठीवृत्त भी 'वृत्तौजाः' ही बना रहता है । सर्वथा वर्त्तुलवृत्तता ही 'वृत्तौजा' पन है, जिस में सभी प्राण सर्वथा ऋजुरूप से--अकुटिलरूप से--अवक्ररूप से इतस्ततः निर्विरोध स्व-स्व-नियत सरणियों से सञ्चरण करते रहते हैं ।

१८६-संघर्षशून्य अवक्रचेता वृत्तौजा कालविवर्त्त, तन्निबन्धना परिपूर्णता, एवं-'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि वचन का समन्वय—

अतएव पूर्णवृत्तता में कदापि संघर्ष का अवसर आता ही नहीं । कोई प्राण किसी प्राण से उत्पीड़ित नहीं होता । इसलिए उत्पीड़ित नहीं होता कि--वृत्तों की वर्त्तुलता से सभी हृद्यप्राण समशक्ति-बलात्मक ही बने रहते हैं । जो वस्तु परिमण्डलात्मिका होगी, वर्त्तुलवृत्ताकार होगी, उस की केन्द्रशक्तियाँ समानरूप से समानान्तर पर सर्वत्र समभावापन्नरूपेण ही परिव्याप्त रहेंगी, एवं इस समानव्याप्ति--का नाम हीं सर्वतः--भावात्मिका--परिपूर्णता होगा । अतएव वृत्तौजा विराट्-कालप्रजापति को-'सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख' ही बतलाया गया है * । ऐसा वृत्तौजाभाव अपने महिमामण्डल में स्वयं अपने रूप से ही परिपूर्ण है । जैसा इस का स्वरूप है, वही पर्य्याप्त है इस के लिए । अन्य कोई कामना--वासना--इच्छा--आकांक्षा नहीं है इस वृत्तौजा ऋजुमण्डलमें । अतएव ऋजुमण्डलात्मक--धृत्तौजा--ऋजुकालविवर्त्तों में वह बलग्रन्थिकामना उदित ही नहीं होती, जिस के द्वारा मूर्त्त--भूत--भाव का स्वरूप-निर्म्माण हुआ करता है । यही तो वह महिमात्मक विवर्त्त है, जिसे समन्वित करने के लिए ही यह मीमांसा प्रस्तुत हुई है । मूर्त्त-भूत-भी इस महिमामय विवर्त्तभाव से समन्वित हो कर ऋजु बन जाया करता है । और उस दशा में सम्पूर्ण कालपीड़न उपशान्त होजाता है ।

१८७-पारमेष्ठ्य-कालानुबन्धी आपोमय नारदप्राण की सृष्टिकर्म्म से तटस्थता, एवं देवप्राणमूलक मूर्त्तसर्ग का समन्वय—

ऋजुवृत्तात्मक वर्त्तुलवृत्त क्योंकि स्वयं में परिपूर्ण है । अतएव इस के प्राणात्मक बलभाव परस्पर उत्पीड़नपूर्वक संघर्ष में आते ही नहीं । अतएव परिपूर्णभाव कदापि व्यक्त-मूर्त्त-भूत-सृष्टि का कारण नहीं बना करता ÷ । तभी तो पारमेष्ठ्य 'नाराः' नामक अपतत्त्व के आधारभूत 'नारदप्राण-ऋषि' को पुराण ने सन्तानकामुकता से असंस्पृष्ट ही मान लिया है । सभी प्राण प्राणत्वेन मूर्त्तसृष्टि से तबतक तटस्थ ही बने रहते हैं, जबतक कि ये वर्त्तुलवृत्तों से निकल कर वक्रवृत्तों में नहीं आजाते । प्राण का ऋषिभाव वर्त्तुवृत्तानुबन्धी है, एवं इसी प्राण का 'देवभाव' वक्रितवृत्तानुबन्धी है । ऋषिप्राण से सृष्टि नहीं होती । सृष्टि होती है देवप्राण से-

---

* सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
—श्रुतिः

÷ न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । (श्रुतिः) ।

'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः' (मनुः)। ऋषिप्राण स्वयम्भू है-परोरजा है, अतएव यह लोकात्मिका भूतसृष्टि से असंसृष्ट है। स्वयम्भू-पर्य्यन्त तो निश्चयेन सभी कालवृत्त वर्त्तुलवृत्त ही बने रहते हैं।

१८८-आंशिक वक्रातानुगत पारमेष्ठ्य महदक्षरकाल, तन्मूलक सम्वत्सरकाल की छद्मगतिरूपा-सर्वत्सरलक्षणा कुटिलता-वक्रता, एवं तद्रूप दीर्घवृत्तात्मक आण्डकाल से मूर्त्तसर्गप्रवृत्ति—

आंशिक वक्रता आती है पारमेष्ठ्यवृत्त में। इस आंशिक वक्रता के आते ही वही कालवृत्त 'अण्डवृत्त' रूप में परिणत हो जाता है-**'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह-आपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत'** (शत० ६।१।१।६।)।

इस आण्डवृत्त की पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम ही है-सम्वत्सरचक्र, जिसे हम **'क्रान्तिवृत्त'** नाम से जान रहे हैं, पहिचान रहे हैं। सम्वत्सरचक्रात्मक वृत्त वर्त्तुलवृत्त **नहीं है**। अपितु वक्रित वृत्त है, कुटिल वृत्त है, टेढा वृत्त है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही कि, त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त का नाम हीं क्रान्तिवृत्त है, और इसे ही कहा जाता है 'दीर्घवृत्त', जिस का पूर्व में यत्रतत्र अनेकधा-बहुधा यशोवर्णन किया जाचुका है। त्रिकेन्द्रानुगता दीर्घवृत्तता का नाम ही है-आण्डवृत्तता, और इसका मूलरूप अभिव्यक्त होजाता है आपोमय अनन्त समुद्र में हीं।

१८९-पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के अण्ड से विनिर्गत अग्निमूर्त्ति महासुपर्ण पक्षी, तत्सहचारी सोममूर्त्ति पक्षी, दोनों पक्षियों का समुद्र में सञ्चरण, एवं तदनुबन्धिनी ऋङ्मन्त्रद्वयी का संस्मरण—

ऐसा एक अण्डा है, जो उस पारमेष्ठ्य समुद्र मे सञ्चरण कर रहा है, जो कभी व्यक्त हो पड़ता है, तो कभी उसी समुद्रगर्भ में डुबकी लगा लेता है जलचरजीवों की भाँति। सौर पार्थिव चान्द्र-समष्टिरूप महान् सम्वत्सर ही उस अण्डे में रहने वाला वह महासुपर्णपक्षी है *, जो इस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में आविर्भूत-तिरोभूत-होता रहता है। जिसप्रकार वात्सल्यरसपरिपूर्णा माता अपने शिशु को कभी अपने अञ्चल में छिपा लेती है, तो कभी शिशु अपने बालसुलभ क्रीड़ा-कौतुक से अञ्चल से बाहिर निकल आता है, एवमेव आग्नेय सूर्य्य, तथा सौम्य चन्द्रात्मक ये **'साम्वत्सरिक शिशु'** आपो-जाया-धारा-रूप पारमेष्ठ्य-'अम्बा' समुद्र (मातृसमुद्र) में कभी तो छिप जाते हैं, कभी निकल आते हैं। यों मानो मातृस्थानीय परमेष्ठी मन्वन्तरमूलक अपने इन सम्वत्सर-शिशुओं से क्रीड़ा ही करते रहते हैं सर्ग-संहार-रूपेण ×। निम्नलिखित मन्त्र इसी रहस्य का अपनी रहस्यपूर्णा

---

* अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव-यत्सम्वत्सरः। (शत० १२।२।३।७।)।

× मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः-संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥
—मनुः १।८०।

पारिभाषिकी भाषा में स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिन का समन्वय अवक्रचेता प्रज्ञाशीलों को स्वयं ही कर लेना चाहिए—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेह्लि, स उ रेह्लि मातरम् ॥
—ऋक् सं० १०।११४।४।

पूर्वापरं चरतो माययेतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥
—ऋक् सं० १०।८५।१८।

१९०–त्रिगुणात्मक महदक्षरकाल, तन्निबन्धन आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव, तन्मूला त्रिकेन्द्रता, तदनुगता विषमता, तन्मूलक संघर्ष, तज्जनिता चिति, एवं चिति-मूलक मूर्त्तजगत् का आविर्भाव—

इदमत्रावधेयम् । पारमेष्ठ्य अक्षरकाल का नाम हमने 'महदक्षर' बतलाया है । यही वह 'महत्प्रकृति' है, जिस में त्रैगुण्य की अभिव्यक्ति होती है । अतएव मूर्त्ता त्रिगुणात्मिका सृष्टि का उपक्रम महत्प्रकृतिरूप इस परमेष्ठी से ही होता है । यही सौरसम्वत्सर के सम्बन्ध से **'अहङ्कृति'** भावात्मिका है, चान्द्रसम्वत्सर के सम्बन्ध से **'प्रकृति'** भावात्मिका है, एवं पार्थिवसम्वत्सर के सम्बन्ध से **'आकृति'** भावात्मिका है । तीनों की समन्वितावस्था का नाम ही है 'मूर्त्ति', किंवा मूर्त्तभाव । सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरत्रयी ही वह त्रिकेन्द्रता है, जिस से आण्डवृत्त त्रिकेन्द्र बन रहा है । यही दीर्घवृत्त की वक्रता का कारण है । इस वक्रता से ही प्राणशक्तियों का समतुलन अन्तर्मुख हो जाता है, एवं विषमता आविर्भूत हो पड़ती है । यही विषमता इन वक्रप्राणों में संघर्ष उत्पन्न कर देती है । इस संघर्ष का नाम हीं प्राणपीड़न है । इस पीडन से ही प्राणों की चिति होती है । और इस चिति से ही व्यक्त–भूत–मूर्त्त–मूर्त्ति–रूप सूर्य्य–चन्द्र–भूः–पिण्ड–रूप प्रत्यक्षसिद्ध मूर्त्तजगत्–अभिव्यक्त हो पड़ता है । वक्रता का उपक्रम होजाता है परमेष्ठी में हीं, किन्तु इस वक्रता की अभिव्यक्ति होती है सर्वप्रथम सौरसम्वत्सर में ही । अतएव सौर क्रान्तिवृत्त ही 'दीर्घवृत्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे कि विषमता के कारण हीं वक्र 'कुटिलवृत्त' भी कहा जासकता है ।

१९१–सौरसम्वत्सरकाल की वक्रतात्मिका कुटिलता से ही द्रोणकलशानुगत आज्यरूप सोम का द्रवण, तद्द्वारा प्रजास्वरूपनिर्म्माण, एवं 'वक्रता' का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

यही सौरकाल भारत की सांस्कृतिक प्रजा में **'वक्रकाल'-'कुटिलकाल'** आदि नामों से प्रसिद्ध है । इसी वक्रकाल से पारमेष्ठ्य द्रोणकलश में रक्खा हुआ भृग्वङ्गिरोमय–स्नेहतेजोगुणक आज्य (घृत) मूर्त्तजगत् के स्वरूपनिर्म्माण के लिए बाहिर निकल पड़ता है । और यों कुटिलकालात्मक सूर्य्य ही दीर्घवृत्तानुगता अपनी कुटिल–रश्मिरूपा अङ्गुलियों से पारमेष्ठ्यकलश में से, पूर्णकुम्भ में से (पूर्णः कुम्भोऽधि काले०)

'आज्य' निकालने में समर्थ बनकर मूर्त्तजगत् का निर्माण करते हैं। सच बात है। कभी सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकला करता। ऋजुकाल के आधार पर पीड़ित वक्रकाल ही मूर्त्तसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। बिना पीड़ात्मक संघर्ष के, वेदना के प्रजनन असम्भव है। इसी वक्रता को लक्ष्य में रख कर **'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधस्विदासीदुपरि स्विदासीत्'** यह कहा गया है, जिसके--**'रेतोधा आसन्--महिमान--आसन्--स्वधा अवस्तात्--प्रयतिः परस्तात्'** इस उत्तर वाक्यसन्दर्भ का पूर्व में समन्वय किया जा चुका है।

१६२-षड्धर्म्मावच्छिन्ना कृतिमूला प्रकृति से अतीत त्रिगुणातीत वृत्तौजाकाल का कालिक सर्ग से असंस्पर्श, तत्साक्षी-मात्रत्त्व, एवं नवीन सम्प्रश्न का सम्यक् समाधान—

निवेदन--निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रथम अनन्तकाल विवर्त्त से आरम्भ कर पाँचवें महासमुद्रकालात्मक परमेष्ठी–काल--पर्य्यन्त सभी कालवृत्त 'वृत्तौजाः' बनते हुए **'अवक्रवृत्त'** हैं, **'ऋजुवृत्त'** हैं, **'पूर्णवृत्त'** हैं, **'प्राणवृत्त'** हैं, **'अपीड़ितवृत्त'** है, **'अमूर्त्तवृत्त'** हैं। अतएव इन में प्राकृत-मूर्त्तभावानुगत–त्रैगुण्य अभिव्यक्त नहीं होता, जोकि सत्त्व–रज–स्तमोनुगत त्रैगुण्य ही अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति–समन्वय के द्वारा मूर्त्तजगत् की अभिव्यक्ति का कारण बना करता है। प्रकृतिका प्रकृतित्त्व, किंवा 'कृतित्त्व' (कार्य्यत्त्व) यह त्रैगुण्य ही है, जिस की ऋजु–कालवृत्तों में अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। क्योंकि उन प्राकृत 'ऋजुवृत्तों' की ऋजुता–वर्त्तुलता से ऋजु–अवक्र–अव्यय–नामक वह अजपुरुष ही प्रधान बना रहता है इन ऋजुवृत्तों में, जो कि त्रिगुणातीत माना गया है ÷। अवक्रचेता अज–अव्यय की अवक्रता से ही तो ये कालवृत्त अवक्र बने हुए हैं। इसीलिए तो–**'कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः--सहस्राक्षः--अजरः--भूरिरेताः'** इत्यादिरूप से अवक्र अज–अव्यय से समतुलित उस मूलकाल को सहस्राक्ष–अजर–कहा गया है। **'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'** (ऋक्सं० १।१६४।४१।) इत्यादि मन्त्र भी उसी अवक्र–सहस्राक्षरमूर्त्ति–परमाकाशात्मक–अनन्तकाल का यशोगान कर रहा है। अवक्र--अज–अव्यय * से समतुलित अवक्र--अज--रूप ही वृत्तौजा अनन्तकाल अपनी इस अवक्रा वृत्तौजता से ही मूर्त्तबीजान्वित प्रमाणित होता हुआ भी अमूर्त्त ही बन रहा है। और यही तथाकथित सम्प्रश्न का संक्षिप्त समाधान है।

÷ **अनादित्त्वान्निर्गुणत्त्वात् परमात्मायमव्ययः।**
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता

* **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

१६३-अनन्ताक्षरकाल के अमूर्त-मूर्त-भूत-नामक तीन महिमाविवर्त, तदनुगत काल-दिक्-देश-विवर्त, एवं कालद्वयी, कालचतुष्टयी, कालत्रयी-रूपा नवकालात्मिका प्रकृति का काल-दिक्-देश-त्रयी में अन्तर्भाव—

उक्त निष्कर्ष के माध्यम से ही अब यह तथ्य भी स्वतः ही समन्वित होगया कि, परमदेवरूप अनन्ताक्षरकाल से ही **अमूर्त-मूर्त-भूत**-रूप से तीन संस्थान व्यवस्थित हैं । काल-दिक्-देश-नामक तीन प्रमुख विवर्त हो जाते हैं **भाव-गुण-विकार**-सर्गत्रयी के अनुबन्ध से । **अक्षरप्रकृति का अव्ययाश्रित-भावात्मक-रूप ही 'काल' है । अक्षरप्रकृति का स्वाश्रित गुणात्मक रूप ही 'दिक्' है । एवं अक्षरप्रकृति का क्षराश्रित त्रिकारात्मक रूप ही 'देश' है ।** अनन्तकालात्मक प्रथम विवर्त, एवं अश्वत्थ नामक द्वितीय विवर्त-इन दोनों की समष्टि का नाम हीं अव्ययाश्रित-**'भावात्मककाल'** नामक 'काल' है । अव्यक्त-स्वयम्भू-पुण्डीरस्वयम्भू-विशुद्ध परमेष्ठी-तथा-अमृतसूर्य्य-इन चारों की समष्टि का नाम हीं स्वाश्रित **'गुणात्मककाल'** नामक 'दिक्' है । एवं मर्त्य सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-इन तीनों की समष्टि का नाम हीं क्षराश्रित-**'विकारात्मककाल'** नामक 'देश' है । यों आठों कालविवर्त इस समन्वय-दृष्टि से काल-दिक्-देशात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिन में पहिला अनन्तकाल ही प्रमुख काल है, पाँचवाँ परमेष्ठी-काल ही प्रमुख 'दिक्' है, एवं ६ ठा सूर्य्य ही प्रमुख **'देश'** है । अनन्तकाल ही अपने अनन्त-अश्वत्थ-स्वायम्भुव-रूपों के माध्यम से पारमेष्ठ्य-दिक्-रूप में परिणत हुआ है । यह अनन्त दिग्रूप परमेष्ठी ही चन्द्र-पृथिवी-गर्भित सूर्य्यात्मक अनन्त देशरूप में परिणत हो रहा है । इसप्रकार **अनन्तस्वयम्भू-अनन्तपरमेष्ठी-अनन्तसूर्य्य**-रूपेण एक ही काल इन तीन काल-दिक्-देश-भावों में परिणत हो रहा है । वही स्वयम्भू-रूपेण काल है, वही परमेष्ठी-रूपेण दिक् है, वही सूर्य्य-रूपेण देश है । एवं इस देशात्मक सौरकाल की मूर्त्ता अभिव्यक्ति का नाम हीं दिक्-देश-काल है । देशात्मक सूर्य्य मूर्त्ता दिक् है, देशात्मक पार्थिव विवर्त मूर्त्त देश है, एवं देशात्मक (प्रदेशात्मक) चन्द्रमा मूर्त्तकाल है । परस्तात् भावों में काल-दिक्-देश (स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-अमृतसूर्य्य)-यह क्रम है, यही अमूर्त्ता कालत्रयी, किंवा काल-दिग्-देश-त्रयी है । अवस्ताद्-भावों में दिक्-देश-काल (सूर्य्य-भूः-चन्द्र) यह क्रम है, यही मूर्त्ता कालत्रयी है, किंवा दिग्देशकालत्रयी है । उपक्रम में अमूर्त्तकालात्मक काल है, उपसंहार में मूर्त्तकालात्मक काल है । दोनों ओर से काल से ही आवृत सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त कालात्मक ही है, इति नु—

सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः
तस्माद्धि नान्यत् परमस्ति तेजः
कालं तमाहुः परमे व्योमन्
कालः स ईयते प्रथमो नु देवः

"स वा एष आत्मा—अक्षरकालमूर्त्तिः—मनःप्राणवाङ्मय एव"

मनोमयः कालः —
- १--अनन्तकालः
- २--अश्वत्थकालः

—भावात्मककालः (अव्ययाश्रितोऽनन्तः)--काल एव कालः

--अनन्तकालात्मकः--भावकालः--एव—'कालः' (१)

प्राणमयः कालः —
- ३--परोरजाकालः
- ४--पुण्डीरकालः
- ५--परमेष्ठिकालः
- ६--अमृतसूर्य्यकालः

—गुणात्मककालः (स्वाश्रितोऽमूर्त्तः)—काल एव-दिक्-

--अमूर्त्तकालात्मकः--गुणकालः--एव 'दिक्' (२)

वाङ्मयः कालः —
- ७—पिण्डसूर्य्यकालः
- ८--पार्थिवकालः
- ९—चन्द्रकालः

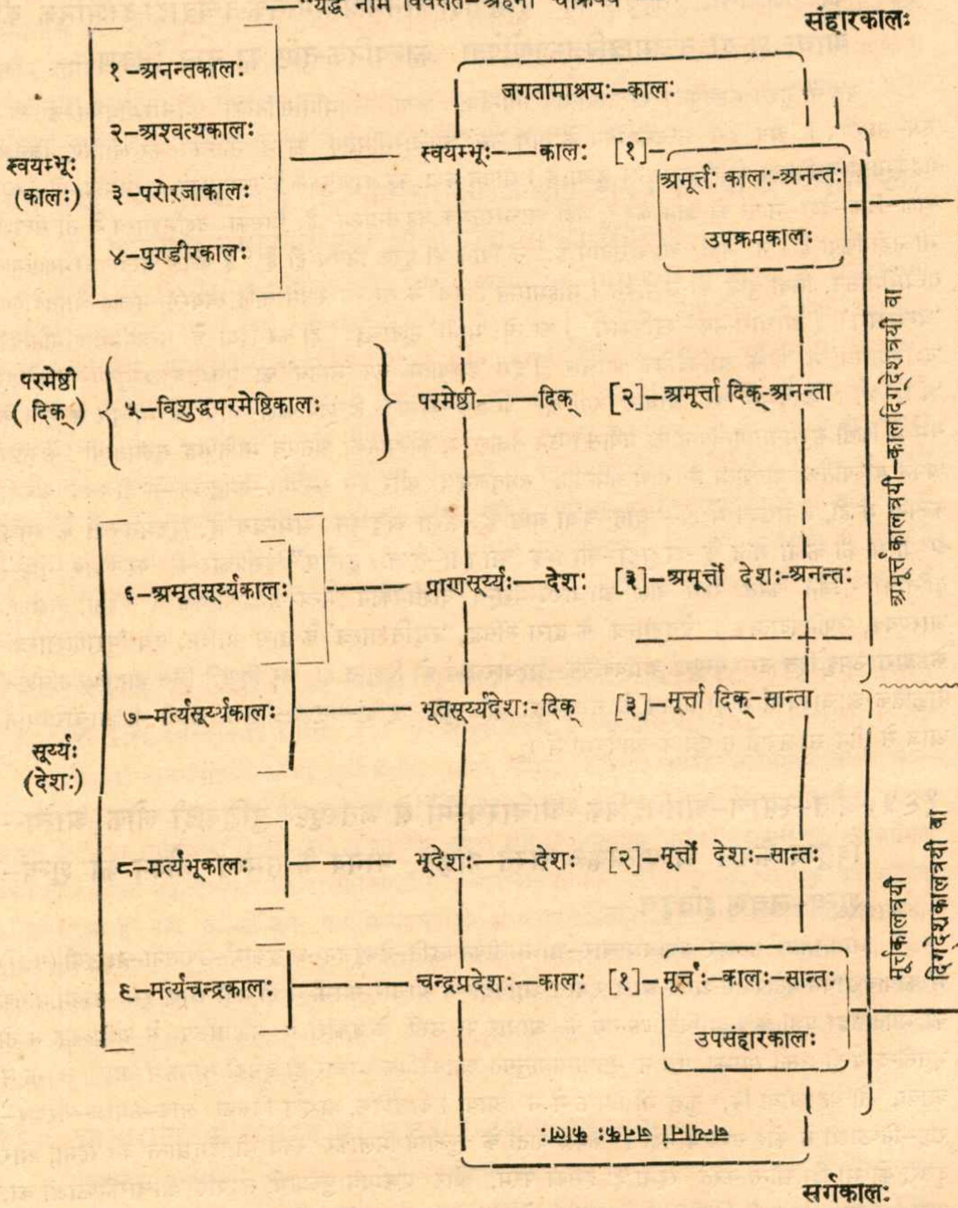
—विकारात्मककालः (क्षराश्रितो मूर्त्तः)—काल एव देशः

—मूर्त्तकालात्मकः-विकारकालः-एव-'देशः' (३)

इति तु—सर्वं—काल एव, कालात्मकमेव

—※—

प्रकारान्तरेण समन्वयः—



१६४--कालानुगता तत्त्वमीमांसा से समन्विता आचारमीमांसा के सम्बन्ध में मानव की जिज्ञासा, तद्वञ्चित बुद्धिवादी-ज्ञानमात्रमीमांसक-तत्त्ववादी-दार्शनिक की आचा शून्या तत्त्वमात्रविजृम्भणोपेता काल्पनिक-तुष्टि का नग्न चित्रण—

यह तो हुआ कालपुरुष का तत्त्वात्मक समन्वय, किंवा तत्त्वमीमांसात्मिका आचारमीमांसा का स्व-रूप-समन्वय। अब इस तत्त्वसमन्वय के साथ उस आचारमीमांसा का भी समन्वय कर लीजिए, जिसका महद्भाग्य ऋषिप्रज्ञा को ही उपलब्ध हुआ है। मानव क्या करे कालपुरुष के स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-रूप काल-दिक्-देश-भावों को जान कर ?, यही आचारात्मक वह सम्प्रश्न है, जिसका दर्शनशास्त्र ने तो संस्पर्श भी नहीं किया है। न वहाँ आचारविधि है, न विधि का पूरक निषेध ही है। है केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक तत्त्वमीमांसन, किंवा बुद्धि का उत्पीड़न। महिमामय विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-मूलक आधिदैविक **'धर्म्मसर्ग'** (आचारात्मक-**'सृष्टिसर्ग'**) का तो मानो मूलोच्छेद ही कर दिया है तत्त्वमीमांसाभिनिविष्ट 'दर्शनशास्त्र' ने, जोकि आधिदैविक आचार ही इस 'अध्यात्म' रूप 'मानव' का एकमात्र अभ्युदय-निःश्रेयस् 'धर्म्म' था। 'अधिभूत' को आधार बना कर बौद्धिक-कल्पित दिग्देशकाल--भावों के माध्यम से भूतों के गर्भ में किसी सूक्ष्म-तत्त्वान्वेषण का प्रयास। उन सत्ताशून्य, काल्पनिक, अतएव भातिसिद्ध सूक्ष्मतत्त्वों ? के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म के साथ समन्वय, समतुलन। और इस कल्पना-समतुलन-से ही स्वयं अपनी कल्पना में हीं, मनोराज्य में हीं-**"वाह-क्या बात है, कैसा अद्भुत समन्वय है, सूक्ष्मतत्त्वों के साथ अध्यात्म का कैसा मेल है-अहाहा-आनन्द आगया-तृप्त होगए"** इसप्रकार की काल्पनिक-तुष्टि-तृप्ति का सर्ज्जन करते रहने वाले आचारधर्म्मशून्य दार्शनिकोंनें मन्त्र--ब्राह्मणात्मक (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदात्मक) **'वेदशास्त्र'** के द्वारा संसिद्ध, **'स्मृतिशास्त्र'** के द्वारा आदिष्ट, एवं **'पुराणशास्त्र'** के द्वारा उपबृंहित उस सम्पूर्ण आधिदैविक-आचारधर्म्म को विलुप्त ही कर दिया, जिस ज्ञानविज्ञानसिद्ध-प्राकृतिक आचारधर्म्म से ही मानव को सत्तासिद्धा तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-समृद्धि-मिला करती थी आचारप्रधान आज से तीन सहस्रवर्षों से पूर्व के आर्षयुगों में।

१६५-श्रौत-स्मार्त्त-आधिदैविक--आचारधर्म्मों से असंस्पृष्ट बुद्धिवादी लोक-आत्म--विमुग्ध केवल अध्यात्मकल्पनारत प्राकृत मानव के समस्त जीवन का शून्यं-शून्यं-लक्षण इतिवृत्त—

श्रौत-स्मार्त्त-संस्कार--वर्णाश्रमाचार--आश्रमजीवनपद्धति--देवपूजन--श्राद्धकर्म्म--उपासना-ब्रह्मद्रवी (गङ्गा) में कायविशोधन-व्रतोपवास-आदि-आदि समस्त आधिदैविक आचार समझ में हीं नहीं आए इस तत्त्वमीमांसक की भातिसिद्धा प्रज्ञा के। आधिदैविक सर्ग के आधार पर उसी के एकांश से महिमारूप से अभिव्यक्त न तो भूतसौन्दर्य्य ही उसने समझा, एवं न भूतमाध्यमानुगत आधिदैविक आचार ही इसकी समझ में आए। समझ में आया, तो यह आया कि, कुछ भी समझ में न आया। दार्शनिक, अर्थात् जिसका लोक-समाज-परिवार-राष्ट्र-निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल बातों के कुलाबे मिलाकर स्वयं भी दिग्भ्रान्त बने रहना, और दूसरों को भी दिग्भ्रान्त करते रहना हीं इसका परम, और एकमात्र पुरुषार्थ, तदुपरि आचारनिष्ठाओं का, तथा आचारनिष्ठ आस्तिक जनों का उपहास, उपेक्षा। तत्समतुलन में अपने कल्पनाभार से ही अपने आप को

सर्वश्रेष्ठ--चिन्तक--समन्वयकर्त्ता–मानने की भ्रान्ति, मनवाने की भावुकता। वाणीमात्र का उत्पीडन, प्रचार-मात्र का व्यामोहन, और इत्थंभूता कल्पित–अध्यात्म--समन्वयमूला--काल्पनिक–दार्शनिकता में हीं इतस्ततः दन्द्रम्यप्राण बने रहते हुए, आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित करते हुए अन्ततोगत्वा निर्लक्ष्य–निरुद्देश्य-रूपेणैव यामीयातनाओं के आतिथ्य के लिए एक दिन **'कीनाशनिकेतन'** (**यमराजसदन**) का अतिथि बन जाना हीं तत्त्वमीमांसक–आचारवञ्चित–चिन्तक–अध्यात्मवादी–सूक्ष्मतत्त्ववादी–लोक–आत्म–विमुग्ध, अत-एव शून्यं–शून्यं एक दार्शनिक--शिरोमणि का समस्त जीवनेतिवृत्त माना जायगा।

१६६–श्रद्धा-आस्था-परायण भारतीय सांस्कृतिक-आर्ष मानव की आचारधर्म्मनिष्ठा, एवं तदनुगता सम्प्रश्नात्मिका इसकी जिज्ञासा का समन्वय—

ठीक इसके विपरीत एक धर्म्मिष्ठ आर्ष मानव सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासाओं के माध्यम से अवक्रचेतसा जानने की इच्छामात्र रखता हुआ (विज्ञाने) सम्पूर्ण विश्व को, विश्व पदार्थों को, विश्वप्राणियों को उसी अनन्त परमदेवरूप आधिदैविक की महिमा मानता हुआ इस आधिदैविक सर्ग के आधार पर व्यवस्थित श्रौत-स्मार्त्त–आचारधर्म्मों का अनुगमन ही करता रहेगा यथाकाल, यथा सुविधा। और यही इस की जिज्ञा-सानुगता तत्त्वमीमांसा का एकमात्र फल माना जायगा। यदि आचार की उपेक्षा है, तो व्यर्थ है यह सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसन। समझना, समझा देना, घोषणा–प्रचार–करते रहना–कदापि धर्म्म नहीं है। यह तो कोरी दार्शनिकता है, जो आचार को अभिभूत ही कर दिया करती है। करना–कराना–करते रहना हीं–यहाँ 'धर्म्म' की एकमात्र परिभाषा है। और इसी परिभाषा के माध्यम से वह महत्त्वपूर्ण सम्प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है एक आचारनिष्ठ–आचारश्रद्ध–मानव के अन्तराल में कि, तथोपवर्णित काल–दिक्–देश–स्वरूप–बोध से मानव करेगा क्या ?।

१६७–श्रद्धालु की जिज्ञासा का आचारशून्य-तत्त्वमीमांसा-मात्रपरायण बुद्धिमान् मानव के द्वारा स्वरूप–विमोहन, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

क्या इस तत्त्वमीमांसन का यह अर्थ है कि, मानव सम्पूर्ण विश्व को उसका महिमामय विवर्त्त मान-कर कुछ भी न करे ?। यही नहीं, यदि कुछ करता हो, तो वह भी छोड़ बैठे ?। ऐसा ही तो हुआ है-दार्शनिकों के अनुग्रह से विगत शताब्दियों में हीं नहीं, अपितु तीन सहस्र वर्षों में। क्योंकि आधिदैविक सर्ग का महिमात्मक स्वरूप ही समन्वित नहीं होसका उन दार्शनिकप्रज्ञों से। ज्ञानविज्ञानात्मक प्राजापत्य सृष्टिसर्गात्मक आधिदैविक सर्ग का स्वरूप ही नहीं समझा उन जगन्मिथ्यात्ववादी–अध्यासवादी–स्थूलदृष्टान्तवादी–कल्पितदिग्देशकाल-वादी–दार्शनिकोंनें। सृष्टिसर्गव्याख्याओं से असंस्पृष्ट, अतएव काल्पनिक उनके तत्त्वमीमांसनने तो उन्हें प्रकृत्या क्रियमाण आचारों से भी विमुख कर दिया। और उनकी गतानुगतिकता का कुफल भोगने वाली भावुक भारतीय जनताने भी इसी तत्त्वमीमांसन के व्यामोहन में आकर सम्पूर्ण आचारधर्म्मों को जलाञ्जलि ही समर्पित करदी, इति नु अब्रह्मण्यम् ?। अब्रह्मण्यम् ! ! महती विडम्बना !!!

१६८--आचारात्क मानवधर्म्म का शास्त्रीय--स्वरूप--समन्वय—

आत्मानुशीलनपूर्वक आचरधर्म्मों का यथाविधि–यथाशास्त्र अनुगमन ही मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस्–का कारण माना गया है, जिस इस मानवकर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा का–'मानवकर्त्तव्य–

मीमांसा' नाम से पूर्व के द्वितीय खण्ड में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है । प्रकृत में तो कालादि-दृष्ट्या केवल एक औपासनिक-आचार की ओर ही आचारधर्म्मजिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है । बिना आधिदैविक विवर्त्त को लक्ष्य बनाए मानव केवल अपने भूतबल पर कदापि आचार-परायण नहीं बन सकता । देवभावना ही इष्टभावना है । एवं इष्टभावना हीं आचारधर्म्मानुगति-आचारधर्म्मप्रवृत्ति का एकमात्र अवलम्ब है, जिस इष्टदेवभावना का मूल विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही मानी गई है । जिसकी आधि-दैविक-देवभाव में श्रद्धापूर्वक आस्था है, निष्ठा है, वैसा देवभावापन्न मानव ही * आधिदैविक प्राणानुगत आचारधर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, हुआ करता है । इसी आधार पर राजपत्तन में यह लोक-सूक्ति प्रसिद्ध है कि-'**इष्ट बिना सब भ्रष्ट**' । मानव के कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचारधर्म्म का मूलाधारभूत आधिदैविक इष्ट कौन ? । जो इष्ट होगा, वही इस आचारर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा, एवं उसे ही धर्म्म का धर्म्मत्त्व, किंवा परमधर्म्म (अत्तरधर्म्म) कहा जायगा, एवं उसीका पारिभाषिक नाम होगा वह '**मानवधर्म्म**', जिसकी दार्शनिक-भ्रान्ति से आज अनेक काल्पनिक व्याख्याएँ प्रादुर्भूत होपड़ी हैं । केवल वाग्विजृम्भणरूपा उन व्याख्याओं का कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं है मानव के इष्टात्मक स्वरूपधर्म्मात्मक-मूलधर्म्म से । क्या परिभाषा है आचारधर्म्माधारभूत मानवधर्म्म की ? । श्रूयताम् !

> **स्वाध्यायं-ब्रह्मचर्य्यं च-दानं-यजनमेव च ।**
> **अकार्पण्यं-अनायासं-दया ऽहिंसा-क्षमादयः ॥**
> **जितेन्द्रियत्त्वं-शौचञ्च-माङ्गल्यम्--"भक्तिरुच्यते-**
> **शङ्करे-भास्करे-देव्यां"-धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥**
>
> **—वामनपुराणे ११ अध्याये ÷**

'स्वाध्याय' से आरम्भ कर स्वस्त्ययनात्मक माङ्गल्य पर्य्यन्त के आचारात्मक कर्त्तव्य ही आचारधर्म्म हैं, एवं इनकी मूलप्रतिष्ठारूप-शङ्कर, भास्कर, देवी, इन तीनों देव-भावों की इष्टतालक्षणा उपासना ही इस आचारधर्म्मात्मक मानवधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है । शङ्कर-भास्कर-देवी-तीनों में से जबतक किसी एक को इष्ट नहीं मान लिया जाता, कदापि तबतक मानव की मानवता अभिव्यक्त नहीं हो सकती । एवं इस अभिव्यक्ति के बिना मानव के कल्पित आचार कदापि 'मानवधर्म्म' की सीमा में नहीं आसकते, जो इत्थंभूत तथ्य उसी प्रकार आज के अनात्मवादी-शून्यवादी, अतएव अनिष्टवादी-प्राकृत मानव की समझ में आ ही

***-यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे, तथा गुरौ ।**
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

—श्वे० उप० ६।१३।

÷-'**संस्कृति-सभ्यता-शब्देतिहास**' नामक (सहस्रपृष्ठात्मक) स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से इन धर्म्मप्रसङ्गों का दिग्दर्शन हुआ है ।

नहीं सकता, जैसे कि इस इष्टत्रयी से अनुप्राणित कालमहिमाविवर्त्त से अपरिचित रह जाने वाले दार्शनिक इष्टात्मक इस आधिदैविकी तथ्यत्रयी का समन्वय नहीं कर सके हैं ।

१९९–शङ्कर-भास्कर-शक्ति-रूपा देवत्रयी का संस्मरण, एवं तन्मूलक मानवीय आचार-धर्म्म—

सचमुच अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए–(जो आचार्य्यपरम्परा के अनुग्रहमात्र से किसी परोक्ष–उपास्य–पर आस्थामयी श्रद्धा रखते हैं) यह महती समस्या है कि, प्राकृतिक–आधिदैविक कालविवर्त्तों में महिमारूप से व्याप्त अगणित देवदेवताओं में से किसे अपना उपास्य बनावें ?,-जिसके माध्यम से प्राकृत-शक्ति-लाभ करने हुए हम अपने आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक आस्थित रहते हुए–'**आस्थितः स हि धर्म्मात्मा**' को सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अन्वर्थ प्रमाणित कर सकें । पुराणपुरुष भगवान् व्यासने-'**शङ्करे-भास्करे-देव्याम्**' द्वारा इसी समस्या का समाधान किया है । न केवल मानव की उपासनाकाण्ड के ही, अपितु ज्ञानकाण्ड–तथा कर्म्मकाण्डों की प्रतिष्ठाभूमि भी यही त्रिदेवता–समष्टि है । क्या ये पृथक् पृथक् तीन देवता है ? । नहीं, ये तो एक ही देवता के तीन महिमा–विवर्त्त हैं । इन तीन आधिदैविक देवताओं के अतिरिक्त उपासना की मानवधर्म्मानुगता व्याप्ति का अभाव ही समझना चाहिए । इतर सम्पूर्ण देवतावाद इन्हीं तीनों में से किसी न किसी एक देवविभूति में अन्तर्भूत है ।

२००–देवत्रयी का मूलाधिष्ठातृरूप 'महोदेव', देववाण्यनुगत 'महादेव', उसके विस्मजनक चतुःशृङ्गात्मक महिमामय स्वरूप का संस्मरण—

और इस देवत्रयी का अर्थ है–'**महोदेव**', जिसका देववाणी में रूप हो गया है–'**महादेव**' । '**चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः०**' इत्यादि मन्त्र के माध्यम से इस उस 'महोदेव' रूप देवादिदेव महादेव का तात्त्विक स्वरूप पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, जिसका आगमशास्त्र में-'**कालकालं-महाकालं कृपालुम्**' रूपेण महता समारम्भेण यशोगान हुआ है । साम्प्रदायिक देवभक्तिवाद से पूर्व के आचारनिष्ठ युगों में भारतीय मानव का प्रमुख उपास्य यही 'महादेव' तत्त्व था, जिसके आधार पर ही परमशैवता परम्परया अक्षुण्णा ही बनी रही है । महाकालात्मक इसी अमूर्त्त महादेव की शक्ति का नाम '**महाकाली**' है, एवं इसीके मूर्त्त–व्यक्त–रूप का नाम है–'**सूर्य्य**' । यों महादेव ही **महाकाल**, सूर्य्य, शक्ति-इन तीन भावों में परिणत हो रहे हैं । और इस दिशा में हमें एक शास्त्रीय तथ्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और कर लेना है ।

२०१–मूर्त्त-व्यक्त-प्रजा की शिव-शक्ति-रूपता का प्राधान्य, एवं तत्र पुराणपुरुष भगवान् व्यास के द्वारा यशोवर्णन—

जिन भगवान् व्यासने–'**शङ्करे–भास्करे–देव्यां-भक्तिरुच्यते**' रूप से वामनपुराण में त्रिमूर्त्ति महादेव की उपास्यता को लक्ष्य बनाया है, उन्हीं व्यासदेव ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिह्य–ग्रन्थ महाभारत में बड़े विस्तार से अन्य देवभक्ति की गौणता बतलाते हुए महादेवोपासना की ही प्रमुखता स्थापित की है, जिस प्रमुखता का मूलबीज वेदशास्त्रसिद्धा सुप्रसिद्धा–'**स्कम्भविद्या**' ही माना गया है । स्वयम्भूकेन्द्र से आरम्भ

कर भूकेन्द्रपर्य्यन्त व्याप्त महतोमहीयान् **ब्रह्माग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि**-मय जो कालाग्नि-पुञ्ज है, उसी का नाम है स्कम्भ, जिस पर सब कुछ प्रतिष्ठित है-**'स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्'**। यही अपने ब्रह्माग्निरूप से आधार है, यही अपने देवाग्निरूप से स्रष्टा है, एवं यही अपने भूताग्निरूप से अव्यक्तों का व्यक्त लिङ्ग (परिचायक) है। यही-लिङ्गात्मक ज्योतिःपुञ्ज उपासना का माध्यम, किंवा स्वयं उपास्य है। यही लिङ्गप्रतीकात्मक महादेव है, जो अपने भूताग्निरूप से देव-ब्रह्म-रूपों का लिङ्ग बना हुआ है। लिङ्गाङ्का प्रजा ही शिवतत्त्व है, **महाकालतत्त्व** है। एवं भगाङ्का प्रजा ही **शक्तितत्त्व** है, **महाकालीतत्त्व** है। यों शिवशक्तिरूपेण सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है। भला इसके अतिरिक्त-शिवशक्तिरूप मानव-मानवी के और कौन उपास्य होंगे?। लक्ष्य बनाइए महाभारत के इन तात्त्विक वचनों को, जिनके द्वारा शिव-शक्त्युपासना का विस्पष्ट शब्दों में उद्घोष हो रहा है—

न पद्माङ्का, न चक्राङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजाः।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः॥
—म० अनुशासन पर्व १४ अ० २३३ श्लोक

देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो—
लिङ्गेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नाङ्कितं—
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्म्मतिः॥
पुल्लिङ्गं सर्वमीशानं, स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्॥
—म० अनु० पर्व १४ अ० २३४-२३५-वें श्लोक

२०२-सोमगर्भित-कालाग्निरूप-महाकालेश्वर महादेव के उपासक, आचारधर्म्मसंस्थापक मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम—

अवतारपुरुष स्वयं भगवान् राम के द्वारा **'रामेश्वर'** रूपेण इसी महादेवतत्त्व की उपासना हुई है। पूर्णावतार भगवान् कृष्ण का सम्पूर्ण अक्षय-ऐश्वर्य्य शङ्करप्रसाद से ही अनुप्राणित माना गया है (देखिए म० अनु० १५ अ० ७ श्लोक)। तत्त्वनिष्ठ सभी विद्वानों का आराध्य तो शिवशक्तितत्त्व ही रहा है। मानवातिरिक्त अन्य असुर-राक्षस-गन्धर्वादि-चान्द्री प्रजाओंनें भी इसी तत्त्व की आराधना से शक्तिलाभ किया है। और यों तत्त्वदृष्ट्या मानव की उपास्यकोटि में शिवशक्ति से समन्वित आदिदेव महादेव ही प्रमुख बने हुए हैं, जिन की मूलोपनिषत् है **'सोमगर्भित-'कालाग्नि'**, जिसका कि अनन्तकालरूप से आरम्भ से ही यशोगान किया जारहा है।

२०३–नित्य शान्त अमूर्त्त-कालाग्निरूप अक्षोभ्यपुरुष, एवं नित्य–अशान्त–मूर्त्त–कालाग्निरूप क्षोभ्यपुरुष, तथा 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय–तस्थुः' इत्यादि उपनिषद्वचनों का समन्वय—

उक्त कालाग्नि की ही अक्षोभ्य–क्षोभ्य–रूप से दो अवस्थाएँ मानीं हैं तत्त्वज्ञोंनें । नित्यशान्त कालाग्नि अक्षोभ्य है, एवं नित्य अशान्त कालाग्नि क्षोभ्य है । अक्षोभ्य कालाग्नि ही 'अपीड़ितकाल' है, एवं क्षोभ्य कालाग्नि ही 'पीड़ितकाल' है । 'कालं कालेन पीड़यन्' का 'कालेन' अक्षोभ्यकाल है, एवं 'कालम्' क्षोभ्यकाल है । 'अग्नि' ही इन दोनों की उपनिषत् (मौलिक स्वरूप) है । इसी का सापेक्ष नाम है–'रुद्र', जिस का शान्त अक्षोभ्य–'काले' रूप विवर्त्त ही साम्बसदाशिव है, एवं जिस का अशान्त–क्षोभ्य–'कालम्' रूप विवर्त्त ही 'घोररुद्र' है । शिवशरीरी कालाग्निरूप ही शिव है, एवं घोरशरीरी कालाग्निरुद्र ही रुद्र है । वही परस्तात्–भाव से शिव है, एवं वही अवस्तात्-भाव से रुद्र है । 'अग्निर्वा रुद्रः-तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवाऽन्या च' । 'या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी०' इत्यदिरूप से रुद्र की इसी विभूति का यशोगान हुआ है । 'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः'–'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' इत्यादि औपनिषद–सिद्धान्त भी इसी की महिमा का महत्त्व स्थापित कर रहे हैं ।

२०४–साम्बसदाशिव–पारमेष्ठ्य–आपोमय–शिवतत्त्व, और उस की आस्था–श्रद्धा–परायणा आर्षप्रजा के द्वारा 'श्रावणे' आचारात्मिका उपासना—

पूर्व में जिन कालविवर्त्तों का हमने तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया है, उन में से पहिले अनन्त–कालविवर्त्त से आरम्भ कर आपोमय परमेष्ठी-काल–पर्य्यन्त के पाँचों विवर्त्तों की समष्टि का नाम ही अनन्त–अव्यक्त–अमूर्त्त–कालात्मक–अक्षोभ्यकाल है । यही साम्बसदाशिव पारमेष्ठ्य–आपोमय वह शिवतत्त्व है, जिस का उस श्रावणमास में प्रधानरूपेण आराधन कर धन्य बनाती रहती है आर्षप्रजा अपने मानवजीवन को, जिस श्रावणमास में मानव का प्राकृत सम्वत्सरचक्र–पारमेष्ठ्य शिवमण्डल में अन्तर्भुक्त होजाया करता है । अतएव आर्षमानव की आचारपद्धति में श्रावणमास साम्बसदाशिव की उपासना का प्रमुख काल मान लिया गया है, तत्रापि चान्द्रसोममय चार सोमवार (श्रावण के सोमवार–चन्द्रवार), इत्यहो ! आश्चर्य्यमयी भारतीय–मानवानां–महामहिमशालिनी–आचारपद्धतिः ।

२०५–रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता प्रचण्डकालाग्निमूर्त्ति भगवान् रुद्र, तदनुगत ब्रह्म–वीर्य्यात्मक–'सान्तपनभाव', तत्प्रतीकतिथि–कालरात्रिरूपा महाशिवरात्रि, एवं आर्षप्रजा के द्वारा 'फाल्गुने' आचारात्मिका तदुपासना—

अनन्तकालादि–परमेष्ठिकालान्त–कालविवर्त्तात्मक 'साम्बसदाशिव' नामक अक्षोभ्य-अनन्ताव्यक्तामूर्त्त-परमशिव का ही दूसरा व्यक्त-मूर्त्त-क्षोभ्य-विवर्त्त है 'सौरसम्वत्सरकाल', जिस की महिमा में सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-तीनों प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों लोकों का नाम (सौरत्रैलोक्य का नाम) हीं 'रोदसीत्रिलोकी' है, जिस के अधिपति व्यक्तकालाग्निरूप सौररुद्र ही हैं, जो अपने सहज क्षोभ से सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य को क्षुब्ध–पीड़ित–

करते रहते हैं। रोदसी रुद्रपत्नी है। सौररुद्र स्वयं पीड़ित हैं उस अक्षोभ्य शिव से, तो पीड़ित (सोऽरोदीत्–तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्) क्षुब्ध–ये क्षोभ्य रुद्र भगवान् (सौरपुरुष) अपनी पत्नीरूपा रोदसीत्रिलोकी को भी अपने प्राणदपानत्–धर्म्म से पीड़ित करते रहते हैं। और इस पीड़नधर्म्म से ही महादेव (महादेव)–'**मर्त्यां आविवेश**', '**वृषभो रोरवीति**'। व्यक्त–कालात्मक इसी नीललोहित रुद्र का नाम है घोरशरीरी–महादेव, जिन्हें संहार का अधिष्ठता माना गया है शुद्धरूप से, एवं संरक्षण-पालन का अधिष्ठाता माना गया है इन्हीं के उस अव्यक्त–अमूर्त्त–साम्बसदाशिवरूप से। '**रुद्री**–'**रुद्र**' आदि नाम से प्रसिद्ध पारायणानुगत उपास्यग्रन्थ (यजुःसंहिता के ही अमुक अध्याय) में उभयतो नमस्कार से इसी रुद्र की आराधना का यशोगान हुआ है। जिसप्रकार श्रावण में इन का साम्बसदाशिवरूप प्रधान रहता है, तथैव प्रचण्ड ग्रीष्म में इन्हीं का सौरभावानुगत रौद्ररूप प्रधान बना रहता है। यही इन का सान्तपनतेज है, जिसे ब्राह्मणवर्ण के जन्मानुगत ब्रह्मवीर्य्य की प्रतिष्ठा माना गया है। ग्रीष्मारम्भ में–फाल्गुन में हीं इन रुद्रदेवता का उद्ग्राभ (चढ़ाव) आरम्भ हो जाता है, जिसकी प्रतीकभूता कालतिथि ही '**कालरात्रि**' नाम से प्रसिद्ध है–आगमशास्त्र में। वास्तव में यह रुद्र अपने विशुद्ध–सोमविरहित–अग्निरूप से काल ही है, जिसे अपनी उपासना के माध्यम से यहाँ की तत्त्वनिष्ठा प्रजा आग्रहपूर्वक '**शिवरात्रि**' रूप में परिणत कर देती है–जलाभिषेक के द्वारा। इसप्रकार '**महाकालरात्रि**' इस प्रतीकोपासना के माध्यम से '**महाशिवरात्रि**' रूप में परिणत हो जाती है, जिस परिणति के प्रकार भारतीय सनातनप्रजा में सर्वात्मना अभिव्यक्त हैं परम्परया। इसप्रकार श्रावण में अपने पारमेष्ठ्य अमूर्त्त–अक्षोभ्य–शिवरूप से, तथा फाल्गुन में अपने सौर–मूर्त्त–क्षोभ्य–रुद्ररूप से कालतत्त्व ही उपास्य बनता रहता है।

२०६–ब्रह्माग्निरूप–अक्षोभ्यकालात्मक साम्बसदाशिव, एवं देवाग्निक्षोभ्यकालात्मक घोररुद्र, तथा तदनुगत भूताग्नि का संस्मरण—

परमशिवात्मक अव्यक्त–अक्षोभ्यकाल जहाँ ब्रह्माग्नि–प्रधान है, वहाँ अवमरुद्रात्मक व्यक्त–क्षोभ्य–सौर–काल देवाग्नि–प्रधान है। और अब शेष रह जाता है भूताग्नि। इसी का नान है '**पार्थिवशक्तितत्त्व**'। चान्द्रकालानुगत पार्थिव भूताग्नितत्त्व ही '**मातृकाल**' है, एवं इसकी अपेक्षा से द्युरूप सौर क्षोभ्यकाल ही '**पितृकाल**' है। पितृकालात्मक 'द्यु' काल, एवं मातृकालात्मक '**भू**'–काल, इन द्यावापृथिव्यरूप पितृ–मातृ–युग्मों से ही चराचर विश्व व्याप्त है, जैसाकि पूर्व के ऐतिह्य वचन से स्पष्ट है।

२०७–पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक निगमशास्त्र, मातृकालात्मक पार्थिवकाल का निरूपक आगमशास्त्र, एवं निगमागममूलक पराविद्या–महाविद्या–विवर्त्त—

पितृकालात्मक सौरकाल का निरूपक शास्त्र ही **निगमशास्त्र** है, एवं मातृकालात्मक पार्थिवकाल–का निरूपक शास्त्र ही–**आगमशास्त्र** है। निगमशास्त्रानुगता शिवविद्या ही **परमाविद्या** है, एवं आगमशास्त्रानुगता शक्तिविद्या ही **महाविद्या** है, जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित है।

२०८–शिवतत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन, एवं शिवपरिवार—

प्रकृत में तो इस सन्दर्भ से यही निवेदनीय है कि, अष्टावयव, किंवा नवावयव जिस कालविवर्त्त का पूर्व-तालिकाओं में दिग्दर्शन कराया गया है, वही कालतत्त्व शिव-सूर्य्य-शक्ति-रूप से मानव का उपास्य बना हुआ

है प्रतीकात्मिका निदानविधि के माध्यम से। **अनन्तकाल–अश्वत्थ–परोरजा–पुण्डीर–और परमेष्ठी**, इन पाँच कालविवर्त्तों की समन्वितावस्था का नाम ही साम्बसदाशिवरूप **शिवतत्त्व** है, यही **'शङ्कर'** है, अपने अक्षोभ्यरूप से 'क्षेमकर' है, शान्तिकर है, जिसमें सम्पूर्ण प्राकृत विरोध उपशान्त हैं, जैसाकि प्रतीकात्मक शिवपरिवार से स्पष्ट है। महादेव दिगम्बर, जिन का वाहन वृषभ। महादेवी सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री–सर्वाभूषणा–लङ्करणोपेता, इनका वाहन वृषभविरोधी सिंह। कनिष्ठ पुत्र गणपति का वाहन मूषक, ज्येष्ठपुत्र स्वामि-कार्त्तिकेय का वाहन मूषकशत्रु मयूर। महादेव भूतनाथ के कण्ठ में हालाहल, तो मस्तक पर सुधामयी चन्द्र-कला। महामाया के अन्तःकरण में मोहनिवर्त्तक विद्यातत्त्व, तो हाथ में मोहप्रवर्त्तक मदिरापात्र। और इन परस्परात्यन्त-विरोधी तत्त्वों की विद्यमानता में भी इस महान् परिवार का **'शिवपरिवारत्त्व'**, इस से बड़ी आचार-शिक्षा **भगवान् शङ्कर** और **मातापार्वती** की उपासना के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकती है ?।

२०६–'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः' का तात्त्विक समन्वय—

इसी साम्बसदाशिव–अव्यक्त–काल का मूर्त्तरूपात्मक व्यक्त सूर्य्य ही रुद्र है, जिस की उपासना तो अपठित–सहज मानवों में भी परम्परया प्रक्रान्त ही है। उद्यन् सूर्य्यनारायण को श्रद्धापूर्वक दीपदान तो प्रसिद्ध ही है। साथ ही जलाभिषेक के द्वारा भी ये उपास्य बने हुए हैं, जिस से ये इन रुद्रदेव के शिवस्वरूपानुग्रह की कामना अभिव्यक्त करते रहते हैं। प्रतीकभूता मूर्त्ति पर ही नहीं, मूर्त्ति की अनुपलब्धि में साक्षात् सूर्य्य के प्रति भी यह जलदान परम्परया विहित है सर्वसामान्य में। तीसरा शक्त्युपासन भी प्रसिद्ध ही है। भूत-कालात्मिका मातापृथिवी की उपासना ही शक्त्युपासना है, देवकालात्मक रुद्र की उपासना ही सूर्य्योपासना है, एवं ब्रह्मकालात्मिका शिवोपासना ही शङ्करोपासना है। शङ्कर ब्रह्माग्निकालात्मक–**'काल'** है, सूर्य्य देवाग्नि-कालात्मिका **'दिक्'** है, एवं 'देवी' भूताग्निकालात्मक **'देश'** है। यों शङ्कर–सूर्य्य–देवी का उपासक भारतीय मानव कालपुरुष के काल–दिक्–देश–भावों की उपासना करता हुआ तन्माध्यम से ही अपने आचारधर्म्म को व्यवस्थित करता है–**'धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः'**। यही है काल–दिक्–देश–भावात्मक परमदेवात्मक काल के आचारानुगत दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक समन्वय–दिग्दर्शन, जिस की प्रतिष्ठा के बिना, जिस की उपासना के बिना मानव का मानवधर्म्म सर्वथा धर्म्माभासात्मक अधर्म्म ही बना रह जाता है।

१–अनन्तकालतः–परमेष्ठिकालपर्य्यन्त–ब्रह्माग्निकालः (शङ्करः)–कालः (अमूर्त्तकालः)
२–सूर्य्यकालः –देवाग्निकालः (भास्करः)-दिक् (मूर्त्तकालः)
३–चन्द्रानुगतः–पार्थिवकालः –भूताग्निकालः (देवी)—देशः (मूर्त्तिकालः)

——*——

२१०–प्राकृतानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य, एवं पौरुषानन्त्यात्मक निर्विशेषानन्त्य, तथा सविशेषानन्त्य का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रसङ्ग उपक्रान्त हुआ था पूर्व में उस **'आनन्त्य'** का, जिसके **सविशेषानन्त्य, निर्विशेषानन्त्य**–नामक दो विवर्त्त प्रतिज्ञात बने थे। इन्हीं दोनों को तत्र क्रमशः **प्राकृतिकानन्त्य**, एवं **पौरुषानन्त्य–इन**

अभिधाओं से व्यवहृत किया गया था, एवं इन्हीं दोनों आनन्त्यों के आधार पर मानव के पौरुष-प्राकृत-भावों का प्रतीकधिया समन्वय-उपक्रान्त बना था। वहाँ से आरम्भ कर (४६१ वें पृष्ठ से आरम्भ कर) उक्त उपास्य-परिलेख पर्य्यन्त (४६५ वें पृष्ठपर्य्यन्त) अनेक दृष्टिकोणों से सविशेषानन्त्यरूप प्राकृतिकानन्त्य (विश्वानन्त्य) के समन्वय का ही प्रयास-प्रक्रान्त रहा काल-दिक्-देश-के विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से, जो सविशेषानन्त्य उपक्रान्त हुआ महामाया-वृत्तात्मक अनन्तकाल से, एवं उपसंहृत हुआ योगमायावृत्तात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल पर, जिसे कि लोकभाषा में-'वर्ष' कहा गया है।

२११-'आदि' सामात्मक अनन्तकाल के समग्र स्वरूप का अभिव्यञ्जक 'निधन' सामात्मक सम्वत्सररूप वर्षकाल—

अनन्तकाल जहाँ सृष्टि का उपक्रमबिन्दु है, वहाँ वर्षात्मक सम्वत्सरकाल सृष्टि का उपसंहारबिन्दु है, निधनबिन्दु है। अनन्तकाल **आदिसाम** है, सम्वत्सरकाल **निधनसाम** है। आदिसामात्मक अनन्तकाल अपने समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है निधनसामात्मक एक वर्षकाल के माध्यम से। अतएव इस चान्द्र-सम्वत्सरकालात्मक 'निधनसाम' रूप एक 'वर्षकाल' को उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है। इस प्रतीकता के कारण ही यह वर्षकालात्मक सम्वत्सरकाल **'सम्वत्सरो वै प्रजापतिः'** इत्यादिरूपेण **'प्रजापति'** (**अक्षरकाल**) नाम से समन्वित हो गया है। जैसा, जो कुछ सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल है, ठीक वैसा ही, वही सबकुछ यह एक 'सम्वत्सरकाल' है।

२१२-सम्वत्सरकाल का प्रतिमानरूप प्राकृत मानव, एवं मानव के प्राकृत-आनन्त्य का दिग्दर्शन—

यह 'सम्वत्सर' उस का सर्वात्मना प्रतिमान है, और इस सम्वत्सर का प्रतिमान है सविशेषभावात्मक **'प्राकृतमानव'**। अतएव जैसे प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक बना हुआ है, तथैव इस सम्वत्सरकाल के प्रतिमाभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का वैसा ही प्रतीक माना जायगा, जिस इस कालप्रतीकभूत-सम्वत्सरकालप्रतिमारूप-प्राकृत मानव के द्वारा भी सम्वत्सरकालवत् उस अनन्तकाल का समग्र स्वरूप सर्वात्मना अभिव्यक्त हो रहा है, और यही प्राकृत मानव का प्राकृतिकानन्त्यात्मक सविशेषानन्त्य है, जिसे **कालानन्त्य** कहा गया है। अनन्त है वह मूलकाल, अनन्त है उसका प्रतीकभूत एक सम्वत्सरकाल, और अनन्त है इस सम्वत्सरकाल का प्रतिमारूप, तथा उस अनन्तकाल का प्रतीकरूप प्राकृत मानव।

२१३-अंशात्मक सविशेषानन्त्य से अंशीरूप सविशेषानन्त्य का समन्वय—

तदित्थं-कालप्रतीकरूप से प्राकृत मानव भी सम्वत्सरकालवत् अनन्तकाल का पूर्ण प्रतीक बन रहा है। जिसप्रकार एक सम्वत्सरकाल से अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत हो जाता है, तथैव एक प्राकृत मानव के प्राकृत स्वरूप से भी उस अनन्तकाल का स्वरूप परिगृहीत बन रहा है। सचमुच वह अनन्तकाल अपने अथ से इति पर्य्यन्त के स्वरूप को अपने एकांशभूत प्राकृत मानव क रूप में सर्वात्मना अभिव्यक्त कर रहा है। जैसा जो कुछ वह है, वैसा वही सबकुछ यह है। इस एकांशरूप एक सविशेष के परिज्ञान से वह अंशीरूप सविशेषानन्त्य परिज्ञात है, विज्ञात है।

२१४--सम्वत्सर, और प्राकृत मानव का समतुलन, एवं तदनुबन्धी श्रौतसन्दर्भ—

तात्पर्य्य यह हुआ कि, इस भौतिक–व्यक्त–मूर्त्त-जगत् में उस अनन्तकाल के दो ही प्रमुख प्रतीक हैं, एक तो वर्षात्मक सम्वत्सर, एवं एक सम्वत्सर से अभिव्यक्त होने वाला प्राकृत मानव। सम्वत्सर, और मानव के अतिरिक्त अन्य सभी प्राण, और प्राणी अनन्तकाल के सर्वात्मना प्रतीक नहीं बनसकते। क्योंकि सम्वत्सर, तथा प्राकृत मानव के अतिरिक्त अन्य प्राण–प्राणी केवल कालप्रवर्ग्य पर ही व्यवस्थित है। इन का समस्त इतिवृत्त सम्वत्सरकाल की सीमा में हीं समाप्त होजाता है, जबकि सम्वत्सर, और तत्समतुलित प्राकृत मानव अत्रैव उपरत न होकर अपने प्रक्रम–अभिक्रमात्मक–व्यूहनों से अनन्तकाल में हीं विश्राम ग्रहण करते हैं। अनन्तकाल का प्रथम विवर्त्त वह अनन्ताश्वत्थकाल है, जिसे 'षोडशीप्रजापति' कहा गया है, जो सहस्रवल्शात्मक है। सचमुच एक सम्वत्सर अनन्तकालात्मक उस षोडशीप्रजापति-सहस्रवल्शेश्वर–मायी महेश्वर के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तभी तो इसे उसका प्रतीक मान लिया गया है। तभी तो इस सम्वत्सर के प्रजापति--षोडशकल--षोडशी--सहस्र--इत्यादि नाम प्रसिद्ध होगए हैं, जो कि वस्तुतः उस अनन्त-कालात्मक अश्वत्थ प्रजापति के ही नाम हैं *। जब कि प्राकृत मानव इस सम्वत्सर की पूर्ण प्रतिमा है, सर्वात्मना समतुलित है जब कि सम्वत्सर, और प्राकृत मानव, तो अवश्य ही इसे भी उस अनन्तकाल का सम्वत्सरवत् पूर्ण तीक माना जासकता है, माना गया है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

(१)–पुरुषो वाव सम्वत्सरः। सप्त वै शतानि विंशतिश्च सम्वत्सरस्य-अहानि-च-रात्रयश्च। एतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्च इत्यत्र तत्सम्।

—गो० पू० ५।५।

(२)–षोडशकलो वै पुरुषः (प्राकृतमानवः)। (शत० ११।१।६।३६।)।

(३)–पुरुषो वै सहस्रस्य (सम्वत्सरस्य) प्रतिमा। (शत० ७।५।२।१७।)।

(४)–यद्वेव चतुरक्षरः सम्वत्सरः, चतुरक्षरः प्रजापतिः। तेनो हैवास्यैष प्रतिमा।

(शत० ११।१।६।१३।)।

२१५–व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट मानव के द्वारा कालानन्त्य–दर्शन का उपक्रम—

एक वर्षात्मक सम्वत्सरकाल से मानव काल के प्राकृतिक–आनन्त्य का अनुमानमात्र कर अपनी उस मान्यता का दम्भ क्षणमात्र में विसर्जित कर सकता है, जिस मान्यता के आधार पर इसने काल को सादि–सान्त मान लिया है। एवं जिस सादि–सान्तता ने हीं इसे पशुवत् तात्कालिक–स्वार्थ–व्यामोहनों में आसक्त–व्यासक्त बना दिया है। कदापि वर्त्तमानात्मक वर्षकाल पर ही इसके प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान नहीं है, जिसे यह अपनी बुद्धिगम्या स्थूलतमा भाषा में 'वर्त्तमानकाल' कहा करता है। वर्त्तमान हीं

---

*-(१)–**एष वै सम्वत्सर एव प्रजापतिः** (शत० १।६।३।३५)।

(२)–**स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः।** (शत० १४।४।३।२२।)।

(३)–**सम्वत्सरो वै समस्तः सहस्रवान्।** (ऐत० ब्रा० ७।४१।)।

मानव की विश्रामभूमि नहीं है । अपितु वह वर्त्तमान मानव का लक्ष्य होना चाहिए, जिस के इस ओर '**भूत**' है, एवं उस ओर '**भविष्यत्** है । भूत, और भविष्यद्-रूपा कालानन्तता को विस्मृत कर देने के अनन्तर तो मानव का प्राकृत स्वरूप कुछ भी नहीं रहजाता । फिर तो भूतसंस्कारों से असंस्पृष्ट, एवं भविष्यत् के परिमाणों से असंस्पृष्ट तात्कालिक (वर्त्तमानकालिक) पशु से अधिक इस का कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं है । वर्त्तमान-कालता जहाँ प्राकृत पशु का जीवनाधार है, वहाँ प्राकृत मानव की आधारभूमि कालत्रयी ही मान गई है । अतएव मानव परिणामदर्शी है, संस्कारी है, जबकि मानवेतर प्राणी **संस्कारों से** और **परिणाम**-दर्शन से सर्वात्मना वञ्चित हैं । भूत-भविष्यत्-कालता ही अनन्तकाल का स्वरूप-परिचय है, जिसे अपनी बुद्धिगम्या व्याख्या से प्राकृत मानव भले ही समझ न सके । किन्तु उस की सहज सत्ता पर तो अपने इस मान्य सम्व-त्सरकाल की प्रतीकता से आस्था कर ही लेनी पड़ेगी अपने व्यक्तित्वविमोहन को थोड़ी देर के लिए विस्मृत करते हुए ही । जब यह देखेगा कि—

२१६-अनाद्यनन्त कालचक्र, तन्निष्ठाधारेण कर्त्तव्यनिष्ठानुगति, एवं अनन्तकालोपासक नैष्ठिक-मानव की-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' मूला सहज आचारनिष्ठा—

"वही सम्वत्सरकाल-जिसे मैं ३६५ अहोरात्रों का ही मान रहा हूँ-सचमुच अपने शाश्वत प्रवाह से, धारावाहिक चक्र से अनाद्यनन्त ही प्रमाणित हो रहा है । कोई ओर छोर ही नहीं है इस कालचक्र का । सम्पूर्ण गणनाङ्क परिसमाप्त हैं इस की इयत्ता का समन्वय करने में", तो निश्चयेन इसी सीमित ३६५ दिन वाले वर्षात्मक कालप्रतीक के माध्यम से भी इस की सहज प्रज्ञा काल के आनन्त्य की ओर आकर्षित हो ही जायगी । और इसका कालगणनात्मक, तदनुबन्धी दिग्देश-प्रदेश-गणनात्मक, एवं गणनकाल-दिक्देशात्मक-प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानात्मक-व्यामोहन स्वत: ही उपशान्त होजायगा । इस सीमाबन्धन के उपशान्त होते ही इस की प्रज्ञा सविशेषानन्त्य की उपासना में प्रवृत्त हो जायगी । एवं वर्त्तमानकालानुबन्धी-तात्कालिक-सफलता-असफलताओं को नगण्य मानता हुआ यह आस्थापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बन जायगा परिणामदर्शिता-पूर्वक । कभी सादि-सान्त-काल इसे लक्ष्यविहीन न बना सकेंगे । कभी तात्कालिक-सफलता-असफलताओं का व्यामोहन इसे प्रकृति-विस्मृत नहीं होने देगा । और यों इस सविशेषानन्त्य के अनुग्रह से प्राकृत मानव की कर्त्तव्यनिष्ठा मर्य्यादा-पूर्वक--दिग्-देश--कालानुबन्धों के प्रति सर्वात्मना जागरूक रहती हुई भी इनकी तात्कालिकताओं के वारु-णपाशबन्धन से असंस्पृष्टा ही प्रमाणित होती रहेगी । कोई भी काल-दिक्-देश-व्यामोहन, व्यवधान इसे कर्त्तव्यनिष्ठा से, आचारनिष्ठा से पराङ्मुख न कर सकेगा । क्योंकि इस की दृष्टि में काल भी अनन्त है, दिक् भी अनन्त है, और देश भी अनन्त है । इसी अनन्तता पर--'**कर्म्मण्येवाधिकारस्ते**' सिद्धान्त जागरूक बनता है, इति नु प्राकृतिकानन्त्यस्य-अनन्तकालस्य--सविशेषानन्त्यस्य स्वरूपमीमांसा--आचारसमन्विता ।

२१७-निःसीमभावापन्न, अत्यनपिनद्ध-निर्विशेषानन्त्यलक्षण-अनन्तब्रह्म के आनन्त्य का संस्मरणोपक्रम—

अब क्रमप्राप्त प्रतिज्ञात उस निर्विशेषान्त्य को लक्ष्य बनाने का '**निःसीम**' अनुग्रह कीजिए, जो बिना '**निःसीम--अनुग्रह**' के लक्ष्यारूढ बन ही नहीं सकता । क्योंकि वह अपने स्वरूप से सर्वथा ही निःसीम है । सम्वत्सरकाल के माध्यम से, तदनुगता वर्षपरम्परा के परिभ्रममाण-कालचक्र के माध्यम से काल की अननन्ता से

सम्बन्ध रखने वाली सविशेषानन्तता तो प्राकृत मानव फिर भी यथाकथंचित् समन्वित कर लेता है उपासनादि के माध्यम से। किन्तु निःसीम निर्विशेषान्त्य का समन्वयबोध तो अस्मदादि प्राकृत मानवों के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य बना रहता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा का उद्देश्य कदापि कालानन्त्यलक्षण सविशेषानन्त्य का समन्वय नहीं है। अपितु मुख्य लक्ष्य तो निर्विशेषान्त्य ही है, जिसके अनुबन्ध से ही कालानन्त्य माध्यममात्र बन गया है।

२१८–कालातीत मानव के वास्तविक स्वरूप का आधारभूत अनन्तब्रह्म, एवं अनन्तब्रह्मात्मक निर्विशेषानन्त्य के सम्बन्ध में 'प्रतीकभाव' का अन्वेषण—

अनन्तकाल जिस निर्विशेष-निष्कल–अनन्त परात्पराव्ययब्रह्म के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश में महिमारूपेण गर्भित है, उस आनन्त्य का ही नाम 'निर्विशेषान्त्य' है, और वही है कालातीत मानव का वास्तविक स्वरूप। इस स्वरूप का बोध कर लेना हीं मानव का परमपुरुषार्थ है। सम्वत्सरकाल के माध्यम से अनन्तकाल का बोध प्राप्त कर लेना तो मानव का पुरुषार्थ नहीं, अपितु प्रकृत्यर्थमात्र है। सविशेषानन्त्यरूप अनन्तकाल के बोध के लिए तो मानव ने सम्वत्सरकाल को प्रतीक मान लिया। एवं तत्परिभ्रमण–चक्रानन्त्य से इसने अनन्तकालात्मक सविशेषानन्त्य का अनुमान भी लगा लिया अपनी अवक्रा–ऋजुबुद्धि से। किन्तु जिस निर्विशेष–अनन्तब्रह्म के एकांश में अनन्तकाल अवस्थित है, उसका प्रतीक कौन ?, किस प्रतीक के माध्यम से उस निर्विशेषानन्त्य का संस्मरणमात्र सौभाग्य भी प्राप्त कर लिया जाय ?, यह महती समस्या मानव के सम्मुख उपस्थित हो पड़ी, और अपने सहज प्राकृतिक अभ्यास के माध्यम से सहज बुद्धि से ही इसने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो दिए कि, **"यदि-समस्त ब्रह्माण्ड में उस अनन्तब्रह्म का कोई प्रतीकात्मक दृष्टान्त बन सकता है तो, वह एकमात्र अनन्तकाल ही है, जिसके गर्भ में अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर वर्षात्मक-चान्द्रसम्वत्सरकाल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालमहिमाविवर्त्त बुदबुद्वत् प्रतिष्ठित हैं"।** इसी सहज कालप्रतीकता का महर्षि की सहज, किन्तु प्राकृत बुद्धि से प्रकृतिविज्ञानसिद्ध अनन्तकाल का, तथा अनन्त कालमहिमाओं का ही क्रमशः अथर्ववेद के अष्टम–नवम-सूक्तों के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिनका अक्षरार्थमात्र–समन्वय पूर्व में यथाक्रम किया ही जा चुका है।

२१९–अनन्तकाल की प्रतीकता के माध्यम से 'दृष्टान्त' का समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में आधिदैविक-विज्ञानात्मक ब्राह्मणवेद, तथा आधिदैविक ज्ञानात्मक उपनिषद्वेद—

कालसूक्तानुगता प्राकृता–प्राकृतानन्त्यानुगता–सविशेषानन्त्यात्मिका–सहज–ऋजुबुद्धि से अत्र हम अनन्तकाल को ही दृष्टान्तविधि के माध्यम–द्वारा उस निर्विशेषानन्त्यरूप कालातीत अनन्तब्रह्म का 'प्रतीक' मान लेते हैं। प्राकृत विश्व में इससे महान्, इससे विशिष्ट अन्य कोई दूसरा दृष्टान्त है ही नहीं। अतएव मन्त्रसंहितावत् ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषत् में भी यत्रतत्र इस अनन्तकाल के माध्यम से ही ब्रह्म की अनन्तता के साक्षात्कार का प्रयास हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थोंनें सम्वत्सरकाल की प्रतीकता से अनन्तकाल को लक्ष्य बनाया है, तो उपनिषदोंनें अनन्ताक्षरकाल की प्रतीकता से अनन्तब्रह्म को लक्ष्य बनाया है। और

यही ब्राह्मणों, तथा उपनिषदों में महान् विभेद है। ब्राह्मणग्रन्थ आधिदैविक–विज्ञान को माध्यम बना रहे हैं, एवं उपनिषत् आधिदैविक-ज्ञान को माध्यम बना रहे हैं। हैं दोनों हीं कालात्मक विवर्त्त। आधिदैविक-विज्ञान की प्रतिष्ठाभूमि क्षरकालानुगत अक्षरकालमूर्ति सम्वत्सरकाल है, यही ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य लक्षण है, जबकि ये ही उपसंहार में (शतपथ १४ वें-काण्ड में) औपनिषद अक्षरकालात्मक ज्ञानप्रधान अनन्तकालब्रह्म को भी प्रतीकरूपेण लक्ष्य बना रहे हैं। एवमेव आधिदैविक-ज्ञानकी प्रतिष्ठाभूमि स्वानुगत अक्षरप्रधान अनन्तकाल है, यही उपनिषद्ग्रन्थों का मुख्यलक्ष्य है, जबकि-'यावतीर्वा यथा वा'-'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूपेण यत्रतत्र संक्षेप से, और विस्तार से क्षरकालात्मक–विज्ञानप्रधान सम्वत्सरकाल का भी उपनिषदों में स्वरूपोपबृंहण हुआ है। सर्वथा मन्त्र–ब्राह्मण- आरण्यक–उपनिषत्–रूप वेदशास्त्र ने कहीं क्षरकालरूप से (सम्वत्सरकालरूप से), तो कहीं अक्षरकालरूप से प्राकृतिक–कालात्मक–ज्ञान–विज्ञान-भावों के माध्यम से ही अनन्तविभूति के समन्वय का तटस्थ प्रयास किया है। और यों काल-प्रतीकता के माध्यम से ही निर्विशेषानन्त्य समन्वित हुआ है वेदशास्त्र मे। निम्नलिखित औपनिषद्वचन अक्षर–प्रधान अनन्तकाल की, तथा क्षरप्रधान सम्वत्सरकाल की दृष्टान्तानुगता इसी प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं—

१–तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशति--प्रत्यराभिः।
अष्टकैः–षड्भि-र्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥
२–पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्धयादिमूलाम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥
३–संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरंच व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
४–क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

—श्वे० उप० १ अ०।४,५, ८, १० मन्त्र

२२०–अनन्तकालात्मक प्रतीक के माध्यम से कालातीत अनन्तब्रह्म का सम्भावित–संस्मरण—

जिसप्रकार अपने ३६० अहोरात्रपर्वों से सम्वत्सरकाल अपना सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है, तथैव अपने इस सम्वत्सरकालात्मक वर्षकाल से वह अंशीरूप अनन्तकाल अपने सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है। तथैव च यह अनन्तकाल अपने इस अनन्तकालरूप से उस अंशीरूप अनन्त निर्विशेष-ब्रह्म का स्वरूप अभिव्यक्त कर देता है 'आनन्त्य' दृष्टिकोण से। दूसरे शब्दों में–जिसप्रकार अनन्तकाल के एकांशरूप में स्थित भी सम्वत्सरकाल अपने अंशीरूप अनन्तकाल के समग्र स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, तथैव उस निर्विशेषानन्तब्रह्म के एकांश में स्थित भी अनन्तकाल अपने आधाररूप अनन्तब्रह्म के समग्र स्वरूप को–**"अभिव्यक्त कर दे सकता है आनन्त्य-दृष्टिकोण से"**।

२२१-संदिग्धा सम्भावना, 'समग्र-स्वरूप' के समग्रभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में सन्दिहानवृत्ति की जागरूकता, एवं प्रकृतिविस्तारमात्रानुगता दिग्देशकालस्वरूप-मीमांसा—

'कर दे सकता है' का क्या तात्पर्य्य ? । क्या कर सकने में कुछ सन्देह है ? । जहाँतक **'अनन्त'** शब्द का सम्बन्ध है, वहाँतक तो 'करदे सकना' यथार्थ है । आनन्त्य-दृष्टिकोण से तो अवश्य ही उसकी अनन्तता इस अनन्तकाल से अभिव्यक्त मानी जासकती है, मानली गई है-संहितावेदानुगत कालसूक्तों के द्वारा, ब्राह्मणवेदानुगता सम्वत्सरविद्याओं के द्वारा, एवं उपनिषदनुगता चराचरविद्याओं के द्वारा । किन्तु इस अभिव्यक्ति का **'समग्र'** शब्द इस अनन्तकालप्रतीकता में संदिग्ध ही माना जायगा । **'अनन्त स्वरूप को अनन्तकाल अभिव्यक्त कर रहा है', किन्तु अनन्त के 'समग्र' स्वरूप को अनन्तकाल उसप्रकार से कदापि अभिव्यक्त कर ही नहीं सकता, जैसेकि अनन्तकाल का प्रतीकभूत-प्रतिमानरूप सम्वत्सरकाल, किंवा सम्वत्सरप्रतिमानरूप प्राकृतमानव कालात्मक साम्वत्सरिक मानव) अनन्तकाल के समग्र अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है, कर रहा है'** । और यों अनन्तकाल उस निर्विशेष के अनन्तमात्रको अपनी अनन्तता से अभिव्यक्त करता हुआ भी उसकी समग्र-अनन्तता का तो संस्पर्श भी नहीं कर पारहा । एवं यहीं, इसी **'समग्र'** शब्द के माध्यम से, तत्पर्य्यायरूप **'परिपूर्ण'** शब्द के माध्यम से आज मानव को उस गुह्य-ब्रह्म (गुप्ततम-रहस्य) के साथ अपनी प्रज्ञा का सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना है, जिस सहज गुह्य-सम्बन्ध की ओर मानव प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमें प्रकृतिविस्तारात्मिका दिग्देशकालमीमांसा का आश्रय लेना पड़ रहा है ।

२२२-कृत्स्न, और सर्व-शब्दों का पारिभाषिक तत्त्वार्थ-समन्वय, तदनुबन्धिनी पूर्णता, एवं परिपूर्णता के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूपान्वेषण—

'पूर्ण' का अर्थ है **'कृत्स्न'**, एवं परिपूर्ण का अर्थ है-**'सर्व'** * । एक की अशेषता ही **'कृत्स्नता'** है, अनेकों की अशेषता ही **'सर्वता'** है । आपकी दृष्टि के सम्मुख अगणित-असंख्य पदार्थ रक्खे हुए हैं । इन में से आपने किसी एक पदार्थ को अपने अङ्क में ले लिया । यही **'कृत्स्नग्रहण'**, किंवा **'पूर्णग्रहण'** माना जायगा । क्योंकि आपने उस एक वस्तु को, पूरी वस्तु को उठा लिया । यदि आप पुरोऽवस्थित उन अगणित सब पदार्थों का ग्रहण कर लेते हैं, तो यही **'सर्वग्रहण'**,-किंवा **'परिपूर्णग्रहण'** माना जायगा । क्योंकि आपने परितः-चारों ओर अवस्थित सब पूर्णों को उठा लिया । यही **समग्रहण** कहलाया है । लोक में 'कृत्स्न' के लिए **'पूरा'** शब्द प्रसिद्ध है, एवं 'सर्व' के लिए **'सब'** शब्द प्रसिद्ध है । एक की पूर्णता ही **'पूरापन'** है, अनेकों की परिपूर्णता ही **'सबपना'** है । और यों **कृत्स्न**, तथा **सर्व** शब्द सर्वथा विभिन्न अर्थों के ही वाचक बन रहे हैं । इसीलिए तो-**"सम्वत्सर एव सर्वः-कृत्स्नः-समस्क्रियत"** (शत० १०।४।२।२।२६) इत्यादि रूप से श्रुति में **सर्व**, और **कृत्स्न**, दो पृथक् पृथक् शब्द उद्धृत हुए हैं ।

---

*-'एकस्याशेषत्वं--कार्त्स्न्यम्', अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्'-इति हि परिभाषा ।

२२३–अनन्तकालात्मिका क्षराक्षरप्रकृति की पूर्णतारूपा कृत्स्नता, तदनुगता सम्वत्सर-कालात्मिका अंशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं सम्वत्सरकाल की असमग्रा–अनन्तता का दिग्दर्शन—

अनन्तकालात्मिका अक्षरप्रकृति, एवं सम्वत्सरकालात्मिका क्षरप्रकृति अपने अपने एक एक अंश से अवश्य ही पूर्ण है, कृत्स्न है । किन्तु कदापि इन प्राकृत कालविवर्त्तों को 'सर्व' शब्द का सम्मान नहीं मिल सकता । क्योंकि एक अनन्तकाल के गर्भ में 'कृत्स्न' रूप अनेक सम्वत्सरकाल प्रतिष्ठित हैं । अतएव इन अंशभूत वर्षात्मक अनेक सम्वत्सरकालों की अपेक्षा से तो अनन्तकालप्रकृति 'सर्व' अवश्य हो सकती है, किन्तु स्वयं एक एक सम्वत्सर उस अनन्तकालप्रकृति की दृष्टि से–'सर्व' नहीं कहला सकते । पूर्ण है सम्वत्सर, किन्तु परिपूर्ण नहीं । कृत्स्न है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु सर्व नहीं । अनन्त है प्रत्येक सम्वत्सर, किन्तु समग्रानन्त नहीं ।

२२४-सम्पूर्ण सम्वत्सरकालों के अधिष्ठानात्मक अनन्तकाल की सम्वत्सरकालापेक्षया समग्रतारूपा अनन्तता, किंन्तु कालातीत अनन्त ब्रह्मापेक्षया तदेकांशता, तन्निबन्धना असर्वतारूपा अपरिपूर्णता, एवं अनन्तकाल की असमग्रा–अनन्तता का दिग्दर्शन—

समग्रानन्त तो अनन्तकाल ही माना जायगा । ठीक यही स्थिति इस समग्रानन्तकालरूप महान्–सर्व–परिपूर्ण भी प्रकृतिकाल की है । एक एक मायावृत्त का ही नाम एक एक अनन्तकाल है । उस अनन्तब्रह्म-धरातल पर ऐसे ऐसे असंख्य–अगणित–मायावृत्तात्मक–अनन्तकाल (अक्षरप्रकृतियाँ) सामुद्र–बुद्‌बुद्‌वत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं । जिसप्रकार अनन्तकालात्मिका प्रकृति की दृष्टि से विकृतिरूप सभी सम्वत्सरकाल अभिन्न हैं, किन्तु परस्पर ये सम्वत्सरकाल एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं । तथैव मायावृत्तात्मक सभी अनन्त-कालविवर्त्त यद्यपि उस अनन्त–निर्विशेषब्रह्म–धरातल की अपेक्षा तो अभिन्न हैं । किन्तु ये परस्पर में तो एक दूसरे से (मायावृत्तभेदानुबन्ध से) सर्वथा पृथक् पृथक् ही हैं । जिसप्रकार प्रत्येक सम्वत्सर उस अनन्त को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करता हुआ भी इतर सम्वत्सरों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है । तथैव प्रत्येक अनन्तकाल उस अनन्त के पूर्ण आनन्त्य को अभिव्यक्त करता हुआ भी स्व से भिन्न अन्य समस्त अनन्तकाल-वृत्तों को अभिव्यक्त करने में तो असमर्थ ही प्रमाणित है । अतएव अनन्तकाल को उस का 'कृत्स्न' प्रतीक ही माना जासकता है, सर्वात्मक प्रतीक नहीं । क्योंकि यह अनन्तकाल अपने एकांशरूप वैय्यक्तिक एकत्त्व से कृत्स्न ही प्रमाणित है । इन सब कृत्स्नों का परिपूर्णात्मक सर्वरूप तो स्वयं वह अनन्तब्रह्म ही हो सकता है । अतएव कदापि अनन्तकाल को उसके समग्ररूप का अभिव्यञ्जक नहीं माना जासकता ।

२२५–अनन्तब्रह्म की दृष्टान्तविधिरूपा प्रतीकविधि से बहिष्कृत अनन्तकाल, अनन्त-कालानुबन्धी सम्पूर्ण प्रयासों की तदानन्त्य के सम्बन्ध में आत्यन्तिक-व्यर्थता, एवं तत्सम्बन्ध में उद्‌बोधनात्मक श्रौत–सन्दर्भ—

अतएव च अनन्तकालात्मक अक्षरविवर्त्त भी तत्त्वतः न तो उसका दृष्टान्त ही बन सकता, नापि प्रतीक ही । सचमुच प्रकृति असमर्थ है उस अनन्त की सर्वरूपता का मापदण्ड करने में । तभी तो उसे

प्रकृति से 'पर' कहा गया है। लीजिए, जिस उद्बोधन के लिए काल को प्रतीकात्मक दृष्टान्त माना गया, जिस कालदृष्टान्त की अनन्तता प्रमाणित करने के लिए महतासमारम्भेण कालसूक्तों का उपबृंहण किया गया, जिस उपबृंहण को समन्वित करने के लिए सूक्तव्याख्या के पूर्व में, एवं उत्तर में प्राकृतिक-विज्ञानानुबन्धी दिग्देशकाल के अगणित-विवर्त्तों का ऊहापोह प्रक्रान्त रहा, वह सम्पूर्ण श्रम-परिश्रम कृत्स्न, और सर्व-शब्द के एक ही झटके से सर्वथा विगलित ही हो पड़ा, और अन्ततोगत्वा 'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः' के अनुसार हम अपनी उसी प्राकृतिक अवस्था, किंवा दुरवस्था में परिणत होगए। सोचा था, प्रकृति के महतोमहीयान् इस अनन्तकाल-विवर्त्त के माध्यम से तो हम बाजी मार ही लेंगे। चान्द्र सम्वत्सरकाल के समतुलन में हमारी प्राकृतबुद्धि क्रमशः पार्थिवकाल-सौरकाल-पारमेष्ठ्यकाल-पुण्डीरकाल-परोरजात्मक-परमाकाशकाल-अश्वत्थ-काल-रूप उत्तरोत्तर ज्यायान्-महान्-कालसोपानों को पार करती हुई अन्ततोगत्वा परमानन्तरूप-परमदेवरूप-अनन्ताक्षरकाल-रूप अन्तिम प्रकृतिकाल पर विश्राम ग्रहण करती हुई इस व्यक्तित्वविमोहन में अभिनिविष्ट ही होगई थी कि,-वह रहा अनन्तब्रह्म, पा लिया हमने इस अनन्तकाल के दृष्टान्त-प्रतीक-माध्यम से उसे। किन्तु हमारी इस बुद्धिगम्या सत्तासिद्धकालानुगता अनन्ताक्षरकालात्मिका भी व्याख्याने अन्ततोगत्वा हमारी प्रवञ्चना कर ही तो डाली। और अन्ततोगत्वा हमें भी उस ऋषिवाक्य पर ही विश्राम कर ही तो लेना पड़ा, जिसका वाचिकरूप-'नेति नेतीति होवाच' से विश्वविश्रुत हो रहा है, एवं जिस विश्वविश्रुति के आधार पर ही उसी ऋषिप्रज्ञा से निम्न लिखित उद्गार अभिव्यक्त हो पड़े हैं अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्त्तों के अन्वेषणानन्तर ही—

१—न तं विदाथ य इमा जजान—अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

—ऋक्सं० १०।८२।७।

२—न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

—ऋक्सं० १।१।६४।३७।

३—यस्यामतं-तस्य मतं, मतं यस्य-न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥

४—सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह॥

—उपनिषत्

५—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥

—ऋक्सं० १।१६४।६।

६—को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ।।

७—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न ।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।

—ऋक्सं० १०।१२६।६,७,।

२२६–परमाकाशात्मक अनन्त स्वायम्भुवकाल के लिए भी अज्ञात कालातीत ब्रह्म, एवं–'योऽस्याध्यक्षः–परमे व्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' का तात्त्विक समन्वय—

लीजिए ! जिस विश्वाध्यक्ष–परमाकाशमूर्त्ति–परमाक्षरमूर्त्ति–अनन्तकाल को प्रतीक मान कर तद्द्वारा हम (मानव) जिस अनन्त को जानने वाले थे अपने महतोमहीयान् तत्त्वविजृम्भण के माध्यम से, ऋषि कहते हैं–**"वे विश्वाध्यक्ष–परमाकाशरूप–अनन्तकालदेव भी उसे जानते हैं, अथवा नहीं जानते, यह कुछ भी नहीं कहा जासकता"** । अलमतिपल्लवितेन । जिसके माध्यम से जानना चाहते हैं, वे भी जब इस ज्ञानकोटि में संदिग्ध हैं, तो सबकुछ समाप्त हो गया । सचमुच अनन्तकाल भी अन्ततोगत्त्वा है तो 'काल' ही । 'प्रकृति' ही तो इस काल की स्वरूप–व्याख्या है । यह ठीक है कि, तत्समतुलन में सर्वथा नगण्य प्राकृत स्वरूप रखने वाली हमारी प्राकृतबुद्धि उसके लिए–**"वह भी अपने लिए प्रकृतिभावानुबन्ध से स्व से अतीत–(प्रकृति से अतीत) उस अनन्त को नहीं जान सकता, सर्वरूपेण उस आनन्त्य की इयत्ता नहीं ही कर सकता"** इस धृष्टतापूर्ण नग्नभाषा में अपना निश्चय प्रकट नहीं कर सकती । तदपि अवरुद्धा वाणी से बुद्धि परोक्षरूपेण यह तो कह ही डालती है कि–**'जो इस सम्पूर्ण कालिक विश्व का अध्यक्ष है, परमाकाशरूप वह प्राकृत–अनन्तकाल भी जानता है उसे, अथवा नहीं जानता–यह कुछ भी कह देना कठिन है'**–'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' । अपने महतोमहीयान्–ज्ञानविज्ञानात्मक–प्राकृतिक–व्यामोहन को यों क्षणमात्र में विस्मृत कर देने वाली ऋजुभावापन्ना ऋषिप्रज्ञा ही तो उस असम्भव भी, अचिन्त्य भी, प्रकृतिभ्यः परं भी अनन्तब्रह्म से यदि सायुज्य प्राप्त कर–लेती है इसी प्राकृतविमोहनपरित्याग–माध्यम से, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है । सचमुच–**'सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद'** इस सूत्र के द्वारा ही ऋषिप्रज्ञाने मानव की उस प्राकृतिक–दुरधिगम्या–महती समस्या का समाधान भी कर डाला, जिसके लिए वह कालचक्र के विविध–विवर्त्तों में इतस्ततः भटकता रहता है । क्या समाधान कर डाला ?, प्रश्न तो सदा से सम्प्रश्न ही बनता चला आरहा है, जिसका कदापि वाणी से समन्वय सम्भव ही नहीं है । इति नु पुनस्तत्रैवावलम्बितोऽयं वेतालः–प्राकृतो मानवः ।

२२७–अनन्तब्रह्म की प्रतीकता के समन्वय के लिए कालातीत 'ऋषिमानव' के प्रति आत्म-समर्पण, एवं तद्वञ्चित परदर्शनव्यासक्त--कालासक्त--भावुक--मानव की दिग्देश-कालनिबन्धना भ्रान्ति-परम्पराएँ —

अब तो प्राकृत मानव की इस वेतालवृत्ति के समन्वय की आधारभूमि वह लोकातीत मानव ही माना जायगा, जिसे प्रकृति की भाषा में–'**कालातीत ऋषिमानव**' कहा गया है। स्मरण रहे! अनेक खण्डात्मक प्रस्तुत बृहन्निबन्ध का सर्वात्मक नाम है–'**भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता**'। '**भावुकता**' से ही इसने अपने प्राकृत–सत्यं, शिवं–सुन्दरं–रूप को (विश्वरूप को) धूलिधूसरित किया है, एवं इसी भावुकता से इसने अपने कालातीत अप्राकृत–अनन्त–गुह्य–स्वरूप से अपने आपको पराङ्मुख बनाया है। सर्व–नाशकारिणी इस भावुकता का मौलिक स्वरूप है–'**परदर्शन**', एवं जिस शक्ति से इस का यह 'परदर्शन', एवं तन्मूला भावुकता पलायित होती है, उसी का नाम है–**निष्ठा**, जिसका मौलिक स्वरूप है–'**स्वदर्शन**'। दूसरों को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है, एवं दूसरों के माध्यम से अपने आप को समझने का प्रयास करते रहना भी भावुकता है, जिनका आधार सर्वत्र बाह्यतन्त्र ही बनता है। परिणाम इस परदर्शनमूला भावुकता का यही होता है कि, जैसा दूसरे समझते हैं, इसे वैसा ही समझ लेना पड़ता है। फलतः इसका अपना स्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है इस परदर्शनमूला–परप्रत्ययनेयभावानुगता भावुकता से, फिर वह 'पर' छोटा हो, अथवा तो बड़ा हो। परधर्म्म तो सदा ही भयावह ही बना रहता है–'**परधर्म्मो भयावहः**'। इस महान् यत्न से परित्राण प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है स्वदर्शनमूला वह निष्ठा, जिसके आश्रय से ही मानव स्वरूप-बोध प्राप्त किया करता है, जिसका कि–'**उद्धरेदात्मना–आत्मानम्**'–'**नात्मानमवसादयेत्**'–इत्यादि से समन्वय हुआ है। सम्वत्सरकाल हो, अथवा तो सोपानपरम्परानुगत अनन्तकाल। सभी '**परकाल**' हैं, परभाव हैं, प्राकृतभाव हैं, बाह्यभाव हैं। इन परभावों की प्रतीकता–दृष्टान्त–विधि–के माध्यम से कालातीत अनन्त के अन्वेषण में प्रवृत्त होना तो 'भावुकता' ही मानी जायगी प्रकृतिव्यामुग्ध–परदर्शनातुर–नितान्त भावुक प्राकृत मानव की। ऐसे अनेक शब्द हैं प्राकृतिक–विश्व में, जिन के द्वारा मानव को अनन्तता की भ्रान्ति होसकती है, होती रही है, हो रही है, एवं होती ही रहेगी।

२२८–सम्पूर्ण उत्पातों-समस्याओं का जनक भावुकतापूर्ण 'अनन्त' शब्द, एवं निषेध-भाव से समन्वित सापेक्ष अनन्तशब्द की शिथिलता —

उदाहरण के लिए–'**अनन्त**' शब्द को ही लीजिए। इस 'अनन्त' शब्दने ही यह सम्पूर्ण उत्पात खड़ा किया है। काल के साथ सम्बद्ध होजाने वाले इस 'अनन्त' शब्द ने ही प्राकृत मानव को दिग्भ्रान्त–उद्भ्रान्त–बना दिया है। '**न अन्तः–अनन्तः**' रूप से अपने उपक्रम में हीं निषेधार्थक '**न**' कार को अपनी आधारभूमि बनाए रखने वाला '**अन्त**' ही तो 'अनन्त' की स्वरूप व्याख्या है, जो अनन्त 'अन्त'–सापेक्ष बनता हुआ अपनी सीमाबद्धा दिग्देशकालावच्छिन्नता ही प्रमाणित कर रहा है।

२२९–अनन्त-अक्षर परम-प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा, आदि आदि सापेक्ष-शब्दों की भ्रामकता, तदाधारेण समन्वयप्रयासभ्रान्ति, एवं सापेक्ष–शब्दमात्र से अतीत–'तत्तत्त्व'—

अनन्त-अक्षर-परम-प्रजापति-चेतना-ज्ञान-आत्मा-आदि आदि यच्चयावत् शब्द वस्तुगत्त्वा सापेक्षभावों के ही सूचक, किंवा वाचक बन रहे हैं, जो अपनी इस सापेक्षता के कारण दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के ही संग्राहक बने हुए हैं। वस्तुतः दिग्देशकालातीत उस निरपेक्ष निर्विशेष-पौरुषानन्त्य के लिए कोई शब्द है ही नहीं प्राकृत-कोश में। तभी तो-'सं विदन्ति न यं वेदाः' कहना अन्वर्थ बनता है। शब्दावच्छिन्न ज्ञान का ही नाम वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञान है। प्रत्येक शब्द यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही जब निरूढ है, और वह निरपेक्ष अनन्त जब कि इस अवच्छिन्न दृष्टि से सर्वथा अनवच्छिन्न है, तो अवच्छिन्न शब्दों के द्वारा उस अनवच्छिन्न का संग्रह सम्भव ही कैसे है?। अधिक से अधिक उसका नाम 'अन्त' अवश्य रक्खा जासकता है, सो भी अपनी प्राकृत बुद्धि के तात्कालिक परितोष के लिए ही। जहाँ, जिसमें सपूर्ण वेदशब्दों का अन्त (समाप्ति) हो जाता है, वही वह है। वेदशब्द का, किंवा शब्दात्मक सम्पूर्ण वेद का अन्तस्थान ही वह–'वेदान्तपुरुष' है, जो शब्दमात्र से निरपेक्ष बनता हुआ अपने रूप से स्वतः ही प्रमाणित है। कदापि किसी भी शब्दप्रमाण के द्वारा, तदनुगता दिग्देशकालात्मिका व्याख्याओं के द्वारा, इन परदर्शनमूला भावुकताओं के द्वारा उसका स्वरूपबोध सम्भव ही नहीं है। मनःप्राणवाङ्मय हमारा प्राकृत आत्मा भी तो उसे नहीं जान सकता। क्योंकि वह असत् है (सद्रूप् है), अमना (मनोघन) है, अप्राण (प्राणघन) है, मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा–कालात्मा–से पर है, अतीत है–'**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः–अक्षरात् परतः–परः**' ही उसका तटस्थ स्वरूप–परिचय है।

२३०–कालनन्तता की बलनिबन्धना सादिसान्तता, प्राकृतधर्म्मात्मिका बलवत्ता, अप्राकृतभावात्मिका रसवत्ता, एवं रसात्मक अनन्तब्रह्म, तथा बलात्मक अनन्तकाल का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध—

विशेषभावापन्न बल तो अपने बलत्त्वेन सदा ही सादि–सान्त ही माना जायगा, फिर भले ही वह छोटा बल हो, अथवा बड़ा बलसंघात हो। मानते हैं–महाकालरूपा बलप्रकृति से प्राकृत विश्व में और कोई दूसरा बड़ा बलसंघात नहीं है। एवं इस विश्वदृष्ट्या कालात्मक उस विशेष बलसंघात को 'अनन्त' कहा भी जासकता है। तदपि इतकी बलात्मिका सादि–सान्तताने तो इसे तत्त्वतः दिग्देशकालात्मक ही प्रमाणित कर रक्खा है। अतएव निर्विशेषात्मक सहज आनन्त्य तो यहाँ अनुपपन्न ही है। कदापि **अनन्त**, और **काल** का समन्वय सम्भव ही नहीं है। अनन्त रस ही है, काल बल ही है। तभी तो भारतीय लोकव्यवहार में इसकेलिए-'**काल बली रिपु सबके सिर पर, ज्यों नभचर पर बाज** *'इत्यादि रूप से 'बली' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। बलवत्ता जहाँ प्राकृतधर्म्म है, वहाँ रसवत्ता ही अप्राकृत अनन्त तत्त्व है, यही वास्तविक अनन्त है। भावात्मक-

---

*–"जो तू यासों उबरयो चाहे, गहन रामकृष्ण के चरण सुनर–वर'।

गुणात्मक,—अतएव कलात्मक अक्षरकाल हो, अथवा तो विकारात्मक, अतएव कलनात्मक क्षरकाल हो, दोनों हीं कालभाव–(सत्तासिद्ध अक्षरकाल, तथा भातिसिद्ध क्षरकाल) प्रकृति के क्रोड़ में हीं समाविष्ट हैं । अक्षर-प्रकृति ही स्वानुगत कलाभाव से अक्षरकाल (महाकाल) कहलाने लगती है, एवं अक्षरप्रकृति ही क्षरानुगत कलनभाव से क्षरकाल (सम्वत्सरकाल) कहलाने लगती है । वह अनन्त तो वैसा अनन्त है, जिसके एकांशरूप अक्षरप्रकृतिभाव के भी एकांश में दोनों कालविवर्त्त समाविष्ट हैं । भला ऐसा काल कैसे 'अनन्त' हो सकता है ?, अतएव कैसे यह उस अनन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक बन सकता है ? । कदापि नहीं ।

२३१–सर्वात्मक समग्रभाव से वञ्चित कालिक पदार्थ, एवं दृष्टान्तविधि में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता—

अब क्या किया जाय ? । कैसे उस प्रकृत्यतीत--कालातीत--सर्वातीत--किन्तु सर्वात्मक--महिमामय अनन्त-निर्विशेषरूप रसात्मक ब्रह्म का स्वरूप–बोध प्राप्त किया जाय ?, इस कालात्मक प्राकृत--विश्व में किसे उसका दृष्टान्तात्मक प्रतीक माना जाय ?, जबकि प्राकृत विश्व में सब अभिव्यक्तियाँ कृत्स्नभावापन्ना तो हैं, किन्तु कोई भी सर्वभावापन्न नहीं है । दूसरे शब्दों में प्रकृत्या कृत्स्न बनते हुए सभी चर–अचर–पदार्थ पूर्ण तो हैं, किन्तु परिपूर्ण कोई भी नहीं है । क्या प्राकृत–मानव भी परिपूर्ण नहीं है ? । नहीं । प्रकृत्या मानव अन्य सब मानवों से विभिन्न है ।

२३२–प्राकृत मानव की प्रतीकता के सम्बन्ध में ऊहापोह—

इस प्रकृति-भेद के कारण हीं प्रत्येक प्राकृत मानव के जाति (योनि)-आयु-भोग * तीनों पृथक्-पृथक् हैं । अतएव प्राकृत मानव भी इतर पदार्थों की भाँति 'कृत्स्न' पूर्ण तो बन रहा है । किन्तु इसे भी सर्व, किंवा–परिपूर्ण नहीं माना जा सकता । अतएव यह भी अन्य प्राकृत विवर्त्तों की भाँति सविशेष ही बना हुआ है । अत-एव विशेषभावात्मक प्राकृतमानव भी उस निर्विशेषान्त्य का, सामान्यानन्त का दृष्टान्तात्मक प्रतीक नही बन सकता, कदापि नहीं बन सकता । यही नहीं, इस प्राकृतिकी कृत्स्नभावात्मिका पूर्णता की दृष्टि से तो प्राकृत मानव की अपेक्षा पशु–पक्षी–आदि इतर प्राणी कहीं अधिक पूर्ण हैं, जबकि प्राकृत मानव तो इन की अपेक्षा भी प्रकृ–त्या भी अपूर्ण ही है, जैसा कि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाचुका हैं । अतएव प्राकृत मानव की प्रतीकता का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता । और यहीं, इसी बिन्दु पर एक प्रासङ्गिक तथ्य हमें और समन्वित कर ही लेना है प्रसङ्गधिया ।

२३३–प्राकृत-मानव के साम्वत्सरिक-तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय—

क्या स्वरूप है प्राकृत मानव का ?, प्रश्न का उत्तर है–'**षोडशकल–सम्वत्सर**' । क्या स्वरूप है–'षोडशकल सम्वत्सर' का ?, प्रश्न का उत्तर है–'**षोडशी प्रजापति**' । क्या स्वरूप है–'षोडशी प्रजापति' का ?, प्रश्न का उत्तर है–'**महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म**' । क्या स्वरूप है 'महामायावच्छिन्न अश्वत्थब्रह्म' का ?, प्रश्न का उत्तर है-'**योगमायावच्छिन्न बलेश्वर**' । क्या स्वरूप है 'योगमायावच्छिन्न बलेश्वर' का ?, प्रश्न का उत्तर है–"**पञ्चपुण्डीराध्यक्ष परोराजा नामक अव्यक्त स्वयम्भू**' । क्या स्वरूप है इस 'अव्यक्त-स्वयम्भू' का ?, प्रश्न का उत्तर है–'**पुण्डीर स्वयम्भू–व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी–सौरसम्वत्सरमध्यवर्त्ती सूर्य्य,**

---

*–जात्यायुर्भोगाः (न्यायदर्शन–गोतमसूत्र)

पार्थिवसम्वत्सरमध्यवर्त्ती भूपिण्ड, चान्द्रसम्वत्सरमध्यवर्त्ती चन्द्रमा–इन पाँच प्राकृत–विश्वपुण्डीरों–पर्वों की समन्वितावस्था'। क्या स्वरूप है इस 'समन्वितावस्था' का ?, प्रश्न का उत्तर है–'स्वायम्भुव अव्यक्त, पारमेष्ठ्य महान्, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, पार्थिव शरीर, इन पाँच पर्वों की प्राकृत समन्वितावस्था'। और सर्वान्त में क्या स्वरूप है इस 'प्राकृत समन्वितावस्था' का ?, प्रश्न का अन्तिम उत्तर है–'प्राकृत मानव'। जिस मानव की प्रकृति में अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मन–शरीर–ये पाँच प्राकृतिक पर्व समन्वित रहेंगे, उसी मानव को 'प्राकृतमानव' कहा जायगा।

२३४–प्राकृत विश्व, और प्राकृत मानव, प्राकृत मानव का जीवत्त्व, एवं अप्राकृत मानव का आत्मत्त्व, तथा जीवसीमागर्भित-प्राकृत-विश्व–

ध्यान दीजिए–'जिस मानव की प्रकृति में ये पाँच पर्व', इस वाक्यांश पर। कौन है वह मानव, जिसके कोश में–क्रोड़ में–अङ्क में 'प्रकृति' जैसा कोई वैसा तत्त्व विद्यमान है, जिस प्रकृति के ये पाँच प्राकृत–पर्व हैं ?। अश्वत्थब्रह्म से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरपर्य्यन्त जितने भी प्राकृतिक–कालविवर्त्त हैं, उन सब का तो संग्रह परोरजामूर्त्ति-पञ्चपुण्डीराध्यक्ष-अश्वत्थकेन्द्रीभूत-अव्यक्त-स्वयम्भू-से हो ही जाता है। अतएव अश्वत्थ-ब्रह्म से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सर–पर्य्यन्त, किंवा चान्द्रसम्वत्सर से आरम्भ कर अश्वत्थब्रह्म–पर्य्यन्त का सम्पूर्ण प्राकृत-विवर्त्त तो पञ्चपर्वा-स्वायम्भुवी अव्यक्ता प्रकृति से ही परिगृहीत है, जिस इस सम्पूर्ण 'पर्य्यन्त' का नाम ही 'प्राकृतविश्व' विवर्त्त है। 'मानव का विश्व ही मानव की प्रकृति है'। इस अपने प्राकृत विश्व की अपेक्षा से ही मानव 'प्राकृतमानव' कहलाया है। यहीं वह प्रश्न उपस्थित है कि, जिस मानव का यह पञ्चपर्वा, किंवा अश्वत्थब्रह्मादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सर्वपर्वा प्राकृत विश्व है, इस प्राकृत विश्व को स्वप्रतिष्ठा में धारण करने वाला मानव कौन ?, इसी प्रश्न का उत्तर है-'जीव'। 'जीव' का नाम है-'मानव', एवं इसकी पञ्चपर्वा प्रकृति का नाम है इस जीवमानव का प्राकृतसंसार, प्राकृत विश्व। इस प्राकृत विश्व से नित्य-समन्वित 'जीव' नामक मानव का ही नाम है-'प्राकृतमानव'। जीव स्वयं ही जीव भी है, एवं यही जीव अपने महिमाभाव से पञ्चपर्वा प्रकृति भी बन रहा है। अर्थात् समष्ट्यात्मिका वही प्रकृति 'जीव' है, एवं महिमाव्यष्ट्यात्मिका वही पञ्चपर्वा प्रकृति इस जीव का प्राकृत विश्व है। प्राकृत विश्व में जीव नहीं है, अपितु जीवसीमा में प्राकृत विश्व प्रतिष्ठित है।

२३५–आत्मभाव से असंस्पृष्ट प्राकृत जीव, जीव के अविनश्वर-विनश्वर-विवर्त्त, तथा दोनों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि प्रकृति में, लोकभाषानुसार–प्राकृत शरीर में जीव है ?, अथवा तो जीव में प्राकृत शरीर है ?। अर्थात् शरीर के भीतर जीव है ?, अथवा तो जीव के भीतर शरीर है ?, इस प्राकृत प्रश्न ने आधारशून्य दार्शनिक–मस्तिष्क को निःसीमरूप से उत्पीड़ित कर रक्खा है इसलिए कि, उसने 'जीव' के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध जोड़ दिया है। सम्भवतः 'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस सम्बन्ध में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। अतएव अत्र इसे तूलरूप न देते हुए अभी हमें यही निवेदन कर देना है कि,-जीव प्राकृत भाव है, एवं आत्मा अप्राकृतभाव है। अतएव आत्मा जीव

नहीं हो सकता, एवं जीव आत्मा नहीं हो सकता, अतएव 'जीवात्मा' शब्द कदापि समन्वित नहीं हो सकता। **प्राकृतभाव का नाम जीव है, एवं पुरुषभाव का नाम आत्मा है।** दोनों में अहोरात्रका अन्तर है। आत्मा अजर-अमर-अविनाशी है, जबकि जीव जन्म-मृत्यु-चक्र से चक्रायित है। और इस जीव के ही दो विवर्त्त हैं- **अविनाशीजीव, एवं नश्वरजीव।** जो जीव शरीर को स्वसीमा में मुक्त-गर्भित रखते हैं, वे 'अविनाशी-जीव' हैं, एवं जो जीव शरीर की सीमा में भुक्त-गर्भित-रहते हैं, वे नश्वरजीव हैं, जिस इस तथ्य से दार्शनिक मस्तिक अपने प्राकृत व्यामोहन के कारण सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहा है।

२३६–जीव से जीव का विनिर्गमन, एवं अविनश्वर जीवसर्ग, शरीर से शरीर का विनिर्गमन, एवं नश्वरजीवसर्ग, तथा–'जीव में शरीर', और 'शरीर में जीव' लक्षण पार्थक्य का समन्वय—

जीव से जीव की अभिव्यक्ति, यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। एवं **शरीर से शरीर का विनर्गमन** यह एक प्रकार का प्राकृतिक सर्ग है। 'जीव से जीवाभिव्यक्ति' पक्ष में जीव आधार है, शरीर आधेय है। 'शरीर से शरीरविनिर्गमन' पक्ष में शरीर आधार है, जीव आधेय है। प्रथम पक्ष में-जीव में **शरीर है,** एवं द्वितीय पक्ष में-**शरीर में जीव है। 'जीव में शरीर है',** इस प्रथम पक्ष में--शरीर उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं, जीव का कुछ नहीं बदलता, कुछ भी नष्ट नहीं होता। शरीरानुबन्ध से जन्म-मृत्यु-चक्र-का परिभ्रमण अवश्य है। किन्तु जीव स्वस्वरूप से अविनश्वर है। उधर **'शरीर में जीव है',** इस द्वितीय पक्ष में शरीर के साथ ही, शरीर की सीमा में हीं, शरीर से ही जीव उत्पन्न होता है, एवं शरीर के साथ ही यह जीव नष्ट होजाता है। शरीर के विनाश के साथ ही इस जीव की जीवनलीला समाप्त होजाती है, एवं ये ही विनश्वर जीव हैं।

२३७–अक्षरानुबन्धी–प्राकृत–मानवजीव, क्षरानुबन्धी प्राकृत इतर जन्तु, एवं प्राणी–जगत् का स्वरूपदिग्-दर्शन—

प्रकृति की भाषा में--शरीर को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रखने वाले जीव का नाम है-'अव्ययगर्भित-क्षरानुगत-'अक्षरजीव'। एवं शरीर के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाले अक्षरगर्भित क्षरात्मक जीव का नाम है-**'क्षरजीव'।** अक्षरजीव का नाम है **पुरुषानुगता प्रकृति,** एवं क्षरजीव का नाम है-**प्रकृत्यनुगता विकृति।** प्राकृतजीव ही का नाम है **प्राकृतमानव,** एवं वैकारिक जीव ही का नाम है **प्राकृत जन्तु।** प्राकृत जीवात्मक मानव शरीर में नहीं है, अपितु शरीर इस प्रकृतिरूप जीव में है। तात्पर्य्य यही है कि, मानव का स्वरूप-परिचायक इसका शरीर नहीं है, अपितु प्रकृति ही इसकी स्वरूपपरिचायिका है। केवल बाह्य-शरीराकारमात्र से मानवीय जीवभाव का स्वरूप समन्वित नहीं हो सकता। ठीक इसके विपरीत मानवेतर समस्त पश्वादि प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों के शरीर में क्योंकि नश्वरजीव प्रतिष्ठित है। अतएव इनमें शरीर ही प्रधान बना रहता है। अतएव केवल शरीराधार-बाह्याकारमात्र से ही पश्वादि प्राणियों का स्वरूप परिज्ञात बन जाता है। तभी तो इस प्राणीजगत् को हमने प्रकृत्या (विकृत्या) पूर्ण कहा है, जबकि इस शरीररूपा प्रकृति (विकृति) की दृष्टि से तो मानव अपूर्ण ही बना रहता है। प्राकृतमानव अपने जीवभाव से अविनाशी है, प्रकृतिभाव से परिवर्त्तनशील है, एवं इस परिवर्त्तन का ही नाम-'जन्म-मृत्यु-चक्र-है-**'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि, तव**

चार्जुन'! । शरीर बदलते रहते हैं, मानव (जीव) नहीं बदलता । क्योंकि शरीर में मानव (जीव) नहीं है, अपितु शरीर मानव (जीव) में हैं । आधार नहीं बदलता, आधेय बदलते रहते हैं ।

२३८–प्राकृत-मानवीय--अविनश्वर जीवों के, तथा वैकारिक-पश्वादि विनश्वर जीवों के प्राकृत--स्वरूपों में महान् अन्तर—

ठीक इसके विपरीत मानवेतर पश्वादि प्राणियों में नया ही शरीर, शरीर से ही शरीर, शरीर में ही नवीन ही तात्कालिक ही जीवभाव का वृक्षाङ्कुरन्याय से उद्‍गम, शरीर के साथ ही इस जीव का संरक्षण, एवं शरीरनाश के साथ ही समाप्ति । न पूर्वजन्म, न उत्तरजन्म, न वर्त्तमान में हीं स्वरूपाभिव्यक्ति । केवल अशनपानपरायणता । बँधे–नपे–तुले–कालक्रमानुसार काल–प्रेरणया–खाते–पीते–मल–मूत्रादि–विसर्जित करते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक प्रातः–सायं–रात–आधीरात-दुपहर–सर्वत्र–सबके सम्मुख–शारीरिक–मानसिक–कामभोगों का अनुगमन करते हुए इतस्ततः प्रकृतिप्रेरणया शरीर से जीवभार को उठाए हुए दन्द्रम्यमाण बने रहना ही इन प्राणियों का समस्त जीवनेतिवृत्त है, जिनका कोई इतिहास नहीं है । यही प्राकृत मानवीय जीव, एवं वैकारिक पश्वादि-जीव, इन दोनों में वह महान् अन्तर है, जिस के समन्वय के बिना कालस्वरूप–अविज्ञात ही बना रहजाता है ।

२३९–चान्द्रसम्वत्सरकालानुबन्धी मानवेतर प्राणिजगत्, एवं अनन्तकालानुबन्धी मानवीय--जीवजगत्, तथा अपराप्रकृतिमूलक क्षरात्मक प्राकृतिक जन्तु, और पराप्रकृतिमूलक अक्षरात्मक मानवजीव—

प्राकृत प्राणियों का वह वैकारिक–विनश्वर–जीवभाव (जो इन के शरीरों के साथ ही तात्कालिकरूप से ही उत्पन्न होता है, एवं शरीरसमाप्ति के साथ ही नष्ट हो जाता है), उस चान्द्रसम्वत्सरकाल से ही सम्बन्ध रखता है, जो वर्षात्मक-मूर्त्त-व्यक्ततम-भौतिककाल ही है * । उधर प्राकृत-मानवजीव का सम्बन्ध उस महाकाल से है, जिसे हमने अनन्त–अमूर्त्त–अव्यक्त–अक्षरकाल कहा है, जोकि अश्वत्थब्रह्म से भी परस्तात् है, जिस के गर्भ में अश्वत्थब्रह्मादि चान्द्रसम्वत्सरान्त सम्पूर्ण प्राकृत–कालविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं । अनन्ताक्षररूप–परमकाल ही मानव का जीवभाव है । आधिदैविकजगत् में उसका नाम **'अनन्तकालाक्षर'** है, एवं मानव–संस्था में उसी का नाम–**'प्राकृतमानव'** है । जो वह है, वही यह है । वह अपने सम्पूर्ण कालिक प्राकृतिक विश्व का अध्यक्ष है, तो यह (मानव) अपने अव्यक्तादि शरीरान्त–सम्पूर्ण कालिक शरीर का अध्यक्ष है । अनन्तकालात्मक अक्षर का नाम हीं है उस अनन्ता–व्ययपुरुष की **'पराप्रकृति'**, इसी का नाम है **'प्राकृत–मानव जीव'**, इसीने अपने आधिदैविक प्राकृत–'अनन्तकाल' रूप से सम्पूर्ण कालिक विश्व को स्वगर्भ में धारण कर रक्खा है, जैसाकि तदभिन्न मानव नामक प्राकृत जीवने स्वगर्भ में अपने सम्पूर्ण अव्यक्तादि–कालिक

---

* वर्ष में तत्तद्‍ऋतुविशेषों में तत्तद्विशेष कीट–पतङ्गादि प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं, नष्ट होते रहते हैं, जिनका जायस्व–म्रियस्व के अतिरिक्त और कोई इतिहास नहीं होता । सम्पूर्ण प्राणियों का यही इतिहास है, जिसका मूल यह वर्षात्मक सम्वत्सरकाल ही बना रहता है ।

भावों को धारण कर रक्खा है । इसी आधार पर--'इतस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि में परां--जीवभूतां--महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । जैसा, जो स्वरूप आधिदैविक में अनन्त-कालाक्षर का है, अध्यात्म में वैसा ही, वही स्वरूप मानवजीव का है । अधिदैवत में जैसा स्वरूप अश्वत्थादि-चान्द्रसम्वत्सरान्त प्राकृत विश्व का है, अध्यात्म में वैसा ही स्वरूप अव्यक्तादि-शरीरान्त मानवीया पञ्चपर्वा प्रकृति का है । यही मानव, और मानव की प्रकृति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, एवं यही है-'प्राकृतमानव' की स्वरूपदिशा का प्राकृतिक समन्वय ।

२४०-प्राकृतमानव की स्वतन्त्रता, तदनुगता सम्वत्सरप्रतीकता का विरोध, एवं सम्वत्सर--प्रतीकात्मक केवल प्राकृत-जन्तु--

हमने पूर्व में प्रतीकभावों का समन्वय करते हुए ऐसा कुछ कह दिया था कि-'अनन्ताक्षरकाल का प्रतिमानात्मक प्रतीक सम्वत्सरकाल है, एवं सम्वत्सर की प्रतिमा प्राकृत मानव है । अतएव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का प्रतीक है, तथैव परम्परया सम्वत्सरांशभूत प्राकृत मानव को भी उस अनन्तकाल का प्रतीक माना जासकता है' (देखिए ! पृ० सं० ४९६, परिच्छेद संख्या २१२) । किन्तु उक्त जीवभाव-समन्वय के आधार पर तो अब स्थिति सर्वथा ही बदल गई । सम्वत्सर का प्रतीक तो पशुजगत् ही माना जायगा इस दृष्टि से, जिस के माध्यम से एक सम्वत्सर अपना कृत्स्नस्वरूप (सर्वस्वरूप नहीं) अभिव्यक्त कर देता है । प्राकृतमानव तो कदापि इस सम्वत्सर का प्रतीक नहीं बनसकता । सम्वत्सरकालात्मक क्षरभाव तो अक्षररूप प्राकृत मानव के अन्तिम पर्वरूप केवल शरीर में हीं अन्तर्भुक्त है । अतएव सम्वत्सर, और मानव, दोनों का जहाँ समतुलन बतलाया है, वहाँ मानव के अस्थि-मज्जादि-शारीरभावों का ही उल्लेख हुआ है * । प्राकृत मानव में जो स्थान केवल शरीर का है, वही स्थान यहाँ वर्षात्मक सम्वत्सर का है । अतएव प्राकृत मानव का शरीर तो फिर भी इस सम्वत्सर का प्रतीक माना जासकता है । किन्तु कदापि सम्पूर्ण प्राकृत मानव तो इस सम्वत्सर का प्रतीक हो ही नहीं सकता, बन ही नहीं सकता । कहाँ अनन्ताक्षरकाल, और कहाँ चान्द्रसम्वत्सरात्मक वर्षकाल ? । एवमेव कहाँ अनन्तकालात्मक प्राकृत मानव, और कहाँ व्यक्तकालात्मक चान्द्रसम्वत्सर ? ।

२४१-मानव के एकांश से आविर्भूत सम्वत्सरकाल की मानव के समतुलन में अपूर्णता-अकृत्स्नता, एवं दृष्टान्तात्मक प्रतीकलक्षण व्यामोहन से आत्मत्राण--

हाँ, मानव उस अनन्तकाल का दृष्टान्तात्मक सर्वात्मक प्रतीक अवश्य ही बन सकता है, बना है वेदशास्त्र में । एवमेव जैसे सम्वत्सरकाल उस अनन्तकाल का कृत्स्नात्मक प्रतीक है, तथैव यही सम्वत्सर उस प्राकृतमानव का भी प्रतीक बन सकता है, बना है वेदशास्त्र में । सम्वत्सर से मानव का निर्म्माण नहीं हुआ है, अपितु मानव के एकांश से सम्वत्सरयज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है । मानव सम्वत्सर के गर्भ में नहीं है, अपितु मानव के गर्भ में सम्वत्सर है-'यस्मादर्वाक्-सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते' । 'पुरुषो वै यज्ञः'--'पुरुषसम्मितो यज्ञः' (शत० ३।१।४।२३)--'पुरुषो वाव सम्वत्सरः' (गो० पू० ५।३)--'पुरुषो वै

---

* देखिए गोपथब्राह्मण पू० ५।५।

सम्वत्सरः' (शत० १२।२।४।१।)-इत्यादि वचन सम्वत्सर को ही पुरुष का प्रतीक मान रहे हैं। किस पुरुष का ?, प्राकृतपुरुष का, प्राकृत मानव का, यह विशेषरूप से स्मरण रखिए, जिसके माध्यम से ही हमें अनुपद में हीं अप्राकृत मानव का अन्वेषण करना है। जिस महतोमहीयान् अनन्तकाल का अबतक यशोगान हुआ है, उस से तो इस प्राकृत मानव का प्राकृत-इतिहास ही ससन्वित हो पाता है। कदापि इस अनन्त-काल के माध्यम से उस कालातीत का अनुमान भी सम्भव नहीं है। प्राकृत विश्व में अनन्तकाल, और तदभिन्न प्राकृत मानव, दो ही ऐसे प्राकृतिक विवर्त्त थे, जिन्हें दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान बैठने का व्यामोहन हुआ था। किन्तु यह व्यामोहन गतार्थ नहीं बन सका इन दोनों हीं विवर्त्तों की प्रकृतिता के कारण।

२४२-अप्राकृत-ऋषिमानव के माध्यम से प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा,-प्राकृत-मानव की प्राकृत-बुद्धि की कुण्ठितता-विवशता, एवं तन्मूलक प्रतीकात्मक दृष्टान्तों की ओर आकर्षण—

अब तो केवल वह **अप्राकृत-ऋषिमानव** ही शेष रह जाता है, जिस के माध्यम से ही प्रतीकता की प्राकृत-चेष्टा और करली जाती है। इस चेष्टा से पहिले अनन्तकाल विवर्त्त, तथा तदभिन्न प्राकृत मानव विवर्त्त-इन दोनों को तालिकारूपेण अवधानपूर्वक इसलिए लक्ष्य बना ही लेना चाहिए, जिस से जीवभूता अक्षर-प्रकृति की कालात्मकता में फिर कोई व्यामोहन शेष न रहजाय। तालिकाचिन्तन के द्वारा अवश्य ही हम जैसे प्राकृत मानवों को तो इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, अनन्तकाल से प्रकृति का उपक्रम होता है, एवं सम्वत्सरकाल पर प्रकृति का उपसंहार होता है। इन सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त्तों में प्राकृत-भावों के अतिरिक्त वैसा एक भी तो दिग्देशकालातीत अप्राकृत भाव नहीं है, जिसे प्रकृत्यतीत-अव्यक्तातीत-अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक मान लिया जाय। ? बिना प्रतीक-माध्यम के क्योंकि प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि किसी तथ्य की अनुगामी बनने के अभ्यास से असंपृष्ट है। अतएव बुद्धिमान् प्राकृत मानव तो उस अनन्तब्रह्म पर आस्था कर ही नहीं सकता। तभी तो बुद्धिमान्! प्राकृत लोकायतिक-चार्वाकादि मानवों नें अपने आप को उस आत्मानन्त्य से उसीप्रकार असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा है, जैसे कि प्राकृतिक-वैकारिकसर्ग के पश्वादि प्राणी उस आनन्त्य से पृथक् रहते हुए अपनी कामभोगपरायणता में हीं सर्वात्मना समाप्त हो जाते हैं, इति नु-आलप्यालमेव। **कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः। किंवा-काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः।**

प्राकृतमानवस्य--स्वरूपरिलेखः-कालात्मकः--

पूर्णमदः--कृत्स्नमदः	पूर्णमिदम्-	कृत्स्नमिदम्	
१--अनन्तकालः	मानवजीवः	जीवः(*)	प्रकृत्यधिष्ठाता-प्राकृतोऽयं मानवः
२--अश्वत्थः षोडशी	मानवषोडशी		
३--परोरजा--अव्यक्तः	मानवाव्यक्तः	अव्यक्तः (५)	पञ्चपर्वा--प्रकृतिरियं--मानवस्य --जीवमहिमाविवर्त्त -प्रतिष्ठिता-प्रकृतिः-- 'जीवे शरीरम् । ननु शरीरे जीवः । इति हि--विवेकः- मानवजीवानुगतः
४-रजप्रवर्त्तकः-स्वयम्भूः	मानवाव्यक्तः		
५--रजोमयः--परमेष्ठी	मानवमहान्	महान् (४)	
६--रजोयोनिः--सूर्य्यः	मानवबुद्धिः	बुद्धिः (३)	
७--रजोमयी--पृथिवी	मानवशरीरम्	शरीरम् (२)	
८--रजोरूपः-चन्द्रमाः	मानवमनः	मनः (१)	
इति नु--अधिदैवतम् प्रकृत्या पूर्णम्	इति नु--अध्यात्मम्--प्रकृत्या -अपूर्णमेव		

२४३--अप्राकृत-मानव की ऋषिमानवता का समन्वय--

उक्त--तालिकानुगत कालिक स्वरूप ही प्राकृत मानव का प्रकृति--निबन्धन--कालात्मक--वह--'व्यक्तित्व' है, जो इसे उस कालातीत अनन्तब्रह्म के साथ समन्वित नहीं होने देता । और यही इसका प्रकृतिव्या-मोहनात्मक--बुद्धिगम्य--वह महान् प्राकृतिक व्यक्तित्व है, जो इसे ऐसे प्राकृतिक व्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव **अप्राकृत 'ऋषिमानव'** के साथ समन्वित होने हीं नहीं देता, जिस ऋषिमानव के सान्निध्यानुग्रह के बिना न तो इसका प्राकृत--विमोहन ही पलायित होता, एवं न इसे अनन्तब्रह्मानुगत--कालातीत का स्वरूपबोध ही हो-सकता । क्योंकि समस्त प्राकृत विवर्त्तों में एकमात्र अप्राकृत मानव **ऋषिमानव** ही है, जिसे प्रतीक बना कर ही प्राकृत मानव उस अप्राकृत ब्रह्म के साथ समन्वित हो सकता है ।

२४४–समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तनात्मक-शास्त्रीय-आचारों में एकान्तनिष्ठ मानव, और उसकी ऋषिमानवता—

क्या स्वरूप–परिभाषा है उस अप्राकृत–ऋषिमानव की ? । श्रूयताम् ! जो मानव सर्वथा-व्यवस्थापूर्वक-दिग्देशकालक्रमपूर्वक-प्राकृतिक-आचारधर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता हुआ, इन प्राकृतिक आचारधर्म्मों–कर्त्तव्यकर्म्मों से अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–तथा राष्ट्रीय–लोकाभ्युदयों का सर्ज्जक बनता हुआ विश्वबन्धुत्त्व का अनुगामी प्रमाणित हो इन सब विभिन्न आचारधर्म्मों का एक आधार–अवलम्ब बना रहता है, वही मानव **अप्राकृत–ऋषिमानव** है । समदर्शनानुगता आत्मनिष्ठा के आधार पर प्राकृत विषम-वर्त्तमानात्मक आचारधर्म्मों के द्वारा लोकाभ्युदय को सुरक्षित रखने वाला, इन प्राकृत कर्म्मों में यथाविधि–यथाशास्त्र कर्त्तव्यबुद्धया-एकनिष्ठ बना रहने वाला, किन्तु अपने आत्मभाव से इनके ग्रन्थिबन्धन से अपने आपको उन्मुक्त रखने वाला उदासीनवदासीन–कर्त्तव्यनिष्ठ मानवश्रेष्ठ ही **अप्राकृत–ऋषिमानव** है ।

२४५–लोक-वित्त-पुत्रैषणात्रयी से असंस्पृष्ट, एवं लोक-वित्त-पुत्र-कामनात्रयी से संस्पृष्ट मानव की ऋषिमानवता—

लोक–वित्त–पुत्रादि-एषणाओं (उत्थाप्याकांक्षारूपा–इच्छाओं, जीवानुगता–इच्छाओं) से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहने वाला, किन्तु शास्त्रसिद्धा–लोक–वित्त–पुत्रादि–कामनाओं (उत्थिताकांक्षारूपा कामनाओं, ईश्वरानुगता कामनाओं) से सर्वात्मना संस्पृष्ट रहने वाला, इन कामनाओं के द्वारा स्वस्वरूप (प्राकृतिकस्वरूप) संरक्षणपूर्वक परस्वरूपों (परिवार–समाज–राष्ट्र–विश्व–स्वरूपों) के संरक्षण का परम्परया परोक्षरूपेण निमित्त बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही **अप्राकृत–ऋषिमानव है** ।

२४६–परदर्शनमूला लोकभावुकता से असंस्पृष्ट, इष्टदेवानुगता भावुकता से नित्य संस्पृष्ट, आस्था-श्रद्धा-परायण, ऋजुकर्म्मनिष्ठ मानव की ऋषिमानवता—

परप्रकृतिदर्शनमूला भावुकता से एकान्ततः असंस्पृष्ट, स्वप्रकृतिदर्शनमूला कुनिष्ठा से सर्वथैव पराःपरावत, किन्तु स्वात्ममूला सन्निष्ठा से सदैव समन्वित आस्था–श्रद्धा–शील, ऋजुपथानुवर्त्मा मानवश्रेष्ठ ही **अप्राकृत–ऋषिमानव है** । सम्पूर्ण प्राकृतिक–रहस्यों का साक्षात्कार करने के अनन्तर भी इस प्राकृतिक ज्ञान से अपने आपको (आत्मस्वरूप को) विस्मृत न कर बैठने वाला, सदा ही मानसिक–बौद्धिक–प्राकृतिक–कर्म्मों, व्यक्तित्त्वविमोहनों से पृथक् बना रहने वाला, **'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'** रूपेण सौम्य बालभाववत् सर्वथा ऋजुभाव में ही परिणत रहने वाला सम्प्रश्नपथानुवर्त्मा मानवश्रेष्ठ ही **'अप्राकृत–ऋषिमानव'** है।

२४७-कृत्रिम-विनय-सौजन्य-सौम्या प्रकृति-मन्द-मधुर-वाणी-लोक-परिग्रह-प्रदर्शन-आदि प्रदर्शनों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, दीनता-हीनता-आदि प्रदर्शनों से पराङ्मुख, सहज स्थिति से नित्य समन्वित, उत्तरदायित्त्वपूर्णा निष्ठा से समलङ्कृत मानव की ऋषिमानवता—

कृत्रिम विनय–प्रदर्शन–सौजन्य-प्रदर्शन–सौम्याकृति-प्रदर्शन–सौम्य–मन्द–मधुर–वाक्–प्रदर्शन–भाषण-प्रदर्शन–लोकपरिग्रहप्रदर्शन–आदि आदि यच्चयावत् प्रदर्शनों–से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहने वाला, साथ ही

दीनता-हीनता-आदि कुत्सित-प्राकृतभावों से पराङ्मुख, सहज स्थिति से समन्वित, तूष्णींरूपेण शास्त्र-सिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों में यथाकाल-यथामति-यथाशक्ति-कर्त्तव्यमूला उत्तरदायित्व की भावना से एकनिष्ठ बना रहने वाला मानवश्रेष्ठ ही **अप्राकृत-ऋषिमानव है।**

२४८-प्राकृतिक यच्चयावत् द्वन्द्वभावों से असंस्पृष्ट, अतएव निर्द्वन्द्वरूपेण कर्त्तव्यनिष्ठा-परायण मानव की ऋषिमानवता—

अपनी प्रत्येक समस्या, प्रत्येक कर्म्म, प्रत्येक उपासना, प्रत्येक-प्राकृत ज्ञान, प्रत्येक लौकिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-अनुबन्धों-कर्त्तव्यकर्म्मों में सर्वत्र उपक्रमोपसंहार में अनन्तात्मब्रह्म को ही मूलाधार मानने वाला, अनन्ताधारेणैव-प्राकृत-अन्तभावों का निर्वाह करने वाला, अतएव आद्यन्तरूपेण अनन्तभावानुगत ही बना रहने वाला, अतएव च अन्तभावापन्न-प्राकृत-तात्कालिक **हानि-लाभ, यश-अपयश-जन्म-मृत्यु, शोक-मोह, जरा-व्याधि,-मान-अपमान,-सफलता-विफलता,-हर्ष-शोक,** आदि आदि किसी भी द्वन्द्व से कभी भी क्षुब्ध-संक्षुब्ध-त्रस्त-सन्त्रस्त न होने वाला, सदैकरसतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहने वाला इत्थंभूत मानव श्रेष्ठ ही-'अप्राकृत-ऋषिमानव' है।

२४९-'योऽस्मि-सोऽस्मि' रूपेण तूष्णीं ईश्वरप्रेरणया कर्त्तव्यनिष्ठ-फलाफला-संस्पृष्ट-जरामर्य्यसत्रानुगामी मानव की 'ऋषिमानवता'—

'मैं जानता हूँ'-इस अतिमान से असंस्पृष्ट रहने वाला, **'मैं कुछ भी नहीं जानता'** इस असद्-भाषण से भी पृथक् रहने वाला ÷,ऐसे जानने न जानने-वाले अतिमानात्मक लोकाचारों से पराग् बना रहने वाला, **'योऽस्मि-सोऽस्मि-केनापि देवेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** रूपेण तूष्णीं अपनी प्राकृत-चर्य्या को 'जरामर्य्यसत्र' नामक अग्निहोत्रवत् यावज्जीवन प्रक्रान्त रखने वाला * मानवश्रेष्ठ ही **अप्राकृत-ऋषिमानव** है।

२५०-योगज-दृष्टिपरायण, महर्षि दीर्घतमा के 'विद्मने न विद्वान्' घोष के अनुगामी, आत्मनिष्ठ, सर्वनिष्ठ मानव की-'ऋषिमानवता', एवं तद्योग का तात्त्विक-समन्वय—

और उसका नाम है-ऋषिमानव, जो अपनी आर्षी-योगज-दृष्टि से अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सर-काल-पर्य्यन्त के सम्पूर्ण सृष्टिविवर्त्तों का सर्वात्मना परिज्ञान प्राप्त करता हुआ भी लोकातीत-कालातीत-अनन्व

÷ **नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च।**
योनस्तद्वेद-तद्वेद, नो न वेदेति वेद च॥

—देखिए! केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य २।२।

* **कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥

—देखिए! ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य

ब्रह्म के सम्बन्ध में सर्वथा निर्व्याजरूप से यह कह देने, और मान लेने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं करता कि–"मैं अपने प्राकृत स्वरूप से उस अप्राकृत-कालातीत-अनन्तात्म-स्वरूप को यत्किञ्चित् भी तो नहीं जानता। सचमुच मैं-विद्वान् नहीं हूँ। अतएव केवल विनय-प्रदर्शन के लिए ही मेरा ऐसा कहना नहीं है।! मैं उसे जानने के लिए ही उन क्रान्तिदर्शी कवियों से प्रणतभाव से यह जानने की जिज्ञासामात्र कर रहा हूँ कि, जिसमें वे ६ रजोलोक (पाँच प्राकृतिक पर्व, तथा छटा प्राकृतिकरूप जीवलोक) प्रतिष्ठित हैं जिस 'अज' (अव्यय) के आधार पर (ऋक् सं० १।१६४। ६ मन्त्र)। इसलिए ऋषिमानव उसे नहीं जानता कि, 'वह' और 'यह' एक है अपने आत्मभाव से। अनन्तब्रह्म की अनन्त-भावना के बिना इसप्रकार का प्राकृतिक व्यामोहन उच्छिन्न हो ही नहीं सकता। बिना प्राकृतिक–व्यामोहनो–च्छेद के अनन्तभावना का उदय ही सम्भव नहीं है। ऋषिमानवश्रेष्ठ की इस अविज्ञेयता में हीं अवि-ज्ञेय भी अनन्तब्रह्म की विज्ञेयता के सूत्र सुरक्षित हैं। बुद्धिगम्या, अतएव दिग्देशकालानुगामिनी क्रम-सिद्धा-प्राकृत-व्याख्या का विमोहन उपशान्त होते ही बुद्धि की वक्रता समाप्त हो जाती है। वक्रभावानागुता इस कुटिलता के हटते ही बुद्धि कुटिल-सम्वत्सरकालचक्र से बाहिर निकल आती है। बुद्धि के इसप्रकार सहज-ऋजुभाव में आते ही उस 'अजस्यावक्रचेतसः' का स्वतः ही आविर्भाव हो जाता है-तत्स्वयं योगसंसिद्धः'। वह संसिद्धावस्था ही मानव की 'ऋषि'-अवस्था है। ऐसा मानव ही अप्राकृत-ऋषिमानव कहलाया है। और अवश्य ही अपने लोकसंग्राहक-प्राकृतिक-शास्त्रीय आचार से प्राकृतमानवकोटि में विद्यमान रहता हुआ भी वह मानव अपने लोकातीत-अवक्रचेता-अनन्त अज-अव्यय के स्वतः प्रकाश से अप्राकृत-अलौकिक-लोका-तीत-कालातीत-'ऋषिमानव' ही प्रमाणित है।

२५१ तथाविध ऋषिमानव की कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता, एवं-'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि'-'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का रहस्यात्मक-समन्वय—

और ऐसे ऋषिमानव को अवश्य ही उस कालातीत-अनन्त-ब्रह्म का दृष्टान्तात्मक-प्रतीक माना जा सकता है, माना गया है। न केवल प्रतीक ही, अपितु 'वही' माना जासकता है। सचमुच यों अपनी ऋषिप्रज्ञा (बुद्धिगम्या व्याख्या से असंस्पृष्टा-सहज प्रज्ञा) से प्राप्ता उस अनन्तब्रह्मविभूति से समन्वित ऋषिमानव ही 'ब्रह्मवित्' कहलाया है, एवं 'ब्रह्मविदेव सोम्य प्रतिभासि' (छान्दो० उप०) के अनुसार तो आचार्य्य की आज्ञा से केवल गोचारणकर्म्म से उत्पन्न पावन संस्कार से ही सत्यकाम जाबालि में बुद्धि की ऋजुता प्रादुर्भूत हो पड़ती है, और इस ऋजुता के कारण समभावापन्न ब्रह्म इस की सम-ऋजु-भावात्मिका-बुद्धि में स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ता है। और गोभक्त-गोसेवक-एक प्राकृत-सौम्य (बालबुद्धि) सत्यकाम जैसा प्राकृत मानव भी ब्रह्मवित् बन जाता है। 'ब्रह्मवित्-ब्रह्मैव भवति' रूप से आरम्भ की वह प्रतीकता भी स्वतः ही हट जाती है। लौकिक दृष्टान्तात्मक प्रतीक जहाँ दार्ष्टान्तिक-लक्ष्य के अनन्तर हट जाते हैं, वैसा प्रतीकवाद यहाँ नहीं है। अपितु यहाँ तो प्रतीकात्मक दृष्टान्त (मानव) ही प्राकृतभाव के आविर्भूत होते ही स्वयं सिद्धान्त ही बन जाता है। ऐसा अनुरूप दृष्टान्त तो एकमात्र अप्राकृत-ऋषिमानव ही माना जायगा। और यहीं हमें पुनः-एक अव-धेय दृष्टिकोण की ओर अनन्त के जिज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित कर लेना पड़ेगा, जिसके बिना उक्त प्रसङ्ग केवल

'भावुकता' बन कर ही शेष रह जासकता है, जैसाकि जगन्मिथ्यात्ववादमूलक कल्पित ब्रह्मानन्त्यवाद से गत अनेक शताब्दियों से 'अनन्तब्रह्म' शब्द को लेकर ऐसी ही भावुकता-पूर्ण भ्रान्ति चली आ रही है।

२५२--सत्यकाम जाबालि के गोचारण-दृष्टान्त से उत्पन्न हो पड़ने वाली भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा से वञ्चित 'सन्तवाद' का आविर्भाव—

सत्यकाम जाबालि को गाँएँ चराने मात्र से यदि ब्रह्मदर्शन होगया, और यों गो-सेवा ही यदि ब्रह्म का प्रतीक बन गई, तो फिर ऐसी स्थिति में व्यर्थ है श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत आचारधर्म्म, व्यर्थ है शास्त्रीय-कर्त्तव्य कर्म्म। फिर तो केवल आशीर्वाद से ही सब कुछ गतार्थ है। और इसी भ्रान्ति ने तो उस सन्तसम्प्रदायवाद को जन्म दे डाला है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रीय-आचारों को जलाञ्जलि-समर्पित कर केवल 'गुरुकृपा' की 'बलि-वेदि' पर ही प्राकृत मानव के प्राकृत जीवन का बलिदान कर डाला है। 'नास्त्यकृतः कृतेन'-'तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः'-'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः' इत्यादि दार्शनिक-शब्दों के आचारात्मक समन्वय में असमर्थ दार्शनिकों के कल्पित वेदान्तवाद ने ही, इनकी ज्ञानमीमांसात्मिका तत्त्वमीमांसा (तत्त्वविजृम्भणमात्र) ने हीं तो तथाविध सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला है।

२५३-आचारनिष्ठा का प्रथम स्खलन दर्शनजगत् में, तद्द्वारा आविर्भूत शून्यवादानुगत द्वितीय स्खलन, तद्द्वारा प्रसूत सन्तवादानुगत तृतीय स्खलन, एवं सन्तमतात्मिका साम्प्रदायिकता से आचारनिष्ठा की आत्यन्तिक-अन्तर्म्मुखता—

आचारात्मिका धर्म्मनिष्ठा सर्वप्रथम विलुप्त हुई है दार्शनिकता में। इस दार्शनिकता से समुत्पन्न शून्यवाद से सन्तस्त्र—विक्षुब्ध हो जाने वाली भावुक जनता ने हीं आगे चलकर सन्तसम्प्रदाय को जन्म दे डाला परमतानुगता—भावनाओं के आकर्षण से, जिन परभावनाओं में केवल 'गुरुकृपा' ही मानव के यच्चयावत् पाप क्षमा कर दिया करती है। बड़े से बड़े गुरुतम अपराध—पापपुञ्ज भी वहाँ के गुरु (पीर—पैगम्बर—पादरी—नबी—आदि) जैसे अपनी कृपाकोर से क्षणमात्र में समाप्त कर देते हैं, ठीक वही भावना दार्शनिकता के द्वारा उत्पन्न थकान से, एवं इन आगता—समागता—परभावनाओं के सम्मिश्रणसङ्ग से आचारनिष्ठ भारतीय प्रजा में भी दृढमूल बन गई, और यों शास्त्रीय आचारनिष्ठा का स्थान सम्प्रदायवाद ने हीं अपहृत कर लिया। परिणाम-स्वरूप राष्ट्रप्रजा का अभ्युदय--निःश्रेयस्--संसाधक सम्पूर्ण आचारधर्म्म, तदनुगत समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य्य, एवं आत्मिक समभाव अभिभूत ही होगया।

२५४-नैष्ठिक के 'सत्तासिद्ध भगवान्', भावुक के 'भाव के भूखे भगवान्', ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी माता भागीरथी के स्थान में 'खटोटी' की गङ्गा का काल्पनिक प्राधान्य, तथैव च इष्टकामधुक् यज्ञकाण्ड, तात्त्विक उपासनाकाण्ड, आदि के स्थान में काल्पनिक 'ज्योति'-उपासनाओं का आविर्भाव—

सत्तासिद्ध ब्रह्म (भगवान्) भी जहाँ केवल भाव (भाति) के ही भूखे प्रमाणित कर दिए गए। 'मन चँगा, तो खटोटी में गङ्गा' के कल्पित उद्गारों से ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति ब्रह्मद्रवी पावनसलिता माता

जाह्नवी तो बन गई इन के लिए कल्पना, और मन की गङ्गा बन गई प्रधान । किंबहुना–श्रौत–स्मार्त्त संस्कार, इष्टकामधुक् विज्ञानसिद्ध यज्ञकाण्ड, शङ्कर–भास्कर–भगवती–अनुबन्धिनी उपसनाएँ, प्रजातन्तुवितान-कर्त्ता श्राद्धकर्म्म, आदि आदि सभी शास्त्रीय आचार सन्तसम्प्रदायवाद में आकर सर्वथा शिथिल ही होगए। तदनुवर्त्मा भावुक प्रजा ने सम्पूर्ण आचार धर्म्मों–कर्म्मों की उपेक्षा कर आँखें मीच कर, कान अवरुद्ध कर, कल्पित वातावरण में ज्योति के दर्शन करने के लिए ही अपने आप को एकमात्र गुरुकृपा पर ही छोड़ दिया।

२५५–आचारस्खलित भारतराष्ट्र का काल्पनिक दार्शनिकता, नास्तिकता (शून्यवाद), सन्तमतवाद, गुरुदम्भपरम्परा, आदि आदि से आत्यन्तिक पतन, एवं इस का प्राकृतिक- चमत्कार-व्यामोहन—

और परिणामतः जो भारतराष्ट्र अपने आचारात्मक–कर्त्तव्ययुगों में सम्पूर्ण विश्व का मूर्द्धन्य बना हुआ था, वही अपनी इस आचारशून्या दार्शनिकता से, कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद के विमोहन से, सर्वोपरि व्यक्तित्वविमोहन-मूला सन्तसम्प्रदायात्मिका भावुकता से सभी क्षेत्रों में सर्वात्मना दीन–हीन–दरिद्र–शून्यवत् ही प्रमाणित होगया। शास्त्रीय आचारनिष्ठाओं का स्थान ग्रहण कर लिया उन सन्तों–सिद्धों–साधुओं–पहुँचवानों-के प्राकृतिक–चमत्कारों नें, जिन से प्राकृत–मानव अवश्य ही तत्क्षण के लिए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। किन्तु जो धर्म्मनिष्ठ हैं, शास्त्रीय आचारनिष्ठ हैं, वे कभी चान्द्र–प्राणानुबन्धी इन प्राकृतिक चमत्कारों से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होते।

२५६–आचारधर्म्मात्मिका शास्त्रीय-धर्म्मनिष्ठा के सम्बन्ध में भगवान् राम, आचार-धर्म्म का महान् गौरव, एवं तद्विस्मृति से भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि का प्रजा-तन्त्रीय–गणतन्त्र-काल में सर्वथैव अभिभव—

प्रसिद्ध है कि–महान् शास्त्राचारनिष्ठ मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम ने अपने वन्यकाल में पितृ–श्राद्ध करते हुए भूगर्भ से निकलने वाले पिता दशरथ के हाथ में पिण्ड समर्पण न कर शास्त्रादेशानुसार जब 'कुश' पर ही पिण्डदान किया, तो तत्काल इन की इस शास्त्रनिष्ठा से प्रसन्नमना बनजाने वाले दशरथ के प्रेतात्माने यह नभोवाणी अभिव्यक्त की कि,–'तुमने हमारे हाथ में पिण्डदान न कर शास्त्रविधि के अनुसार कुश पर ही पिण्डदान दिया, इस शास्त्रनिष्ठा से हम सर्वात्मना तृप्त हो गए हैं। तुम्हारा यह कर्म्म सर्वात्मना सफल हो गया है"। एवमेव सुप्रसिद्ध धर्म्मतत्त्वज्ञ महात्मा भीष्म ने भी अपने पितुःश्रीशान्तनु के श्राद्धकाल में इसी शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन किया था। कदापि वे इस वास्तविक चमत्कार से भी प्रभावित नहीं हुए। और यही आचारधर्म्म का महान् गौरव इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता का संरक्षक बनता रहा, जिसे विस्मृत कर सचमुच भारतराष्ट्र ने अपना आत्मिक–लौकिक–सभी वैभव विस्मृत ही कर लिया है। और जो कुछ सांस्कृतिक–आयोजन–रूप से शेष रह गया था, उसे आज के सत्तातन्त्र के द्वारा आविष्कृत, दार्शनिकता–साम्प्रदायिकता–आदि आदि सभी से विलक्षण प्रमाणित होने वाले नट–विट-भाण्ड-गणिकादि से समाकुलित सांस्कृतिक-आयोजनों नें ? तो सर्वथा ही समाप्त कर डाला, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! **इत्यहो महतीयं विडम्बना**

भारतराष्ट्रस्य, तज्जनतन्त्रस्य, तत्सत्तातन्त्रस्य च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रभु--सत्तासमर्थगणतन्त्रीय--प्रजा-तन्त्रात्मकस्य चेत्यालप्यालमेव ।

२५७-शब्दात्मक-सम्पूर्ण शब्दशास्त्र के सम्पूर्ण आचारधर्म्मों की कालातीत ब्रह्म के सम्बन्ध में तटस्थता का दिग्दर्शन, एवं वस्तुस्थित का समन्वय—

यह ठीक है, और बिल्कुल ही ठीक है कि, उस कालातीत अनन्त ब्रह्मात्मा के समतुलन में कालानुबन्धी प्रतीक-धर्म्मात्मक--प्राकृत--आचार--धर्म्म--कर्म्मों की कोई स्वरूपसत्ता नहीं है । यह भी ठीक ही है कि, इन आचारधर्म्मों में से कोई भी कालिक--दैशिक--अतएव गुणात्मक प्राकृत धर्म्म उस गुणातीत अनन्ताव्ययब्रह्म के प्रतीक नहीं बनसकते । यह भी सर्वात्मना सुसङ्गत ही है कि, 'सांस्कृतिक--आयोजन' रूप लोकधर्म्मों का प्रतिपादक पुराणशास्त्र, 'सांस्कृतिक--आचार' रूप वर्णाश्रमधर्म्मों का प्रतिपादक स्मृतिशास्त्र, एवं वर्णाश्रमधर्म्ममूला 'संस्कृति' का प्रतिपादक सर्वशास्त्रमूर्द्धन्य--स्वतःप्रमाणभूत मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय--वेदशास्त्र, आदि शब्दात्मक सम्पूर्ण शास्त्रप्रपञ्च प्राकृतिक--गुणात्मक--भावों के ही प्रतिपादक बनते हुए उस गुणातीत के प्रति कोई भी निमित्तता नहीं रख रहे * । क्योंकि वह गुणातीत गुणात्मक, अतएव कालात्मक शब्द की वाच्यार्थता से सर्वथा ही अतीत, अतएव असंस्पृष्ट ही है । अतएव अन्ततोगत्वा उस के सम्बन्ध में यह आस्था भी अवश्य ही समादरणीया ही है कि, वह किसी भी प्राकृत धर्म्म, आचार--आदि से कदापि प्राप्तव्य नहीं है । अतएव च--'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के अनुसार वह तो योगजनिता संसिद्धावस्था में काल-पाकर स्वयं ही आविर्भूत--अभिव्यक्त हो पड़ता है । कदापि उस के लिए कार्य्य--कारणात्मक कोई भी प्रयास, कर्म्म, धर्म्म, वाञ्छनीय नहीं है ।

२५८-तद्धारणा-के माध्यम से ही दार्शनिक-मस्तिष्क से जगन्मिथ्यात्त्व-कल्पना की प्रवृत्ति, तदनुग्रहेणैव कर्म्मत्यागात्मक कल्पित-त्याग-संन्यास-भावों का काल्पनिक-विजृम्भण—

और सम्भवतः क्यों, इसी धारणा के आधार पर तत्त्वमीमांसक अध्यासवादी दार्शनिकों नें, एवं तदनुगामी गतानुगतिक-भावुक-सन्त-सम्प्रदायों नें शास्त्रीय आचारधर्म्मों, वर्णाश्रमसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मों, वेदशास्त्र-सिद्ध यज्ञादि कर्म्मों, आदि आदि समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों-धर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर देना ही उचित ? कर्त्तव्य मान लिया होगा ? । इसी भावना से संसार इन के लिए असार प्रमाणित हो गया होगा ? । अतएव उस 'अकृत' के व्यामोहन में इन्होंनें 'कृत' का परित्याग कर दिया होगा ? । इसीलिए ये अक्रतु (अकर्म्मण्य) बन गए होंगे ? । और इसीलिए इन्होंनें सम्पूर्ण प्राकृत-भावों का 'त्याग' कर दिया होगा ? ।

*-त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !—(गीता) ।

२५९–कर्म्मत्यागात्मिका–अध्यासमूला–कल्पित–वेदान्तभावुकता के व्यामोहन का समस्त इतिवृत्त, एवं–'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' श्रुति का संस्मरण–

'होगा' ?, यह इसलिए कहना पड़ रहा है कि, अहोरात्र त्याग-तपस्या-अपरिग्रह की घोषणा में निमग्न भी न तो आजतक किसी दार्शनिक-शिरोमणि को 'अव्यक्त' ही होते देखा, न किसी सन्त को, तदनुवर्त्मा भावुक-वैरागी को अपने भौतिक–स्वरूप से असंस्पृष्ट ही देखा, सुना । वही शरीर, शरीर के वे ही अशन--पानादि--कर्म्म, वही मन, वही बुद्धि, वही संसार, उसी में परिभ्रमण, उसी के प्राकृत पदार्थों से इन सब 'वही--वही' नामक प्राकृत--भावों का स्वरूप--रक्षण, आदि से अन्त पर्य्यन्त यों प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से प्राकृत--भावों को समालिङ्गन, और साथ ही में इन सब के प्रति–'मिथ्यादृष्टि', 'असारदृष्टि'--'त्यागोद्घोष'--'**शरीरयात्रापि च ते न सिद्धयेत्-अकर्म्मणः**' । यही कर्म्मत्यागात्मक वेदान्त--व्यामोहन का वह समस्त इतिवृत्त है, जिसने भावुक मानवों को दिग्भ्रान्त--कालभ्रान्त--प्रमाणित कर रक्खा है । सम्पूर्ण काम होते हैं इन के भी दिग्--देश-काल--सीमाओं में हीं । किन्तु इन के लिए दिक्--देश--काल--के साथ 'मर्य्यादा' नाम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता । यही इन की दिग्--देश--कालातीतता है । क्यों ?, ठीक है न ? । सचमुच ऐसे दिग्देश--कालातीत नवग्रहग्राहात्मक उपदेशक--विवेचकों के अनुग्रह से ही तो आचारनिष्ठापि भारतीया प्रजा अपनी मर्य्यादिता-दिग्देशकालसीमाओं का अतिक्रमण करती हुई -'**न पशवः--अतिक्रामन्ति**' की भी सीमा का उल्लंघन करने वाले–'**मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति**' इस श्रौतवचन को अक्षरशः चरितार्थ करती हुई तथाकथिता अमर्य्यादिता नियमिताचारशून्या स्वैराचार की ही अनुगामिनी बन गई है ।

२६०–'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' मूलक 'योग' शब्द के स्वरूप-समन्वय के सम्बन्ध में पारिभाषिक-दिग्दर्शन, एवं 'योगः कर्म्मसु कौशलम्' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय–

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः' के 'योग' के अर्थ का भी क्या समन्वय किया है कभी उन **आचारशत्रुओंनें** ? । सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारधर्म्म-कर्त्तव्यकर्म्मों के परित्याग का नाम हीं क्या 'योग' है ?, जिसके संसिद्ध होने पर अनन्तब्रह्म अभिव्यक्त हो जाया करता है । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! '**योगः कर्म्मसु कौशलम्**' ही एकमात्र 'योग' की परिभाषा है । अवश्य ही आचारात्मक कर्म्म त्रिगुणात्मक है, अतएव प्राकृत बन्धन का प्रवर्त्तक है । किन्तु वही आचारात्मक प्राकृत गुणात्मक-धर्म्म 'कौशल' रूप 'योग' के कारण अपनी गुणात्मकता से पृथक् होता हुआ अकर्म्मात्मक कर्म्म बन कर उस अकर्म्म-अकृत-अक्रतु-रूप-अनन्ताव्ययपुरुष का संग्राहक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है, इस तथ्य का समन्वय कर ही नहीं सके वे कर्म्मशून्य भाग्यहीन जगन्मिथ्यात्ववादी दार्शनिक । तथा संसार, और उस के कर्म्म को असार समझ बैठने वाले वीतरागी संन्यासी जी, त्यागी जी महाराज, एवं तदनुवर्त्मा भावुक सन्तसम्प्रदायवादी–गण । योगात्मक कर्म्मकौशल से वही प्राकृत-कर्म्म अप्राकृत कर्म्म बन जाता है, अबन्धन-निष्काम कर्म्मात्मक ईश्वरकामकर्म्मात्मक सहजकर्म्म बन जाता है, जो कि गीतापरिभाषा में '**बुद्धियोग**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि दार्शनिकों के सुप्रसिद्ध प्राकृत ज्ञान,

भक्ति, कर्म्म, नामक तीनों कल्पित योगों से सर्वथा पृथक् वैसा गुह्यतम योग ही है, जिस का अत्र विस्तार अनपेक्षित है * ।

२६१–धारणा–ध्यान–समाधि–लक्षण,–भावुकता–संरक्षकमात्र अभिनवयोग से असंस्पृष्ट बुद्धियोगात्मक गीता का योग, एवं स्वधर्म्मनिष्ठात्मक–आचारयोग की योगात्मकता, और–'योगी भवार्जुन !' का समन्वय—

नापि इस कौशलात्मक योग से वह धारणा–ध्यान-समाधि-लक्षण-दार्शनिक योग (पातञ्जलदर्शन-सम्मत सिद्धि–चमत्कार-व्यामोहनात्मक–चान्द्री प्रकृति से समन्वित प्राकृतयोग) ही अभिप्रेत है, जिसका **'एतेन योगः प्रत्युक्तः'** (वे० द० २।१।३।) इत्यादि रूप से स्वयं दार्शनिकसूत्र ने हीं निराकरण कर दिया है । अपितु यह तो शास्त्रीय आचारात्मक, वर्णाश्रमाचारसिद्ध-लोकस्वरूपसंरक्षक-वह योग है, जिसके साथ मानव की व्यक्तिगत एषणा का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है । यह तो सुप्रसिद्ध आचारात्मक धर्म्मरूप कर्त्तव्यकर्म्मात्मक वह योग है, जिसे **'स्वधर्म्म'** कहा गया है, जो **'यज्ञार्थकर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं जो सर्वथा **'अबन्धन'** ही माना गया है÷। यह तो वैसा योग है, जिस स्वधर्म्मरूप क्षात्रयोग का अनुगमन कर अर्जुन **'योगी'** बन गया था–**'तस्माद्योगी भवार्जुन'** ! कदापि अर्जुन धारणा-ध्यान-समाधिरूप अव्यक्तप्रधान कायक्लेशात्मक योग की साधना में प्रवृत्त नहीं होगया था भगवान् के–'योगी भवार्जुन' ! इस आदेश के माध्यम से । अपितु अपनी प्राणात्मिका–जीवभावना का परित्याग कर गुणातीता अव्ययभावना से गुणातीत बनते हुए इसने बुद्धियोगात्मक स्वधर्म्मात्मक योग का अनुगमन कर दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को निःशेष ही बनाया था ।

२६२–ज्ञानविज्ञानसिद्ध–आधिदैविक–सृष्टिसर्गबोध से अपरिचित रह जाने के दुष्परिणाम, एवं सर्गस्वरूपवञ्चिता-काल्पनिक आध्यात्मिकता के व्यामोहन से व्यामुग्ध, विविध मतवादासक्त–दिग्देशकालभ्रान्त राष्ट्रीय–जनमानस—

वस्तुस्थिति वास्तव में उस आधिदैविक सर्ग से सम्बन्ध रख रही है, जिसका न तो दार्शनिक ने ही स्पर्श किया, एवं न तत्–गतानुगतिक साम्प्रदायिक सन्तोंनें हीं । केवल अधिभूत, और केवल अध्यात्म, इन दो के वाग्विजृम्भण में हीं इनके सम्पूर्ण प्रयास समाप्त होगए । पार्थिव–साम्वत्सरिक–मूर्त्त–भौतिक द्रव्यों की नामावली से उत्पीड़ित दार्शनिकों नें अपने शरीर के साथ ही इन नामों का सम्बन्ध जोड़ कर अपना कर्त्तव्य समाप्त कर लिया । एवमेव आधिदैविक सर्ग के जो नाम इनके सम्मुख आए, उनका भी इन्होंनें अपने इस कल्पित अध्यात्म के साथ ही समन्वय जोड़ जाड़ कर आधिदैविक सर्गानुगत आधिभौतिक आचारों की उपेक्षा ही कर डाली । 'पिण्ड' ही इनके लिए इनका सम्पूर्ण काल्पनिक **'ब्रह्माण्ड'** बन गया । ये स्वयं अपने आपको उसकी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कर सके । अपितु उस सम्पूर्ण को ये अपनी महिमा ? के गर्भ में

---

*–७०० पृष्ठात्मक **'बुद्धियोगपरीक्षा'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस अबन्धन–कौशलरूप–योगात्मक कर्म्मलक्षण **'बुद्धियोग'** का स्वरूप स्पष्ट किया जाचुका है ।

÷–**यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः** । (गीता) ।

हीं विलीन कर बैठे अपने व्यक्तित्व-विमोहन के कारण। **'अड़सठ तीरथ घट में बिराजे, कर दरसण काया माँहीं'** कहते हुए इन भक्तोंनें सम्पूर्ण तीर्थों को अपने मानस संकल्पमात्र में ही निमज्जित कर लिया। अतएव न तो इनके लिए इनके भूतपिण्ड-शरीरपिण्ड (जिसे ये भ्रान्ति से अध्यात्म मान बैठे हैं) के अतिरिक्त प्रतीक प्रतिरूप-प्रतिमान-रूप आधिभौतिक तीर्थों का ही कोई महत्त्व शेष रहा, न इनके मूलभूत आधिदैविक तीर्थों के सत्तासिद्ध स्वरूपों का ही ये समन्वय करसके। 'अध्यात्म' नामच्छल से ये अपने नश्वर शरीर का ही उपमर्द्दन करते रह गए, जहाँ शून्य के अतिरिक्त और क्या मिलना था। तभी तो-**'चामड़ा की पूतली भजन करए'** जैसे भजन विनिःसृत हो पड़े इन अध्यात्मवादियों के श्रीमुख से। यों अनन्तब्रह्म के ही महिमामय आधिदैविक-प्राकृतसर्ग को विस्मृत कर बैठने के दुष्परिणाम-स्वरूप ही तन्मूलक अधिभूत, एवं तन्मूलक अध्यात्म-सभी कुछ विलुप्त होगया इनके लिए। रह गया -**'शरीर'** नामक काल्पनिक अध्यात्म। और काल्पनिक संसार के साथ अपने काल्पनिक अध्यात्म का जोड़ तोड़ बैठाना हीं इनका समस्त कर्म्मकौशल-प्रज्ञा-कौशल बना रह गया, जिस इस कल्पना नें हीं तो इन्हें आज उस स्थिति पर ला खड़ा किया है कि, इनके लिए सर्वत्र इन बुद्धिवादगम्य-व्याख्याओं के अतिरिक्त अनुरञ्जन का और कोई भी तो क्षेत्र नहीं रह गया है। आचारात्मक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों से शून्य ये बुद्धिवादी दार्शनिक, ये पिण्डब्रह्माण्डवादी सन्त, और इनका अन्धानुकरण करने वाले ये भावुक मानवभक्त, सभी सम्मिलितरूप से आज धर्म्मात्मक कर्त्तव्य को, किंवा कर्त्तव्यात्मक धर्म्म को राष्ट्रमानव के लिए सर्वथा निरपेक्ष ही तो प्रमाणित करते जारहे हैं, जिसके परिणाम, किंवा भीषणतम घोरघोरतम भयावह दुष्परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख प्रत्यक्ष प्रमाणित होचुके हैं।

२६३-आधिदैविक-भावानुगत 'सर्ग' की प्राकृतता, एवं 'प्रतिसर्ग' की अप्राकृतता, तदाधारभूत शाश्वतब्रह्म-लक्षण मनु, तथा प्रलयावस्था में भी मनु की शाश्वतता का समन्वय—

आधिदैविक सर्ग का स्वरूप हमें यह बतलाता है कि, इसका सर्गानुगत महिमारूप जहाँ प्राकृत है, वहाँ प्रतिसर्गात्मक स्वस्वरूप अप्राकृत ही है। महतोमहीयान् स्वरूप ही प्राकृत विश्व है, एवं अणोरणीयान् स्वरूप ही अप्राकृत आत्मा है। अप्राकृत आत्मा ही महिमा से प्राकृत विश्व बना है। अप्राकृत आत्मा का नाम आधिदैविकसर्ग-परिभाषा में है-'मनु'। आधिदैविकसर्ग के स्वरूप-विश्लेषक पुराणशास्त्र से हम सुनते आए हैं कि, जब जब भी प्राकृत प्रलय होता है, तो **मनु इस प्रलय में बच जाते हैं**। प्रकृति अपना स्वरूप संवरण कर लेती है, जैसाकि इसका सहज स्वभाव है। किन्तु मनु-रूप शाश्वत अनन्त ब्रह्म की तो कोई भी क्षति नहीं होती इस प्राकृतप्रलयावस्था में भी *। अणोरणीयान् शाश्वतब्रह्मरूप अनन्त मनु ही वह कालातीत तत्त्व है, जिसके एक एक अन्तर-प्रत्यन्तर-सूक्ष्मान्तर का नाम एक एक मन्वन्तरकाल है, जोकि मन्वन्तरकाल इस मनु की ही, शाश्वतब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है।

---

*-इन्द्रमेके, परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। (मनुः)

२६४–शाश्वत मनु, एवं उनका शाश्वत मन्वन्तरकाल, तथा मनुपत्नी 'मनावी' का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अतएव मनन्तररूप काल अवश्यमेव शाश्वतमनु से अभिन्न है। कौनसा मन्वन्तरकाल ?। क्या वह मन्वन्तरकाल, जिसके अनन्तकाल से आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल--पर्य्यन्त पूर्व में आठ विवर्त्त बतलाए गए हैं ?। निषेध नहीं करेंगे। किन्तु स्वीकृति में हम उस मन्वन्तरकाल को आप के सम्मुख रक्खेंगे, जो मनु, और सुप्रसिद्ध मन्वन्तर, इन दोनों के मध्य में एक और तीसरा ही रहस्यात्मक वैसा मन्वन्तर प्रतिष्ठित है, जो मनु की महिमा को प्राकृतकालात्मक मन्वन्तर के साथ समन्वित करता है। और वही मध्यस्थ मन्वन्तर है वह सुप्रसिद्ध–'मनावी' तत्त्व, जोकि–'मनुपत्नी' नाम से प्रसिद्ध हुई है पुराणशास्त्र में, एवं ब्राह्मणग्रन्थों में जो–'इड़ा' कहलाई है।

२६५-रुक्माभ--स्वप्नधीगम्य--अणोरणीयान् -मनु, तदभिन्ना श्रद्धात्मिका 'इड़ा', एवं-- 'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' का संस्मरण—

अणोरणीयान् मनु * की महिमा का नाम हीं अनन्तकाल से आरम्भ कर सम्वत्सरकाल--पर्य्यन्त व्याप्त प्राकृत विवर्त्त है। अणोरणीयान् मनु 'प्रशासिता' हैं। अर्थात् शब्दात्मिका व्याख्या में तो 'अक्षर' (प्रकृति) ही इन का स्वरूप है। अक्षर ही शास्ता, प्रशासिता माना गया है। '**रुक्माभम्**' शब्द इन के कर्म्मकौशलात्मक 'योग' का परिचायक है। पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व का केन्द्र हिरण्मय सूर्य्य ही है, जिसे रुक्ममण्डल (सुवर्णमण्डल) भी कहा गया है। यही सौरकेन्द्रात्मक अक्षर बुद्धियोगात्मक–'योग' की प्रतिष्ठाभूमि है, जिसे आधार बना लेने के अनन्तर प्राकृत विश्वभार सर्वात्मना समतुलित होता हुआ निर्भार बन जाता है। केन्द्रानुगत भार भार रहता ही नहीं,–**नेमवग्लापयन्ते**। केन्द्रविच्युति में हीं प्राकृतभार भार बन कर मानब को उत्पीड़ित किया करता है, जिस इस केन्द्रविद्या का ही–'**प्रजापतिश्चरति गर्भे०**' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। मनुपत्नी मनावी–इड़ा ही वह 'श्रद्धा' है, जिस से अणोरणीयान् मनु (केन्द्राक्षररूप सत्य) प्राकृत विश्वमहिमारूप से अभिव्यक्त हुए हैं। महिमाभाव ही व्यक्त मन्वन्तर है, एवं मनु ही केन्द्ररूप है। इस केन्द्रसत्य, तथा महिमा-सत्य का संयोजक सूक्ष्ममन्वन्तरात्मक-मनुपत्नीरूप-श्रद्धातत्त्व ही है—'**श्रद्धा विश्वमिदं जगत्**'।

२६६–परमपुरुषात्मक मनु, तदभिन्ना अक्षरप्रकृति, एवं मनुके तात्त्विक--स्वरूप के सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

इसप्रकार केन्द्रीय तत्त्व यद्यपि है अक्षर (प्रकृति) ही। किन्तु यह केन्द्र अपने केन्द्ररूप से, विशुद्ध केन्द्ररूप से उस अनन्ताव्यय से अपृथक् ही प्रमाणित है। महिमात्मक अनन्तकाल–प्राकृतकाल–का माया–

---

* **प्रशासितारं सर्वेषां--अणीयांसमणोरपि।**
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः।
जन्म--वृद्धि--क्षयै--र्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥
—मनुः १२।१२२,१२४।

वृत्तावसान के साथ अवसान माना जासकता है। किन्तु केन्द्रात्मिका मनुरूपा हृदयाक्षरस्वरूपिणी मूलप्रकृति का बीजात्मक (बलात्मक) स्वरूप तो पुरुषाव्ययवत् अक्षुण्ण ही है, शाश्वत ही है–**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'**। अतएव मनुरूपा हृदयाक्षरप्रकृति को तो उस परपुरुष से अभिन्न ही मान लिया गया है। अतएव प्रशासिता अक्षररूप भी मनु के लिए राजर्षिने–'तं विद्यात् पुरुषं **परम्**' रूपेण **'परपुरुष'** (**अव्यय-**पुरुष) नाम अन्वर्थ मान लिया है। केन्द्रात्मिका मूलप्रकृति **'पर'** (**अव्यय**) है, इसी का महिमात्मक-तूलप्रकृतिभाव **'परम'** (**अक्षर**) है। अव्ययात्मक केन्द्रीय अक्षर ही मनु है, एवं अक्षरात्मक–महिमामय कालरूप मनु ही मन्वन्तर है। मनु अव्यय है, मन्वन्तर अक्षर है। अव्यय पुरुष है, अक्षर प्रकृति है। और इस दृष्टि से केन्द्राक्षररूप मनु उस कालातीत अव्यय से अभिन्न बनते हुए **'तं विद्यात् पुरुषं परम्'** को भी चरितार्थ कर रहे हैं। ये ही मनु कालात्मक–प्रकृत्यात्मक बन कर इन्द्र–प्राण–कालाग्नि–प्रजापति–आदि प्राकृत नामों से प्रसिद्ध होते हुए प्राकृतसर्ग के सर्वस्व हैं, ये ही प्राकृत मनु पूर्वोपवर्णित **'प्राकृतमानव'** की मूलप्रतिष्ठा बने हुए हैं। एवं ये ही मनु अपने अप्राकृत–अव्यय–रूप शाश्वतब्रह्मभाव से **'अप्राकृत–ऋषिमानव'** (कालातीत मानव) की प्रतिष्ठा बने हुए हैं। मनु के इस हृदयात्मक कालातीत रूप, तथा महिमात्मक कालस्वरूप का समष्टिरूप से ही निरूपण करते हुए राजर्षिने कहा है—

कालात्मको मनुः – { एतमेके वदन्त्यग्निं मनु–मन्ये प्रजापतिम्।
 इन्द्रमेके परे प्राणम्...................... } –प्राकृतमनुः–अक्षरः

कालातीतो मनुः–{ ....अपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ } –अप्राकृतमनुः–अव्ययः

२६७–कालातीत–अप्राकृत–मनु का विश्वकर्म्मात्मक–योगात्मक–कौशल, एवं–'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का समन्वय—

केन्द्ररूप–शाश्वतब्रह्मात्मक–अप्राकृत–कालातीत मनु अपने महिमारूप–अनन्तकालात्मक–प्राकृत–कालिक विश्वरूप को, एवं विश्वाचारात्मक विश्वकर्म्म को दिग्देशकालचक्र से व्यवस्थित करते हुए, स्वयं प्रतिष्ठारूप से सब के आधार बनने रहते हुए अपने केन्द्रीय समत्त्व (अव्ययसमत्त्व) रूप योगात्मक कर्म्म–कौशल से **'कुर्वन्नपि न लिप्यते'**। **असङ्गो ह्ययं पुरुषः–न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति**। एवमेव इसी हृद्य मनु–अप्राकृत मनु से समन्वित अप्राकृत ऋषिमानव इसी समत्त्वयोगात्मक कौशल से व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण प्राकृत आचारों में उत्तरदायित्त्वरूपेण यावज्जीवन * कर्म्म करता हुआ भी अपने अप्राकृत मनुरूप से **'कुर्वन्नपि न लिप्यते'**।

२६८–सृष्टि में प्रविष्ट मनुब्रह्म की शाश्वत–अभ्युदय-निःश्रेयस्-ता का तात्त्विक-समन्वय-

गुणात्मक प्राकृत कर्म्म से जहाँ मानव का प्राकृत मनुस्वरूप अभ्युदय–पथानुगामी बना रहता है, तथैव गुणातीत हृद्य मनु से अनुप्राणित कर्म्मकौशलात्मक–बुद्धियोग से इस का अप्राकृत मनुस्वरूप निःश्रेयस्–

---

* **कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥
—ईशोपनिषत्

पथानुगामी बना रहता है । और यों–'तत्तु समन्वयात्' मूला समन्वयनिष्ठा से मानव का उभय पुरुषार्थ संसिद्ध हो जाता है । बुद्धियोगात्मक इस संसिद्धिभाव से ही इन में अनन्तब्रह्म स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाता है । **योगनिष्ठा के द्वारा आचारधर्म्मों का अनुगमन ही योगसंसिद्धि है।** और **'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** का यही तात्त्विक समन्वय है ।

२६९–प्राकृतिक–त्रैगुण्य से असंस्पृष्टा प्रकृति की उपादेयता, एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का समन्वय—

त्रिगुणमात्र का विरोध है, कर्म्म का नहीं । भगवान् ने **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'** ही कहा है, वेदशास्त्रसिद्ध आचारात्याग के लिए नहीं । यदि ऐसा होता, तो सम्पूर्ण–कृष्णार्जुनसंवाद (गीताशास्त्र) ही व्यर्थ प्रमाणित हो जाता । **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'**, अर्थात् वैदिक कर्म्मकाण्ड गुणात्मक है व्यक्तिगता कालकामना के अनुबन्ध से । यदि यहाँ गुणभाव नहीं है, तो वही कर्म्म बुद्धियोगरूपेण अबन्धन है–**'न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत्'** । अतएव सर्वात्मना संसिद्ध है कि, आत्मब्रह्माभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली योगसंसिद्धि श्रुति-स्मृति-पुराण से **संसिद्ध-संस्कृति-सांस्कृतिक-आचार-सांस्कृतिक-आयोजन ही हैं** * । सांस्कृतिक आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मों की क्या स्वरूप–दिशा है !, प्रश्न का उत्तर इसी निबन्ध के पूर्वखण्डों से गतार्थ है । यही वह प्रासङ्गिक प्रतिज्ञात दृष्टिकोण था (देखिए ५१६ वाँ पृष्ठ, २५० वाँ परिच्छेद), जिस के प्रासङ्गिक समन्वय के लिए हमें आचारधर्म्मात्मिका–प्राकृतकर्म्मनिष्ठा (योगनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा) के सम्बन्ध में इस कर्णकटुप्रसङ्ग का अनुगमन कर लेना पड़ा ।

२७०–प्रतीकविधि से असंस्पृष्टा 'प्रतिरूपविधि', तन्माध्यम से अनन्त–मानव की अनन्तब्रह्मानुगता दृष्टान्तलक्षणा प्रतिरूपता का दिग्दर्शन—

पुनः प्रकृतमनुसरामः । अप्राकृत ऋषिमानव ही एक वैसा तथ्य है, जो उस अनन्तब्रह्म का दृष्टान्तात्मक प्रतीक ही नहीं, अपितु–**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** के अनुसार प्रतिरूप बन सकता है, बना ही हुआ है । **तात्पर्य्य यही है कि, स्वयं मानव ही उस अनन्त का साक्षी है** । उस के, और इसके मध्य में कोई भी वैसा प्राकृत माध्यम नहीं है, जो इसे उस तक पहुँचादे । भारतीय निष्ठाक्षेत्र में उस के, और इस के मध्य में यदि कोई माध्यम है, तो वह है–एकमात्र **'अप्राकृत ऋषिमानव'**, जिसे दृष्टान्तरूप से प्रतीक मान–कर प्राकृत मानव अपना अभ्युदय–निःश्रेयस् साधन कर सकता है, अवश्य ही करलेता है । और यहीं पुनः हमें कालप्रेमियों का ध्यान एक अन्य प्रासङ्गिक दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर ही देना है, जिस के बिना यह प्रतीकता अभ्युदय–निःश्रेयस् के स्थान में 'प्रत्यवाय' का ही कारण बन जाया करती है ।

---

* इन तीन प्रक्रमों में से **'सांस्कृतिक–आयोजन'** नामक तीसरे प्रक्रम का दिग्दर्शन–**'भारतीय–सांकृतिक–आयोजनों की रूपरेखा'** नामक सहस्र पृष्ठात्मक (प्रकाशित) स्वतन्त्र निबन्ध में हुआ है ।

२७१–अनन्तब्रह्म के प्रतिरूपात्मक–दृष्टान्तात्मक–ऋषिमानव के अन्वेषण–उपलब्धि की दुरधिगम्यता—

'अप्राकृत ऋषिमानव' अवश्य ही उस अनन्तब्रह्म के, और इस सादिसान्त प्राकृत मानव के मध्यम में वैसा मध्यस्थ–प्रतीक–है, जिस की दृष्टान्तात्मिका प्रतीकता–मध्यस्थता से यह उसे प्राप्त कर लेता है अनायासेनैव, जैसेकि कालात्मक सादि–सान्त भी प्राकृत विश्व उस अनाद्यनन्त कालातीत अव्ययब्रह्म की अनन्तता से मध्यस्थ हृदयमनुरूप अप्राकृत मनुतत्त्व के माध्यम–प्रतीक से–समन्वित होता हुआ महिमामय बन रहा है। किन्तु प्रश्न हमारे सम्मुख यह है कि, उस अप्राकृत ऋषिमानव को इस प्राकृत विश्व में हम ढूँढें कहाँ ?, जबकि हृद्य–अप्राकृत मनु की भाँति प्राकृत–मूर्त्त–भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ वह अणोरणीयान् ही बना हुआ है हम प्राकृत मानवों की स्थूला–भूतदृष्टि के लिए।

२७२–कालात्मिका प्रकृति का, तदनुबन्धी मनः–शरीर–बुद्धि–लक्षण–प्राकृतभावों का अन्वेषण सम्भावित, एवं कालातीत–पुरुषविध–आत्मरूप–ऋषिमानव का अन्वेषण असम्भव, तथा प्राकृत मानव के सुख–स्वप्नों का पुनः अन्तर्विलयन—

अन्वेषण प्रकृति का सम्भव है, प्राकृत शरीर, मन, बुद्धि, महान्, और अधिक से अधिक अव्यक्त का अन्वेषण सम्भव है। प्रकृति की सीमा हीं यदि समाप्त कर डालें, तो सर्वान्त में इन पाँचों पर्वों का अध्यक्षभूत महिमारूप चामत्कारिक जीव ढूँढ लिया जासकता है। यों प्राकृत विश्व में इन प्राकृत मानवों के अतिरिक्त ढूँढने से और किसी अप्राकृत मानव का तो साक्षात्कार सर्वथा असम्भव ही है। जिस प्राकृत मानव को हमने पूर्व में षड्विध प्राकृतिक विवर्त्तात्मक ही बतलाया है, ऋषिमानव तो इन ६ ओं से अतीत ही है। भला उसे इस विश्व में कैसे, कहाँ प्राप्त किया जासकता है ?। सर्वथा असम्भव। अतएव पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः। बड़े प्रयास से, दिग्देशकालव्याख्याओं के महान् आटोप से जैसे तैसे तो पहिले अनन्तकाल की प्रतीकता का अन्वेषण किया गया। इसे भी प्राकृत भावानुबन्ध से अन्ततोगत्त्वा छोड़ देना पड़ा। पुनः प्रयास आरम्भ हुआ। प्राकृत-मानवों के माध्यम से अप्राकृत–ऋषिमानव की खोज आरम्भ हुई। उसका स्वरूप महता समारम्भेण प्रतिपादित हुआ। और इसी आधार पर जब यह आशा हो चली थी कि, अब इस अप्राकृत–ऋषिमानव की प्रतीकता, किंवा प्रतिरूपता से तो प्राकृत मानव उस अनन्त को प्राप्त कर ही लेगा, तो सहसा इस प्राकृत–अन्वेषण–कर्म्म ने, इस ढूँढा–ढाँढी ने पुनः प्राकृत मानव के सम्पूर्ण सुख–स्वप्न वेतालवृत्ति में हीं परिणत कर दिए, इत्यहो प्राकृतिकतत्त्वचिन्तनस्य–महती–अभ्रता, महती यक्षता।

२७३–सर्वदिकृतः असहाय–विवश–मानव का अशरण–शरण–धर्म्म, एवं तत्स्वरूप-जिज्ञासा—

अपने आप्तपुरुषों से परम्परया ऐसा सुनते आए हैं कि, जब मानव चारों ओर से संकटपरम्पराओं से आवृत होजाता है, तो उस विपन्नदशा में माता–पिता–गुरु–भ्राता–भगिनी–मित्र–पुत्र–सेवक–आदि आदि सभी विमुख हो जाते हैं। और इस सर्वथा असहायावस्था में एकमात्र 'धर्म्म' ही मानव का विपत्ति से सन्त्राण करता है। 'कोऽयं धर्म्मः' ?। क्या प्राकृत मानवों के द्वारा व्यवस्थापित, इन की प्राकृतिक अनुभूतियों का नाम ही धर्म्म है ?।

२७४–प्राकृत मानव की दिग्देशकालात्मिका भावुकतापूर्णा अनुभूतियाँ, एवं गुरुओं की अनुभूति से भावुक शिष्यों का बुद्धिविमोहन—

यदि ऐसा होता, तब तो चिन्ता ही क्या थी। इस सम्पूर्ण प्राकृतवाद को तो हम आरम्भ में ही जलाञ्जलि समर्पित कर बैठे हैं। फिर तो प्राकृत मानवों की अनुभूति को ही क्यों, साक्षात् इन्हीं को प्रतीकात्मक माध्यम नहीं मान लेते हम तत्प्राप्ति के लिए, जैसेकि अन्यत्र ऐसा ही कुछ माना, और मनवाया जा-रहा है। प्राकृत मानव जहाँ अपनी अनुभूतियों, अपने चमत्कारों से स्वयं ही प्रतीक बन बैठते हैं जिन प्रकृत्यभिनिविष्ट भावुक मानवों के लिए, उनके लिए तो ये प्राकृत–प्रतीक–गुरुमानव हीं पर्य्याप्त हैं। उन भावुकों के लिए तो अनुभूतिपरायण–चमत्कारपरायण–मध्यस्थ गुरु प्रतीक ही नहीं, अपितु ये गुरुजी ही साक्षात् ब्रह्म हैं *। गुरुजी की अनुभूति–अनुभव–चमत्कारों की भी कहाँ आवश्यकता है इन भावुक भक्तों को। उनका उच्छिष्ट भोजन, उनका चरण–मर्द्दन, आदि आदि उनके स्थूल भूतों का सेवन ही पर्य्याप्त है इन भक्तों के उद्धार के लिए। किसी आचार–धर्म्म–कर्म्म–लोक-समाज–परिवार–राष्ट्र-निष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु अहोरात्र सर्वतोभावेन ऐसे गुरुजी की सेवा–शुश्रूषा ही इन भावुक भक्तों के न केवल इसी जन्म के, अपितु इनके अनेक जन्मों के पापों का सर्वथा विनाश ही तो कर देती है। भूले, बहुत भूले। गुरुजी को सेवा कहाँ अभीप्सित है ऐसे सेवकों की। असंख्य हैं इनके ऐसे सेवक। किन किन को सेवा का अवसर प्रदान करें ये एक 'गुरुजी महाराज' नहीं–'गुरमहाराज'। 'गुरुजी' नहीं, अपितु 'गरूजी'।

२७५–अनुभूतियों के परमाचार्य्य ? गुरुवरों ? के अकाण्ड-ताण्डव, एवं तन्निग्रह से सहज मानव की मानवता का अभिभव—

अतएव चेलों पर निःसीम अनुग्रह कर ये 'गुरुमहाराजा' स्वस्थान में मूर्तिवत् सुशोभित–विराजमान रहते हुए ही तत्तत्प्रान्तवर्त्ती अपने चेलों के लिए वैसी भूतसेवा [द्रव्य–वस्त्रादि परिग्रहसेवा] की ही सुव्यवस्था कर देते हैं, जिसमें कदापि कोई अन्तराय नहीं आने पाता। हाँ, चेले अन्ततोगत्त्वा अभी चेले हैं। भूल भी कर सकते हैं इस परोक्ष सेवाकर्म्म में। अतएव वर्ष में चेलों की योग्यता के अनुपात से ?, एक दो बार स्वस्थान में किसी भी अनुभवपूर्ण निमित्त से सेवकों का आमन्त्रण कर लेना कदापि विस्मृत नहीं करते गुरुदेव। यदि इस पद्धति में भी शिथिलता प्रतीत होने लगती है, तो परदुःखकातर–दुःख-भय–भञ्जक गुरुदेव स्वयं ही पाँवपियादे ही भक्तों के घर पहुँच जाते हैं उद्बोधनप्रदानानुग्रहमात्र के लिए। तत्प्रतीकार में सेवक भक्त जो कुछ करते हैं, वह सब तो आनुषाङ्गिक ही मान लिया जाता है। निश्चयेन कर्म्मभूमि इस भारतदेश की कर्म्मगर्भिता पावन-मिट्टी से कृतशरीरी अस्मदादि प्राकृत मानव तो कदापि ऐसी सुलभा प्रतीकता के पात्र नहीं ही बन सकते। इसीलिए तो अप्राकृत-प्रतीक-अन्वेष्टव्य बना था हमारे लिए, जो मानवरूप में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ। अतएव 'अप्राकृत-ऋषिमानव' तो केवल हमारे मानस जगत् की

---

* गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवमहेश्वरः
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥
—लोकभावुकतासूक्तिः

ही वस्तु बने रह गए। और इसी सर्वद्वारावरोध-स्थिति, किंवा विषमा परिस्थिति में 'धर्म्म' ने हीं हमारा परित्राण दिया।

२७६–मानव का अनन्य-सहायक मानवधर्म्म, तत्प्रतिपादिका शास्त्रत्रयी, तन्मूलक ऋषिमानवदृष्ट धर्म्म, तन्निबन्धन प्राणात्मक ऋषितत्त्व, एवं तदुपबृंहित आर्ष–धर्म्मात्मक शाश्वतधर्म्म—

किस धर्म्म ने ?, **मानवधर्म्म** ने। किस मानवधर्म्म ने ?, शास्त्रसिद्ध मानवधर्म्म ने ?। स्वरूप क्या है शास्त्र का ?, **श्रुति–स्मृति**, और **पुराण**। क्यों शास्त्रसिद्ध धर्म्म प्रमाण बन गया ?, ऋषिदृष्ट होने से। के ते ऋषयः ?, हृद्य मनुप्राण के महिमामय प्राणात्मक ऋषि। किसने इन ऋषिप्राणों का साक्षात्कार किया ?, उन अप्राकृत मानवोंनें, जो बुद्धिगम्या सीमाओं को तोड़ कर अपनी ऋजुदृष्टि से उन ऋषिप्राणों का साक्षा--त्कार कर स्वयं भी उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध होगए, एवं इसी ऋषिप्राणद्रष्टृत्त्व से जो शास्त्रद्रष्टा [न तु कर्त्ता] कहलाए, अतएव जो **'अप्राकृत–ऋषिमानव'** कहलाए। इन महामहर्षियों की योगसंसिद्धा आचारधर्म्मसंसिद्धा--योगजदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म ही--**'आर्षधर्म्म'** कहलाया*, यही **'ऋषिधर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध हुआ, यही स्मृतिभाषा में **'मानवधर्म्म'** कहलाया, जिसका मूल श्रुतिशास्त्र में ही सुरक्षित रहा। धर्म्म का धर्म्मत्त्व प्रतिपादित हुआ ऋषिदृष्ट अपौरुषेय वेदशास्त्र में, विधिरूप आचार-पक्ष प्रतिपादित हुआ स्मृतिशास्त्र में, एवं आयोजनपक्ष प्रतिपादित हुआ पुराणशास्त्र में।

२७७–शब्दशास्त्र की प्रतिरूपता के माध्यम से ही अप्राकृत ऋषिमानव की उप–लब्धि—

यों ऋषिदृष्ट शब्दशास्त्र के रूप में ही हमें **'अप्राकृत–ऋषिमानव'** उपलब्ध हुए। शब्दशास्त्र को छोड़कर इसके अतिरिक्त प्राकृत मानवों की भाँति ऋषिमानव 'ऋषिमानव' रूप से तो आजतक किसी भी प्राकृत मानव को न तो उपलब्ध हुए ही, न उपलब्ध होंगे ही। वेदसूक्तों के उपक्रम में जो 'ऋषि' नाम हम सुनते आए हैं, उनको किसने देखा ?। उस युग के प्राकृत मानवों ने तो देखा ही होगा उन ऋषिमानवों को, इसके लिए भी कोई **आधार** नहीं मिल रहा। क्योंकि हम उन्हीं ऋषि–मानवों के मुख से–**'न विजानामि'-को अद्धा वेद०'-' न तं विदाथ०'-'नाहं मन्ये सुवेदेति०'** इसप्रकार की प्राकृत-भाषा सुनते हैं, तो हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है। इनकी इस ऋजुभाषा के द्वारा उस युग में भी इनके अप्राकृत-ऋषि-स्वरूप को किस प्राकृत मानव ने समझा होगा ?, सन्देह ही है-**'सोऽङ्गवेद, यदि वा न वेद'** के अनुसार।

२७८–अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् वासुदेव के अप्राकृत–कालातीत–स्वरूप के तद्युग में एकमात्र ज्ञाता वस्वग्नि के अवतार महात्मा भीष्म—

सुनते हैं–अव्ययपुरुष के पूर्णावतार भगवान् कृष्ण को आचारधर्म्मनिष्ठ महात्मा देवव्रत [भीष्म-पितामह] के अतिरिक्त और किसी ने भी ठीक ठीक नहीं समझा था। दुर्य्योधन जैसे बुद्धिमान्-राजनीति-कुशल-

---

*–आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च। (गीता)

चाणाक्षचतुर ने तो भगवान् की भगवत्ता से सदा ही अपने आपको असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा। तभी तो वह इन्हें राजसभा में बन्दी बनाने के लिए आतुर हो पड़ा था। अतएव कहना पड़ेगा कि, लोकसंग्राहक अवतार-पुरुषों, तथा ऋषिमानवों के प्राकृत-भौतिक स्वरूप के आधार पर, इनकी सहजा-बुद्धिव्यामोहनशून्या-व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा से असंस्पृष्टा-ऋजुवाणी के आधार पर तो न पहिले किसी ने उन्हें समझा, न आज ही कोई समझ सकता।

२७९–भगवान् के महाकालात्मक अनन्त-विराट्स्वरूप के दर्शनमात्र से विकम्पित तत्सखा भावुक आर्जुन—

भगवान के भी प्राकृत नन्दनन्दनरूप का तो सब ने यशोगान कर लिया, इनके प्राकृत बालभाव की, बाललीलाओं की तो सबने आराधना करली। किन्तु विराड्भावानुगत–सर्वानुगत–वासुदेवस्वरूप के साक्षात्कार का सौभाग्य तो इन प्रकृतिवादियों को नहीं ही मिल सका *। सुनते हैं–अर्जुन को क्षणमात्र के लिए विराट्स्वरूप के दर्शनों का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था। क्या परिणाम हुआ इस स्वरूप–दर्शन का ?। अन्ततोगत्वा अर्जुन को, प्राकृत–भावुक–अर्जुन को यही प्रार्थना कर देनी पड़ी कि, भगवन् ! संवरण कीजिए ! अपने इस विराटरूप का। और मुझे तो वही मेरा–सखा–रूप...................... !

२८०–गुरुभक्तों-भावुक-भक्तों के द्वारा अन्तर्य्यामी ? के दर्शन ?, तदतिमान से तद्-द्वारा शास्त्रीय धर्म्माचारों की आत्यन्तिक–उपेक्षा, एवं तथाविध मलीमस-व्यामोहन के प्रति उद्बोधन–प्रदाता श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूप आचारधर्म्मशिक्षा-त्मक गीताशास्त्र—

भावुक भक्त कहते हैं–गुरुकृपा से जब हमें अपने अन्तर्य्यामी के दर्शन मिल गए, तो अब हम इस धर्म्म–कर्म्म–शास्त्रादि के पचड़े में क्यों पड़ें ?। गुरु का ध्यान, और गुरु अपने अनुभव ? द्वारा जिस ज्योति-ईश्वर–अन्तर्य्यामी–सुरत–आदि का ध्यान बतलावें, तदतिरिक्त अब और कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता हमारे लिए। गुरुभगवान् की, और गुरुभगवान् के अनुभव से प्रमाणित ? भगवान् की रट लगाते हुए ही हम तो भवसागर से पार उतर जायँगे अजामील–गीध–व्याध–गणिकावत्। तात्पर्य्य यही कि, ईश्वर-साक्षात्कार के अनन्तर आचारादि शास्त्रीय–कर्त्तव्य–कर्म्मों की कोई भी अपेक्षा–आवश्यकता शेष ही नहीं रह जाती इन भावुक-भक्तों की दृष्टि में। किन्तु सत्तासिद्ध भगवान्, तथा उनके सत्तारूप के ही उपासक सत्तासिद्ध ही भक्त, ये दोनों वर्ग तो भावुक भक्तों की उक्त मान्यता के ठीक विपरीत ही गमन करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। जब तक अर्जुन 'अपनी अनुभूति–अनुभव–प्राकृतबुद्धि' से स्थिति के नीर-क्षीर-विवेक का अनुगामी बनता हुआ अपने अनुभव के आधार पर ही पाप–पुण्य की व्यवस्था में तल्लीन रहा, तबतक यह भावुक ही बना रहा। जब अनेक प्रकार की बुद्धिगम्या व्याख्याओं से भी इसकी भावुकता का मूलोच्छेद न हुआ, तो अन्ततो गत्वा

---

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
—गीता ७।१९।

भगवान् को इसे अपने विराट् स्वरूप के (ईश्वरस्वरूप के) ही दर्शन कराने पड़े। इस ईश्वरदर्शन से ही इसकी भावुकतापूर्णा अनुभूतियाँ, कल्पनाएँ ध्वस्त हुईं, एवं तदनन्तर ही, इस ईश्वरनिष्ठा के माध्यम से ही यह स्वधर्म्मात्मक क्षात्रधर्म्म (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त हुआ। आज की परिभाषानुसार तो अर्जुन को इस ईश्वरसाक्षात्कार के अनन्तर 'करतालें' हाथों में लेकर हरे-राम-हरे-राम-राम-राम-हरे-हरे-में ही तल्लीन हो जाना चाहिए था आचारात्मक सम्पूर्ण धर्म्म-कर्म्मों को छोड़छाड़ कर। किन्तु ईश्वरदर्शन के द्वारा इस भक्त को तो कर्त्तव्यनिष्ठा में आस्था ही उपलब्ध हुई, जबकि आज के भक्त केवल गुरुदर्शनमात्र से ही शास्त्रीय आचारों से विमुख हो पड़ते हैं। अतएव कदापि इस प्राकृत-गुरुभाव को भारतीय प्रज्ञा ने तो मध्यस्थता प्रदान नहीं ही की। इसके लिए तो उसकी प्राप्ति का एकमात्र मध्यस्थ-माध्यम वह शब्दशास्त्र, एवं शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म ही है, जिसे हम अप्राकृत-ऋषिमानव का ही मूर्त्तरूप कहा करते हैं।

२८१-मानव की प्राकृत-कालिक-बुद्धि के लिए अदृष्ट-ऋषिमानव, एवं अदृष्ट सुसूक्ष्म-धर्म्म, तथा एकमात्र शब्दशास्त्र की ही दृष्ट-श्रुतानुगता प्रतीकात्मिका प्रामाणिकता—

अदृष्ट हैं हमारे लिए अप्राकृत-ऋषिमानव, तथैव अदृष्ट है हमारे लिए धर्म्म का भी सुसूक्ष्म स्वरूप। अतएव एकमात्र शास्त्र ही हमारे लिए वैसा दृष्ट-श्रुत-प्रतीक है, जिसे मध्यस्थ बना कर ही हम उसे भी प्राप्त कर सकते हैं, एवं इस प्राकृत मानव के प्राकृत अभ्युदय का भी रक्षण कर सकते हैं। शास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण है। यत्-शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्। यतो हि शब्दप्रमाणका एव वयम्। **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ *।**

२८२-शब्दात्मिका श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रत्रयी की अप्राकृत-ऋषिमानव के प्रति प्रतिरूपशिल्पता, तदनुगता कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारात्मिका योगनिष्ठा, एवं 'योगसंन्यस्तकर्म्माणम्' इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त का समन्वय—

शब्दात्मक श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र ही अप्राकृत-ऋषिमानव का प्रतिरूप शिल्प है। इसी को प्रतीक बनाकर, इसी से संसिद्ध आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म को माध्यम बना कर प्राकृत मानव कौशलपूर्वक (बुद्धिनिष्ठा-पूर्वक) उस योग को संसिद्ध कर लेता है, जो योगसंसिद्धि ही कालान्तर में इसमें स्वतः ही अनन्तभाव अभिव्यक्त कर देती है। योगात्मक-कर्म्मकौशल से समन्वित वही गुणात्मक आचारधर्म्म शाश्वतधर्म्म-अप्राकृतधर्म्म बनता

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि॥
—गीता

हुआ प्राकृत मानव को कालान्तर में अप्राकृत-ऋषिमानव की कोटि में हीं ला खड़ा करता है, जिस इस तथ्य का वैखरी-वाणी से कदापि कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव ही नहीं है। आचारात्मक योग से मानव का केन्द्रीय मनुरूप परपुरुषात्मक अव्ययज्ञान स्वतः ही उद्बुद्ध हो पड़ता है, जिससे कर्म्मजनित त्रिगुणभाव आसक्त होने हीं नहीं पाते। अतएव कर्म्म में सर्वथा वर्त्तमान भी यह योगी अव्ययनिष्ठ ही बना रहता है *। यों आचारनिष्ठा से, आचारात्मिका योगनिष्ठा (धर्म्मनिष्ठा-विधिनिष्ठा–कर्त्तव्यकर्म्मानुगति) से इसका लोकाभ्युदय भी '**प्रकृतिस्थ**' बना रहता है, एवं तत्संसिद्ध-व्यवस्थानुगता अव्ययनिष्ठा से इसका आत्मनिःश्रेयस् भी '**स्वस्थ**' प्रमाणित होजाता है। तथा च—

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥

—गीता ४।४१।

२८३–स्वनिष्ठात्मिका 'धर्म्मनिष्ठा' का संस्मरण, तन्मूलक स्वस्वरूपबोध, एवं अपौरुषेय तत्त्ववेद के आधार पर आचारधर्म्म की व्यवस्थिति—

अलमतिविस्तरेण। उक्त प्रासङ्गिक अवधेय दृष्टिकोणों के माध्यम से प्रकृत में निवेदन हमें यही करना है कि, मानव को स्वयं अपनी निष्ठा से ही अपना लक्ष्य व्यवस्थित कर लेना है। यह '**अपनी निष्ठा**' ही इस की वह '**धर्म्मनिष्ठा**' है, जो शब्दशास्त्र के द्वारा ही व्यवस्थित हुई है। अतएव धर्म्मप्रतिपादक **पुराण-स्मृतिशास्त्र**, तथा धर्म्म के धर्म्मत्त्व (मौलिक रहस्य–ज्ञानविज्ञानात्मिका आधिदैविक–उपपत्ति) का प्रतिपादक अपौरुषेय-स्वतःप्रमाणभूत **वेदशास्त्र** × ही इसके अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक–स्वरूपबोध का एकमात्र प्रतीक है, जिस की मध्यस्थता से ही अप्राकृत–ऋषिमानव को हमने पूर्व में प्रतीकात्मक दृष्टान्त कह दिया है। ऋषिमानव 'ऋषि' है, इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण नहीं है। अपितु क्योंकि वह अपनी वाणी से ईश्वराज्ञासिद्ध–अपौरुयेय–तत्त्वात्मक–वेद के आधार पर ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के द्वारा हमारे लिए आचार-धर्म्म व्यवस्थित करता है, इसलिए ही ऋषिमानव हमारे लिए प्रमाण है।

---

*–सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्त्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥
-वर्त्तमानोऽपि, आचारात्मके कर्म्मणि प्रवर्त्तमानोऽपि, मयि अनन्ताव्यये।

×–श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौ ॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
—मनुः २।१०,१३, श्लोक

२८४-मानवऋषि की 'अनुभूति' से असंस्पृष्टा, तद्दृष्टिमात्रानुगता शब्दशास्त्रनिष्ठा, एवं 'स्वानुभूति' के सम्बन्ध में ऋषिमानव के आर्ष उद्गार, तथा 'शास्त्रयोनि-त्वात्' सूत्र का संस्मरण—

इसलिए वह हमारे लिए प्रमाण है कि, यह प्रामाणिकता ऋषि की अपनी अनुभूति से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं रख रही। जब ऋषि से उनकी अनुभूति पूँछी जाती है, तो वे तत्काल यही कह देते हैं कि— 'न विजानामि-यदि वेदमस्मि'-'कवीन्पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्'-'नाहं मन्ये सुवेदेति'। अपितु- 'इति शुश्रूम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे' रूप से अपने प्राकृत-व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट रहते हुए ऋषि परम्परासिद्ध-शाश्वत-अप्राकृत-धर्म्म को ही हमारे सम्मुख रख देते हैं। अतएव उनका वचन हमारे लिए प्रमाण बन जाता है। और यों आर्षवाणीरूप से अप्राकृत ऋषिमानव अवश्य ही स्वस्वरूपबोध के महान् प्रतीक प्रमाणित हो रहे हैं, जिस प्रतीकता की अन्तिम पर्य्यवसानभूमि तो-'शब्दशास्त्र' ही माना जायगा। कदापि 'व्यक्ति' को, किंवा व्यक्ति की 'अनुभूति' को अत्र कदापि कोई भी प्रतीकता-मध्यस्थता-नहीं दी जासकेगी, नहीं हीं दी गई। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने अपने सुप्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ में ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्त्ति का माध्यम अन्ततोगत्वा एकमात्र 'शास्त्र' को ही माना है, जैसाकि सुप्रसिद्धा सूत्रचतुष्टयी के अन्तिम सूत्र-'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्र से प्रमाणित है।

२८५-ऋषिदृष्टि से दृष्ट शास्त्र से अनुप्राणित 'आचरण' के माध्यम की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानभूमि शास्त्रीय--आचारनिष्ठ--'आचार्य्य'—

अब इस सम्बन्ध में प्राकृत मानव की केवल एक जिज्ञासा शेष रह जाती है, उसी का समाधान कर यह मीमांसा-प्रकरण उपरत हो रहा है। अप्राकृत, अतएव लोकातीत, योगजदृष्टिपरायण, साक्षात्कृतधर्म्मा (दृष्ट तत्त्व के आधार पर आचरण के अनुगामी) ऋषिमानवों की दृष्टि से दृष्टमात्र (न तु कृत), श्रुति-स्मृति-पुराणोपवर्णित-शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्म (कर्त्तव्यनिष्ठात्मक-प्रकृतिभेदभिन्न-स्वधर्म्म) 'आचरण' से ही सम्बन्ध रखता है। इस 'आचरण' पक्ष का माध्यम कौन ?, यही वह अन्तिम प्रश्न है, जिसका समाधनकर्त्ता शास्त्रनिष्ठ, शास्त्रीय आचारपरायण मानवश्रेष्ठ ही यहाँ-'आचार्य्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो तूष्णीं अपने अन्तर्जगत् में जिज्ञासात्मक सम्प्रश्नों का उत्थान करता हुआ शास्त्रानुमोदित, परम्परानुमोदित सुतर्कों के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करता हुआ आचारात्मक-कर्त्तव्यकर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है। ऐसे आचार्य्य को माध्यम बना कर ही अस्मदादि बालप्रज्ञ प्राकृत मानव आचार्य्य के सान्निध्य में-अन्त में-समीप रहते हुए अपने आपको 'अन्तेवासी' बनाते हैं। एवं आचार्य्य के आचरणा-त्मक धर्म्म के अनुसार आचार्य्य के द्वारा आदिष्ट-प्रदिष्ट-पद्धतियों के अनुसार ही धर्म्माचरण की शिक्षा प्राप्त करने में सफल बन सकते हैं।

२८६-'आचार्य्य, और 'अन्तेवासी' शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त, एवं--'आचार्य्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' इत्यादि श्रुति का संस्मरण—

यही आचार्य्य, और अन्तेवासी-शब्दों का स्वरूपेतिवृत्त है, जिसके साथ स्वानुभवानुगत गुरुपद का, एवं तदन्वानुकरणशील शिष्यपद का कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। आचार्य्य प्रमाण नहीं है अन्तेवासी

के लिए। अपितु आचार्य्य का आचरण प्रमाण है अन्तेवासी के लिए। वैय्यक्तिक-अनुभव-अनुभूतिमूलक आचरण नहीं, अपितु शास्त्रसिद्ध आचरण। अतएव आचार्य्य का माध्यम भी तत्त्वतः शास्त्रीय-आचारधर्म्म की ही मध्यस्थता प्रमाणित कर रहा है। वेदरहस्यवक्ता, तदनुगत आचरण में निष्ठ आचारशिक्षक शास्त्रनिष्ठ आचार्य्य ही अन्तेवासी को आचारधर्म्म की व्यावहारिक-पद्धति से अवगत कराता है। भले ही मानव-स्वप्रतिभा से आचारधर्म्म का मौलिक रहस्य समझ जाय, भले ही गोचारणादि देवभावों के माध्यम से इस में ऋजुभाव का समावेश हो जाय, और भले ही इस ऋजुता से इस में आत्मभाव भी प्रस्फुटित हो जाय। किन्तु तबतक इसका यह बोध अपरिपक्व-अव्यवस्थित ही बना रहता है, जबतक कि यह आचारनिष्ठ आचार्य्य का अन्तेवासी नहीं बन जाता। तभी तो गोचारणात्मक दिव्याचरण से ऋजुभाव में परिणत, अतएव आत्मभाव से समन्वित भी सत्यकाम जाबालि आचार्य्यश्रेष्ठ गोतम के-'ब्रह्मविदेव वै सोम्य! भासि। को नु त्वानुशशास ?' यह जिज्ञासा करने पर यही उत्तर देते हैं कि-"भगवाँस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः-आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" इति (छां० उप० ४ अ०। ६ खण्ड)।

२८७-शास्त्ररहस्यज्ञाता-'आचार्य्य', आचार-प्रतिपादक-'शब्दशास्त्र', तद्द्रष्टा 'ऋषि', 'तत्स्मर्त्ता मुनि', तत्संस्थापक 'अवतारपुरुष', आदि मानवविभूतियों का अप्राकृत ऋषिमानवकोटि में अन्तर्भाव—

तदित्थं-वेदशास्त्र का रहस्यज्ञाता आचारनिष्ठ **आचार्य्य**, तद्द्वारा आदिष्ट आचारात्मक कर्त्तव्य, तत्-प्रतिपादक श्रुति-स्मृति-पुराणात्मक **शब्दशास्त्र**, एवं तद्द्रष्टा **ऋषि**, स्मर्त्ता **मुनि**, तथा तत्संस्थापक **अवतार-पुरुष**, इन सब का परम्परया **'अप्राकृत-ऋषिमानव'** कोटि में हीं अन्तर्भाव माना जासकता है। एवं अन्ततोगत्वा इस समन्वय के माध्यम से उस कालातीत अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूपात्मक प्रतीकात्मक सिद्धान्तरूप दृष्टान्त अवश्य ही उस-**'अप्राकृत-ऋषिमानव'** को ही माना जासकता है, जिसके गर्भ में हीं **आचार्य्य, तत्कर्त्तव्य, शब्दशास्त्र**, आदि आदि सभी माध्यम प्रतिष्ठित हैं, **इति नु नमः परम-ऋषिभ्यः ! नमः परम-ऋषिभ्यः ! ! नमः परम-ऋषिभ्यः-मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ! ! !** *।

---

*-(१)-ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन्गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः॥
—ऋक्सं० ६।११४।२।

(२)-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥

(३)-नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचम्॥
—देखिए उप० वि० भा० भूमिका द्वितीयखण्ड

२८८–सहज मानवश्रेष्ठ के 'पुरुषार्थ' का स्वरूप-परिचय, एवं तन्माध्यम से ही प्रतीकता के समन्वय की चेष्टा—

"पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से यावज्जीवन वर्णाश्रमाचारसिद्ध आधिकारिक कर्त्तव्य-कर्म्मों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहते हुए अपने कालातीत 'मानव' स्वरूप को यथायावत् प्राकृतिक प्रतीक-भावों से सर्वथा असंस्पृष्ट बनाए रखना हीं सहज–मानवश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है" । 'अनन्तब्रह्म' के संसाधक जिस इस 'परमपुरुषार्थ' के समन्वय के लिए ही प्रस्तुत 'दिग्–देश–काल–मीमांसा' नामक स्तम्भ प्रवृत्त हुआ है । इस प्रतीकता के समन्वय के लिए ही कालसूक्तों के माध्यम से विभिन्न दृष्टियों से काल–दिक्–देश-विवर्त्तों की, तथा दिक्–देश–काल–विवर्त्तों की स्वरूप-परिभाषा अनन्तस्वरूपनिष्ठ सहज मानवश्रेष्ठों की सेवामें प्रणतभाव से उपस्थित कर देने का प्रयास हुआ है ।

२८९–प्रतीकविधि के सैद्धान्तिक-पक्ष के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासात्मक प्रश्न, एवं तत्समाधान का आत्यन्तिक अभाव, तथा–'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः'—

अबतक अनेक 'प्रतीक' भावों के माध्यम से हमने प्रतीकातीत जिस अनन्तब्रह्मबोध-संसाधक परमपुरुषार्थ के समन्वय की प्राकृत-चेष्टा की है, उस 'प्रतीकता' सम्बन्ध का अन्ततोगत्वा '**अप्राकृत ऋषिमानव**' पर विश्राम हुआ प्रकृति की भाषा में हीं । और यह अप्राकृत–मानव ही सैद्धान्तिक–प्रतीकरूप दृष्टान्त बना प्रक्रान्त प्रतीक-विधि में । क्या इस प्रतीकविधि को सिद्धान्त मान लिया जाय ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए जब हम स्वयं 'प्रतीक' शब्द के वाच्यार्थ को लक्ष्य बनाते हैं, तो पुनः हमें आत्यन्तिक रूप से इसलिए निराश ही होजाना पड़ता है कि, अप्राकृत मानव कदापि उसका प्रतीक नहीं बन सकता । जो प्राकृतभाव प्रतीक कहे जाते हैं, वे वस्तुगत्या प्रतीक हैं नहीं, एवं जिस अप्राकृत मानव को प्रतीक मान लिया जाता है, उसके साथ प्रतीकता किसी भी दृष्टि से समन्वित होती नहीं । अतएव अन्ततोगत्वा '**पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः**' ।

२९०–'प्रतीक' शब्द के वाच्चार्थ का समन्वय, एवं 'प्रतीकमध्येधे-अग्निः' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण—

'प्रतीयते इति, प्रत्येति वा' ही प्रतीक शब्द का निर्वचनार्थ है, जिसका अर्थ है '**अङ्ग**'-'**भाग**'-'**अवयव**' । अङ्गुलि पुरुष का अवयव है, अतएव यह प्रतीक है । अवश्य ही अवयवरूपा, अतएव प्रतीकभूता इस अङ्गुलि के ग्रहण से अङ्गीरूप, अवयवीरूप सम्पूर्ण पुरुष (पुरुषशरीर) का सङ्केतग्रहात्मक बोध हो जाता है, और अङ्गुलिग्रहीता–'**मैनें पुरुष का ग्रहण कर लिया, पुरुष को पकड़ लिया**' यह शक्तिग्रह प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है । पट (वस्त्र) के एक अवयव–कोण के दग्ध हो जाने पर भी–'**पटो दग्धः**' (**कपड़ा जल गया**) यह व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है । इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य में–'**समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते**' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है । और अङ्गाङ्गीभाव-अवयव-अवयवी–भावानुबन्धी पर्व–अङ्ग–भाग–अंश-का ही नाम प्रतीकभाव है, जैसाकि निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र से स्पष्ट प्रमाणित है—

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी 'प्रतीक'-मध्येधे अग्निः ॥

—ऋक्संहिता ७।३६।१।

२६१–प्रतीकसापेक्ष-अङ्गाङ्गीभाव, एवं पार्थिव गायत्राग्नि की प्रतीकरूपा 'अङ्गता' का दिग्-दर्शन—

उक्त मन्त्र में अग्नि को पृथिवी का प्रतीक इसलिए बतलाया गया है कि, **'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** इत्यादि श्रुति के अनुसार भूपिण्ड में चित्यरूप से, तथा भूमहिमारूपा पृथिवी में चितेनिधेयरूप से गायत्र अग्नि प्रतिष्ठित है। एवं इसी गायत्राग्नि के सम्बन्ध से पृथिवी को-**'गायत्री'** * कह दिया जाता है। जिसप्रकार पृथिवी में आपः–फेन–मृत्–सिकतादि आठ ब्रह्मौदन पर्व, तथा ओषधि–वनस्पति–पशु–पक्षी–कृमि–कीट–धातु–उपधातु-आदि आदि असंख्य इतर प्रवर्ग्य पर्व अङ्गरूप से प्रतिष्ठित हैं, तथैव यह अग्नि भी इसका एक अङ्ग ही बन रहा है। अतएव इसे पृथिवी का प्रतीक मान लिया गया है। क्या अप्राकृत मानव इसप्रकार का 'अङ्ग' है उस अनन्तब्रह्म का ?। **'प्रतीकमध्येधे अग्निः'** यह ऋषि-वाक्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। 'प्रतीक' भाव का उदय वस्तुगत्या पार्थिव–अग्नि (भूताग्नि) पर ही आ के होता है।

२६२–पार्थिवसर्गाधारभूत सौर-पारमेष्ठ्यादि पूर्वसर्गों की अप्रतीकता, एवं भौतिक-क्षरानुगत केवल पार्थिव-जगत् की ही प्रतीकता—

पार्थिव सर्ग से पूर्व पूर्व के जितने भी (सौर–पारमेष्ठ्य–स्वायम्भुव–आदि) प्राकृत सर्ग हैं, उनमें कहीं भी अङ्ग–अङ्गी–भावात्मक–प्रतीकभाव नहीं है। जहाँ कार्य्य–कारण–सम्बन्ध होता है, वहीं अङ्गाङ्गीभाव रहा करता है। कार्य्य-कारण-भाव क्षर के धर्म्म हैं, उस मूर्त्त-व्यक्त-क्षर के धर्म्म हैं, जो पार्थिव-भौतिक-स्थूल-जगत् में अभिव्यक्त होता है-**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'**।

२६३–अक्षरात्मक केन्द्रीय मनु से अनुप्राणित सौर मण्डल, एवं तदभिन्न सौर मानव—

सौर मण्डल अपने केन्द्रीय-अक्षरानुबन्धी देवात्मक प्राणभाव से अक्षरप्रधान है। अतएव प्रकृति के अणोरणीयान् मनु से आरम्भ कर सौरमण्डल पर्य्यन्त का समस्त प्राकृतभाव तो अपनी प्राणाक्षरनिबन्धना अमूर्त्तता-अव्यक्तता के कारण अङ्गाङ्गीभावों से 'सर्वथा ही असंपृष्ट है। तभी तो अप्राकृत मानव का नाम

---

*--**देवाश्च ह वा--असुराश्च--उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । तान्त्स्पर्द्धमानान् 'गायत्री'-अन्तरा तस्थौ। या वै सा 'गायत्री'-आसीत्' इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ।**

—देखिए ! शतपथब्राह्मण १।४।१।३४

'सौरमानव' (बुद्धियोगनिष्ठ-मानव) भी रख दिया गया है, जैसाकि पूर्वखण्डानुगता 'मानवस्वरूपमीमांसा' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है ।

२६४–सौररश्मिमण्डल की अच्छिद्रपवित्रता, तदनुगत मन्वन्तरभाव, एवं सूर्य्यादि–अनन्तकालान्त-विवर्त्तों में 'प्रतीक' भाव का असंस्पर्श—

अङ्गरूप अवयवभाव-पर्वभाव–से असंस्पृष्ट रहने के कारण हीं तो सौरप्राणात्मक रश्मिमण्डल को-'अच्छिद्रपवित्र' कहा गया है । छिद्रता का नाम हीं अङ्गता-पर्वता-अवयवता, तथा तदनुबन्धिनी प्रतीकता है । जबकि इसप्रकार स्वयं प्राकृत विश्व में भी पार्थिवसर्ग से परस्तात् के प्राणप्रधान सूर्य्यादि अनन्तकालान्त, किंवा मन्वन्तर-भावों में अङ्गाङ्गीभावात्मक कार्य्यकारणभाव नहीं है, अतएव जहाँ उन प्राकृत विवर्त्तों में भी जब प्रतीकता-लक्षणा अङ्गता अनुपपन्न है, तो प्रकृति से अतीत, अतएव कालातीत अप्राकृत मानव के साथ प्रतीकता का सम्बन्ध सम्भव ही कैसे हो सकता है ?। और ऐसी स्थिति में आत्यन्तिकरूप से निर्विशेष-अनन्तब्रह्म के स्वरूपबोध के सम्बन्ध में 'प्रतीक' का, कार्य्यकारणभावों का, अङ्गाङ्गीभावों का प्रश्न उठाना हीं अनतिप्रश्नात्मक अक्षम्य-असमाधेय प्रश्न ही बन रहा है ।

२६५–नानाभावात्मक अङ्गभावों से अभिन्न अङ्गी—

'अङ्ग' भाव ही 'अङ्गी, और अङ्ग' इन दो सापेक्षभावों का जनक बन जाता है । अङ्गी अङ्ग से कोई पृथक्तत्त्व नहीं है । नानाभाव ही 'अङ्ग' की स्वरूप–परिभाषा है । इन नानाभावों की राशि-स्तूप-ढेर-कूट-का नाम ही 'अङ्गी' है, अवयवी है, जो कि अङ्गों से कोई पृथक् तत्त्व नहीं है ।

२६६–अङ्गाङ्गीभावात्मक-प्रतीकात्मक–अङ्गभावों से व्याप्त आचारनिष्ठाशून्य दार्शनिकों का वाग्विजृम्भण –

तभी तो अङ्गाङ्गी-भावों में व्यामुग्ध दार्शनिक भूतात्मक--शरीरपुद्गल से अतिरिक्त किसी अवयवी आत्मा की स्थापना में असमर्थ ही प्रमाणित रह गए हैं । इसी भ्रान्तिने तो अनात्मवादमूलक नास्तिकवाद, क्षणिकं–क्षणिकं-शून्यं-शून्यं-दुःखं-दुखं-रूप लोकायतिकवाद को जन्म दे डाला है । यही तो आस्तिक-नास्तिक-आचारशून्य उन आस्तिक-नास्तिक–दर्शनों का वैडालव्रतिक–कार्य्यकारणनिबन्धन--अङ्गाङ्गीभाव–निबन्धन-सर्वथा ही निरर्थक वह वाग्विजृम्भण है, जिससे आस्तिक, नास्तिक, सभी दार्शनिक आद्यन्त के शून्यं-शून्य हीं प्रमाणित होते आरहे हैं ।

२६७–अङ्गाङ्गीभावनिबन्धना--प्रतीकता के व्यामोहन से आस्तिक--नास्तिक–दर्शनों में निरर्थक वाक्कलह, एवं कार्य्यकारणात्मक प्रतीकभावों से असंस्पृष्ट महिमात्मक विवर्त्त के द्वारा कलह की उपशान्ति का प्रयास—

शरीर भौतिक है, अगणित क्षरकूटों की समष्टि है, अनेक अङ्गों–अवयवों की राशिमात्र है, ढेरमात्र है । कदापि भौतिक शरीर इन अङ्गभावों की समष्टि के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र–नित्य–अविनाशी–एक–अङ्गी-

अवयवीभाव नहीं है, जिसे प्रमाणित करने लिए एक ओर भूत-माध्यम-वादी, अतएव अन्तवादी आस्तिक-दर्शन एडी से चोटी का जोर लगाकर थक थक जारहा है, तो दूसरी ओर केवल इस जड़भूत का ही अन्यतम प्रेमी नास्तिकदर्शन आस्तिकदर्शन के भौतिक तर्कों का खण्डन करने में परिश्रान्त हो रहा है। जबकि तत्त्वतः न तो आस्तिकदर्शन के मण्डनात्मक तर्कों का ही कोई महत्त्व, एवं न नास्तिकदर्शन के खण्डनाभासात्मक-तर्काभासों का ही कोई मूल्य। दोनों हीं स्व-स्व-दिग्देशकालानुगता-मूर्त्त-पार्थिवभूत-कालानुबन्धिनी-बुद्धिगम्या काल्पनिक-व्याख्याओं के विजृम्भणों में हीं इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। जबकि वह अनन्ततत्त्व आस्तिक के कल्पित धर्म्म, तथा नास्तिक के कल्पित अधर्म्म, दोनों से ही अतीत महिमामय ही तत्त्व है *, जिसके साथ परिणामात्मक कार्य्य-कारणभावों का, सामान्य-विशेष-भावों का, अङ्ग-अङ्गी-भावों का कदापि कोई भी स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है। वञ्चित ही रह गया है आस्तिक-नास्तिक-शिरोमणि दार्शनिक अनन्त के महिमामय आधिदैविक विवर्त्तरूप-असर्गात्मक सर्ग के समन्वयबोध से। यही तो विभूतिरूप-महिमामय-विवर्त्त में, तथा बन्धरूप-परिणामात्मक-कार्य्यकारणभाव में वह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही दिग्देशकालमीमांसा प्रवृत्त हुई है।

२९८-चरात्मक भौतिक-शरीरानुगत-प्रतीक-लक्षण--अङ्गाङ्गी-भाव, एवं तत्सम्बन्ध में-'अङ्गादङ्गात्सम्भवति' इत्यादि श्रौतसन्दर्भ का संस्मरण—

हाँ, तो अङ्ग से अङ्ग का उद्भव, अवयव से ही अवयव का आविर्भाव, किंवा स्थूलभाषानुसार-शरीर से ही शरीर (उदाहरण मूढगर्भ का, और मानवेतर सम्पूर्ण अण्डज-स्वेदज-जरायुज-उद्भिज्जादि प्राणियों का, जहाँ मानववत् नालच्छेद का संस्पर्श भी नहीं है) की उत्पत्ति, बस यही है वह दार्शनिकता, जिसने शरीर में 'जीवात्मा' ढूँढने का प्रयास करते हुए, इन कार्य्यकारणरूप अङ्गों के माध्यम से ही अपने काल्पनिक अङ्गी को ढूँढते रहने में हीं अपनी सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा समाप्त करदी है। पशुसर्गात्मक भौतिकसर्ग में 'अङ्गी' जैसा निरवयव कोई अनन्त-अविनाशी तत्त्व है ही नहीं, जिसका महता समारम्भेण एक (आस्तिक) दार्शनिक ने तो मण्डनप्रयास किया है, एवं दूसरे (नास्तिक) दार्शनिकने खण्डनप्रयासाभास किया है। लक्ष्य बनाइए इस श्रुतिवचन को, जिसने शरीर को अङ्ग मानते हुए इससे उत्पन्न दूसरे भौतिक शरीर को विस्पष्ट शब्दों में 'अङ्ग' ही प्रमाणित किया है—

"अङ्गादङ्गात्-सम्भवति, हृदयादधिजायते।
स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमामूं मयि॥
—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।४।९।

---

*-अन्यत्र धर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत्तत् पश्यसि, तद्वद॥
—कठोपनिषत्

२६६ पूर्वाङ्ग का अङ्गित्व, उत्तराङ्ग का अङ्गत्व, एवं अङ्गात्मक 'प्रतीक' में हीं--अङ्गी-अङ्ग--भावों का अन्तर्भाव, तथा 'प्रतीक'-शब्देतिहास का संस्मरण

अङ्ग से अङ्ग की उत्पत्ति में उत्पादक—कारणात्मक अङ्ग तो कार्य्यरूप उत्पन्न अङ्ग की अपेक्षा 'अङ्गी' मान लिया जाता है, एवं तदपेक्षया उत्पन्न भूत 'अङ्ग' बन जाता है। यों कारण-कार्य्यात्मक पूर्व-उत्तर-अवस्थाओं के भेद से अङ्गभाव में हीं अङ्गी-अङ्ग-ये दो विभिन्न भाव व्यक्त हो जाते हैं पार्थिव भूतसर्गवत्, भूताग्नि-सर्गवत्, पशुसर्गवत्, जिसके साथ आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व जैसी निरवयवता का संस्पर्श भी तो नहीं है। कार्य्या-त्मक ऐसा उत्तररूपात्मक भौतिक अङ्ग ही 'प्रतीक' शब्द का चिरन्तन इतिहास है, जिस चिरन्तन इतिहास का उपक्रमोपसंहार पार्थिव—चान्द्र—नामक भौतिक-मूर्त्त—सम्वत्सरचक्र में हीं परिसमाप्त है।

३००—क्षरभावनिवन्धना सगुणोपासना से अनुप्राणित 'प्रतीक' भाव की अनन्तब्रह्म--धरातलपेक्षया आत्यन्तिक--निरपेक्षता —

अवश्य ही क्षरभावनिबन्धना सगुणोपासना (जिसे उपासना न कह कर—'भक्ति' ही कहा गया है) इस प्रतीकता का भी बालोपलालनमाध्यम से संग्रह होगया है। अतएव क्षरात्मिका—भूतोपासनात्मिका भक्ति में अवश्य ही प्रतीकरूपेण भौतिक माध्यमों का भी संग्रह हो पड़ा है। किन्तु अनन्तब्रह्मधरातल पर तो इस प्रतीकता का संस्मरण भी निषिद्ध है। अतएव वस्तुस्थिति के समन्वय—प्रसङ्ग में कदापि प्रतीकभाव समाविष्ट नहीं होसकता। और तो और, अपने अमूर्त्त-अव्यक्त-स्वरूप से निरवयव प्रमाणित अनन्तकालादि-सौरकालान्त के प्राकृत विवर्त्त भी तो उस अनन्त के प्रतीक नहीं बन सकते, जबकि इनका भी ऋषिमानव ने 'महिमा' रूप से ही समन्वय किया है, जो महिमात्मक—विवर्त्त भाव आधिदैविक—प्राणात्मक—महिमासर्ग से वञ्चित दार्शनिकों की दृष्टि में समाविष्ट ही नहीं हो पाया है।

३०१—सर्वश्रीशङ्कराचार्य्यमहाभाग का अध्यासवादात्मक, अतएव आधिदैविक—आचार से असंस्पृष्ट अद्वैतवाद, एवं तत्प्रतीकनिग्रहेणैव राष्ट्रीय—आचारनिष्ठा का शैथिल्य, इति नु महद्दुःखास्पदमेव—

हमें यह निवेदन करते हुए अत्यन्त ही क्लेश हो रहा है कि, पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य्यने जहाँ महिमात्मक विवर्त्त के माध्यम—पर्य्यन्त दिग्देशकालानुबन्धी परिणामवाद को विध्वस्त कर आस्तिकदर्शन की प्रतिष्ठा को अमुक अंशमें सुरक्षित कर लिया है, वहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदभाग की आधिदैविक—सृष्टिविद्या का स्पर्श न करने के कारण, अतएव अपने बाह्यरूप से दार्शनिकभाषावत् प्रतीयमान उपनिषद्भाग, तथा गीताभाग की आधिदैविक—महिमासर्गान्विता सृष्टिस्वरूपव्याख्या का किसी अज्ञात कारण से समन्वय न करने के कारण उस महिमामय विवर्त्त के समन्वय के लिए अध्यासवादात्मक वैसे भौतिक दृष्टान्तों को ही माध्यम बना लिया है, जिनके कारण हीं आचा-र्य्यवर के द्वारा शास्त्रीय—आचारपक्ष सर्वथा शिथिल ही प्रमाणित होगया है।

३०२–प्रतीकसमन्वयासक्ति के व्यामोहन से अनुप्राणित मानव के 'पुरुष–मानव–मनुष्य–नर' नामक चार श्रेणि-विभाग—

अलमतिविस्तरेण प्रतीकशब्देतिवृत्तेन। हमने केवल अपने बालोपलालन के लिए ही 'प्रतीक' शब्द के माध्यम से अनेक माध्यमों का अनुगमन कर लिया है, जिसे अत्र समष्टिरूप से संकलित करते हुए यहीं उपरत कर देते हैं। अपनी इस प्रतीकभावासक्ति के संकलानात्मक समन्वय के लिए हम मानव के चार श्रेणि-विभाग मान लेते हैं, एवं इन चारों का क्रमशः **पुरुषात्मक मानव, मानवात्मक मानव, मनुष्यात्मक–मानव, नरात्मक मानव,** यह नामकरण भी कर लेते हैं। **पुरुष, मानव, मनुष्य, नर,** चारों शब्द यद्यपि लोकव्यवहार में समानार्थक बनते हुए परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय ही प्रमाणित हो रहे हैं। तथापि कालानुबन्धी सर्ग–भेद से चारों हीं शब्द पृथक्–पृथक्–चार तत्त्वों–भावों-के ही समर्थक बन रहे हैं। मानववर्गचतुष्टयी से पहिले उस प्राकृत-विवर्त्त–चतुष्टयी को ही लक्ष्य बना लेना आवश्यक होगा, जिसके माध्यम से ही मानव चतुर्द्धा विभक्त हुआ है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह समतुलनात्मक–समन्वय, जिसके माध्यम से ही प्राकृत मानव का 'प्रतीक–व्यामोहन' उपशान्त होसकता है।

३०३–अनन्तकालात्मक 'प्रथम' प्रतीक–व्यामोहन, एवं तत्स्वरूपोपवर्णन की महती धृष्टता—

पहिला प्रतीकव्यामोहन है अनन्तकालात्मक, जिसे हमने अन्यान्य-भूत–भौतिक–दृष्टान्तों–प्रतीकों के समतुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक माना है, एवं जिसे कालातीत निर्विशेषानन्त्य का प्रमुख प्रतीक घोषित कर डाला है। इस प्रतीकताव्यामोहन का आधार बना है–'**एकांशेन जगत्सर्वम्**' का मूलाधारभूत–'**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः–पादोस्येहात्रभवत्पुनः**' यह वेदवाक्य। ब्रह्म को चतुष्पात् मान लिया गया है, इसे ही अनन्तब्रह्म घोषित कर दिया गया है। एवं इसी का एकांश–एक–पाद मान लिया गया है अक्षरात्मक अनन्तकाल। जब अनन्तकाल उसीका अंश–भाग–अङ्ग बन गया, तो निश्चयेन ऊर्ध्व–उदैत्–त्रिपान्मूर्त्ति वह अनन्तब्रह्म अङ्गी प्रमाणित होगया। अङ्ग ही जब प्रतीक की परिभाषा है, तो इस दृष्टि से एकांश–एकाङ्गरूप अनन्तकाल अवश्य ही उसका प्रतीक प्रमाणित होगया, और इस अनन्तकालप्रतीकता के व्यामोहन से हमने अपने आपको धन्य–कृतकृत्य ही मान लिया। प्रकृतिसर्ग में सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त यों एकांशरूप काल ही प्रमाणित होगया, जिसके समर्थन में हीं हमने अथर्ववेदीय दो कालसूक्तों का भी महता समारम्भेण समन्वय–धाष्ट्यं कर ही तो डाला।

३०४–अनन्तकालानुगता 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' लक्षणा साम्वत्सरिक-प्रतीकत्रयी का संस्मरण—

और आगे चल कर इसी अनन्तकाल को आधार मानकर सत्यं–शिवं–सुन्दरम्–नामक उन तीन कालविवर्त्तों की पारम्परिक–प्रतीकताका भी समन्वय कर ही तो डाला, जो प्रतीकत्रयी क्रमशः **सत्यभावात्मक-सौरसम्वत्सरकाल, शिवभावात्मक पार्थिवसम्वत्सरकाल,** एवं **सुन्दरभावात्मक चान्द्रसम्वत्सरकाल** नाम से प्रसिद्ध है। अनन्तकाल बना सर्वाधार, सत्यसौरसम्वत्सरकाल बना मूर्त्तसर्ग का मूलप्रवर्त्तक, शिव–पार्थिवसम्वत्सरकाल बना पुरुषसर्ग का आरम्भक, एवं सुन्दरचान्द्रसम्वत्सरकाल बना स्त्रीसर्ग का आरम्भक।

३०५–निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक अनन्तकाल, तत्प्रतीक सौरसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक पार्थिवसम्वत्सरकाल, तत्प्रतीक चान्द्रसम्वत्सरकाल, एवं प्रतीकगणनात्मिका अङ्गादङ्गाद्रूपा सन्तान परम्परा, तथा प्रतीकासक्ता मानवप्रज्ञा का आत्यन्तिक विमोहन—

इसी कालपरिपूर्णता के माध्यम से निर्विशेषानन्त्य का प्रतीक बन बैठा अनन्तकाल, इस अनन्तकाल का प्रतीक बन बैठा सत्यभावापन्न सौरसम्वत्सरकाल, इस का प्रतीक बन गया शिवभावापन्न पार्थिव सम्वत्सर, किंवा तदभिन्न शिवमूर्त्ति पुरुष, एवं इस का प्रतीक बन गया सुन्दरभावापन्न चान्द्रसम्वत्सर, किंवा सुन्दरी नारी। और यहाँ आकर एक प्रतीकधारा उपरत होगई, जिस का आगे जाकर–'अङ्गादङ्गात्–सम्भवति' रूपा सन्तानप्रतीकता में भौतिक विस्तार होता गया। ऐसा विस्तार हुआ कि, गणनात्मक इस प्राकृत-प्रतीकवाद का अनन्तकालारम्भ से आजतक उपराम ही नहीं हो पाया है। मानव की असंख्य पीढियाँ गणन करते करते, अन्वेषण करते करते थक थक गईं। किन्तु यह प्रतीक–परिगणन समाप्त ही नहीं हुआ, समाप्त नहीं ही होगा कभी भी इस प्रतीक-व्यामोहन-परम्परा से तो। कदापि इत्थंभूत प्रतीक-परिगणन से मानव इस काल–चक्र से परित्राण प्राप्त कर ही न सकेगा, और अनन्तकाल की सर्वश्रेष्ठ-प्रतीकता का भी वही परिणाम होगा, जो परिणाम सादि–सान्त–भौतिक-प्रतीक-वादियों का हुआ करता है, एवं जिन के प्रति आकृष्ट हो कर ही बड़े गर्व से हमने अनन्तकाल को प्रतीक उद्घोषित कर देने की महती भ्रान्ति कर डाली है।

१–अनन्तब्रह्मणो निर्विशेषस्य–अनन्तकालः–प्रतीकः (प्रकृतिसर्गे सर्वश्रेष्ठदृष्टान्तः–ब्रह्मणः–एकांशत्त्वेन)

२–अनन्तकालस्य सविशेषस्य–सौरसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(अनन्तकालस्य–एकांशत्त्वेन)

३–सौरसम्वत्सरकालस्य विशेषस्य–पार्थिवसम्वत्सरकालः–प्रतीकः–(सौरकालस्य प्रवर्ग्यत्त्वेन)

४–पार्थिवसम्वत्सरकालस्य–मूर्त्तस्य–चान्द्रसम्वत्सरकालः प्रतीकः (पार्थिवकालस्य–अङ्गत्त्वेन)

*–तस्य प्रतीका इमे साम्वत्सरिकाः–चेतनाचेतनपदार्थाः–अनन्ताः–चान्द्रकालस्य–अङ्गत्त्वेन

प्रकारान्तरेण—

१–निर्विशेषस्यानन्तब्रह्मणः–प्रतीकः–अनन्तकालः–सर्वाधारकालः (अनन्तो निर्विशेषस्य)

२–अनन्तकालस्य प्रतीकः–सत्यभावापन्नः–सौरकालः-मूर्त्तसर्गाधारकालः (सूर्य्यः–अनन्तस्य)

३–सौरकालस्य प्रतीकः–शिवभावापन्नः–पार्थिवकालः–पुरुषात्मककालः (नरः–सूर्य्यस्य–प्रतीकभूतः)

४–पार्थिवकालस्य–प्रतीकः–सुन्दरभावापन्नः–चान्द्रकालः–स्त्र्यात्मकः कालः (नारी–नरस्य–प्रतीकभूता)

*–तटस्थ–प्रतीकाः–अनन्ताः–असंख्याः–सन्ततिरूपाः–कालचक्रे-आबद्धाः—

३०६–सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या के महिमाविद्या, कालविद्या–नामक दो विवर्त्त, एवं तन्मूलक महिमासर्ग, तथा रेतोधासर्ग का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

अब एक दूसरी दृष्टि से इस प्रतीकवाद का समन्वय कीजिए। सर्गविद्यात्मिका सृष्टिविद्या को –**महिमाविद्या, कालविद्या,** भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है, जिन इन दोनों भावों का मूलाधार–'**रेतोधा आसन्, महिमान आसन्**' इत्यादि मन्त्र ही है, जिसका कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। '**महिमान आसन्**' ही महिमाविद्यात्मक **महिमासर्ग है,** एवं '**रेतोधा आसन्**' ही कालविद्यात्मक **कालसर्ग है**। इन दोनों सर्गों के आगे चलकर सृष्टयनुबन्धभेद से दो दो अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं। महिमा सर्ग के दोनों विवर्त्त क्रमशः **अव्ययात्मक अक्षरसर्ग, अव्ययानुगत अक्षरसर्ग,** इन नामों से, तथा कालसर्ग के दोनों विवर्त्त क्रमशः **अक्षरात्मक क्षरसर्ग, अक्षरानुगत क्षरसर्ग,** इन नामों से समन्वित माने जासकते हैं। इन चारों को क्रमशः **अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षराक्षरसर्ग, क्षरसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। इन्हीं को क्रमशः **पुरुषसर्ग, मूलप्रकृतिसर्ग, प्रकृतिविकृतिसर्ग, विकृतिसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। प्रकारान्तरेण इन्हीं चारों को क्रमशः **अप्राकृतसर्ग, प्राकृतसर्ग, अनन्तकालसर्ग, सम्वत्सरकालसर्ग,** इन नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। पहिले अवधान–पूर्वक तालिका-रूपेण इन चारों सर्गों को लक्ष्यारूढ कर लीजिए। तदनन्तर प्रतीकता का समन्वय कीजिए।

महिमान आसन्	१–अव्ययात्मकः–	अक्षरसर्गः–	अव्ययसर्गः–	पुरुषसर्गः——	अप्राकृतसर्गः	महिमासर्गः
	२–अव्ययानुगतः–	अक्षरसर्गः–	अक्षरसर्गः—	मूलप्रकृतिसर्गः–	प्राकृतसर्गः	
रेतोधा आसन्	३–अक्षरात्मकः—	क्षरसर्गः	क्षराक्षरसर्गः–	प्रकृतिविकृतिसर्गः-	अनन्तकालसर्गः	कालसर्गः
	४–अक्षरानुगतः–	क्षरसर्गः	क्षरसर्गः	विकृतिसर्गः——	सम्वत्सरकालसर्गः	
	इति वा चतुर्द्धा	इति वा	इति वा	इति वा	इति वा	
	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्–इत्याहुराचार्य्याः					

३०७–भावसर्गात्मक ऋषिसर्ग की मनुसर्गता का दिग्दर्शन—

चिद्भाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्त्तों का समन्वय कीजिए। अव्ययात्मक अक्षरसर्ग को कहा जायगा **चिदात्मसर्ग,** अव्ययानुगत अक्षरसर्ग को कहा जायगा **चित्सर्ग**। एवं इन दोनों महिमासर्गों की समष्टि को माना जायगा–**अव्ययनिबन्धन मानससर्ग,** किंवा **भावसर्ग,** किंवा ऋषिसर्ग, किंवा **मनुसर्ग**।

यह स्मरण रहे कि, मानसात्मक भावसर्ग का अव्ययात्मक चिदात्मसर्ग से प्रधान सम्बन्ध है, एवं ऋष्यात्मक मनुसर्ग का अव्ययानुगत चित्सर्ग से प्रधान सम्बन्ध है। दोनों माने जायँगे अव्ययसर्गात्मक महिमासर्ग ही, भावसर्ग ही, मानससर्ग ही।

३०८–चिदात्मसर्ग-चित्सर्गात्मक पुरुषसर्ग का दिग्दर्शन—

अक्षरात्मक क्षरसर्ग को कहाजायगा **चेतनसर्ग**, एवं इसे ही माना जायगा **प्राणात्मक गुणसर्ग**। अक्षरानुगत क्षरसर्ग को कहा जायगा **अचेतनसर्ग**, एवं इसे ही माना जायगा **वाङ्मय विकारसर्ग**। चिदात्म-सर्ग, चित्सर्ग, दोनों महिमासर्गों को कहा जायगा **पुरुषसर्ग**, एवं चेतनसर्ग–अचेतनसर्ग, इन दोनों रेतोधासर्गों को माना जायगा **प्रकृतिसर्ग**। और यही सर्गचतुष्टयी का दूसरा **'चिद्भावात्मक समन्वय'** होगा, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अव्ययसर्गाः—	१–अव्ययात्मकः–क्षरसर्गः–एव–चिदात्मसर्गः-मानससर्गः-भावसर्गः*	—**पुरुषसर्गः (१)** —महिमान आसन्—
	२–अव्ययानुतः–अक्षरसर्गः–एव–चित्ससर्गः—ऋषिसर्गः—मनुसर्गः	
अक्षरसर्गाः—	३–अक्षरात्मकः–क्षरसर्गः–एव–चेतनसर्गः–गुणसर्गः (अनन्तकालसर्गः)	–**प्रकृतिसर्गः (२)** —रेतोधा आसन्—
	४–अक्षरानुतः-क्षरसर्गः–एव-अचेतनसर्गः-विकारसर्गः(सम्वत्सरकालसर्गः)	

३०९–वर्णभावनिबन्धना सर्गचतुष्टयी का स्वरूप–परिचय—

अब वर्णभाव की दृष्टि से उक्त चारों सर्गविवर्त्तों का समन्वय कीजिए। ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–रूप प्राकृत–शक्तिभावों का ही नाम **'वर्णतत्त्व'** है, जो प्राकृत–कालिक–सर्ग–के चर–अचर–स्थावर–जङ्गम–यच्चयावत् पदार्थों में यथागुण–यथाकर्म्म–प्रतिष्ठित् हैं। **'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यम्'** (वसिष्ठः) के अनुसार प्राकृतगुणात्मक चातुर्वर्ण्य सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थों के विकारात्मक–आकृतिभावों की प्रतिष्ठा बन रहा है। आकृतिभाव जहाँ चतुरशीतिलक्ष (चौरासीलाख) हैं, अतएव तन्निबन्धना जातियाँ (योनियाँ) जहाँ इतनी ही हैं, वहाँ वर्ण केवल चार ही हैं। प्रत्येक जाति में, जाति की प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक पदार्थ में गौण–प्रधानता से चारों वर्ण समन्वित हैं, जिन चारों प्राकृत वर्णों में से प्रत्येक में एक वर्ण प्रधान रहता है, शेष तीन वर्ण गौण रहते हैं। जो वर्ण प्रधान रहता है, वह पदार्थ तद्वर्णनाम से ही प्राकृतजगत् में प्रसिद्ध हुआ

---

* **महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**
मद्भावा मानसा जाता येषं लोक-इमाः--प्रजाः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (गीता)

है । उदाहरण के लिए–एक पलाशवृक्ष को ही लीजिए । इस पलाशजाति के वृक्ष में ब्राह्मवर्ण ही क्यों कि प्रधानरूप से अभिव्यक्त है, अतएव इसे **'ब्राह्मणवृक्ष'** ही मान लिया गया है–**'पालाशो वै ब्रह्म'** (शतपथ) । अतएव मानवजाति का ब्रह्मवर्णात्मक ब्राह्मणमानव इस अनुरूपता–सम्बन्धसे सावित्री–दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत) में पलाशदण्डग्रहण का ही अधिकारी मान लिया गया है । प्रकृतिमूलक इस वर्णहरस्य का आधिदैविक–समन्वय न करने के कारण हीं भ्रान्तिवश आज **वर्ण**, और **जाति** शब्द पर्य्याय बन गए हैं । इसी साङ्कर्य्य ने वर्णद्वेषमूलक वह उत्पात खड़ा कर दिया है, जिसने प्राकृत पदार्थों की वर्णोत्कृष्टता को, तथा तन्मूला जातियों की अभिव्यक्तियों को सर्वात्मना ही अभिभूत कर लिया है ।

३१०–वर्णसर्गचतुष्टयी के ब्रह्मौदनवर्णसर्ग, एवं प्रवर्ग्यवर्णसर्ग–लक्षण दो प्रधान विवर्त्त—

चिदात्मसर्गात्मक, अव्ययात्मक अक्षरसर्गरूप प्रथम सर्ग परभावात्मक (अव्ययभावात्मक) अगोत्र–अवर्ण–अब्रह्म–अक्षत्र–लक्षण * **अवर्णसर्ग** है । चित्सर्गात्मक,–अव्ययानुगत–अक्षरसर्गरूप द्वितीय सर्ग परावरभावात्मक (अक्षरभावात्मक) गोत्र–वर्ण–प्रवर्त्तक–ब्रह्म–क्षत्र–लक्षण **'ब्रह्मौदनवर्ण'** है । चेतनसर्गात्मक, अक्षरात्मक–क्षरसर्गरूप तृतीयसर्ग अवरभावात्मक (क्षरभावात्मक) विट्–पौष्ण–लक्षण–**'प्रवर्ग्यवर्ण'** है । एवं अचेतनसर्गात्मक, अक्षरानुगत–क्षरसर्गरूप चतुर्थ सर्ग अवरवर्णात्मक **'अवरवर्णसर्ग'** है । इसप्रकार वर्णदृष्ट्या भी सर्गचतुष्टयी सर्वात्मना समन्वित हो रही है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

महिमानः	१–परभावात्मकः—चितादत्मसर्गः–स एव अवर्णसर्गः	–वर्णातीतसर्गः	महिमसर्गाः
	२–परावरभावात्मकः-चित्सर्गः——स एव ब्रह्मक्षत्रवर्णसर्गः	–ब्रह्मवर्णः	
		(चातुर्वर्ण्यसर्गः)	
त्रैलोधाः	३–अवरभावात्मकः--चेतनसर्गः—स एव विट्पौष्णसर्गः	–क्षत्रवर्णः	प्राकृतसर्गाः
	४–अवरभावानुगतः-अचेतनसर्गः–स एव अवरवर्णसर्गः	–अवरवर्णसर्गः	

३११–अवर्णब्राह्मणात्मक ऋषिमानव के द्वारा प्राकृतधर्म्म का संस्थापन, एवं वर्ण–ब्राह्मणात्मक विद्वान् मानव के द्वारा प्राकृत धर्म्म का संरक्षण—

अब उन मानव नामों के माध्यम से भी इन चारों सर्गों का समन्वय कर लीजिए, जिनके माध्यम से यह प्रतीकात्मक व्यामोहन संकलनरूप से समन्वित होने जारहा है । चिदात्मसर्गात्मक–परभावात्मक अवर्ण–

---

* **यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं–सुसूक्ष्मं तदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।** (मुण्डकोपनिषत् १।६।)
तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति०, (बृहदारण्यकोपनिषत्)

सर्गानुबन्धी--**अप्राकृत--ऋषिमानव** का ही नाम है '**पुरुष**', एवं यही है पहिला वह चिदात्मसर्ग, जिसे हम अगोत्र-अवर्ण, किन्तु गोत्र-वर्ण-प्रवर्त्तक, सर्गातीत-किन्तु सर्गप्रवर्त्तक अव्ययात्मक-अक्षरसर्ग कह रहे हैं, जिस की उपनिषदोंनें अवर्णरूप से ही स्वरूप-व्याख्या की है। कदापि इस का अर्थ यह नहीं है कि, ब्राह्मण-वर्णोचित आचारधर्म्म का ऋषिमानव परित्याग कर देते हैं। अपितु अपने अनुशीलनभाव से इनकी आचार-पद्धति तो सदा ही जागरूक बनी ही रहती है। ये ही तो आचारधर्म्मात्मक आर्ष-मानवधर्म्म के महान् स्तम्भ हैं। वर्णब्राह्मण, तथा ऋषिब्राह्मण में अन्तर है केवल सिद्धावस्था का, तथा साध्यावस्था का। ब्राह्मणमानव की पूर्वावस्था का नाम ही वर्णब्राह्मण है, एवं इसी की उत्तरावस्था का नाम अवर्णब्राह्मण है। योगारुरुक्षु ब्राह्मण वर्णब्राह्मण है, एवं योगारूढ ब्राह्मण अवर्णब्राह्मण है। वर्णब्राह्मण आचार से नियन्त्रित है, एवं आचार अवर्ण-ब्राह्मण से नियन्त्रित है। वर्णब्राह्मण आचारधर्म्म में प्रतिष्ठित है, एवं आचारधर्म्म अवर्णब्राह्मण में (ऋषिमानव में) प्रतिष्ठित है। वर्णब्राह्मण धर्म्मशील है, एवं अवर्णब्राह्मण धर्म्मप्रवर्त्तक है।

३१२--वर्णानुबन्धिनी त्रैवर्णिक--प्रजा से अनुप्राणित मानव--मनुष्य--नर--भावों का समन्वय—

अब दूसरे वर्ग का समन्वय कीजिए। चित्सर्गात्मक-परावरभावात्मक-ब्रह्मक्षत्रवर्ण-सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (ब्राह्मण, और क्षत्रिय मानव) का ही नाम है-'**मानव**,' एवं यही दूसरा सर्गविवर्त्त है। चेतनसर्गात्मक-अवरभावात्मक-विट्-पौष्ण-सर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णसर्गानुबन्धी प्राकृत वर्णमानव (वैश्य, और शूद्र-मानव) का ही नाम है-'**मनुष्य**'। एवं अचेतनसर्गात्मक-अवरवर्णसर्गानुबन्धी वैकारिक-अवरवर्णमानव (अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छ-रूपेण चार अवरवर्णों में विभक्त अवरवर्णमानव) ही अवरवर्णात्मक '**नर**' है। यह संस्मरणीय है कि, चतुर्थ सर्गव्यामोहनासक्ति से ऋषिमानव नरमानव कोटि में आजाता है, तो नर मानव सोपानपरम्परया प्रथमर्गानुगति से ऋषिमानवकोटि मे आसकता है। वही मानव इन सर्गभेदों से नर-मनुष्य-मानव-पुरुष-आदि सभी कुछ बन सकता है। अन्ततोगत्त्वा वही नर ऋषिकोटि का भी अतिक्रमण कर नारायणभाव में भी परिणत हो सकका है इस तथाकथित पूर्वोक्त आचारधर्म्म के माध्यम से।

३१३-प्रकृतिसिद्ध-वर्णधर्म्मात्मक-'स्वधर्म्म' से अनुप्राणिता वर्णचतुष्टयी, एवं 'सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्' का समन्वय—

यदि प्रकृतिसिद्ध, वर्णधर्म्मसिद्ध, स्वधर्म्मात्मक, अपने जन्मानुबन्धी प्राकृत-व्यवस्थित विशेषधर्म्म का परित्याग कर अपनी कल्पना से ही यह अपने आपको सबकुछ मान बैठने की भूल कर बैठता है, तो उस वर्गभेद-विरहिता भ्रान्ति से तो फिर इस नर का प्राकृतिक नरत्त्व भी उच्छिन्न हो जाता है, एवं उस दशा में तो इसे स्वैराचार-परायण पशु की कोटि में ही अपना नामोल्लेख करा लेना पड़ता है। **ब्राह्मणपुरुष, क्षत्रिय-मानव, वैश्यमनुष्य,** एवं **शूद्रनर,** चारों स्व-स्व-प्रकृतिसिद्ध-विभक्त-स्व-स्वधर्म्मात्मक-स्व-स्वकर्त्तव्य-कर्म्मों में कर्म्मकौशलात्मक-योगाधारेण एकनिष्ठ बनते हुए समानरूपेण अभ्युदय-निःश्रेयस् के उपभोक्ता बन जाते हैं। '**स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**'-'**स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्**'-'**स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः**'-'**सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्**' इत्यादि आर्षवचन वर्गभेदमूलक-प्रकृतिभेदभिन्न इसी स्वधर्म्म का समन्वय व्यक्त कर रहे हैं।

महिमानः	१–अवर्णसर्गानुगतः—मानवसर्ग एव—पुरुषसर्गः—ब्राह्मणमानवः २–ब्रह्मक्षत्रवर्णानुगतः—मानवसर्ग एव—मानवसर्गः—क्षत्रियमानवः	—महिमसर्गौ
[illegible]	३–विट्पौष्णवर्णानुगतः—मानवसर्ग एव—मनुष्यसर्गः—वैश्यमानवः ४–अवरवर्णानुगतः——मानवसर्ग एव—नरसर्गः——शूद्रमानवः	—प्राकृतसर्गौ

यस्य ब्रह्म च, क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद, यत्र सः । एतद्वै तत् । (उपनिषत्)

३१४-स्वधर्म्म से अनुप्राणित चतुर्विध पुरुषार्थों का नामसंस्मरण—

क्या स्वरूप है उस 'स्वधर्म्म' का, जो 'स्वे-स्वे-कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' के अनुसार प्रकृतिभेदभिन्न पुरुषादि-नरान्त मानव के चार वर्गभेदों में विभक्त होकर चतुर्द्धा, एवं अवान्तर महिमाओं में विभक्त होकर अनेकधा विभक्त होरहा है ?, प्रश्नोत्तर के समन्वय का अब प्रस्तुत खण्ड में अवसर नहीं हैं विस्तार-भिया । सम्भव हुआ, तो संकल्पित-'प्रकृतिपुरुषस्वरूपमीमांसा' नामक अग्रिम खण्ड में इस दिशा में कुछ निवेदन करने की चेष्टा की जायगी । प्रकृत में तालिकात्मक समन्वय-सन्दर्भ-सङ्गति की दृष्टि से यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्राकृतधर्म्मभेदात्मक यह स्वधर्म्म भी सर्गचतुष्टयी के कारण क्रमशः **ब्राह्मणधर्म्म-क्षत्रियधर्म्म-वैश्यधर्म्म-शूद्रधर्म्म** भेद से चार ही भागों में विभक्त होरहा है, जिन इन चारों के ही पारिभाषिक नाम **मोक्ष, धर्म्म, काम, अर्थ**-रूप से प्रसिद्ध हैं ।

३१५-आत्मपर्वानुगत मोक्षभाव, बुद्धिपर्वानुगत धर्म्मभाव, मनःपर्वानुगत कामभाव, शरीरपर्वानुगत अर्थभाव, एवं चतुष्पर्वानुगत पुरुष-मानव-मनुष्य-नर-भावों का चतुर्विध स्वधर्म्मों से क्रमिक-सम्बन्ध—

धर्म्म-काम-अर्थ-गर्भित-'**मोक्ष**' नामक प्रथम धर्म्म चतुष्पर्वा मानव के प्रथमपर्वात्मक '**आत्मपर्व**' से अनुप्राणित रहता हुआ '**आत्मधर्म्म**' है । चतुर्विध मानववर्गों में से आत्मनिष्ठ 'ब्राह्मणमानव' नामक 'पुरुष' का इसी आत्मधर्म्म से प्रधान सम्बन्ध है । अतएव इसे ही 'पुरुष' (ब्राह्मण) का प्रमुख स्वधर्म्म मान लिया गया है । मोक्ष-काम-अर्थ-गर्भित-'**धर्म्म**' नामक द्वितीय धर्म्म मानव के द्वितीय पर्वात्मक '**बुद्धिपर्व**' से अनुप्राणित रहता हुआ '**बुद्धिधर्म्म**' है । बुद्धिनिष्ठ 'क्षत्रियमानव' नामक '**मानव**' का इसी बुद्धिधर्म्म से

प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (क्षत्रिय) का मुख्य स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म्म-अर्थ-गर्भित '**काम**' नामक तृतीय धर्म्म मानव के तृतीय पर्वात्मक '**मनःपर्व**' से अनुप्राणित रहता हुआ '**मनोधर्म्म**' है। मनोनिष्ठ 'वैश्यमानव' नामक '**मनुष्य**' का इसी मनोधर्म्म से क्योंकि प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (वैश्य) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। मोक्ष-धर्म्म-काम-गर्भित '**अर्थ**' नामक चतुर्थ धर्म्म मानव के चतुर्थ पर्वात्मक '**शरीरपर्व**' से अनुप्राणित रहता हुआ '**शरीरधर्म्म**' है। शरीरनिष्ठ 'शूद्रमानव' नामक 'नर' का इसी शरीरधर्म्म से क्योंकि विशेष सम्बन्ध है। अतएव इसे ही मानव (शूद्र) का प्रधान स्वधर्म्म मान लिया गया है। त्रिगर्भित '**मोक्ष**' नामक स्वधर्म्म प्रथम चिदात्मसर्ग से, त्रिगर्भित '**धर्म्म**' नामक स्वधर्म्म द्वितीय चित्सर्ग से, त्रिगर्भित ही '**काम**' नामक स्वधर्म्म तृतीय चेतनसर्ग से, एवं त्रिगर्भित ही '**अर्थ**' नामक स्वधर्म्म चतुर्थ अचेतनसर्ग से उसी क्रमानुपात से समन्वित है, और यही अथ से इति पर्य्यन्त के शास्त्रीय-चतुर्विध-'**आचारधर्म्म**' का संक्षिप्त स्वरूप-दिग्दर्शन है।

३१६-पुरुषात्मानुगत अनुशीलनधर्म्म, मानवबुद्ध्यनुगत आचरणधर्म्म, मनुष्यमनोऽनुगत अनुसरणधर्म्म, नरशरीरानुगत अनुकरणधर्म्म, एवं स्वधर्म्म के महिमाभाव-

ये ही चारों स्वधर्म्म अत्यन्त-रहस्यपूर्ण तत्त्व का संग्रह करने वाले क्रमशः **अनुशीलन**, **आचरण**, **अनुसरण**, **अनुकरण**-इन पारिभाषिक नामों से समन्वित हैं। आत्मानुगत मोक्षधर्म्म का अनुशीलन ही होता है, बुद्ध्यनुगत धर्म्म का आचरण ही होता है, मनोऽनुगत कामधर्म्म का अनुसरण ही होता है, एवं शरीरानुगत अर्थधर्म्म का अनुकरण ही होता है।

३१७-शरीरप्रधान नरों का प्रजात्व, तदनुगत अनुकरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित प्रजातन्त्र-

(१) शरीरनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक स्वार्थमात्रनिष्ठ, शरीरधर्म्मा शूद्रमानव (नर) का अभ्युदय-निःश्रेयस् (चतुर्विधा पुरुषार्थसंसिद्धि, मोक्ष-धर्म्म-काम-गर्भित, शरीरानुगत अर्थधर्म्मरूप **अनुकरणधर्म्म** पर ही अवलम्बित है, जिसकी मूलप्रतिष्टा है-'**एष आदेशः**'। अपने व्यक्तितन्त्र के अतिरिक्त इस अनुकरणधर्म्म में परिवार-समाज-राष्ट्र-हितों का कोई समावेश नहीं है। और यही शरीरमात्रप्रधान '**प्रजातन्त्र**' की स्वरूप-परिभाषा है। अर्थप्रधान राष्ट्र ही प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिसके यच्चयावत् विधि-विधान '**परानुकरण**' पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीरमात्र ही इस तन्त्र में गच्छतः-स्खलन-रूप से व्यक्त रहता है, जबकि राष्ट्र का मन, राष्ट्र की बुद्धि, राष्ट्र का स्वतन्त्र आत्मा, तीनों तो अन्तर्म्मुख-प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुकरणात्मक-प्रजातन्त्र में।

३१८-मनःप्रधान मनुष्यों का गणत्व, तदनुगत अनुसरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित गणतन्त्र-

(२)-मनोनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक-स्वार्थ साधनपूर्वक पारिवारिक स्वार्थनिष्ठ, शरीर-मनोधर्म्मा वैश्यमानव (मनुष्य) का अभ्युदय-निःश्रेयस् मोक्ष-धर्म्म-अर्थ-गर्भित, मनोऽनुगत-कामधर्म्मरूप '**अनुसरणधर्म्म**' पर ही अवलम्बित है, जिस की मूलप्रतिष्ठा है-'**एष उपदेशः**'। अपने वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ के अतिरिक्त इस अनुसरणधर्म्म में समाज, तथा राष्ट्र के हितों का कोई समावेश नहीं है।

और यही शरीर--मनो--मात्र--प्रधान '**प्रजातन्त्रीय--गणतन्त्र**' की, किंवा **गणतन्त्रीय--प्रजातन्त्र**' की स्वरूप-परिभाषा है । अर्थ--काम--प्रधान राष्ट्र ही गणतन्त्रीया प्रजातन्त्रपद्धति का अनुगामी बना रहता है, जिस के सम्पूर्ण विधि--विधान परानुकरणगर्भित--परानुसरण पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। राष्ट्र का बाह्य शरीर, अधिक से अधिक मानस अनुरञ्जन--मात्र ही इस तन्त्र में व्यक्त रहता है, जबकि राष्ट्र की बुद्धि, और राष्ट्र का प्रभुसत्तासमर्थ आत्मा, ये दोनों तो अन्तर्म्मुख--प्रसुप्त ही बने रहते हैं इस अनुसरणात्मक--गणतन्त्रीय--प्रजातन्त्र में भी ।

३१९--बुद्धिप्रधान मानवों का राजन्यत्त्व, तदनुगत आचरणधर्म्म, एवं तदनुप्राणित-राजतन्त्र-

(३)--बुद्धिनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक--पारिवारिक--स्वार्थ--साधनपूर्वक सामाजिक (प्रान्तीय) स्वार्थ-निष्ठ, शरीर--मनो--बुद्धि--धर्म्मा क्षत्रियमानव (मानव) का अभ्युदय--निःश्रेयस् मोक्ष--काम--अर्थ--गर्भित, बुद्ध्यनुगत 'धर्म्म' धर्म्मरूप '**आचरणधर्म्म**' पर ही अवलम्बित है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है--'**एतदनुशासनम्**' । अपने वैय्यक्तिक--पारिवारिक--तथा प्रान्तीय (सामाजिक) स्वार्थ के अतिरिक्त इस आचरणधर्म्म में भी सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का कोई समावेश नहीं है । और यही शरीर--मनो--बुद्धि--मात्रप्रधान **राजन्यतन्त्र** की स्वरूप--परिभाषा है । आत्मनिष्ठा से वञ्चित ऐसे राजतन्त्र के कारण ही तो, ऐसे राजतन्त्र से उद्भाविता प्रान्तीयता से ही तो-'**राजा कौन बनें** ?' मूलक व्यामोहन से राष्ट्रीय संघठन छिन्न भिन्न हो जाता है, परिणाम-स्वरूप परसत्ताएँ ऐसे शिथिल--असंघठित राज्य-पदलोलुप राष्ट्र को स्वाधिकार में हीं लेलिया करतीं हैं ।

३२०--आत्मप्रधान पुरुषों का नीतिकुशलत्त्व, तदनुगत अनुशीलनधर्म्म, एवं तदनुप्राणित नीतितन्त्र, तथा तालिकाओं के माध्यम से स्वधर्म्म--चतुष्टयी का समन्वय-प्रयास—

(४)--आत्मनिष्ठ, अतएव वैय्यक्तिक--पारिवारिक--सामाजिक--स्वार्थसाधनपूर्वक राष्ट्रीय स्वार्थनिष्ठ, शरीर--मनो--बुद्धि--आत्म--धर्म्मा ब्राह्मणमानव (पुरुष) का अभ्युदय--निःश्रेयस् धर्म्म--काम--अर्थ--गर्भित, आत्मानुगत--'मोक्षधर्म्म' रूप 'अनुशीलन' पर ही अवलम्बित है, जिस की मूलप्रतिष्ठा है--'**एषा संवित्**' । अतएव यह वर्ग आदेश--उपदेश--अनुशासन, तीनों की सीमाओं से असंस्पृष्ट है । इस आत्मनिष्ठ का वैय्यक्तिक--पारिवारिक--सामाजिक स्वार्थ प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय स्वार्थ को ही मूलप्रतिष्ठा बनाए रहता है । जिन वैय्यक्तिक--पारिवारिक--सामाजिक--स्वार्थ--साधनों से इसे राष्ट्र का अहित प्रतीत होने लगता है, क्षणमात्र में उन सब का परित्याग कर यह सर्वतोभावेन राष्ट्रहित को ही अपना अनुशीलनधर्म्म प्रणतभाव से समर्पित कर देता है । भूयो भूयः हम प्रणामाञ्जलियाँ हीं समर्पित कर रहे हैं आस्था--श्रद्धा--पूर्वक ऐसे राष्ट्रहितनिष्ठ, राष्ट्रहितनिष्ठता के ही माध्यम से विश्वहितनिष्ठ बने रहने वाले ब्राह्मणमानव के लिए पुनः पुनः । एवं इस प्रणति--समर्पण के साथ ही उपरत हो रही है यह स्वधर्म्मपरिभाषा, जिसका तालिकात्मक समन्वय इत्थं--रूपेण सम्भव है—

महिमा–धर्म्मा	१–चिदात्मसर्गानुगतः–अनुशीलनधर्म्मः-ब्राह्मणस्य स्वधर्म्मः [मोक्षात्मकः] २–चित्सर्गानुगतः——-आचरणधर्म्मः— क्षत्रियस्य स्वधर्म्मः [धर्म्मात्मकः]	प्रतिरूपधर्म्मा
ग्रन्थि–धर्म्मा	३–चेतनसर्गानुगतः-—अनुसरणधर्म्मः--वैश्यस्य स्वधर्म्मः [कामात्मकः] ४–अचेतनसर्गानुगतः–अनुकरणधर्म्मः-–शूद्रस्य स्वधर्म्मः [अर्थात्मकः]	प्रतीकधर्म्मा

१–शरीर–मनो–बुद्धि—गर्भितः—आत्मनिष्ठः–ब्राह्मणमानवः [राष्ट्रहितनिष्ठः] ।

२–शरीर–बुद्धि–आत्म–गर्भितः—बुद्धिनिष्ठः–क्षत्रियमानवः [समाज–प्रान्त–हितनिष्ठः] ।

३–शरीर–बुद्धि–आत्म–गर्भितः—मनोनिष्ठः–वैश्यमानवः [परिवारहितनिष्ठः] ।

४–मनो–बुद्धि–आत्म–गर्भितः—शरीरनिष्ठः–शूद्रमानवः [वैय्यक्तिकहितनिष्ठः] ।

——*——

१–राष्ट्रहितनिष्ठो ब्राह्मण एव पुरुषः—संविदनुगतः [एषां संवित्] ।

२–प्रान्तीयहितनिष्ठः क्षत्रिय एव मानवः-अनुशासनानुगतः [एतदनुशासनम्] ।

३–परिवारहितनिष्ठो वैश्य एव मनुष्यः-उपदेशानुगतः [एष उपदेशः] ।

४–वैय्यक्तिकहितनिष्ठः शूद्र एव नरः—आदेशानुगतः [एष आदेशः] ।

——*——

१–सविदनुगतं–नीतितन्त्रम्–(ब्राह्मणस्यैवात्मनिष्ठस्य)–मोक्षप्रधानम्–राष्ट्रीयम् ।

२–अनुशासनानुगतं–राजतन्त्रम्–(क्षत्रियस्यैव बुद्धिनिष्ठस्य)–धर्म्मप्रधानम्–प्रान्तीयम् ।

३–उपदेशानुगतं–गणतन्त्रम्–(वैश्यस्यैव मनोनिष्ठस्य)–कामप्रधानम्–पारिवारिकम् ।

४–आदेशानुगतं–प्रजातन्त्रम्–(शूद्रस्यैव शरीरनिष्ठस्य)–अर्थप्रधानम्–वैय्यक्तिकम् ।

——*——

३२१-पौरुष, तथा भाग्य के अनुबन्ध से सर्गचतुष्टयी का स्वरूपोपक्रम, एवं 'पौरुष' की स्वरूप-परिभाषा —

अत्र **पौरुष**, और **भाग्य** की दृष्टि से भी सर्गचतुष्टयी का समन्वय क्यों न कर लिया जाय ? । अवश्य कर लिया जाय, जिस **पुरुषार्थ**, और **भाग्यवाद** से सम्बन्ध रखने वाली महती समस्या का पूर्वखण्डों में यत्र-तत्र संक्षेप से, तथा विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है । '**ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः**' इस श्रुति-सिद्धान्तमूलक अनन्तात्मब्रह्मानुगत, सर्वशक्तिसमन्वित 'पौरुष' के लिए कुछ भी असम्भव इसलिए नहीं है कि, समस्त प्राकृतिक सर्ग के महिमात्मक [आधिदैविक], तथा परिणामात्मक [आधिभौतिक] क्रम-संस्थान, इनका फलाफल ब्रह्मविद्यावित् आत्मनिष्ठ अप्राकृत मानव के लिए सर्वथा विज्ञात ही बना रहता है । अतएव यह कालानुबन्धी—दिग्देशानुबन्धी—भाग्य का वशवर्त्ती न रह कर भाग्य को वश में रखता हुआ—'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ' ही बन जाता है । अव्ययपुरुषानुगत सत्यसंकल्प, एवं तदनुगत सत्यकर्म्मा-ध्यवसाय इसके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण कर देते हैं-'**यं यं कामयते, तं तमाप्नोति**' ।

३२२-दिग्देशकालानुप्राणिता भूताभिव्यक्ति, एवं भाग्यवादी, तथा पुरुषार्थनिष्ठ में प्राकृतिक विभेद —

यह ठीक है कि, दिग्देशकालानुबन्धों के बिना व्यक्त भूतभाव अभिव्यक्त नहीं हुआ करते । इस दिग्देश-कालाधीनता का नाम हीं तो भाग्य, किंवा भाग्यवाद है । अवश्य ही अव्ययपुरुषानुगत आत्मनिष्ठ ब्रह्मविद्यावित् को भी अनुगमन तो भाग्यवाद के मूलप्रतिष्ठारूप दिग्देशकालानुबन्धों का करना हीं पड़ता है । किन्तु भाग्यवादी में, और इस अव्ययपुरुषनिष्ठ पौरुषशाली ब्रह्मविद्यावित् में अन्तर केवल इतना सा है कि, भाग्यवादी जहाँ दिग्देशकालाधीन है, वहाँ पौरुषशाली मानव सत्यसंकल्पानुसार ऐच्छिक दिग्देशकाल तत्काल अभिव्यक्त कर लेता है । इसलिए करलेता है कि, जहाँ भाग्यवादी दिग्देशकाल के गर्भ में रहने से दिग्देशकालाधीन है । यह स्वयं अपनी इच्छा से न चल सकता, न सोच सकता, न कुछ कर ही सकता । अपितु काल ही इसका वहन करता रहता है । अतएव कालगति के अनुसार ही इसे अपने व्यक्त जीवन का यापन करते रहना पड़ता है, जैसाकि कालसूक्त के-'**कालो अश्वो वहति**' इत्यादि वाक्यार्थ-समन्वय-प्रसङ्ग में विस्तार से बतलाया जाचुका है । वहाँ ठीक इसके विपरीत ब्रह्मवित् क्रान्तिदर्शी मनीषी कवि अपने प्राकृतरूप से काल के गर्भ में रहता हुआ भी कालातीत अनन्ताव्ययपुरुषलक्षण अप्राकृत-कालातीत स्वरूप से काल को स्वगर्भ में हीं प्रतिष्ठित रखता है, जैसाकि उसी मन्त्र के-'**तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः**' इत्यादि उत्तर-वाक्य से तत्रैव स्पष्ट किया जाचुका है ।

३२३-पुरुषार्थक्षेत्रानुगता दिग्देशकालमर्य्यादा का समर्थन—

कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, इस कालातीत पौरुषशाली ब्रह्मवित् के संकल्प दिग्देशकाल की सीमा से बहिर्भूत केवल भावजगत् में हीं, केवल संकल्परूप से ही पूर्ण हो जाते हैं, जैसाकि तत्त्वमीमांसकोंनें कुछ ऐसा सा ही मान रक्खा है ।

३२४--पौरुषशाली महामानवों की सत्यसंकल्पसिद्धि पर पूर्ण आस्था, किन्तु प्राकृत-कालमर्य्यादानुगता उनकी दिग्देशकालानुगति का समन्वय—

हम कदापि उन पौरुषशाली महामानवों की इस शक्ति में कोई शङ्का नहीं रख रहे कि, यदि वे चाहें, तो बिना दिग्देशकालानुबन्धों के भी उनके सत्यसंकल्पमात्र ही दिग्देशकालात्मक-व्यक्त-मूर्त्तभावों के बिना भी उनकी तृप्ति--तुष्टि--शान्ति के कारण बन सकते हैं। कुछ भी असम्भव नहीं है उनके लिए। तदपि उनका महिमामय कालस्वरूप ही यह प्रमाणित कर रहा है कि, उनका प्रत्येक संकल्प उन के द्वारा अभिव्यक्त-मर्य्यादित कालचक्र की सीमा में दिग्देशानुबन्ध से ही सम्पन्न होना चाहिए। क्या वे स्वयं अपने लिए, तथा अपने से अभिन्न ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अपने ही संकल्प से अभिव्यक्त, अपने हीं महिमारूप दिग्देश-कालानुबन्धों की यों उपेक्षा कर देंगे ?। कदापि नहीं।

३२५-अवतारपुरुषों के दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित इतिवृत्त, एवं तदपरिचित-चमत्कारव्यामोहनासक्त आज के सन्त-सिद्धों की दिग्देशकालानुगता आचार-निष्ठा के प्रति अवहेलना—

अवतारपुरुषों का दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादित लीलावृत्त कौन नहीं जानता ?। यदि स्वयं लीलाधर विश्वेश्वर, एवं उनके सायुज्य से समन्वित ब्रह्मवित् ही यों मर्य्यादाचारों का परित्याग कर देंगे, तो फिर इन्हीं को आदर्श मानने वाले अस्मदादि लौकिक-प्राकृत नर क्या क्या कल्पनाएँ नहीं कर डालेंगे उनके उदाहरणों को सामने रखते हुए ?, जैसेकि ईश्वराज्ञासिद्ध-दिग्देशकालमर्य्यादित शास्त्रसिद्ध आचार की अवहेलना करने वाले चमत्काराभिभूत सन्तोंनें, एवं तदनुगामिनी भावुक-जनताने अपने गुरुओं की, तथा तन्माध्यम से अपने भावनासिद्ध (भातिसिद्ध) भगवान् की दिग्देशकालबन्धनरहिता, सहजभाषानुसार-अमर्य्यादिता अलौकिक चमत्कारपरम्पराओं के सर्ज्जनाधार पर अपने आपको शास्त्रीय आचारनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख कर लिया है।

३२६-भगवान् की सर्वकरणीयता से अनुप्राणित लोकसूत्र, एवं तत्स्वरूप से अपरिचित भक्त-सन्तों का सिद्धिचमत्कारात्मक महान् व्यामोहन—

"अवश्य ही भगवान् के साम्राज्य में सभी कुछ सम्भव है। कुछ भी असम्भव नहीं है उस ईश्वरीय-प्राङ्गण में। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सबकुछ सम्भव ही हो, यह तो असम्भव ही है" लोकनिष्ठ महामानवों के इस लोकसूत्र का वास्तव में कुछ अर्थ है, जिस की भावुकतावश उपेक्षा कर काल्पनिक चमत्कारों के काल्पनिक आवेशों में, तन्मूला आशा-दुराशाओं में आसक्त-व्यासक्तमना भावुक-जनता सर्वथा ही आचारशून्या, अतएव सर्वशून्या ही बन गई है, इति नु महद्दुःखास्पदम्। जिसे **'अष्टसिद्धि'** कहा है-योग ने, तत्सम्बन्ध में भी हम अभी इस से अधिक कुछ भी निवेदन नहीं करना चाहेंगे कि-**'अष्टसिद्धि'** नामकी यदि कोई योगविभूति है, तो तद्युक्त वह सिद्धमानव चान्द्रदेवसर्ग का ही कोई अवयव हो सकता है। यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि-**"मानव का मानवशरीर में विद्यमान रहते हुए इसका अष्टसिद्धि-प्रदर्शन सर्वथा असम्भव ही है"**।

३२७–देवविद्यात्मका चान्द्रीविद्या के सम्भावित प्रदर्शन, एवं तद्द्वारा सिद्धिभक्त भावुक मानवों के आचारात्मक--सहज--नैष्ठिक--स्वरूप का विमोहन—

अवश्य ही देवविद्यात्मिका चान्द्रीविद्या के माध्यम से (जिस का नाम–'योग'-रख लिया गया है) अष्टसिद्धियों का तात्कालिक प्रदर्शन सम्भव है। किन्तु यह प्रदर्शनभक्त अपने व्यक्तित्त्व–प्रतिष्ठापन–लक्षण व्यक्तित्त्व–विमोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो वैसा आचारात्मक–लक्ष्य व्यवस्थित नहीं कर पाता, जिससे इसके लोकजीवन में कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता हो। कदापि इन प्रदर्शनात्मक विजृम्भणों से यह स्वयं तो देवभाव में परिणत नहीं हीं होसकता।

३२८ देवर्षिभावानुगता नैष्ठिकी-आचारात्मिका सिद्धियों की भावुकतापूर्णा भूतसिद्धियों से असंस्पृष्टता, एवं भूतसिद्धियों के महान् पण्डित एतद्देशीय 'सर्पविमोहनकुशल' अगणित यायावर--लोकमानव—

स्मरण रहे, जिन सिद्ध--योगियों की, नारदादि की यशोगाथाएँ पुराण में सुनीं जातीं हैं, वे कोई भूतलोक के–भूतसर्ग के प्राणी नहीं हैं। अपितु वे तो आधिदैविक–प्राणसग की प्राणात्मिका ही विभूतियाँ हैं। तभी तो नारद 'देवर्षि' कहलाए हैं तत्र। सन्त--साधु--फ़क़ीर--उल्मा--आदि की सम्प्रदायों में जो यदा कदा कुछ एक अलौकिक--घटनाएँ, चमत्कार देखे, और सुने जाते हैं, उनका देवविद्यात्मक–प्रदर्शन से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह तो वह '**भूतसिद्धि**' मात्र है, जिसके पारम्परिक प्रकार, हीनतम-जघन्यतम–मलीमस–प्रकार, न केवल तथाकथित साधु--सन्तों में हीं, अपितु गृहे गृहे द्वारे द्वारे करपट्टिका–खण्डों, तथा ताम्र–कार्षापणों * के लिए '**पूँगी**' नामक वाद्यविशेष को बजाते हुए अहोरात्र इतस्ततः भटकते रहने वाले 'सर्पविमोहनकुशल' गैरिकवस्त्रधारी प्राकृत मानव (कालबेलिए) भी यदा कदा ऐसे चमत्कार प्रदर्शित कर सकते हैं, जिन कुछ ऐसे चमत्कारों को देख–सुन कर ही तो भारतीय–योगविद्या की अलौकिक शक्ति की यशोगाथा ? से प्रभावित हो पड़ने वाले सुप्रसिद्ध प्रतीच्य जिज्ञासु **पालब्रन्टन** महाभाग बड़ी कठिनता से अपनी सहज श्रद्धा का संवरण कर सके थे–(देखिए–**पालब्रन्टनलिखित–'गुप्तभारत की खोज' नामक निबन्ध**)। ऐसी भूतसिद्धियाँ तो भारत के निरक्षरमूर्द्धन्य–उदरम्भरि–यथाजात–ग्रामीणों में भी यदा कदा सरलता से उपलब्ध होजातीं हैं। अन्तर इन में, और साधु–सन्तों में यही है कि, ग्रामीण कौशलपूर्वक उन का प्रदर्शन करना नहीं जानते, नाहीं वे अधिकांश में प्रदर्शन करते ही। जबकि हमारे ये बाबालोग–सन्त–गुरु–महाराज कौशलपूर्वक प्रदर्शन करते हुए उन प्रतीच्यशिक्षाधुरीण–भारतीय सभ्यों तक को तात्कालिकरूप से प्रभावित कर लेते हैं, जिन्होंनें अपने भूतविज्ञान में ऐसी अलौकिक–चमत्कारपूर्ण–घटनाओं को कभी पढ़ा, सुना नहीं है। और जिनका भारतीय तत्त्ववादानुगत, तन्मूलक देवभावात्मक आचारशास्त्र से कभी सम्पर्क रहा ही नहीं है। अतएव ये शिक्षित सभ्य भारतीय महानुभाव ही अज्ञजनों की भाँति, अपितु कहीं कहीं तो उन से भी विशेषरूपेण तथाविध भूतचमत्कारों से प्रभावित होते देखे, एवं सुने गए हैं।

---

* रोटी के टुकड़ों, और ताँबे के पैसों के लिए।

३२६–देवविद्यानुगता अलौकिक–सिद्धियों में निष्णात सन्तों के प्रति आस्था–समर्पण, किन्तु तथाविध सिद्ध–सन्त–महापुरुषों की प्रदर्शनों से आत्यन्तिक तटस्थता—

मान लेते हैं, एवं सर्वात्मना आस्था भी कर लेते हैं कि, अवश्य ही देवविद्यानुगत वैसे सन्त–साधु भी इसी भूतल पर विद्यमान हैं, जो देवविद्यामूला अलौकिक सिद्धियों के सगुण स्वरूप बनते हुए माता धरित्री को धन्य बनाते रहते हैं। किन्तु यह सुनिश्चित है कि, ऐसे देवविद्यानिष्ठ परमसन्त महामानव कदापि अपनी इन देवसिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। कदापि इन में शिष्य–सम्प्रदायवृद्धि का व्यामोहन नहीं होता। कदापि वर्त्तमानयुग की भूत–विलास-सामग्रियों से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः व्याप्त सुसभ्य ? नगरों के जनकोलाहलपरिपूर्ण प्राङ्गणों में महान् आटोप के साथ '**समाधि**' जैसे सामान्यतम प्राणनिरोध–प्रदर्शन के लिए वे परमसन्त आकुल–व्याकुल नहीं बनते रहते। कदापि इन की देवसिद्धियों का कभी भी, किसी के भी अनिष्ट-चिन्तन में उपयोग नहीं होता, जब कि–भूत–प्रेत–यक्ष–राक्षसादि-चान्द्र–भूत–भौतिक–तात्कालिक आवेशों से आविष्ट 'भूतसिद्धिपरायण' सन्त अपने इन भूतव्यामोहनों से भावुक जनता को भयत्रस्त करते रहने में ही अपना परम–पौरुष मानते रहते हैं। स्वयं भगवान् ने विस्पष्ट शब्दों में ऐसे भूतसिद्धिवादियों की सर्वात्मना अवहेलना ही तो की है *।

३३०–दिग्देशकालव्यामोहक--भौतिक--चमत्कारों से तात्कालिकरूपेण तुष्टा-पुष्टा लोकप्रजा का परिणामतः मानवीय–निष्ठादृष्टि से आत्यन्तिक विनाश—

अभ्युपगमवाददृष्ट्या यह भी मान लेने में हम कोई आपत्ति नहीं करेंगे कि, भूतसिद्धिपरायण तथाविध प्रदर्शनकारी सन्तों, साधुओं के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों से इनकी भक्तजनता प्रभावित भी अवश्य ही हो–जाती होगी। एतदतिरिक्त इन सन्तों के भौतिक सिद्धिबल से तद्भक्तों के लोक-वित्त-पुत्रैषणात्मक-लौकिक-सामाजिक-पारिवारिक-राजनैतिक-तात्कालिक-स्वार्थ भी सफल होजाते होंगे। तदपि इन सब व्यामोहनों से न तो मानव उस सहज शान्ति-तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि का ही अनुगामी बन सकता, न ऐसे सिद्धिप्रलोभन-भक्त मानव का व्यक्तित्त्व ही अभिव्यक्त हो पाता, न परिवार ही अभ्युदयपथानुगामी बन सकता, न समाज ही व्यवस्थापूर्वक सुव्यवस्थित बन सकता। और राष्ट्रहितानुबन्धी मानवधर्म्म का तो संस्मरण भी सम्भव नहीं है इस वैयक्तिक

---

*–यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्ष--रक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं (जीवं)--तान् विद्धि--आसुरनिश्चयान् ॥
—गीता १७।४,५,६,।

एषणा-पथ में। अतएव अन्ततोगत्वा आचारशून्य, चमत्कारपूर्ण इत्थंभूत भूतसिद्धिव्यामोहन का निस्सारत्व ही, एवं परिणाम में सर्वनाशकरत्व ही प्रमाणित हो जाता है।

३३१-आचारात्मिका-शास्त्रीया-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में नैष्ठिकी देव-विद्याओं का भी शैथिल्य, एवं आज से ५ सहस्र-वर्ष-पूर्व के भारत में देवसिद्धियों की सगुणप्रतिमारूप भगवान् कृष्ण के द्वारा आचारधर्म्म का ही समर्थन-पालन—

भूतसिद्धियों की बातें तो जाने दीजिए। आचारात्मिका प्रकृतिसिद्धा-कर्त्तव्यनिष्ठा के समतुलन में तो असम्भव को सम्भव बना डालने की क्षमता रखने वाली देवविद्यात्मिका पराविद्या का भी समादर नहीं किया तद्विद्य ऋषिमानवोंनें, एवं तन्मूर्त्ति अवतारपुरुषोंनें। कभी इन देवविद्याओं के माध्यम से न तो आर्षधर्म्म-प्रवर्त्तक महामहर्षियोंनें हीं दिग्देशकालातिक्रम किया, एवं न आर्षधर्म्मसंरक्षक भगवदवतारपुरुषोंनें हीं प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय आचारपथ की अवहेलना की। अपितु इनके सभी लोकानुबन्ध-समाज-राष्ट्रादि-व्यवस्थापन दिग्देशकालानुबन्धी मर्य्यादासूत्रों से ही समन्वित होते रहे। भूतसिद्धिव्यामोहक साधु-सन्त-गण सम्भवतः यह तो मान ही लेंगे कि, आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के सांक्रामिक-भयावह-काल्वालीकृत-धर्म्मग्लानिरूप महाभारतयुग में इस धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही अपने अव्ययात्मक अक्षररूप से अवतीर्ण पूर्णावतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में वे सभी सिद्धियाँ विद्यमान थीं, जिनका उपयोग भी धर्म्मद्वेषी तत्त्वों के उपशम के लिए क्वाचित्करूपेण ही हुआ। किन्तु कदापि भगवान् ने लोकनिष्ठा-संरक्षण-प्रसङ्गों में किसी भी अलौकिक-सिद्धि को माध्यम नहीं बनाया। अपने देवभावात्मक विराट्स्वरूप की तात्कालिक अभिव्यक्ति की आवश्यकता भी उस भावुक अर्जुन के प्रति हो पड़ी थी, जो भावुकतावश, अपनी मानसिक अनुभूति, काल्पनिक-दया, अहिंसा, मानवता के व्यामोहन में आकर आचारसिद्ध दिग्देशकालानुबन्धी-क्षात्रधर्मात्मक आचारधर्म्म को भूल गया था। आचारधर्म्मप्रतिष्ठापन ही तो अवतारपुरुष का एकमात्र उद्देश्य था। न कि देवसिद्धियों, अलौकिक चमत्कारों, एवं भूतसिद्धियों के द्वारा मानवसमाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को बिना ही कर्त्तव्यनिष्ठा के अनायासेनैव पूर्ण करने के लिए भगवदवतार हुआ था। सर्वशक्तिसम्पन्न जो भगवान् श्रीकृष्ण अपने संकल्पमात्र से कौरवसेना को क्षणमात्र में भस्मसात् कर भक्त अर्जुन को संघर्षात्मक महान् उत्तरदायित्व से बचा ले सकते थे, उन भगवान् ने वैसा न कर दिग्देशकालानुबन्धी उन्हीं विधि-विधानों का स्वयं भी मानुषी-लीला-भोगपर्य्यन्त पालन किया आस्था-श्रद्धा-पूर्वक, एवं अपने भक्त अर्जुन को भी प्रवृत्त किया इसी आचारनिष्ठा की ओर, तथा अपने लोकोत्तर, सिद्धिसोपानपरम्परात्मक वाङ्मय ब्रह्मस्वरूप (गीताशास्त्र) के द्वारा सम्पूर्ण मानव-समाज को भी कर्त्तव्यनिष्ठा में ही दीक्षित किया। आचारात्मक ऐसे प्रचण्ड कर्म्मसत्य के सहस्रांशुसूर्य्यतव अभिव्यक्त रहने पर भी सम्पूर्ण जाति (भारतीय भावुक हिन्दूजाति) ही काल्पनिक चमत्कारभासों के आकर्षण से आकर्षित होकर तथोपवर्णित सिद्धों-सन्तों के कुचक्र में आकर दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्मों को कैसे, क्यों विस्मृत कर बैठी ?, इस विस्मरण से कैसे इसने अपने सर्वशक्ति-साधन-सम्पन्न भी राष्ट्र को विगत अनेक सहस्राब्दियों से परतन्त्रता के वारुणपाश में आबद्ध करा लिया ?, इत्यादि प्रश्नों का सफल समाधान तो सम्भवतः वे सन्त, वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जिन्होंनें आचारात्मक कर्त्तव्यशून्य तत्त्वविजृम्भण के द्वारा,

एवं काल्पनिक–चमत्कार–प्रदर्शनानुगता कर्त्तव्यहीनता के द्वारा राष्ट्र की कर्त्तव्यात्मिका आचारनिष्ठा को, यहाँ की शक्तिसंग्राहिका उपासनापद्धति को सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया है ।

३३२–सर्वविध-सिद्धि-चमत्कार–प्रदर्शनों के पारस्परिक–व्यामोहनों से ही भारत राष्ट्र की आचारनिष्ठात्मिका 'श्री' 'समृद्धि' की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता—

स्मरण रखिए ! प्रकृतिसिद्ध-दिग्देशकालानुबन्धी–मर्य्यादित- प्रकृतिभेदात्मक–स्वधर्म्मात्मक–विभक्त आचारधर्म्मरूप कर्त्तव्य–कर्म्म हीं राष्ट्र की राष्ट्रीयता है, जिससे राष्ट्रीय–संघठन अक्षुण्ण बना करता है । काल्पनिक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों से सम्भव है आप वैय्यक्तिक, एवं अधिक से अधिक पारिवारिक (जिसकी कि तत्त्वदृष्ट्या हम तो सम्भावना भी नहीं मानते) तात्कालिक स्वार्थ संसिद्ध कर लेने की भ्रान्तिमात्र के अनुगामी बन जाएँ । किन्तु कदापि समाज, तथा समाज–समष्टिरूपा राष्ट्रीयता का, मानवजाति का तो अभ्युदय सम्भव ही नहीं है– कर्त्तव्याचारशून्य ऐसे व्यामोहन–पथों से । अतएव सर्वात्मना अशक्त ही बन जाता है वह राष्ट्र, जिसमें पहिले तो आचारशून्य दार्शनिकता (तत्त्वचर्चामात्र) जन्म ले पड़ती है, तदाधारपर ही आगे चलकर जिस राष्ट्र में चमत्कार–सिद्धि–प्रदर्शक सन्त–साधु–परम्पराएँ आविर्भूत हो पड़तीं हैं, एवं कालान्तर में इन दार्शनिकों, एवं सन्तों की शून्यं-शून्यं भावना से निराश बनकर वैसा लोकसम्प्रदाय आविर्भूत हो पड़ता है, जो दार्शनिकता– सन्तवृत्तिता के प्रति विद्रोह करता हुआ अपनी कल्पना से, भूतदृष्टिमाध्यम से ही एक वैसा धर्म्मनिरपेक्ष पथ उत्पन्न कर बैठता है, जिसमें तो सभी कुछ स्वाहा होजाता है ।

३३३–राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षित शास्त्र, तत्कर्त्तव्य, तन्निष्ठ विद्वान्, तद्रक्षक क्षत्रिय, तदनुवर्त्मा श्रद्धाशील जनतन्त्र, आदि आदि की विद्यमानता में भी त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में राष्ट्रस्वरूप का उत्तरोत्तर अभिभव, एवं सम्प्रश्नात्मक एक महान् प्रश्न ?—

राष्ट्र में शास्त्र भी विद्यमान थे, उनमें प्रकृतिसिद्ध शास्त्रीय कर्त्तव्य भी सुरक्षित थे, धर्म्मनिष्ठ (धर्म्म-भावुक) शास्त्रज्ञ विद्वान् भी प्रचुर संख्या में विद्यमान थे । हँसते हँसते धर्म्म के नाम पर गला कटवा डालने वाले धर्म्मरक्षक क्षत्रिय–सामन्त राजाओं की भी कमी नहीं थी । तदनुवर्त्मा जनतन्त्र भी धर्म्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रख रहा था । तदित्थं–राष्ट्रसंरक्षण के लिए जो कुछ साधन–परिग्रह–शक्ति–पौरुष–ज्ञान–ध्यान–धर्म्म–भक्ति-आदि आदि अपेक्षित होने चाहिएँ थे, सभी तो विद्यमान थे अतीतयुगों में । किन्तु सुना यह गया इतिहास के मलीमस अक्षर-वर्णों के माध्यम से कि,—कोटि कोटि धार्म्मिक जनता के विद्यमान रहते भी विदेशी बर्बर आक्रान्ता निर्बाधगति से आए, आकर यहाँ का सबकुछ तोड़फोड़ कर सम्पूर्ण सम्पत्ति का संग्रह कर प्रसन्न होते हुए कुछ तो लोट गए, और कुछने यहाँ के उन्हीं धर्म्मधुरीणों के आग्रह से यहीं आतिथ्य ग्रहण कर लेना उचित मान लिया । उन युगों में भी चामत्कारिक साधु–सन्तों की कमी तो नहीं रही होगी ? । फिर क्या एक ने भी यह आवश्यक नहीं समझा कि, वह अपने चमत्कार से अपने इष्टदेव सोमनाथलिङ्ग कोतो बचा लेता ? । यहीं, इन मूर्त्तिभावों की प्रतीकता में ही वह तथ्य सुनिहित है, जिसका समन्वय कर ही नहीं सका तद्युग का सन्त, विद्वान्, एवं दार्शनिक । हम समझते हैं–हमारी यह स्पष्टवादिता भावुक–जनों की श्रद्धा को विकम्पित कर रही

होगी ? । सो करने दो, और होने दो । वस्तुस्थिति के साथ गजनिमीलिका करते रहने के दुष्परिणाम हीं तो उस राष्ट्र की उस जाति को अवनतशिरस्क बनकर आजतक भोगने ही पड़ रहे हैं, जिस राष्ट्र में किसी साधन-परिग्रह-शक्ति-स्रोत का अभाव ही नहीं था, जिस जाति के नामस्मरणमात्र से भी कभी आततायी विकम्पित हो पड़ते थे, एवं जिस राष्ट्र ने सुदूर-अतीत युगों में सम्पूर्ण विश्व पर एकच्छत्र साम्राज्य किया था । आज वही राष्ट्र, उस राष्ट्र की वही जाति अपने शयन–भोजनादि जैसे सामान्य कर्म्मों की व्यवस्था के लिए भी प्रतीच्य-पद्धतियों का ही अन्धानुकरण करने में अपने आपको गौरवान्वित मान रही है, एवं विधानपूर्वक बलात्कार से मनवा रही है ।

३३४–परदर्शनमूला भयावहा भावुकतारूपा एक ही 'भूल' के माध्यम से समस्यात्मक प्रश्न का समाधान—

वह ऐसी कौनसी भूल थी, जिसने सब कुछ होते हुए भी भारतराष्ट्र की ऐसी दुर्दशा करवा डाली ?, उत्तर **एकमात्र परदर्शनमूला वही भावुकता**, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से दिग्देशकालानुप्राणिता निष्ठात्मिका-स्वधर्म्मनिष्ठा-कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त ही नहीं होने दिया इस जाति को । अपनी इसी भावुकता से अपने काल्पनिक मतवादों का नाम हीं इसने 'धर्म्म', एवं 'कर्त्तव्य' रख लिया। तदनुपात से ही, अपनी मान्यताओं के माध्यम से ही इसने ज्ञानविज्ञानसिद्ध भी शास्त्र को दार्शनिकता प्रदान करदी । इसी मान्यता के द्वारा इसने अपनी मानसिक–अनुभूति के माध्यम से ऐसे ऐसे विभिन्न सम्प्रदायवाद-सन्तवाद-भक्तिवाद–नामसंकीर्त्तनवाद–रहस्यवाद-आदि आदि अगणित–वाद उत्पन्न कर डाले, जिन नवग्रहग्राहात्मक वादों से इस राष्ट्र का निष्ठाबल सर्वथा ही अभिभूत हो गया, जिन इन नवग्रहग्राहों का इतिहास निबन्ध के द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाचुका है । तथैव **किमिदं शास्त्रम् ?, केयं वा शास्त्रनिष्ठा !, कोऽयं शास्त्रीयाचारः ?,** इत्यादि प्रश्न भी तत्रैव द्वितीय–खण्डे समाहित हैं, इति तज्जिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

३३५–दिग्देशकालचक्र से ऊर्ध्व स्थित भी अलौकिक–कालातीत-पुरुषार्थनिष्ठ–मानव के द्वारा कालातीत के महिमारूप काल का सम्मान, एवं तदपेक्षित कर्म्मभोग का समादर—

प्रकृत में इस सन्दर्भ के माध्यम से हमें केवल यही निवेदन करना है कि, चिदात्मसर्गानुगत अव्ययनिष्ठ अप्राकृत-अलौकिक मानव यद्यपि दिग्देशकाल–चक्र से ऊपर है । तथापि ब्रह्म के महिमामय इस काल–विवर्त्त की उपेक्षा नहीं करता यह ब्रह्मवित्–'पुरुष' । अपितु इसे भी लोकवत् उसी मर्य्यादित कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगामी बना रहना पड़ता है सहजरूप से, अनायासेनैव, जबकि कालगर्भित भाग्यवादी को कालचक्रानुपात के अनुसार ही कर्म्मभोग भोगने पड़ते हैं ।

३३६–आत्मनिष्ठ पुरुष–मानव, और उसका कर्म्मबन्धन से पार्थक्य—

चिदात्मसर्गानुगत, ब्रह्मविद्यावित् आत्मनिष्ठ मानव आत्माव्ययपुरुष के सत्यसंकल्प से नित्य समन्वित रहता हुआ पुरुषानुगता (अव्ययानुगता) पौरुषशालिता से क्योंकि आत्मरतिनिष्ठ (अव्ययपुरुषात्मक बुद्धियोग-

निष्ठ) ही बन जाता है। अतएव दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत आचार, धर्म्म,–कर्म से सम्बन्ध रखने वाली कालिक पराधीनता (जिसे '**भाग्य**' कहा जाता है) ऐसे 'पुरुष' नामक मानव का कदापि संस्पर्श नहीं करसकती। बिना भी दिग्देशकालानुबन्धी प्राकृत-कर्म्मों के यह स्वयं अपने आत्मभाव में हीं परितृप्त है, आत्मभाव में ही परितुष्ट है। अतएव '**कर्त्तव्य**' कहने जैसी कोई वस्तु इसे कदापि पराधीन नहीं करसकती। यदि यह भी कह दिया जाय कि, ऐसे आत्मबोधनिष्ठ–आत्मरति–आत्मतृप्त–आत्मतुष्ट-पुरुष के लिए कोई भी विधि–विधान, कोई भी शास्त्रीय–लौकिक-कर्त्तव्य-कर्म्म कुछ भी महत्त्व नहीं रखते, तो भी अत्युक्ति न होगी।

३२७–आत्मकाम, आत्मरति–लोकातीत मानव की कर्म्मासंस्पृष्टता, एवं-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का समन्वय—

सचमुच यह कर्त्तव्यकर्म्मात्मक आचार की सीमा से बहिर्भूत है अपने आत्मानुशीलन-भाव से। यदि ऐसा पुरुषनिष्ठ कुछ करता रहता है, तो इसके इस करने से न तो इसमें कुछ विशेष अतिशय ही उत्पन्न हो जाता, एवं न करने से न इसकी कोई क्षति ही होती। क्योंकि दिग्देशकालानुबन्धी-भूत-भौतिक-व्यक्त-मूर्त्त-कालिक-द्वन्द्वात्मक फलाफलों में इसकी कोई आसक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण दिग्देशकाल को स्वगर्भ में रखने वाले ऐसे आत्मनिष्ठ मानव (पुरुष) के लिए इन गर्भीभूत कालिक-दैशिक-भूतों में प्राप्त करने जैसा कोई भी तो अर्थ शेष नहीं रह जाता, जिसे प्राप्त करने की कामना से इसे दिग्देशकालानुबन्धी शास्त्रसिद्ध-मर्य्यादित-कर्त्तव्यों का अनुगमन करना पड़े। अतएव '**तस्य कार्य्यं न विद्यते**'।

३२८–आत्मतृप्त-एकान्तनिष्ठ-अलौकिक-मानव से एकान्ततः असम्बद्ध कर्त्तव्यजगत्, तत्सम्बन्ध में गीताशास्त्र, एवं तदाधारेण कर्म्मत्यागासक्त दार्शनिकों की भ्रान्ति—

तो क्या सचमुच आत्मनिष्ठ-आत्मरति-आत्मतृप्त-आत्मतुष्ट के लिए कर्त्तव्यकर्म्मों का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता ?। क्या सचमुच पुरुषनिष्ठा की प्राप्ति के अनन्तर, अभिनव वेदान्ती की भाषा के अनुसार–ब्रह्मबोधानन्तर कर्त्तव्यकर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता ब्रह्मबोधनिष्ठ पुरुष के लिए ?। निम्नलिखित गीतावचन तो प्रश्नों का 'ओमित्येतत्' रूप से ही समाधान कर रहे हैं। और हम समझते हैं, ऐसे वचनों नें हीं उन जगन्मिथ्यात्ववादी अभिनव-वेदान्तियों को प्रभावित किया है, जिन्होंनें शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमाचारात्मक **यज्ञ-तप-दान, इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-आदि** कर्त्तव्य-कर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग ही अपने इस आत्मबोध का परमपुरुषार्थ मान लिया है। और इनके सम्बन्ध में अपना यह दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित कर ही तो दिया है उन्होनें कि,—"**शास्त्रसिद्ध आचारधर्म्मों, कर्त्तव्यों की आवश्यकता तभीतक है, जबतक कि आत्मबोध प्राप्त नहीं होजाता। आत्मबोध के प्रतिबन्धक आवरण-पाप्मा-मल को हटाने मात्र में हीं विधिशास्त्र का, यज्ञ–यागादिका उपयोग है। तभी तो इन्हें 'पावनकर्म्म, पवित्रकर्म्म'–अर्थात्**

'मलविशोधक-कर्म्म' कहा है भगवान् ने *। एकमात्र इसी दृष्टि से यज्ञ-दान-तपो-रूप प्रवृत्तिकर्म्मों, तथा तदुपलक्षित इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक लौकिक सत्कर्म्मों की अवश्यकर्त्तव्यता का समर्थन भी कर लिया है भगवान् ने। इसी से स्पष्ट है कि, जबतक आत्मबोध नहीं हो जाता, तभीतक इन कर्त्तव्यकर्म्मों की आवश्यकता है। आत्मबोध हो जाने के अनन्तर तो कतकरजोवत् ये कर्म्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं। और उस ब्राह्मीस्थिति में पहुँचने के अनन्तर उस आत्मबोधनिष्ठ के लिए कोई भी कर्त्तव्य-कर्म्म शेष नहीं रह जाता। फिर तो-'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः, को निषेधः' ही एकमात्र पक्ष शेष रह जाता है"। प्रतीज्ञात गीतावचनों को भी लक्ष्य बनाइए!

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

—गीता ३।१६,१८।

३३९-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का भगवन्निष्ठा के माध्यम से नीरक्षीरविवेक—

'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का 'कर्म्मत्याग'-रूप मर्म्म समझ बैठने वाले त्यागी-वैरागी-जगन्मिथ्यावत्त्वादी, वैदिक-लौकिक-कर्त्तव्यकर्म्मों के अन्यतम शत्रु उन संन्यासियों से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि, क्या 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' का यही अर्थ है कि, "आत्मबोधनिष्ठा के अनन्तर मानव का कर्म्म से, शास्त्रीय-विधि-निषेधों से, शास्त्रानुमोदित वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-उत्तरदायित्त्वों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता"?। यदि ऐसा ही है, तब तो इन संन्यासियों की दृष्टि में उन भगवान् ने भी बड़ा ही अपराध कर डाला, जिन्होंने सिद्धान्त तो स्थापित कर डाला-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' यह, और अपने हीं सिद्धान्त के विरुद्ध स्वयं भगवान् प्रवृत्त रहे वैसे वैसे कर्त्तव्य-कर्म्मों में यावल्लीलाभोगपर्य्यन्त, जिन सारथित्त्व-पाण्डवदूतत्त्व-सन्धिविग्राहकत्त्व-आदि आदि लौकिक कर्म्मों को देख-सुन कर आज के युग का तो एक सभ्य-लौकिक मानव भी आश्चर्य्य से स्तब्ध बन रहा है। विशोधक यज्ञ-तप-दानादि कर्म्म ही नहीं, अपितु लोकसाधारण में सर्वथा सामान्यकोटि की माने जाने वाली कोचवानी, समाचार-प्रेषण-साधनभूत-दौत्यकर्म्म, युद्धविश्रामावसरों पर स्वयं एक कुशल कोचवान-साईस-की भाँति थके घोड़ों का मर्द्दन-जलाभिषेक-आदि आदि वैसे लौकिक कर्म्मों में भी तो भगवान् ने कभी संकोच नहीं किया, जिन कर्म्मों के संस्मरण से भी आज के सभ्यताभिमानी लज्जा-संकोच का अनुभव कर सकते हैं, करने लग पड़ते हैं।

*-यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

—गीता १८।५।

३४०–आचारनिष्ठ भगवान् का सारथित्व, कर्त्तव्योपरत भावुक अर्जुन की भगवान् के द्वारा कर्त्तव्य-'प्रवृत्ति,' एवं आचरणात्मिका-कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका अत्याज्या स्वधर्म्मनिष्ठा—

भक्तजन समाधान करते हैं कि, **'यह तो भक्त अर्जुन की भक्ति की महिमा थी, जिस के कारण भगवान् को रथ हाँकना पड़ा'**। हम उन समाधानकर्त्ताओं से पूँछते हैं कि, क्या अर्जुन वैसा ही भक्त था, जिसे झञ्झा–ताल–मृदङ्ग–करतालादि के माध्यम से क्योंकि भगवान् की नामसंकीर्त्तनात्मिका भक्ति से अवकाश नहीं मिलता था। अतएव भगवान् को अपनी भगवत्ता की, तथा भक्ति की रक्षा के लिए सारथि बनकर ऐसे भक्त अर्जुन का रक्षण करना पड़ा ?। और यों अपने भक्त की लाज रख लेनी पड़ी * ?। जैसी आत्मतुष्टि कर्म्मत्यागी संन्यासी की, वैसी ही मानसिक–तुष्टि समाधानकर्त्ता आज–के भक्तों की । हम अनुमान करते हैं कि, यदि अर्जुन भ्रान्ति से भी अपने भगवान् के सम्मुख अपने ये मनोभाव मूकभाषा में भी व्यक्त कर देता कि,- **"भगवन् ! जब आप साक्षाद्रूप से इस भक्त को मिल ही गए, तो अब तो बस आपका नाम हीं प्रेमपूर्वक जपने दीजिए, जिस से आप का यह अनन्यभक्त कौरव–सैन्यसागर ही क्या, भवसागर ही पार कर जाय"** तो निश्चयेन तत्क्षण ही भगवान् सुदर्शनचक्र से अपने ऐसे भावुक-भक्त का शिरश्छेद ही कर डालते, जबकि शिशुपाल को तो थोड़ा अवसर भी दे दिया था लोकसंग्राहक भगवान् ने। केवल **–'न योत्स्ये'** (मैं नहीं लडूँगा) कहने मात्र से तो भगवान् ने अपने विराट् स्वरूप–प्रदर्शन से भक्त अर्जुन को उस सीमापर्य्यन्त विकम्पित कर डाला था कि,····। अच्छा तो, अब यह भावुकतापूर्ण-प्रसङ्ग यहीं उपरत कर दीजिए, और प्रक्रान्त स्थिति का समन्वय कीजिए।

३४१–भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा आचारात्मक स्वधर्म्म के परिपालन का दृढतम आदेश, एवं 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः' का संस्मरण-

अन्तर्य्यामी भगवान् उस भावुक अर्जुन को उद्बोधन प्रदान कर रहे थे गीताशास्त्र के माध्यम से, जो अपने–**'न योत्स्ये'** मूलक कर्म्मसंघर्षत्याग के प्रति आकर्षित हो पड़ा था—अपनी काल्पनिक दार्शनिकता, बुद्धिमानी, किंवा गीता के शब्दों में **'प्रज्ञावाद'** के कारण। बहुत सम्भव था, और अनेक बार ऐसा ही कुछ सम्भव बनता आरहा था कि, भावुक अर्जुन भगवान् के अभिप्राय को समन्वित करने में असमर्थ बनता हुआ विचलित होपड़ता था मध्ये मध्ये । कर्त्तव्यकर्म्म के प्रति भावुकतावश उदासीन बन बैठ जाने वाले भावुक अर्जुन के मानस पटल पर **'तस्य कार्य्यं न विद्यते'** का क्या तात्कालिक प्रभाव पड़ सकता था ?, यह अन्तर्य्यामी जान रहे थे। अतएव–**'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः (३।१८)'** के अनन्तर ही भगवान् को यह कह ही तो देना पड़ा कि—

*–सारथि बन कर रथ को हाँको, चक्रसुदर्शनधारी–भक्त की टेक न टारी, अब की टेक हमारी, लाज राखो गिरिधारी० इत्यादि लोकप्रसिद्ध भावुकतापूर्ण भजन

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

—गीता ३।१६।

३४२–भगवान् के द्वारा समस्या–निराकरणात्मक सफल समाधान, एवं–'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' का संस्मरण–

"अर्जुन ! अव्ययात्मनिष्ठ मानव के सम्बन्ध में–**'तस्य कार्य्यं न विद्यते'** हमारे इस कथन का कदापि यह तात्पर्य्य मत समझ बैठना कि, तू कर्त्तव्य से विमुख ही होजाय । तुझे तो असक्तबुद्धि से निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म्म का अनुगमन करते ही जाना है । आसक्तिबन्धन–रहित होकर आत्मनिष्ठापूर्वक कर्त्तव्य–कर्म्म करते रहने वाला निश्चयेन अव्ययपुरुष का साक्षात्कार कर ही लेता है" । बात अभी पूरी बैठी नहीं । **'अनासक्त-कर्म्म से अव्ययपुरुषपद प्राप्त हो जाता है'** इस वाक्य से तो काल्पनिक दार्शनिक को छिद्र मिल गया । वह कहने लग पड़ा कि, जबतक अव्ययब्रह्म की आप्ति (प्राप्ति) नहीं हो जाय, अर्थात् जबतक आत्मबोध का उदय न होजाय, तबतक के लिए तो हम स्वयं ही कर्त्तव्य–कर्म्म का अनुष्ठान शुद्धि के लिए आवश्यक मान रहे हैं । स्पष्ट है कि–उसे प्राप्त करने के अनन्तर कदापि **'कार्य्यं न विद्यते'** पक्ष ही सिद्धान्त-पक्ष है । और **'असक्तो ह्याचरन् कर्म्म–परमाप्नोति पूरुषः'** से सिद्धान्तपक्ष ही समर्थित है परम्परया । **'कर्म्म का आचरण करो ! अव्ययपुरुष की प्राप्ति के लिए'** । अर्थात् जब वह प्राप्त हो जाय, तो–पुनः तदनन्तर-**'तस्य कार्य्यं न विद्यते'** । फिर भगवान् के सामने वही भावुकता-पूर्णा समस्या उपस्थित हो पड़ी । इसी समस्या का एक परोक्ष दृष्टान्त के द्वारा निराकरण करने के लिए भगवान् को आगे जाकर विस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर ही देनी पड़ी कि—

कर्म्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

—गीता ३।२०,२१।

३४३–राजर्षि विदेह जनक की दिग्देशकालात्मिका कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा, एवं-'लोकसंग्रहमेवापि–सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि' का संस्मरण—

"राजर्षि जनक विदेह थे, जीवन्मुक्त थे, और जीवन्मुक्त सर्वश्री भगवान् शुकादि के साथ इनका ब्रह्मोद्य हुआ करता था", इत्यादि इतिवृत्त अर्जुन के लिए परोक्ष नहीं था । अतएव क्षत्रिय अर्जुन के उद्बोधन के लिए क्षत्रिय जनक के अतिरिक्त दूसरे विशिष्ट उदाहरण का मिल सकना कठिन था । ब्रह्मबोधनिष्ठ राजर्षि जनक, और ब्रह्मबोधनिष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य के संवाद का ही नाम बृहदारण्यकोपनिषत् है, जिसमें इन दोनों की संवाद-भाषा के माध्यम से कार्य्यकारणातीत वेदान्तपुरुष का ही यशोगान हुआ है । इत्थंभूत राजर्षि विदेह **'क्षत्रिय'**

जनक यदि शास्त्रीय-विधि-विधानों के अनुसार क्षत्रियोचित कर्त्तव्य का पालन करना अपना परमधर्म्म मान रहे हैं, तो अब अर्जुन के लिए कोई भी प्रश्न शेष नहीं रहना चाहिए था। अर्जुन अधिक से अधिक अब यही प्रश्न कर सकता था अपनी सहजसिद्धा भावुकता के आवेश में आकर कि-विदेह जनक जब आत्मबोधनिष्ठ बन गए थे, तो-'तस्य कार्य्यं न विद्यते' आप के (भगवान् के) इस सिद्धान्त के विपरीत किया ही क्यों जनक ने कर्त्तव्य-पथ का अनुगमन ?, क्या प्रयोजन था उन्हें आत्मबोधानन्तर भी कर्म्ममार्गानुगमन से ?। 'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्-कर्त्तुमर्हसि' के अतिरिक्त भावुकतापूर्ण इस प्रश्न का और क्या समाधान हो सकता था ?। ठीक है प्रिय (भावुक) अर्जुन ! सचमुच जनक को संसार से कुछ लेना देना नहीं था। वे यदि कुछ न करते, तब भी उनका कोई इष्टानिष्ट सम्भव नहीं था। फिर भी उन्होंनें किया, और यावज्जीवन किया। केवल इसलिए कि, यदि वे न करते, तो साधारण प्राकृत जन-जो असाधारण-लोकश्रेष्ठ मानवों को ही अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य में प्रमाण मानते आए हैं,-वे कर्म्मशून्य विदेह जनक का अनुकरण कर कर्त्तव्य से विमुख ही हो जाते। अतएव (तुम अपनी भावुकता के परितोष के लिए यही समझ लो अभी कि) जनकने लोकसंग्रह के लिए ही कर्त्तव्यकर्म्म का अनुगमन किया। मान लेते हैं-तुमने आत्मबोधनिष्ठा प्राप्त करली। फिर भी हम आग्रह करेंगे तुम से कि, जिसप्रकार अतीतयुगों के आत्मबोधनिष्ठ भी तुम्हारे ही पूर्वपुरुषों (जनकादि क्षत्रियप्रवरों) नें भी लोक-संग्रहार्थ कर्म्म करना आवश्यक समझा था, तथैव तुम भी·········इत्यादि इत्यादि।

३४४-महती बिभीषिकारूपा-भावुकता का मूलाधार--'प्रत्यक्षजगत्', तन्निग्रहेण परिणामदर्शिता का आत्यन्तिक अभाव, एवं अतीत का द्रोही, तथा केवल वर्त्तमानवादी प्राकृत भावुक--मानव—

'भावुकता' वह महती बिभीषिका है, जिसका मूलाधार है 'प्रत्यक्ष'। प्रत्यक्ष से प्रभावित होने का नाम हीं तो भावुकता है। कालपुरुष के जिन भूत-भवत्-भविष्यत्-नामक तीन विवर्त्तों का यशोगान प्रक्रान्त है, उनमें से प्रत्यक्षवादी भावुक की दृष्टि में भूत-भविष्यत्, और तत्परिणाम हैं हीं नहीं। उसके चर्म्मचक्षुओं के सामने है प्रत्यक्षानुगत केवल वर्त्तमान। अतएव पशुवत् सम्मुख उपस्थित स्थूल-वर्त्तमान के आधार पर ही वह अपनी मनस्तुष्टि कर सकने में समर्थ बनता है, और यही प्रत्यक्षप्रमाण का सम्पूर्ण महत्त्व है, जिस पर बुद्धिवादी बड़ा अभिमान किया करते हैं, जबकि भारतीय दृष्टि से प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी को तो 'नास्तिक' ही कहा गया है, जो सबकुछ सुन कर भी, देख कर भी, समझ कर भी कुछ नहीं सुनता, नहीं देखता, नहीं समझता। अतएव अतीत का तो द्रोही ही बना रहता है यह प्रत्यक्षवादी-वर्त्तमानकालवादी-भावुक प्राकृत मानव।

३४५-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के भावुक नेताओं के द्वारा अतीत का प्रचण्ड विरोध, वर्त्तमान के व्यामोहन से स्वराष्ट्रनिष्ठा--विरोधी प्रतीच्य राष्ट्रों का अन्धानुकरण, एवं भारत के सांस्कृतिक--वैभव की अन्तर्म्मुखता—

तभी तो आज दुर्भाग्यवश इस आत्मनिष्ठ भी, नितान्त नैष्ठिक भी, त्रिकालानुगामी भी पावन भारतराष्ट्र में ऐसा कुछ सुना जारहा है कि-"**हमें तो अब पुराने खण्डहरों को भुला ही देना है। क्योंकि पुराना सब कुछ गल सड़ चुका है। अब तो हमें वर्त्तमान के आधार पर ही सब कुछ नवीन हीं रचना कर डालनी**

है"। सामान्य प्राकृत जन हीं नहीं, अपितु जिन-बुद्धिमान्-शुचिहृदय, पवित्र मानवों के हाथों में आज राष्ट्र का नेतृत्त्व है, वे भी प्रायः अपने प्रतिदिन के सम्भाषणों में जबतक एक दो बार भारतराष्ट्र के अतीत को गाली-प्रदान नहीं कर लेते, तबतक उनका मानस तुष्ट ही नहीं होता। यही तो भावुकता का वह ज्वलन्त उदाहरण है, जिसके निग्रहात्मक अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण जीवनपद्धतियाँ आज वर्त्तमान के साँचें में ही बलपूर्वक ढालीं, और ढलवाईं जारहीं हैं, जिनका न तो भारत के अतीत-संस्कारों से ही कोई सम्बन्ध, न वर्त्तमान-संस्कारों से ही। और भविष्य की बात इसलिए नहीं कही जायगी कि, यदि वर्त्तमान इसी भावुकता का अनुगामी बना रहा, तो कौन कह सकता है कि, भविष्य में भारत '**भारत**' न कह कर कुछ और हीं न बन जाय ?।

३४६-वर्त्तमानकालवादी प्रत्यक्षासक्त भावुक अर्जुन की विदेहजनकात्मक अतीत के के उदाहरण के प्रति परिलक्षिता असन्तुष्टि —

हाँ, तो अर्जुन भावुक था, प्रत्यक्ष से तात्कालिकरूपेण प्रभावित होने वाला प्रत्यक्षवादी था। तभी तो सैन्ददल को देखने मात्र से वह विकम्पित हो पड़ा था, और अपने पारम्परिक क्षात्रधर्म्म को विस्मृत कर बैठा था इन भावुकतापूर्णा मानवता-करुणा-दया-अहिंसा-मैत्री-विश्वबन्धुत्त्व-सहास्तित्त्व आदि के व्यामोहन से। और इसीलिए तो-'**न योत्स्ये**' कह कर रथ से उतर पड़ा था। कहाँ तो ऐसा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन !, और कहाँ सुदूर अतीतकाल के विदेह जनक ?। कैसे अर्जुन मान ले उस उदाहरण को, जबकि वह उदाहरण तो इतिहास का उदाहरण था, वर्त्तमान-मान्यता के अनुसार तो गला-सड़ा-उस युग का उदाहरण था, जो वर्त्तमान से कोई भी सम्बन्ध नहीं रख रहा था।

३४७-स्वानुगत प्रत्यक्ष उदाहरण के द्वारा प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन का आचारनिष्ठात्मक समाधान—

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, '**कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**' कहने के साथ ही नैष्ठिक भगवान् के मानस में वर्त्तमानप्रेमी प्रत्यक्षवादी भावुक अर्जुन प्रतिभासित हो पड़ा होगा। और तत्काल ही अपनी संवित्प्रज्ञा से भगवान् ने यह निर्णय कर लिया होगा कि, जबतक इस प्रत्यक्षवादी के सम्मुख इस युग का ही, इस की श्रद्धा का ही, इसके सम्मुख अवस्थित ही कोई प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित नहीं कर दिया जायगा, तबतक कदापि इसकी भावुकता उपशान्त न होगी, और यह हमारे '**तस्य कार्य्यं न विद्यते**' का अर्थ कर्म्मत्याग ही समझ बैठेगा। अतएव इसी निश्चय के अनुसार भगवान् को अन्ततोगत्त्वा अगतिक-गतिरूपेण स्वयं अपने आपको ही उदाहरणरूप से इस भावुक अर्जुन के सम्मुख उपस्थित कर ही तो देना पड़ा इस रूप से कि—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥१॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥२॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥३॥
—गीता ३।२२, २३, २४।

३४८–प्रत्यक्षवादी धर्म्मभीरु अर्जुन के करुणा--अहिंसा--मानवता--त्याग--तपस्यादि-मूलक भावुकता--पूर्ण उद्गार, एवं नितान्त अवधेय--'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्--उपहन्यामिमाः प्रजाः' उद्गार—

यह अविस्मरणीय है कि–'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'० (गीता० ३।१७।) से आरम्भ कर-'उत्सीदेयुरिमे लोकाः०' [३।२४] पर्य्यन्त सम्पूर्ण श्लोक धारावाहिक रूपेण क्रमबद्ध हैं। अतएव 'यस्त्वात्मरतिः०' से उपक्रान्त प्रकरण 'उत्सीदेयुः' पर ही विश्रान्त है। अब यह निष्ठाशीला प्रज्ञाओं का काम है कि, इस सन्दर्भ से कर्म्मत्याग का समन्वय कर डालें, अथवा तो कर्म्मसंग्रह का। स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र हमारा कर्त्तव्य था, जिसके 'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्–उपहन्यामिमाः प्रजाः' इस अन्तिम वाक्य की ओर ही विशेषरूप से हम पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। प्रत्यक्ष से सहसा प्रभावित हो पड़ने वाले, क्षत्रियोचित-प्रकृतिसिद्ध–युद्धकर्म्म से सहसा पराङ्मुख हो जाने वाले प्रत्यक्षप्रभाववादी भावुक अर्जुनने अपनी इस भावुकता के समर्थन के लिए उत्तेजना–करुणा–बीभत्स–आदि आदि विविध भावान्वित अनेक उत्तराभास प्रदान करने जैसे प्रज्ञावादों का अनुगमन कर लिया था। उन सब में अर्जुन की दृष्टि में धर्म्मसंस्थापक भगवान् के लिए दो कारण प्रमुख बन बैठे थे, एक तो वर्णसङ्करता, और दूसरा **आत्मजनों का नाश (कुलक्षय, और प्रजाक्षय)**। वर्णसंकरता के निरोध के लिए, एवं जनतन्त्र के संरक्षण की कामना से, इन दो प्रमुख कारणों से ही अर्जुन के श्रीमुख से 'न योत्स्ये' निकल पड़ा था, जैसाकि निम्नलिखित प्रसिद्ध कारणों से प्रमाणित है–

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥१॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्द्दन ! ॥२॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्म्माः सनातनाः ॥
धर्म्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं, अधर्म्मोऽभिभवत्युत ॥३॥
अधर्म्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥४॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥५॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्म्माः कुलधर्म्माश्च शाश्वताः ॥६॥
उत्सन्नकुलधर्म्माणां मनुष्याणां जनार्द्दन ! ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥७॥

—गीता १।३८ से ४४ पर्य्यन्त ।

३४६-प्रत्यक्षमूलक-तात्कालिक-भावों से आविष्ट अर्जुन का धारावाहिक व्याख्यान, तथा चाकचिक्यपूर्ण--लोकप्रिय प्रज्ञाकौशल—

विशुद्ध भावुक अर्जुन के उक्त उद्गार किस भावुक को प्रभावित नहीं कर देगें, जिन में व्यक्ति-कुल (परिवार)—समाज (जाति)—और अन्ततोगत्त्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की भी मङ्गलकामना के बीज सुनिहित प्रतीत हो रहे हैं। बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं अर्जुन के ये उद्गार, जिनके गर्भ में भारतराष्ट्र के भावुकतापूर्ण सर्वविनाश का इतिवृत्त ही मानो लिपिबद्ध कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने। भावुक मानवों की विचारसरणि का उत्थान सदा 'पर' को (दूसरे को) अवलम्ब बना कर ही होता है। वह सदा दूसरों को आधार बना कर ही (अतएव अपने आपको विस्मृत कर के ही) बात आरम्भ करता है, जब कि भ्रान्ति उसे यही बनी रहती है कि, वह कर रहा है अपनी हीं ओर से, अपनी ही बात। और इस दृष्टि से भावुक अर्जुन अपने धार्म्मिक ?, हाँ विशुद्ध धर्म्मभीरुतापूर्ण विचारों का उपक्रम करता हुआ निर्बाधगति से, बीच में क्षणमात्र भी विश्राम न कर, सुनने वाले के मनोभावों की ओर से सर्वथा अपरिचित रहते हुए आवेशपूर्वक एक कुशल प्रज्ञाशील—धर्म्म-स्वरूप-व्याख्याता-उपेदशक-उद्बोधक-विवेचक-की ही भाँति अनर्गलरूप से यों कहने लग ही तो पड़ता है कि—

"भगवन् ! यह ठीक है कि, यद्यपि दुष्टबुद्धि आततायी दुर्य्योधनप्रमुख ये कौरवगण राज्यलोभ के कारण सम्पूर्ण विवेक खो बैठने के कारण 'युद्ध' के भावी परिमाणों का विचार नहीं कर रहे हैं। और यों एकमात्र राज्यलोभवशवर्त्ती बन कर ये सर्वनाश के लिए समराङ्गण में आखड़े हुए हैं। इसी लोभावरणने इनके अन्तःकरण को उस सीमापर्य्यन्त मलिन बना दिया है कि, युद्ध से सम्भावित कुलक्षयरूप महान् दोष को, तथा मित्रद्रोहात्मक महापाप को, एवं इसके भावी परिमाणोंको देखने की शक्ति ही उनकी नष्ट हो चुकी है। (१) ॥ तथापि इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं लगा लेना चाहिए कि, हम भी उन्हीं का अनुकरण करने लग पड़ें ?, और हम भी युद्ध जैसे नृशंसकर्म्म के लिए समुद्यत हो जाँय ?। इस महान् दोष, महान् पाप से बच निकलना क्यों नहीं हमारी भी समझ में न आवे ?। हमें तो समझ लेना ही चाहिए इस भूल को, एवं भूल के भयानक परिमाणों को। जनार्द्दन ! आप ही कृपया बतलाइए कि, कुलक्षय से सम्भावित इस महान् दोष को देखते हुए भी क्या हमें भी उन पापात्माओं का अनुसरण कर लेना चाहिए ?। उत्तर दीजिए ! (२) ॥ यह आप से तो परोक्ष नहीं है भगवन् ! कि—कुलों के नष्ट हो जाने से, कुलों के सनातन—परम्परासिद्ध—कुल-धर्म्म हीं उच्छिन्न हो जायँगे। कुलधर्म्म ही जब नष्ट हो जायँगे, तो कुलधर्म्मों के आधार पर प्रतिष्ठित कुल कहाँ बचेंगे ?। अवश्य ही धर्म्मनाश के साथ साथ कुल भी नष्ट हो जायँगे। धर्म्मनाश, एव तद्द्वारा **कुलनाश**।

और जानते हैं आप, क्या परिणाम होगा इसका ?। धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का साम्राज्य प्रतिष्ठित होजायगा (३) ॥ आगे क्या होगा ?, यह भी सुन लीजिए ! भगवन् ! अधर्म्म के द्वारा जब धर्म्म सर्वात्मना अभिभूत-पराभूत–पराजित हो जायगा, तो कुलस्त्रियों में आचारदोष उत्पन्न हो पड़ेगा (अब्रह्मण्यम् , अब्रह्मण्यम् ! महतीयं भावुकता भावुकार्जुनस्य-परप्रत्ययनेयविमूढस्य) । और हे वृष्णिवंशकुलोद्भव, कुलधर्म्मसंरक्षक वार्ष्णेय ! स्त्रियों के इसप्रकार अनाचारपथ पर आजाने से अकुलात्मक वर्णसंकर उत्पन्न होनें लग पड़ेंगे (४) ॥ यह शास्त्रसिद्ध ही है कि, वर्णसंकर सन्तान तो नरकगति का ही कारण बनती है। क्योंकि इसके द्वारा पिण्ड-दानादि क्रियाएँ सर्वथा विलुप्त हो जातीं हैं। सङ्करसन्तात प्रथम तो श्रद्धापूर्वक पिण्डदान–लक्षण प्रेतपितृ-श्राद्ध करती ही नहीं। यदि लोकानुबन्ध से करती भी है, तो सप्तपुरुषानुगता सपिण्डता से असंस्पृष्टा इस संकरसन्तति के द्वारा प्रदत्त पिण्ड चन्द्रलोकस्थ, महानात्मरूप प्रेतपितरों की सद्गति के कारण भी नहीं बन पाते । फलत: उन प्रेतपितरों को इन संकरसन्तानों की कृपा से नरकगति का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है । और यों प्रत्यक्षदृष्ट कुलक्षय, धर्म्मविलुप्ति, तथा अधर्म्मप्रसार के साथ साथ युद्धजनिता हिंसा से अदृष्टरूप परोक्षलोक भी विकृत होजाते हैं (५) ॥ इत्थंभूत कुलघाती सन्तानों के वर्णसङ्करात्मक इन महान् दोषों, पातकों से परम्परया कुलसमष्टिरूपा जाति के ही धर्म्म उच्छिन्न होजाते, हैं एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रप्रजा ही धर्म्म-च्युता बन जाती है । हे जनार्द्दन ! प्रजास्वरूप-जातिस्वरूप संरक्षक ! यों युद्धरूपा हिंसा की कृपा से व्यक्ति-कुल (परिवार)–जाति, तथा तदुपलक्षित राष्ट्र, सभी के धर्म्म, सभी के शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं (६) ॥ और हे भरतर्षभ ! भरतकुल के अभिभावक ! रक्षक ! जिन मनुष्यों के कुलधर्म्म, तथा जातिधर्म्म उच्छिन्न होजाते हैं, उनके प्रेतपितर तो नरक में निवास करते ही हैं (पूर्वकथानुसार), तदतिरिक्त स्वयं इनको भी अन्ततोगत्वा उसी नरकगति का सम्मान्य अतिथि बन जाना पड़ता है। (इसीलिए तो भगवन्-'**न योत्स्ये**') । इन सब भौतिक–आत्मिक–दैविक–विपत्तियों से स्वयं को, परिवार को, समाज को, एवं राष्ट्र को बचाने की पुण्यकामना से ही तो यह आपका सखा अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता" (७) ॥

३५०–अर्जुन की महत्त्वपूर्णा वक्तृता का मानवता–प्रेमियों के द्वारा अभिनन्दन, तत्स-मतुलिता आज के राष्ट्रीय–नेताओं की कर्णप्रिया व्याख्यानशैली, एवं तदनुग्रह से ही तीन सहस्र–वर्षों से क्रूर आततायी–वर्गों के प्रति राष्ट्र का आत्मसमर्पण–

अर्जुन की उक्त वक्तृता की कौन मानवताप्रेमी श्लाघा–स्तुति नहीं करेगा ? । आज हमारा वर्त्तमान भारतराष्ट्र, विशेषतः इस राष्ट्र में एकमात्र अपने आपको ही 'राष्ट्रीय'–मानने मनवाने के लिए विशेषरूप से आतुर राष्ट्रीय कर्णधारों की भाषा तो मानो अर्जुन के व्यामोहन का ही प्रतीक है । एवं विगत तीन सहस्र वर्षों से इस राष्ट्रीय ? भारतीय ? मानव ? (नितान्त भावुक मानव) पर जब जब भी दुष्टबुद्धि–आत-तायियोंनें निर्म्मम आक्रमण किया, तब तब ही अपनी भावुकतामूला कल्पित मानवता, अहिंसा–करुणा, दया, के माध्यम से, सर्वोपरि व्यर्थ के रक्तपात से राष्ट्रप्रजा को बचा ले जाने की मङ्गलकामना से, और सम्भवत: संकरप्रजानुगता लुप्तपिण्डोदकक्रिया के भय से धर्म्मरक्षा के लिए ही मानो प्रसन्नतापूर्वक ही समझौता करके उन दुष्टबुद्धियों को इस भारतीय नितान्त भावुक 'हिन्दूमानव' ने सबकुछ समर्पित कर ही तो दिया ।

३५१–अर्जुन से समतुलिता भावुकता की कृपा से ही भारतराष्ट्र के श्री-वैभव का आततायीवर्ग के द्वारा निर्म्मम अपहरण, और हमारी कायरतापूर्णा अहिंसासक्ति—

कल ही तो हमारे राष्ट्रने अपने त्रिसहस्रवर्षात्मक उसी महत्त्वपूर्ण ? इतिहास को हँसते हँसते ही बड़े गौरव से दोहराने ने जैसा महत्पुण्यार्जन कर लिया था। और आज भी, अब भी आततायी-दुष्ट-दस्यु-चोर-उचक्कों को क्षमादान, उन का मानवता के नाम से निर्म्माण, और निरीह प्रजा की उपेक्षा। जाने दीजिए। वर्त्तमाना भावुक प्रजा अर्जुनवत् सम्भवतः सह न सकेगी इन आलोचनाओं को। हमें सहन कराना भी नहीं है। हमें तो वस्तु–स्थिति का स्पष्टीकरणमात्र कर देना है एक बार राष्ट्र की मङ्गलकामना से, राष्ट्रप्रजा को संकरता से बचा लेने की कामना से, एवं राष्ट्रप्रजा के संरक्षण की कामना से।

३५२–मातृशक्ति पर अभियोग लगा बैठने वाले निर्लज्ज अर्जुन के प्रति हो पड़ने वाली भगवान् की आश्चर्य्यमयी उपेक्षा—

क्या आततायी-वर्ग के संरक्षण से हमारी प्रजा सुरक्षित रह जायगी ?। क्या उन नृशंसों, मानवता के विध्वंसकों को प्रश्रय देने से हमारी कुलस्त्रियों का सतीत्त्व अक्षुण्ण बना रह जायगा ?, जिस सतीत्त्व के सम्बन्ध में भावुक, अतएव सर्वथा निर्लज्ज कर्त्तव्यनिष्ठा–विमुख अर्जुन ने–'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः-' 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः' इसप्रकार की दग्धा–निर्लज्जा–पापमयी वाणी का उच्चारण करते हुए अपने आप को उसी क्षण भूगर्भ में सदा के लिए ही क्यों नहीं निमज्जित कर लिया ?। और आश्चर्य्य है कि, भगवान ने स्वयं ही जगन्मान्या पूज्या अनन्यश्रद्धेया मातृशक्ति पर यों कलङ्क लगा बैठने वाले भीरु अर्जुन का सुदर्शन से तत्काल ही शिरश्छेद कर स्वयं ही महाभारत युद्ध का उपक्रम कर कौरवों का विनाश क्यों नहीं कर दिया !। *'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' का मर्म्म भगवान् के तो सम्मुख विद्यमान था। फिर स्वस्वरूप से सर्वात्मना अनपराधिनी जननी–पराम्बिका मातृजाति पर दोषारोपण सुन कर भी भगवान् ने कैसे इसे क्षमा कर दिया ?, उत्तर। वही उत्तर आगे चल कर स्वयं भगवान् को ही–**'संकरस्य च कर्त्ता स्याम्-उपहन्यामिमाः प्रजाः'** (३।२४।) इस रूप से दे देना पड़ा है, जिस के समन्वय के लिए ही हमें भावुक अर्जुन के भावुकतापूर्ण–धर्म्मभीरुतापूर्ण व्याख्यान का पूर्व में दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

---

* **एवं स्त्री नापराध्नोति, नर एवापराध्यति ॥**
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥१॥
नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
एवं नारीं, मातरंश्च गौरवे चाधिकां स्थिताम् ।
'अवध्यां' तु विजानीयुः–पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥
—महाभारत–शान्तिपर्व–मो० २६६ अ०।

३५३–सर्वनाशपरम्पराओं की जन्मदात्री भावुकतापूर्णा स्वधर्म्म-विच्युति, एवं स्व-धर्म्मात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही राष्ट्रस्वरूप-संरक्षण—

धर्म्म का अभिभव, अधर्म्म का साम्राज्य, कुलक्षय, निरपराधा मातृजाति का अवमान-उत्पीड़न, वर्ण-संकरता, आदि आदि समस्त अपराधों का एकमात्र कारण है–मानव का स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाना। फिर इस पराङ्मुखता का कारण आरम्भ में भले ही दार्शनिकता रहा हो, आगे चलकर भले वही जो सन्तानुगत भक्तिवाद बन गया हो, और आज भले ही जो कल्पित मानवतावादात्मक बन रहा हो। अन्याय–अत्याचार–पाप–अधर्म्म–परम्पराओं को, तदनुगामी दुष्ट–आततायियों को कर्त्तव्यनिष्ठारक्षण के लिए दण्डित न कर प्रश्रय प्रदान करना हीं उक्त सर्वनाश-परम्पराओं का प्रमुख कारण है।

३५४- हिंसा-अहिंसा,-दण्ड-क्षमा, ध्वंस-निर्म्माण, आदि प्राकृतिक द्वन्द्वों से समन्विता दिग्देशकालात्मिका प्रकृति, एवं तन्माध्यमानुपात से ही प्राकृत भावों की प्रकृति-सिद्धा व्यवस्थिति—

हिंसा, और अहिंसा, दण्ड–और क्षमा, निर्म्माण–और ध्वंस, संरक्षण–और उत्पीड़न, स्वधर्म्म की सीमा में दिग्देशकालानुबन्ध से ये सभी द्वन्द्वभाव समाविष्ट हैं। नारी की उच्छृङ्खलता जहाँ क्षमादान से उपशान्त होगी, वहाँ हिंसक सिंह व्याघ्रादि कदापि क्षमादान से 'मानवश्रेष्ठकोटि' में नही आसकेंगे, नहीं आसके आज तक तो। और त्रिगुणात्मक विश्व में तो ऐसा कभी सम्भव होगा भी नहीं। इसीलिए तो निष्ठा के परमा-चार्य्य महामानव हमें यह उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, अहिंसा, क्षमा, करुणा, आदि धर्म्म के अङ्ग अवश्य हो सकते हैं, किंवा धर्म्म के लक्षण अवश्य होसकते हैं। किन्तु कदापि ये स्वयं धर्म्म का आसन ग्रहण नहीं करसकते। क्योंकि देश–काल–पात्र–द्रव्यादि के भेद से हिंसा–दण्ड–आक्रोश भी उसी स्वधर्म्म के अङ्ग बने हुए हैं। कहाँ हिंसादि अङ्ग मान्य हैं?, और कहाँ अहिंसादि अङ्ग मान्य हैं?, इसका निर्णय कदापि प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के माध्यम से सम्भव ही नहीं। अपनी प्रत्यक्षदृष्टि से जिसे हम क्षमा करना चाहते हैं, बहुत सम्भव है–उसका परोक्षरूप वैसा सुनने को मिले, जिसे सुनकर उसे हम क्षमादान के स्थान में भस्मसात् ही कर देना चाहें। एवमेव जिसे हम प्रत्यक्ष में कुटिल कर्कश जान कर दण्ड देने के लिए आतुर हो पड़ें, बहुत सम्भव है उसकी यह कुटिलता-कर्कशता भी सकारण हो।

३५५–पूर्वापरात्मक-भूतभविष्यत् की परिणामदर्शिता के माध्यम से ही वर्त्तमान स्थिति का न्यायविधान के द्वारा सम्भावित निर्णय, एवं तन्माध्यमेनैव प्राकृत-वर्त्तमानवादी–मानव की भी शास्त्रैकशरणता—

कौन इसका निर्णायक?। क्या मानव की वर्त्तमाना प्रत्यक्षप्रभावमूला–भावुकता–परिपूर्णा–तात्का-लिकी भूतदृष्टि, किंवा तात्कालिकी प्रज्ञा प्रत्यक्षस्थितिमात्र से क्षमा, एवं दण्ड का निर्णय कर डालेगी?। तब तो उसे अपने लोकानुबन्धी सम्पूर्ण विधि-विधान (कानून) भी क्षणमात्र में स्मृतिगर्भ में हीं विलीन कर देने पड़ेंगे अपने ही हाथों। पूर्व-अपर,-अर्थात् भूत और भविष्यत् की परिस्थितियों के आधार पर ही तो कानून

वर्त्तमान का निर्णय करता है। फिर तो इसके स्वयं के अपने ही मुख से भी प्रत्यक्षात्मक वर्त्तमान का कोई भी महत्त्व नहीं रहा। यही वह मूलबिन्दु है, जिसके माध्यम से ही वर्त्तमानवादी का ध्यान हम उस कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर आकर्षित करसकते हैं, जिसका मूल त्रिकालज्ञ ऋषियों की प्रज्ञा से दृष्ट त्रिकालव्यवस्थापक शास्त्र (मानवजीवन के कानून) से ही है। यदि इसे शास्त्र से, शास्त्रसिद्ध स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म से चिढ़ है, तो सर्वप्रथम हम इससे प्रणतभाव से यही नम्र आवेदन कर लेंगे कि, जिस हेतुवाद से यह शास्त्र को नष्ट कर देना चाहता है, उसी, अपने हीं हेतुवाद से इसे अपने सम्पूर्ण कानून को भी क्रव्यादाग्नि में आहुत कर उस कोटि में हीं आजाना चाहिए, जिस सुप्रसिद्धा प्राकृत जीवकोटि के लिए न कभी कोई शास्त्र बना है, न कानून। अपितु प्रत्यक्षप्रभावात्मिका तात्कालिकी प्रकृति ही जिस वर्ग के लिए शास्त्र, किंवा कानून बनी हुई है। और हम समझते हैं, स्वरूपतः ही आत्मना परिपूर्ण कोई भी मानव उस कोटि में आजाना तो कभी भी अभीष्ट नहीं हीं मानेगा अपने आप को।

३५६–प्रचण्ड–दुर्दान्त-तस्कर–आक्रान्ता की मानवस्वभावसुलभा पुण्यवासना, एवं मानव का अन्ततोगत्त्वा मनुनिबन्धन–आत्मनिष्ठ 'मानवस्वरूप' पर ही विश्राम —

क्यों कि, सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि, एक प्रचण्ड दुर्दान्त डाकू भी अपने आपको 'पापात्मा' कहलाने के स्थान में 'पुण्यात्मा' कहलाने में ही अपने अन्तर्जगत् में गौरव का अनुभव करता है। इसलिए अनुभव करता है कि, मानव प्रत्यक्षवादी प्राकृत पशु नहीं है। अपितु वह मानव है। आत्मानुगता अभ्युदयनिष्ठा-पुण्यनिष्ठा ही उसका अपना मौलिक स्वरूप है। अतएव अन्ततोगत्त्वा मानव **'मानव'** ही है, जिसके स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यों का व्यवस्थापक शास्त्र ही जिसे प्रत्यक्षमूला भावुकता से बचा लिया करता है—**'तस्माच्छास्त्रं-प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ'**।

३५७–झञ्झा-ताल-मृदङ्गादि से समन्वित नामसंकीर्त्तन के विपरीत स्वभक्त अर्जुन के प्रति भगवान् का कर्त्तव्यकर्म्मादेश, एवं शास्त्राचारनिष्ठ भगवान्—

यदि भगवान् शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से भावुक अर्जुन को उस भीषण परिस्थिति में क्षात्रधर्म्मरूप स्वधर्म्म में प्रवृत्त न करते, ठीक इसके विपरीत यदि कण्ठी–माला–झाँझ–मँजीरा–देकर उसे भजन–कीर्तन, और स्वनाम–संकीर्त्तन करने के लिए ही छोड़ देते, तो आततायी वे कौरव क्या क्या नवीन अनर्थ नहीं कर डालते ?, जिन्होंनें अपने आत्मीयबन्धु पाण्डवों तक को वारणावतनगर के लाक्षागृह में जीवित जला डालने के प्रयास में भी कोई कमी नहीं की थी। **वर्णसङ्करता--कुलक्षय--अधर्म्म--नारीजाति का अपमान,** ये सभी आसुरी-प्रवृत्तियाँ जिन कौरवों में जन्मतः ही विद्यमान थीं, उनका रक्षण क्या इन प्रवृत्तियों को मूर्त्तिमान नहीं बना देता ?। क्या भावुक अर्जुन भूल गया था महाशक्ति द्रौपदी के महतोमहीयान् उस घोरघोरतम अपमान की घटना को, जो घटना हीं महाभारतसमर का प्रमुख कारण बन बैठी। एवं एकमात्र केवल इस एक, हाँ एक मातृशक्ति के अपमानने हीं, इस के अश्रुपूर्णाकुलेक्षणाने हीं, इस के विकीर्ण केशपाशने हीं उस विश्वेश्वर को भी विकम्पित कर डाला था, जिसकी भृकुटीमात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड भी विकम्पित होपड़ता है। भगवान् के इसी क्षणिक

विकम्पनाग्नि में अन्ततोगत्त्वा आततायीवर्ग जल कर भस्मात् हो ही तो गया। यों भगवान्ने आततायीवर्ग को निःशेष बना कर अपनी इस आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा के बल पर ही अर्जुन के माध्यम–प्रतीक से तत्कालीन भारतराष्ट्र की धर्म्मनिष्ठा को, कुलक्षय को, बचाते हुए जाति को संकरदोष से ही बचा लिया, एवं इस से प्रजाका स्वरूप सुरक्षित ही हो गया। स्थिति–परिस्थिति अर्जुन की प्रत्यक्षमूला धारणा से ठीक विपरीत होगई। जिस कर्त्तव्यपालन में अर्जुन को **वर्णसंकरता**, और **प्रजाविनाश** प्रतीत हो रहा था, भगवान् ने उसकी इस भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया कर्त्तव्य–स्वरूपबोधमूला शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से। और यह प्रमाणित कर दिया कि, कर्त्तव्यनिष्ठा ही वर्णसंकरता का निरोध कर सकती है, एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठा से ही प्रजासंरक्षण, किंवा राष्ट्रसंरक्षण सम्भव है। एवं उक्त वचनसन्दर्भ के सर्वान्त के-**"यदि मैं कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त न रहूँ, तो लोकमर्य्यादा ही उच्छिन्न हो जाय। कर्त्तव्य से वञ्चित होकर तो मैं संकरता का, तथा प्रजाविनाश का ही निमित्त बनजाऊँ"** (३।२४) इस तथ्य का यही प्रासङ्गिक समन्वय है, जिस के द्वारा कर्म्मत्यागमूला **दार्शनिकता, सन्तमूला भावुकता, वर्त्तमानकालानुगता धर्म्मनिरपेक्षता,** एवं **तदनुप्राणिता कल्पनया--प्रसूता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता--लक्षणा स्वैराचारपरायणता**, आदि आदि सभी का सर्वात्मना सम्यक्, ठीक ठीक समन्वय हो जाता है, जैसा कि समन्वय इनका होना चाहिए।

३५८–प्रकृतानुसरणात्मक पौरुष, तथा भाग्य का संस्मरण, एवं सहजकर्म्मनिबन्धन–जरामर्य्यसत्त्रात्मक पौरुष की स्वरूप–परिभाषा—

प्रकृतमनुसरामः। बात चल रही है पौरुष, और भाग्य की। प्रतीकात्मक चतुर्विध भावों के अनेक समन्वयों में पौरुष, एवं भाग्य का भी एक विशेष स्थान है, जिनमें से अव्ययात्मक अक्षररूप–चिदात्मसर्गानुगत, ब्रह्मवित्–दिग्देशकालातीत–'पुरुष' नामक प्रथम–मानव के 'पौरुष' के सम्बन्ध से ही कर्त्तव्यनिष्ठा का यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ा था। आत्मबोधनिष्ठ ब्रह्मवित् भी दिग्देशकालानुबन्ध से अस्मदादि प्राकृत मानवों की भाँति ही अवश्यमेव शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में हीं-'**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**' के अनुसार यावज्जीवन लोकसंग्रह–दृष्ट्या प्रवृत्त रहेगा निवृत्तिपूर्वक *। किसी भी भारतीय शास्त्र में वैसी संन्यासावस्था का एकान्ततः अभाव ही है, जिस में कर्म्मत्याग को प्रशस्त माना गया हो। '**जरया वा जीर्य्यते, मृत्युना वा शीर्य्यते**' के अनुसार एकमात्र आत्यन्तिक बुढ़ापा, एवं सर्वान्त में मृत्युदेवता ही कर्म्मव्यूह के एक अभिक्रम को पूर्ण करता है। ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ–सहजकर्त्तव्यनिष्ठ–सहज मानवों का यह सहज कर्म्म ही **'पौरुष'** कहलाया है, और यही महिमात्मक सर्ग का प्रथम पर्व है।

३५९–ब्रह्मबलानुगत पौरुष, एवं क्षत्रबलानुगत पुरुषार्थ का स्वरूप–दिग्दर्शन—

अव्ययानुगत–अक्षररूप चित्सर्गानुगत दूसरा **'मानव'** नामक मानव ही **'पुरुषार्थ'** शील मानव कहलाया है। दोनों हीं अमुक सूक्ष्म–तारतम्यभेदसे पौरुषकोटि में अन्तर्भुक्त हैं। अन्तर्म्महिमामय गुहानि–

---

* **ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

—गीता

हित अव्यक्त पौरुष ही **'पौरुष'** है, एवं बहिर्म्महिमामय–लोकसिद्ध–प्रसिद्ध-व्यक्तपौरुष ही **'पुरुषार्थ'** है । **पौरुष** ब्राह्मणपुरुष का धर्म्म है, एवं **पुरुषार्थ** क्षत्रियमानव का धर्म्म है । ब्राह्मण केवल पुरुष, किंवा पौरुष है, जिसका आधान होता है क्षत्रिय में–**'तत्क्षत्रे एव ब्रह्म–यशो दधाति'** (देखिए ! मैत्रावरुणब्राह्मण) । ब्राह्मण का पौरुष पुरुषार्थरूप से व्यक्त होता है क्षत्रियके द्वारा, जैसाकि **'सांस्कृतिक-निबन्ध'** में विस्तार से निरूपित है । और यहाँ तक, इन दोनों महिमाविवर्त्तों तक कालातीत लक्षण ही कालिक व्यवस्था है । इसी आधार पर पुरुषार्थी शास्ता क्षत्रियराजा को भी ब्राह्मणवत् कालाधीन न मान कर कालनिर्म्माता-ही बतला दिया गया है-**'राजा कालस्य कारणम्'** * ।

३६०–'राजा कालस्य कारणम्' मूला भावुकता से आविर्भूत भ्रान्तियों का इतिवृत्त—

'राजा, अर्थात् शास्ता-शासक, अर्थात राष्ट्र का सत्तातन्त्र ही काल का निर्म्माता है' इस वाक्य के गर्भ में हीं भावुकतापूर्ण उस आपातरमणीय प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है, जिस प्रश्न की उत्थानिका से वर्त्तमान राष्ट्र के राष्ट्रीय नेतागण, तथा तदनुवर्त्तिनी गतानुगतिका प्रजा बड़े आक्रोश के साथ भारतीय संस्कृति, तत्–प्रतिपादक श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्र, तत्प्रतिपादित कर्म्मोपनिषत् । (कर्म्मरहस्य)–कर्त्तव्यस्वरूप (कर्म्मेति–कर्त्तव्यता–पद्धति)—कर्म्मायोजन (सांस्कृतिक–आयोजन), तथा तदभिगन्ता–वक्ता–प्रचारक ब्राह्मणवर्ग के प्रति अत्यन्त ही कुत्सा–गर्हा–पूर्ण भाषा में अभिनिवेश के साथ अपने ये उद्गार अनुदिन प्रकट करते ही रहते हैं कि—

३६१–कालधर्म्मविशारद आज के सत्ताभक्तों के द्वारा भारतीय–ब्राह्मणप्रज्ञा पर आक्रोश-पूर्ण मलीमस आक्रमण—

"इन ब्राह्मणोंनें, इन की संकृतिने, इनके पुराणादि शास्त्रोंनें, इनके धर्म्माडम्बरोंनें, सर्वोपरि इन के मानवता–विरोधी वर्गभेदोंनें, नींच–ऊँच के कल्पित भेदोंनें हीं राष्ट्रीय–संघठन उच्छिन्न किया है, एवं एकमात्र इसीलिए राष्ट्र परतन्त्र हुआ है, जिसे बड़ी कठिनता से पुनः हमारे राष्ट्रीय–नेताओंनें स्वतन्त्र किया है । अतएव अब यह आवश्यक है कि, पुनः उस भूल को राष्ट्र में न पनपने दिया जाय । एवं अब राष्ट्र की इस अभिनव–स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए उस पुराणपन्थी–धर्म्म–भावनात्मिका सर्वनाशकारिणी पद्धति को जलाञ्जलि समर्पित कर, वर्गभेद का मूलोच्छेद करते हुए धर्म्मनिरपेक्षता के माध्यम से मानवमात्र की समानता का समर्थन करने वाले वैसे ही विधि–विधान–बनाए जायँ, जिनके सभी समानरूप से उपभोक्ता हों । तभी प्राप्त स्वतन्त्रता का संरक्षण-अभिवर्द्धन सम्भव है । कदापि इस अभिनव-स्वतन्त्रता में हमें **धर्म्म–रूढि–शास्त्र–प्राचीनता–परम्परा–अतीत–**आदि आदि–मूलक व्यामोहनों का प्रवेश नहीं होने देना है, जिन व्यामोहनों के कारण हीं भारतराष्ट्र को विगत अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बना रहने पड़ा है" ।

*** इति ते संशयो माभूत्–राजा कालस्य कारणम् । (महाभारते भीष्मोक्तिः) ।**

३६२—राष्ट्रवादियों के आपातरमणीय-आक्रोशात्मक-अभियोगों की मान्यता, एवं त्रिसहस्र-वर्षानुगत भारतीय-ब्राह्मण की मतवादाभिनिवेशमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्र का अधःपतन—

राष्ट्रवादियों का आपातरमणीय भी उक्त अभियोग इसलिए सर्वात्मना मान्य ही होगा राष्ट्रभक्त प्रत्येक प्रज्ञाशील के लिए कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से सचमुच ही **धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आचार-ब्राह्मण-विद्वान्-वर्गभेद-मानवता के विरोधी उच्च-नीच-भाव** आदि आदि सभी कुछ तथाकथितरूप से उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही होते आए हैं, एवं निश्चयेन इन वादों से ही राष्ट्र को **आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक**, तथा सर्वान्त में **शारीरिक-परतन्त्रता** भोगनी पड़ी है। अवश्य ही इन सब उत्पातों की जड़ धर्म्माभिनिविष्ट-शास्त्राभिनिविष्ट वह ब्राह्मण ही माना जायगा, जिसने उक्त अवधि में भावुक अर्जुन की भाँति परदर्शनता के कारण राष्ट्र की मूलनिधि वेद, धर्म, संस्कृति, आदि के समन्वय में अपने काल्पनिक मतवादों को ही प्रमुखता प्रदान कर डाली है, जैसा कि पूर्व के गीता-प्रसङ्ग से स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण के द्वारा ऐसा क्यों हो पड़ा ?, जब कि वेदशास्त्र, तत्सिद्ध धर्म्म *, तदनुगता ज्ञानविज्ञानसिद्धा, कर्त्तव्यनिष्ठाएँ सर्वात्मना सभी युगों के लिए हितप्रद मङ्गलमय ही थे। ब्राह्मण ने कैसे इन्हीं के आधार पर अमाङ्गलिक-विधि-विधानोंका सर्ज्जन कर डाला ?। और यदि अमङ्गल-विधान न कर ब्राह्मण ने सब कुछ शास्त्र के अनुसार ही, ठीक ठीक ही व्यस्थित किया, तो फिर ऐसे ठीक ठीक मङ्गलमय विधि-विधानों के विद्यमान रहते हुए भी राष्ट्रीय-संघठन क्यों ?, और कैसे उच्छिन्न हो गया ?। अवश्य ही ये प्रश्न आज प्रत्येक उस प्रज्ञाशील के लिए तो उत्पीड़क ही बने हुए हैं, जो आस्था-श्रद्धा के कारण एकहेलया **'वेद'**-जैसे शास्त्र की भी अवहेलना नहीं कर सकता, तो दूसरी ओर राष्ट्र के अतीत दुःख-पूर्ण इतिहास के साथ भी गजनिमीलिका नहीं करसकता। स्वयं हमारे सम्मुख भी बड़े ही आक्रोश से ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उपस्थित हो पड़े हैं। और राष्ट्र की विगत-शताब्दियों की जीवन-चर्य्या, राष्ट्रीयता पर जब जब भी हमारा ध्यान गया है, हम विकम्पित ही हो पड़े हैं। कहाँ हमारे शास्त्रीय मङ्गलमय विधि-विधान ?, और कहाँ निरपराध बालाकों का जीते जी क्रव्यादाग्नि में कूद पड़ना ?, किंवा बलपूर्वक उन्हें कूदने के लिए विवश कर देना ?। कहाँ एक ओर परस्पर एक दूसरे का गला काटने में हीं अपना क्षात्रतेज समर्पित करते रहना, और कहाँ दूसरी ओर उसी क्षात्रतेज को परसत्ताओं के प्रति दासभाव से समर्पित करते रहना ?। कहाँ एक ओर आत्मानुगत अमरपद के गुणगान ?, तो कहाँ दूसरी ओर एक मूषकाक्रमण से भी भयत्रस्त हो पड़ना ?। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आदर्शों, तथा भुक्त-प्रक्रान्त यथार्थताओं के वैषम्यने सच-मुच हमें सदा ही विकम्पित किया है। और यदि **'हम भूल देखने में भूल नहीं कर रहे'**, तो निश्चयेन इन सब विकम्पनों का, प्रश्नों का, समस्यापूर्ण आक्रोशों का उत्तर हमें उपलब्ध हुआ है पुराणपुरुष भगवान् व्यास के-**'राजा कालस्य कारणम्'** इस छोटे से वाक्य के चिरन्तन इतिहास के गर्भ में हीं, जिस चिरन्तन इतिहास के लिए ही तो हमें खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध, एवं **'संस्कृति-सभ्यता-शब्दों-का चिरन्तन इतिहास'** नामक एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

---

* **वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ। (मनुः)।**

३६३–कालनिर्वाहक सत्ताधीशों के प्रति आत्मसमर्पण कर बैठने वाले ब्राह्मण की सत्तासापेक्षता से ही भारत के सांस्कृतिक वैभव, तथा तन्मूलक भौतिक वैभव की अन्तर्मुखता—

प्रकृत में सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निवेदन पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, **"सत्तातन्त्राधीश शासकों के द्वारा निर्म्मित काल के प्रति अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने से ही ब्राह्मण के द्वारा उन सब व्यामोहनों का आविर्भाव हो पड़ा है, जिन से स्वयं ब्राह्मण भी शक्तिहीन बन गया, एवं तत्स्वामी सत्तातन्त्र भी अशक्त बन गया, और यही भारतराष्ट्र की परतन्त्रता का प्रमुख कारण बना"** । ब्राह्मण का पौरुष अभिभूत होगया सत्तातन्त्र की पुरुषार्थसीमा में । सहजभाषानुसार–संस्कृति–धर्म्म–रक्षण के व्यामोहन से ब्राह्मणने जिस दिन से सत्ता का आश्रय ले लिया, उसी दिन से इसका शास्त्र, इसका धर्म्म, इसका साहित्य, आदि आदि कुछ भी इसका रहा ही नहीं, अपितु सबकुछ सत्ता के ही बन गए । आज की भाषा में–सत्तातन्त्र के द्वारा स्वयं ब्राह्मणने हीं भावुकतावश, किंवा संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि के संरक्षण–व्यामोहन–वश सब का राष्ट्रीयकरण ही करवा लिया प्रसन्नतापूर्वक राजगुरुपद पर समासीन होते हुए । यह राज्याश्रय, यह राजगुरुत्त्व, यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक व्यामोहन हीं गुहानिहित, सत्ता को आश्रय देने वाले राष्ट्रीय ब्राह्मण की सहज–विमल–निष्ठा के पतन का मूल कारण बना । और यों–**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'–'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** इत्यादि श्रौत उद्बोधनसूत्रों से सर्वथा ही अपरिचित रहने वाला भारतराष्ट्र का राष्ट्रीय ब्राह्मण सत्ता का क्रीतदास ही बन गया, जिसका जैसा, एवं जो कुछ परिणाम होना चाहिए था, वह राष्ट्र के सम्मुख विद्यमान है ।

३६४–सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा की अन्तर्मुखता से ही शाश्वतधर्म्मलक्षण कर्त्तव्य का अभिभव, तन्मूलक मतवादों का प्राचुर्य्य, एवं मतवादाभिनिविष्ट ब्राह्मण का अधःपतन—

सत्तातन्त्र बदलते रहे, बदलते रहना स्वाभाविक ही है इनका । इस सत्ता–परिवर्त्तन के साथ साथ ही सत्ताश्रित ब्राह्मणों की भावुकताएँ भीं बदलतीं रहीं । तदनुपात से ही मूलसाहित्य भी उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता गया । तत्स्थान में कभी मूलसाहित्य के नाम पर, तो कभी स्वतन्त्ररूप से सत्तातन्त्रों की मान्यता, इच्छा, पोषण, समर्थन, कृपायाञ्चा के अनुपात से राज्याश्रित–सत्ताश्रित–राजभक्त–भावुक विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा नवीन–नवीन ग्रन्थ बनते गए । आगे जाकर तो यह स्वतन्त्र–साम्प्रदायिक–ग्रन्थभार ही उस सीमा–पर्य्यन्त सीमा का अतिक्रमण ही कर गया कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र तो इन विद्वान् ब्राह्मणों की दृष्टि से भी सर्वथा तिरोहित ही बन गया, जबकि परम्परया वेद के प्रति आस्था–श्रद्धा रखने वाली राष्ट्रीय–जनता की वेदानुगता भावुकता के संरक्षणमात्र के लिए इन विद्वानों के काल्पनिक-शास्त्रों, साम्प्रदायिक-ग्रन्थों की प्रामाणिकता के नाम पर यदा कदा नाम वेद का भी समाविष्ट होता रहा । कुछ ऐसे भी (ब्राह्मणेतर) नवीन विद्वान् उद्भूत हो पड़े वर्षाकालीन प्राकृत जीवों की भाँति, जिन्होंनें अपनी अहम्मन्यताओं में आकर आगे चल कर इस वेदनामभक्ति को भी सर्वथा विस्मृत कर दिया, और तत्स्थान में अपनी मान्यता के अनुपात से वैसे ही नवीन साहित्य का अपने

बुद्धिवाद के बल पर ही सर्ज्जन कर डाला, जो इत्थंभूत स्वतन्त्र–कल्पित–साहित्य ही आगे जाकर भारतराष्ट्र का मूलशास्त्र बन गया, एवं उसी के काल्पनिक विधि–विधानोंनें धर्म्म, तथा कर्त्तव्य का स्थान ग्रहण कर लिया, जबकि इन में धर्म्म, और कर्त्तव्य का वस्तुतः नामस्मरण भी नहीं था ।

३६५–पतनगर्त्तनिमग्ना ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा काल्पनिक-उपनिषदों का निर्म्माण, मौलिक शास्त्रों के प्रति वञ्चकता, एवं विक्षिप्ततानुगता भयावहा प्रक्षिप्तता—

इदमप्यत्रावधेयम् । मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग, एवं अमुक सीमापर्य्यन्त आरण्यकभाग, इन तीन वेदपर्वों में काल्पनिक–व्याख्याएँ तो समाविष्ट होगईं सत्ताभक्त ब्राह्मणों के द्वारा । किन्तु 'छन्दोभ्यस्ता' नाम से प्रसिद्धा वेदभाषा के बोध से अपरिचित विद्वान् तद्भाषामय इन तीनों पर्वों में ऐच्छिक परिवर्त्तन नहीं कर सके, जबकि संस्कृतभाषाप्रधान उपनिषत्साहित्य में, तथा तद्भाषामय ही स्मृति, तथा पुराणशास्त्र में भूदेवों का यह अकाण्ड ताण्डव भी चल गया, जिसके लिए–**रामतापनीयोपनिषत्–गोपालतापनीयोपनिषत्–त्रिपुण्डभस्मोपनिषत्–अल्लोपनिषत्–कलिसन्तरणोपनिषत्**–आदि नाम हीं पर्य्याप्त होंगे । यही दुर्द्दशा स्मृतिशास्त्र की हुई । और लोकसामान्य की आस्था–श्रद्धा सुरक्षित रखने के एकमात्र–अन्यतम साधनभूत, भारतीय-सांस्कृतिक–आयोजनों के महान् इतिवृत्तरूप आर्य्यसर्वस्वात्मक गरिमामहिमामय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में तो विक्षिप्तों की यह प्रक्षिप्तता सीमा का उल्लंघन ही कर गई । राजभक्ति के आवेश ने इस शास्त्र की तो वैसी दुर्द्दशा कर डाली, जिसके नामोल्लेख से भी हमें प्रायश्चित्त का अनुगामी बन जाना पड़ता है ।

३६६–ब्रिटिशसत्तातन्त्र का परमभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, तत्प्रसादप्राप्त्यर्थ ही ब्रिटिश-साम्राज्य का काल्पनिक पुराणवचनों के द्वारा समर्थन, इति नु सर्वथा अब्रह्मण्य-मेव—

भारतराष्ट्र की शेषभूता स्वतन्त्रता को स्मृतिगर्भ में विलीन कर देने वाले अन्तिम परसत्तातन्त्र बृटिश-राज्य के प्रति भी अपने उसी पूर्वाभ्यास के अनुसार इस देश के विद्वान् ब्राह्मणोंनें हीं, तदुपाधिप्राप्त दासानुदास महामहोपाध्यायोंनें हीं सर्वप्रथम न केवल आत्मसमर्पण ही कर दिया, अपितु **'भविष्यपुराण'** के माध्यम से, तथा सुप्रसिद्ध **'मेरुतन्त्र'** नामक तन्त्रग्रन्थ के माध्यम से वैसे वैसे नवीन श्लोक भी बना डाले, जिनसे यही प्रमाणित करने की चेष्टा की इन राजभक्त विद्वानों नें कि–**'यह तो हमारे पुराणों में हीं लिखा है कि, भारत पर कभी अंग्रेज एकच्छत्र राज्य करेंगे'** * । न केवल अत्र उनके साम्राज्य का ही, अपितु इन विद्वानों के लिए सम्भवतः पुण्यधाम वाराणासी से भी कहीं अधिक पवित्र उनके **'लन्दननगर'** का संस्मरण करना भी विस्मृत नहीं किया उन तर्कालङ्कार, तर्कधुरीण महामहोपाध्याय विद्वानोंनें, इति नु अब्रह्मण्यमेव ।

---

*–देखिए–बङ्गीय पण्डित महामहोपाध्याय स्व० श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कार महोदय के–'श्रीगोपाल–मल्लिक फेलोशिप' का अपना द्वितीय व्याख्यान, एवं तदनुगत निम्नलिखित उद्धरण–भविष्यपुराण के नाम से-

३६७-राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता--आन्दोलनों का आलोचक ब्रिटिशसत्ताभक्त भारतीय विद्वद्वर्ग, एवं तन्निबन्धना महती निर्लज्जता—

विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति इनके आभिजात्य के कारण सदा से ही इनका सम्मान करने वाली भारतराष्ट्र की आस्था–श्रद्धा–शीला प्रजा को सम्भवतः यह भी विदित होगा ही कि, जिस निकटपूर्व के युग में भारतराष्ट्र के स्वनामधन्य कतिमय महाप्राण मानवश्रेष्ठ सम्मानित ब्रिटिशसत्ताधीशों, एवं अतिथियों को सम्मानपूर्वक इस देश से बिदा कर देने जैसे पुण्यकर्म्म में संलग्न थे, उस युग में भी राजभक्त ब्राह्मणविद्वानोंनें, एवं तदाश्रयप्रदाता सम्मान्य सामन्त राजाओंनें हीं इस कार्य्य में विघ्न उपस्थित किया था। एक ओर राष्ट्रीय महाप्राण जहाँ ब्रिटिशसत्तातन्त्र के द्वारा कारावासों में यामीयातनाएँ सह रहते थे देश को स्वतन्त्र बनाने की पावन कामना से, तो दूसरी ओर हमारे राष्ट्र के, राष्ट्र की संस्कृति के मूल–सूत्रधार विद्वान् पण्डित लन्दन में विराजमान अपने सम्राट् की सामान्य–सी अस्वस्थता से चिन्तित होते हुए अपने उपासना–मन्दिरों में भगवान् से सम्म्राट् की स्वास्थ्य-कामना अभिव्यक्त करते हुए भी लज्जा से सम्भवतः अपने आपको असंस्पृष्ट ही मानते रहते थे। कैसा था यह उद्वेगकर मलीमस विधि का विचित्र विधान ?, जिसके स्मरणमात्र से भी यह द्विजबन्धु तो वर्णाकर्षण से अपनी तथाविधा निर्लज्जता को कहीं परोक्ष बनाने का स्थान भी तो उपलब्ध नहीं कर रहा।

पृ० सं० ५७२ की टिप्पणी का शेषांश—

पूर्वाम्नाये नवशतं षडशीतिः प्रकीर्त्तिता।
फिरङ्गीभाषया मन्त्रा येषां संसाधनात् कलौ॥
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिताः।
'इंग्रेजा' नवषट्पञ्च लन्दजाश्चापि भाविनः॥

श्लोकों का तात्पर्य्यार्थ यही है कि, "तन्त्रशास्त्र के सुप्रसिद्ध पूर्व–पश्चिम–वाम–दक्षिण–ऊर्ध्व–अधः-नामक ६ आम्नायों में से पूर्वाम्नायतन्त्र में फिरङ्गी भाषा के (अंग्रेजी भाषा के) सैंकड़ों मन्त्र हैं, जिनकी साधना से कलियुग में मानव भवसागर पार कर जाता है। ये मन्त्र उस इंगलिशभाषा के हैं, जिस भाषा के सज्जक अंग्रेज आज भारत जैसे राष्ट्र के अधिपति हैं, एवं जिन्हें युद्ध में कोई नहीं हरा सकता। ऐसे इंग्रेज किसी समय लन्दन में उत्पन्न होंगे"। इत्यादि इत्यादि। आश्चर्य्य तो यह है कि, प्रयास करने पर भी मेरुतन्त्रादि ग्रन्थों में हम आजतक तर्कालङ्कार महाभाग के द्वारा सङ्केतित इंगलिशभाषा के तथाकथित मन्त्र उपलब्ध नहीं कर सके। तभी तो उसी युग के उसी बङ्गप्रान्त के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् (स्व० **श्रीअक्षयदत्त** महाभाग) ने अपने सुप्रसिद्ध–"**भारतवर्षीय--उपासक सम्प्रदाय**' नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थ की प्रस्तावना में तथोक्ता भविष्यदुक्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर डाला है। जैसा मण्डन, वैसा ही खण्डन। एक दल राजभक्ति का अनुगामी, तो खण्डनकर्त्ता दल सम्प्रदायभक्ति का समर्थक। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के लिए तो दोनों हीं प्रणम्य, इत्यलं पापकथाप्रसङ्गेनैतेन।

३६८-वर्त्तमान स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के भारतीय विद्वानों के युगधर्म्मानुगत विभिन्न दो वर्ग, एवं प्रथम वर्ग के द्वारा धर्म्मव्याज से सत्ता की आलोचना, तथा द्वितीय वर्ग के द्वारा सत्ता की भावुकतापूर्णा मान्यताओं का समर्थन—

और आज के स्वतन्त्रतापूर्ण-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतीय ब्राह्मण विद्वान् क्या कर रहे हैं ?। वही सबकुछ तो कर रहे हैं, जो कुछ तीन सहस्र वर्षों से ये करते आरहे हैं। अन्तर है केवल थोड़ा मनोवृत्ति में। इस से पूर्व के जो परसत्तातन्त्र (ब्रिटिश-मुगल-सिकन्दर-हूण-शकादि-सत्तातन्त्र) थे, उन में भय की ही प्रमुखता थी, स्वार्थ गौण था। किन्तु आज भय का स्थान भी स्वार्थ ने हीं ले लिया है। क्योंकि सत्तातन्त्र इनका ही है। अतएव आज ये संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् दो वर्गों में विभक्त होगए हैं। जिस वर्ग का सत्तातन्त्र से जोड़–तोड़ नहीं बैठा, वह धर्म्म के नाम से आलोचक बन गया है इस सत्तातन्त्र का, एवं जिसका जोड़ तोड़ बैठ गया है, उसने तो एक स्वतन्त्र दर्शन (गाँधीदर्शन) का ही सर्ज्जन कर डाला है। कुछ एक लोकचतुर संस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वान् (किन्तु ब्राह्मण नहीं, अपितु इतर वर्णों को समलङ्कृत करने वाले) ऐसे भी हैं, जो अपने लोकचातुर्य्य से सत्तातन्त्र को भी प्रसन्न रखने के प्रयास में तल्लीन हैं, एवं अपने इसी वाक्छल के माध्यम से धर्म्मप्राणा जनता के भी श्रद्धाभाजन बने रहने का प्रयास करते रहने में कुशल हैं। तत्त्वत: इन विद्वानों की सभी श्रेणियाँ आज भी आत्मबुद्धिमन:शरीरदासता का ही पुनरावर्त्तन कर रही हैं। इसी सत्ताविमोहन से आज भी मूल संस्कृति, मूल धर्म्म, मूल आचार गुहानिहित ही प्रमाणित हो रहा है। और यों सत्ताश्रयता के कारण हीं आज के इस महद्भाग्यशाली स्वतन्त्र भारत में भी भारत की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा आचारपद्धति की ओर न तो विद्वानों का ही ध्यान जासका है, और न सत्तातन्त्र का ही। सत्तातन्त्र चिड़ा हुआ है राजभक्त, तथेतिवृत्तात्मक विद्वानों से, एवं इनकी मतवादात्मिका मान्यताओं से, जिनसे चिड़ते रहना, और आत्मपरित्राण करते रहना तो प्रत्येक प्रज्ञाशील का हम तो स्वधर्म्म ही मानेंगे। और आज तो जनतन्त्र भी उदासीन होता जारहा है इन्हीं सब कारणों से इन धर्म्मिष्ठों की ओर से। तो क्या अब कोई उपाय नहीं है भारतराष्ट्र की मूलनिधि के पुनराविर्भाव का ?, उत्तर होगा **'एकमात्र'–'राजा कालस्य कारणम्'** ही।

३६९-अन्तर्राष्ट्रीय--व्यामोहनात्मक स्वराष्ट्रनिष्ठावञ्चित हमारा वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं इसके-'स्व' भाव की 'पर' तन्त्रों से अनुगता 'परतन्त्रता'—

स्वयं सत्तातन्त्र को ही आज नहीं, तो कल, कल नहीं तो परसों अपनी भूल स्वीकार करनी हीं पड़ेगी, जिस भावुकतापूर्ण भूलने हीं सत्तातन्त्र की प्रज्ञा को आज अन्तर्राष्ट्रीय-विमोहन–मूलक परदर्शन–परानुकरण की ओर ही प्रवृत्त कर रक्खा है। और इसी भावुकता के कारण अमुक वर्गविशेष–व्यक्तिविशेषों के दोष से उसने भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति की ओर दृष्टिपात करना भी पाप मान लिया है। हम साग्रह आवेदन करेंगे अपने प्रभुसत्तासमर्थ सत्तातन्त्र से कि, वह एक बार, केवल एक बार–गुणदृष्टि से नहीं, तो दोषदृष्टि से ही दृष्टिपात का तो अनुग्रह करे अपनी इस उस मूलनिधि की ओर, जिसका एक एक सूत्र सत्तातन्त्र की उन सम्पूर्ण समस्याओं का क्षणमात्र में निराकरण करने की क्षमता रखता है, जिन विषमा समस्याओं के लिए चिन्तित हमारा सत्तातन्त्र आज उन **'परतन्त्रों'** के **'परसूत्रों'** की ही शरण लेता जारहा है, जो कि **'प्रतीच्य-परसूत्र'** समस्या के निराकरण के स्थानमें समस्या के सर्ज्जक ही बनते जारहे हैं।

३७०-सर्वविनाशक-सत्ताश्रयात्मक-राज्याश्रय की निरपेक्षता से ही ब्राह्मणप्रज्ञाओं के द्वारा राष्ट्र का सम्भावित-जागरण—

और अनन्य श्रद्धेय पूज्य विद्वान् ब्राह्मणों से, तथा अन्यान्य संस्कृतिनिष्ठ-साहित्यिकों से भी हम यही निवेदन करेंगे कि, वे सत्तातन्त्र की लोकानुगता मान्यताओं से अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट ही रखते हुए, इस कालचक्र के साक्षीमात्र ही बने रहते हुए, कालसञ्चालन का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र पर ही छोड़ते हुए, साथ ही अपने आपको सत्ताश्रय-राज्यश्रय के सर्वविनाशक महामोह से सर्वथा ही बचाते हुए शुद्धबुद्धि से आस्था-श्रद्धा-पूर्वक (किसी भी व्याख्यामोह में न पड़ते हुए) अपनी मूलनिधि के स्वाध्याय-चिन्तन-अनुशीलन में हीं प्रवृत्त हो जायँ। इनके इसी पुण्य से एक दिन सत्तातन्त्र को अवश्य ही इस संस्कृति की शरण में आ ही जाना पड़ेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ अब हम-**'राजा कालस्य कारणम्'** मूलक प्रासङ्गिक निवेदन को उपरत कर पुनः प्रक्रान्त पौरुष, तथा पुरुषार्थ की ओर ही कालप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

३७१-कालसापेक्ष सत्तातन्त्र, एवं कालातीत--शाश्वतधर्म्म के क्षेत्र में तत्तन्त्र का अनधिकार—

'राजा', अर्थात् सत्तातन्त्र काल का कारण अवश्य है। अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी सम्वत्सरकालचक्र (चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र) से सीमित बने रहने वाले भूत-भौतिक-व्यक्त-मूर्त्त-जगत् के भौतिक विधि-विधानों का कारण, किंवा उत्तरदायी अवश्य है। तभी तो शास्त्रने आधिभौतिक-रक्षाकर्म्म का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र को, शास्ता क्षत्रियको ही दिया है,-जैसाकि इसके-**'क्षतात् त्रायते'** निर्वचनार्थक 'क्षत्रिय' शब्द से प्रमाणित है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी इसे उस कालातीत की व्यवस्था का कोई उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं है, जिसका अव्यक्त-अमूर्त्त भावों से ही सम्बन्ध है, एवं जिस कालातीत-अव्यक्त-अप्राकृत भाव को ही **'शाश्वतधर्म्म'** कहा गया है।

३७२-स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित, सुरक्षित शाश्वतधर्म्म, एवं-'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' का संस्मरण—

इसका उत्तरदायित्व तो वस्तुतः किसी को भी नहीं है। अपितु धर्म्म तो स्वयं ही अपना उत्तरदायित्व वहन कर रहा है। ब्राह्मण उस का नाम है, जो कालातीता स्थिति में रहता हुआ इस धर्म्म का अनुशीलन करता है, एवं क्षत्रिय उसका नाम है, जो ब्राह्मण के अनुशीलनात्मक धर्म्म को आचार का स्वरूप प्रदान करता है। यों ब्राह्मण जहाँ **'धर्म्मप्रवर्त्तक'** बना हुआ है, वहाँ क्षत्रिय **'धर्म्मरक्षक'** प्रमाणित हो रहा है। 'धर्म्मरक्षकता' का अर्थ है ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट धर्म्म का प्रजा के द्वारा व्यवस्थापूर्वक पालन करवाना। वैसे तो स्वयं धर्म्म ही क्षत्रिय का भी रक्षक है, और ब्राह्मण का भी रक्षक है। किंबहुना-सम्पूर्ण विश्व का रक्षक है-**'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**।

३७३-ब्राह्मण के पौरुष की सत्तातन्त्र के द्वारा कार्य्यरूप में परिणति, एवं-'मैत्रावरुण-ग्रहश्रुति' मूलक मित्रब्रह्म-क्षत्रवरुण-के अभिगन्तृत्त्व-कर्तृत्त्व--भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, ब्राह्मण के पौरुष को कार्य्यरूप में परिणत कर देने का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र से ही अनुप्राणित है। जो सत्तातन्त्र अपने कालव्यामोहन में आकर कालातीत धर्म्म की, तत्प्रवर्त्तक

ब्राह्मण के पौरुष की अवहेलना कर देता है, उस के सम्पूर्ण पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' न रह कर कालानुबन्धी तात्कालिक 'प्रकृत्यर्थ' ही बने रह जाते हैं। और पुरुषार्थशून्य, केवल प्रकृत्यर्थपरायण वर्त्तमानवादी ऐसा सत्तातन्त्र कालातीता मूलसंस्कृति के, मूल अप्राकृत शाश्वतधर्म्म के आश्रय से, स्थूलभाषा के अनुसार–ब्राह्मण के आश्रय से वञ्चित होकर कालान्तर में कालसीमा में हीं नष्ट ही हो जाता है, जैसाकि मैत्रावरुणश्रुति के–'यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते–अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मात्-उ-क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तत् कर्म्मऽर्ध्यते" (शत० ४।३।४।६।) इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट प्रमाणित है। 'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' के अनुसार ब्राह्मण जहाँ 'अराजन्य' ('सत्ता–निरपेक्ष') रह कर ही कालातीत धर्म्म के अनुशीलन में समर्थ बन सकता है, वहाँ क्षात्र सत्तातन्त्र ब्राह्मण–प्रेरणा का आश्रय लेकर ही स्वकालव्यवस्था में सफलता प्राप्त करसकता है।

३७४–मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र के समन्वय-पार्थक्य से राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष-शक्तियों का विघठन, एवं तत्परिणामस्वरूप ब्रह्मक्षत्रसमन्वय से वञ्चित राष्ट्र का अभिभव—

मित्रब्राह्मण, और वरुणक्षत्रिय का जब परस्पर विपर्य्यय हो जाता है, अर्थात् ब्राह्मण जब सत्ता का आश्रय ले लेता है, एवं सत्ता जब ब्राह्मण को आश्रित मान बैठती है, तो ब्राह्मण की तो धर्म्मनिष्ठा ही अन्तर्मुख बनती है, किन्तु सत्तातन्त्र का तो मूलोच्छेद ही होजाता है। इसीलिए कहा गया है कि–'धर्म्मो रक्षति रक्षितः'। जिसका सीधा सा अर्थ यही है कि, संस्कृति-धर्म्म–शास्त्र–तत्प्रवर्त्तक ब्राह्मण, इनकी रक्षा से ही ये रक्षा किया करते हैं सत्तातन्त्र की, एवं उसके राष्ट्र की। कालनिर्म्माता सत्तातन्त्र जब धर्म्मनिरपेक्ष बन जाता है, तो सभी कुछ अरक्षित बन जाता है। अतएव यहाँ आकर हमें उस आक्रोशपूर्ण उस प्रश्न–परम्परा का पूरा पूरा समाधान प्राप्त हो जाता है कि, "शास्त्र-धर्म्म-ब्राह्मण-संस्कृति-आचार-आदि आदि यच्च–यावत् मङ्गलमय विधि-विधानों की विद्यमानता में भी भारतराष्ट्र क्यों परतन्त्र बना?"। वस्तुगत्या 'राजा कालस्य कारणम्' ही इन सब प्रश्नों का मूल समाधान है। एकमात्र सत्ता के दोष से ही राष्ट्र के ब्राह्मण, राष्ट्र की संस्कृति, राष्ट्र का धर्म्म, राष्ट्र का आचार अभिभूत होजाता है, अन्तर्मुख बन जाता है। सत्तातन्त्र के प्रकृत्यर्थवादी बनते ही इसका पुरुषार्थ विलीन हो जाता है, शेष रह जाती है तात्कालिक भावुकता, तदनुगता मनःशरीरनिबन्धना कामभोगपरायणता। यही बना दी जाती है बलपूर्वक राष्ट्र का एकमात्र जीवनीय लक्ष्य। परिणाम जैसा, जो कुछ होता है, हुआ है, हो रहा है, स्पष्टतम है।

३७५–कालातीत-चिदात्मसर्ग से नियन्त्रित 'कालसर्ग', एवं तदनुगता- तद्रूपा कालिक-प्रजा का स्वरूप-परिचय—

जिसप्रकार चिदात्मसर्ग कालातीत सर्ग है, तथैव चित्सर्ग भी कालातीत ही है। अन्तर दोनों में यही है कि, चिदात्मसर्ग जहाँ काल से असंस्पृष्ट है, वहाँ चित्सर्ग काल से संस्पृष्ट है। उस ओर कालातीत ब्राह्मण है, इस ओर काल है, दोनों के मध्य में क्षात्र सत्तातन्त्र है, जो उस ओर के कालातीत ब्राह्मण के पौरुषाश्रय से पुरुषार्थी बनता हुआ इस ओर के काल की प्रकृत्यर्थ–व्यवस्थाओं का नियन्त्रण करता है, नियमन करता है, जिसका अर्थ है प्रजासर्ग की व्यवस्था, जोकि प्रजासर्ग कालात्मक माना गया है। जिसे राष्ट्र कहा जाता

है, उसी का नाम है 'काल', जिससे अभिन्न है प्रजासर्ग, जिसके कि 'विट्', तथा 'शूद्र', प्रवर्ग्यरूपेण ये दो विवर्त्त माने गए हैं।

३७६–कामाधारभूता विट्प्रजा, भोगाधारभूता पौष्णप्रजा, एवं तदनुगत-तद्रूप-मनः-शरीर-भावों का समन्वय—

'विशः' और 'शूद्र' ही प्रजा है, यही राष्ट्र का कालिक-भौतिक-स्वरूप है, जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था कालानुबन्धिनी ही मानी गई है। सत्तातन्त्र का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य है–इन कालिक सर्गों का नियन्त्रण-पूर्वक सञ्चालन। यदि ये दोनों वर्ग कालसीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं, तो न केवल तद्राष्ट्र में हीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में विकम्पन होजाता है। विट् प्रतीक है काम का, एवं शूद्र प्रतीक है भोग का। भोग की आधार-भूमि है शरीर, एवं काम की आधारभूमि है मन। जिन प्रजाओं का मन, और शरीर सत्तातन्त्र के द्वारा नियन्त्रित रहता है, उन प्रजाओं का बुद्धिपर्व, और आत्मतन्त्र स्वतन्त्र बना रहता है।

३७७–आत्म-बुद्धिरूप ब्रह्म-क्षत्र के नियन्त्रण से पृथग्भूत मनःशरीर-निबन्धन-विट्-शूद्र-प्रजा के द्वारा सम्भावित विश्वक्षोभ, एवं 'क्षोभयेतामिदं जगत्' वचन का समन्वय—

मन, और शरीर का अनियन्त्रण ही बौद्धिक-आत्मिक-पारतन्त्र्य का कारण बन जाया करता है। तत्वतः **आत्मबुद्धिस्वतन्त्रतानुगत मनःशरीरपारतन्त्र्य का ही नाम है मानव की 'स्व' तन्त्रानुगता स्वतन्त्रता**, जिस इस तथ्य को विस्मृत कर वर्त्तमान प्रतीच्य सत्तातन्त्रोंनें मनः-शरीर की स्वतन्त्रता को (काम-भोग-स्वातन्त्र्य को) ही 'स्वतन्त्रता' मानने की भूल कर डाली है। उसी का अन्धानुकरण कर हमारे सत्तातन्त्रने भी मनः-शरीरानुगता उच्छृंखलता, अमर्य्यादा का नाम ही आज 'स्वतन्त्रता' मान लिया है। परिणामस्वरूप प्रजा का बौद्धिक, तथा आत्मिक क्षेत्र सर्वथा ही परतन्त्र बन गया है। हमारी आस्था है कि, दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से सत्तातन्त्र उद्बोधन प्राप्त करेगा, और राजर्षि मनु के इस वचन के प्रकृतिसिद्ध मर्म्म का समन्वय कर के ही स्वशासनसूत्र का सञ्चालन करेगा, जिस सूत्र की उपेक्षा कर सभी सत्तातन्त्रोंनें आज विश्व में विकम्पन उत्पन्न कर दिया है—

> **वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।**
> **तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥**
>
> —मनुः ८।४१८।

३७८–विड्भावापन्न-मनोधर्म्मा-चान्द्र-प्राकृत-भाग्यवादी-मनुष्यविध-'मानव', एवं तद-नुगता पारिवारिकी स्वार्थनिष्ठा—

अक्षरात्मक क्षररूप चेतनसर्गानुगत मानवविभाग का नाम ही है–**'मनुष्य'**, इसी का नाम है **विट्** (वैश्य), और यही है **भाग्यवादी-प्राकृत-मानव**। कदापि यह भूत, और भविष्यत् पर निष्ठा नहीं रखता,

नहीं रख सकता अपने विट्‌तन्त्र से । अपितु तात्कालिक वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक स्वार्थ ही इसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है । अतएव इसका नियन्त्रण अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक माना है राजर्षि ने । राजर्षि के विधानों की आलोचना करने वाले आज के सत्ताधीशोंनें भी इस तथ्य को प्रणतभाव से स्वीकार कर ही लिया है, फिर इस स्वीकृति का मूल भले ही सत्तातन्त्र की अपनी वित्तैषणा ही क्यों न हो ।

३७९–राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहन से अर्थतन्त्र का शैथिल्य, एवं इसके सुन्दोपसुन्द-न्यायात्मक भीषण-परिणाम––

शास्त्रीय--धार्म्मिक नियन्त्रण में कदापि **'राष्ट्रीयकरण'** जैसा महान् व्यामोहन स्थान नहीं पासका है, जिस इस राष्ट्रीयकरणात्मक व्यामोहनने तो राष्ट्र की अर्थशक्ति के महान् स्तम्भभूत इस वर्ग का स्वरूप ही उच्छिन्न कर दिया है, और सचमुच यह राष्ट्र के लिए महान् अमङ्गल ही हुआ है । धर्म्मसूत्र के द्वारा उच्छृं-खलताओं का, आर्थिक दुरुपयोगिताओं का नियन्त्रण ही वह नियन्त्रण था, जिसकी ओर राजर्षि ने सङ्केत किया है । इस दिशा में तो यह वर्ग आज अधिकरूप से अनियन्त्रित ही बन गया है । अतएव ऐसे राष्ट्रीयकरणात्मक नियन्त्रण का परिणाम तो सुन्दोपसुन्दन्याय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माना जायगा ।

३८०–पुरुषनिष्ठ-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन-भेद से वर्णप्रजा के पौरुष-भाग्यानुबन्धी चार विवर्त्तों का तात्त्विक-समन्वय—

निवेदन अत्र यही करना है कि, चेतनसर्गानुगत विट्-मानव ही मनुष्य है, और यही **'भाग्यवादी'** सर्ग है, जिसका तृतीय सर्ग में अन्तर्भाव हो रहा है । शेष रह जाता है अक्षरानुगत क्षरसर्गरूप अचेतनसर्ग, जिसे कहा गया है **'नर'** नामक मानव । इसी को **'भाग्याधीन'**मानव माना गया है । यों चातुर्वर्ण्यानुपात से **चिदात्म-सर्ग-चित्सर्ग-चेतनसर्ग-अचेतनसर्ग**-भेद से चतुर्द्धा विभक्त **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**-ये चारों वर्ण क्रमशः **पौरुष-पुरुषार्थी-भाग्यवादी-भाग्याधीन**-ही प्रमाणित हो रहे हैं । अवश्य ही वर्गभेद के मूलोच्छेद के सुखस्व-प्नद्रष्टा आज के भावुक मानव इस तथ्य से गजनिमीलिका कर सकते हैं, करेंगे ही । किन्तु प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, तदनुगता प्राकृतिक-विषमता न कभी हटी है, न कभी हटेगी, जो आज के व्यवहार में भी ज्यों की त्यों विद्य-मान है, जैसाकि एक स्वतन्त्र-निबन्ध में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है * । तथ्य तो सदा तथ्य ही रहता है, जिसे युगधर्म्मानुगता मान्यताएँ न आज से पहिले कभी बदल सकीं, न आज बदल सकतीं, नापि भविष्य में हीं । **'धाता यथापूर्वकल्पयत्'**, इस सनातन-सत्य-तथ्य का कौन अतिक्रमण कर सका है ? ।

*–"**सांस्कृतिक–संघर्ष के लिए आमन्त्रण, एवं श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश**"-नामक सामयिकनिबन्ध

महिमभावौ	१--चिदात्मसर्गानुगतः-मानवः-पुरुषो ब्राह्मणः—पौरुषमूर्त्तिः २--चित्सर्गानुगतः——मानवः-मानवः क्षत्रियः--पुरुषार्थी	पुरुषार्थवादः अप्राकृतः —कालातीतः–
परिणामभावौ	३--चेतनसर्गानुगतः—मानवः-मनुष्यो वैश्यः—भाग्यवादी ४--अचेतनसर्गानुगतः---मानवः-नरः--शूद्रः——भाग्याधीनः	भाग्यवादः-प्राकृतः —कालात्मकः–

३८१–'क्रान्ति'-भावानुगत सर्गसमन्वय का उपक्रम, एवं कालिक-सर्गचतुष्टयी से समन्विता श्वेत-रक्त-पीत-कृष्ण-क्रान्तियों का नामसंस्मरण—

अब सर्वान्त में केवल **'क्रान्ति'** मूलक परिलेखमात्र उद्धृत कर इस सर्गसमन्वय को उपरत कर दिया जाता है विस्तारभिया। निबन्ध के तृतीय खण्ड का नाम हुआ है-**'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'**, और यों **'क्रान्ति'** शब्द प्रस्तुत सामायिक निबन्ध का एक प्रमुख अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। यह क्रान्तिभाव उक्त सर्गक्रमानुपात से ही क्रमशः **श्वेतक्रान्ति, रक्तक्रान्ति, पीतक्रान्ति, कृष्णक्रान्ति**--भेद से चार विवर्त्त भावों में परिणत हो रहा है, जिसका तत्रैव तृतीयखण्डे सप्रमाण समन्वय किया जा चुका है। प्रकृत में सर्गानुबन्ध से केवल तालिका ही उद्धृत हो रही है—

स्वातन्त्र्यबीजम्	१--चिदात्मसर्गानुगतः--ब्राह्मणः-आत्मनिष्ठः-श्वेतक्रान्तिप्रवर्त्तकः-पुरुषः १--चित्सर्गानुगतः——क्षत्रियः-बुद्धिनिष्ठः-रक्तक्रान्तिप्रवर्त्तकः---मानवः	महिमान आसन्
पारतन्त्र्यबीजम्	३--चेतनसर्गानुगतः—वैश्यः---मनोनिष्ठः-पीतक्रान्तिप्रवर्त्तकः---मनुष्यः ४--अचेतनसर्गानुगतः–शूद्रः—शरीरनिष्ठः-कृष्णक्रान्तिप्रवर्त्तकः-नरः	रेतोधा आसन्

३८२–प्राकृत-सर्गात्मक चतुर्विध 'प्रतीक' भावों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी विविध विवर्त्तोंका समष्ट्यात्मक सिंहावलोकन—

बात चली थी 'प्रतीक' शब्द को लेकर, जिस के सम्बन्ध में यह उत्थानिका हुई थी कि–'अङ्गभाव' से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीक शब्द कदापि अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में समन्वित नहीं हो सकता (देखिए पृ०–सं० ५,३८)। इसी उत्थानिका के साथ **'प्रतीक'** शब्द का चिरन्तन–शब्देतिहास स्पष्ट किया गया। और

इस प्रतीकता को मध्यस्थ बना कर ही प्रतीक–व्यामोहनात्मक सर्गविवर्त्त–उपक्रान्त हो पड़े, जिन के **'चतुर्विध कालात्मक-प्रतीकभाव, प्राकृतसर्गात्मक चतुर्विध प्रतीकभाव, चतुर्विध-वर्णसर्गात्मक प्रतीकभाव, चतुर्विध मानवसर्गात्मक प्रतीकभाव, चतुर्विध पौरुष-भाग्यविध प्रतीकभाव, एवं सर्वान्त में--चतुर्विध क्रान्तिरूप प्रतीकभाव,** रूपेण अनेक विवर्त्त दृष्टिकोणभेद से प्रासङ्गिक बन गए, जिन के माध्यम से अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, भले ही दिग्देशकालानुबन्धी-भौतिक--पार्थिव, तथा चान्द्र सम्वत्सर-सर्गों में **'अङ्गा-दङ्गात्-सम्भवति'** मूलक प्रतीकभाव समन्वित रहें । किन्तु महिमासर्ग के सम्बन्ध में (विवर्त्त के प्रसङ्ग में), एवं महिमाधारभूत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में तो कदापि प्रतीक सम्बन्ध घटित हो ही नहीं सकता । क्योंकि ब्रह्म के साथ अङ्गाङ्गी-भावात्मक परिणामवाद का यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है ।

३८३–प्रतीकात्मक अङ्गाङ्गीभावों से एकान्ततः असंस्पृष्ट महिमामय सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तत्क्षेत्र में प्रतीकभाव का प्रवेश-निषिद्ध —

'सर्वमात्मैवाभूत्' ही उस का महिमामय विवर्त्तभाव है, जिस में न कोई अङ्ग है, न कोई अङ्गी है । अपितु द्रष्टा भी वही है, दृश्य भी वही है । विज्ञाता भी वही है, ज्ञानसाधन भी वही है, ज्ञेय भी वही है । **'तत्केन किं पश्येत्'** ही उस का दर्शन है । **'स्व से स्व का दर्शन'** यदि--सम्भव है, तो वैसा दर्शन अवश्य ही अनन्तब्रह्मनिष्ठा में सुरक्षित है, जिस का राजर्षिने इन शब्दों में दिग्दर्शन कराया है मनुस्व–रूप–विश्लेषण–प्रसङ्ग से—

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येन्ति परं पदम् (अव्ययपदम्) ।।

—मनुः १२।१२५।

३८४–प्रतीकभाव का मूलोच्छेदक-'उद्धरेदात्मनात्मानम्' वचन—

अतएव गीताचार्य्यने भी प्रतीकवादात्मक व्यामोहन का मूलोच्छेद करते हुए **'उद्धरेत्–आत्मना–आत्मानम्'** इस सिद्धान्त को ही प्रमाणिकता प्रदान की है । कहीं भी अनन्तात्मब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकवाद को प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं है । काल भले ही अनन्त रहे, किन्तु कलनात्मक, किंवा कलात्मक भाव से अनन्तकाल भी है प्राकृतभाव ही । अतएव यह भी निष्कल–कालातीत ब्रह्म का प्रतीक नहीं बन सकता । काल–महिमा से कदापि उस अनन्तमहिमामय ब्रह्म का संग्रह सम्भव नहीं है । अतएव यह कहना कि, अनन्तब्रह्म का एकांशरूप महिमामय अनन्तकाल (अक्षरप्रकृति) उस के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त कर रहा है, कदापि समीचीन नहीं है । क्योंकि न वह अंशी है, न उस का कोई एकांश ही है । अपितु वही सबकुछ है ।

३८५–सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म, तथा मानव की अभिन्नता, तत्-सम्बन्ध में प्राकृत मानव की बुद्धि का व्यामोहन, एवं मानव के महान् भ्रामक 'समझ' शब्द से अनुप्राणित 'समझ बिना बुध बापड़ी' इस लोकसूक्ति का संस्मरण—

तो क्या उस **'वही'** की कोई स्वरूपपरिभाषा नहीं है ?। नहीं । वह स्वयं ही अपने **'रूप'** की, **'स्वरूप** की, **'स्वस्वरूप'** की परिभाषा है । और उसके इसी **'स्वरूप'** का नाम है**'-मानव'** । चौंकिए नहीं । **'मानव वही है'** इस

में चौंकने जैसा कुछ भी तो नहीं है। दार्शनिक-दृष्टि अवश्य ही चौंकाने वाली है, जिस में आचारपक्ष का कोई स्वरूप-विश्लेषण नहीं हुआ है। किन्तु ऋषिदृष्टि। (ज्ञानविज्ञानात्मिका सहजदृष्टि) से सहजरूप से ही इस तथ्य का समन्वय हो जाता है कि, **उस में, और इस में, अनन्तब्रह्म में, और मानव में कोई भी अनन्तर नहीं है। जो वह है, वही यह है। एवं जो यह है, वही वह है।** मानव कहता है-यह बात समझ में नहीं आती। हम कहते हैं-समझ में यह बात आ भी नहीं सकती, यदि 'समझ' का नाम मानव ने वह 'बुद्धि' ही मान रक्खा है तो, जिस के द्वारा कि मानव अपने दिग्देशकालानुन्धी प्रत्यक्ष दृष्ट भूत-भौतिक-प्राकृत-पदार्थों की नाप-तोल कर इन्हें समझा, और समझाया करता है। मानव की यह 'बुद्धि' रूपा समझ उस '**समझ**' से सर्वथा ही तो असंपृष्ट है, जिस उस समझ के बिना मानव की बुद्धि सर्वथा निरीहा (बापुरी) ही बनी रहती है। राजस्थान में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि-'**समझ बिना बुध बापड़ी**'। सूक्ति का अर्थ यही है कि बिना 'समझ' के 'बुद्धि' सर्वथा बापुरी है, सदसद्विवेक में असमर्थ है। पशुओं में क्या बुद्धि नहीं है?। है, और अवश्य है। यही नहीं, अपने तात्कालिक स्वार्थ को समझ लेने की जैसी बुद्धि पशुओं में है, मानव की बुद्धि तो कई क्षेत्रों में उस पशुबुद्धि से भी परास्त है। निकटवर्त्ती-आक्रमणों को जिस तात्कालिता से पशु समझ लेता है, मानव की बुद्धि असमर्थ है-तत्काल निकटवर्त्ती भावों का समन्वय करने में।

३८६-पशु की तात्कालिकी बुद्धि से मानबुद्धि का पराभव, एवं गृहस्थ-क्षेत्र में चतुर्गुणित-बुद्धिशालिनी नारी के द्वारा बुद्धिमान् मानव का अभिभव—

पशु अपनी प्राकृत समस्याओं के लिए अपनी बुद्धि से तत्काल निर्णय कर लेता है, जबकि मानव अमुक समस्याओं के समुपस्थित हो जाने पर एकबार तो हक्का बक्का सा ही बना रह जाता है। स्पष्ट प्रमाणित है कि, 'बुद्धि' के क्षेत्र में तो पशुओंने मानव को भी परास्त कर ही रक्खा है उसीप्रकार, जैसे कि गृहस्थ-क्षेत्र में मानव की बुद्धि परास्त रहती है मानवी की तात्कालिकी निर्णयबुद्धि के समतुलन में। तभी तो भारतीय विज्ञानने मानवी में चतुर्गुणिता मानी है बुद्धि मानव की अपेक्षा से-'**बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा**'। एक अबोध शिशु का उदाहरण सामने रखिए। जिस की वाणी भी अभी प्रस्फुटित नहीं है, ऐसा शिशु तत्काल यह समझ-लेता है कि, अमुक पुरुष, अथवा अमुक स्त्री तो उस से वास्तव में वात्सल्य रखते हैं, और अमुक कृत्रिम। कदापि कृत्रिम प्रेम की ओर वह शिशु आकर्षित नहीं होता, जब कि वास्तविक वात्सल्य की ओर स्वतः ही इस की बालवृत्तियाँ आकर्षित हो पड़तीं है। और मानव?। स्वयं मानव ही इस बात का ठीक ठीक उत्तर दे सकेगा कि, वह कैसे कृत्रिम अनुरागों के प्रति सत्यभ्रान्ति से आसक्त हो जाता है?, एवं परिणाम में उसे इस कृत्रिम अनुराग के क्या क्या कुफल भोगने पड़ते हैं?। अतएव मानव को मान-लेना चाहिए कि, उस की अपेक्षा तो स्त्रियों, बालकों, एवं सर्वापेक्षया पशुओं में कहीं अधिक बुद्धि है, तात्कालिक समन्वय की अधिक क्षमता है।

३८७-'संवित्' भावापन्न मानव की श्रेष्ठता, एवं 'संवित्'-स्वरूप-दिग्दर्शन—

बुद्धि अवश्य है, और मानव की अपेक्षा अधिक है पशुवर्ग में बुद्धि *। किन्तु मानव में अवश्य ही पशुओं की अपेक्षा बुद्धि से भी कुछ अधिक, तथा अन्य विशिष्ट तत्त्व और है, जिसे लोकभाषा में जहाँ—

---

*-**ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे।** (सप्तशती)

'समझ' कहा जाता है, वहाँ वही विशिष्ट तत्त्व शास्त्रीय-भाषा में 'संवित्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है ÷। बुद्धि जहाँ कालानुबन्धिनी है, वर्त्तमानानुबन्धिनी है, वहाँ यह संवित् कालातीता, किंवा त्रिकालात्मिका है। बुद्धि जहाँ वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाती है, वहाँ–संवित् वर्त्तमान के आधार पर भूत, और भविष्यत् को ही प्रधानरूप से अपना क्षेत्र बनाती है।

३८८–भूत–भविष्यत् की परिणामदर्शिता से शून्या तात्कालिकी मानवबुद्धि की 'यथार्थता' का नग्न-चित्रण—

बुद्धि न पूर्व का विचार करती, न अपर का। अपितु वर्त्तमान के आधार पर वह झटिति अपना निर्णय कर डालती है, जिस इस प्रत्यक्षप्रभावात्मक तात्कालिकभाव को ही हम '**भावुकता**' कहते हैं। यही भावुकता भावावेश की जननी है, जो मानव को **आगा** (अपर-भविष्य), पीछा (पूर्व-भूत), कुछ भी तो नहीं सोचने देती। अपितु तरत ही, झटपट ही अपना सर्वस्व पौरुष समाप्त कर डालती है भावुकतारूपा यह तात्कालिकी बुद्धि। और आज का भावुकयुग इस तात्कालिकी बुद्धि का ही सर्वात्मना प्रशंशक बन रहा है अपने–'**यथार्थ**' लक्षण 'वर्त्तमान' की घोषणा के माध्यम से।

३८९–'प्रत्युत्पन्नमतित्त्व' का शैथिल्य, गृहस्थक्षेत्रानुगत पुत्र-कन्या-सन्ततियों की बुद्धियों का नीरक्षीरविवेक, कन्या का समादरणीय प्रत्युत्पन्नमतित्त्व, एवं पुत्र का अभिनन्दनीय संविद्भाव—

ऐसे 'तुरतबुद्धि' मानव को ही 'प्रत्युत्पन्नमति' कहा गया है, जिसे '**संवित्शाली**' मानव (**संवेदनशील-समझदार मानव**) कदापि प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव मानव कभी कभी बड़ी भूल कर जाता है। बुद्धिमान् मानव तो अवश्य ही अधिकांश में भूल ही करता रहता है इस दिशा में, जबकि यह तात्–कालिकी बुद्धि के मापदण्ड से तथाविध मानवों को, बालकों को तो बुद्धिमान् समझ बैठता है, एवं प्रत्यक्ष में **घोंघा बसन्त** प्रतीयमान, किन्तु 'चिरकारी', अतएव वास्तव में बुद्धिमान् मानवों, तथा बालकों को अपने मापदण्ड से मूर्ख मान बैठता है, जबकि स्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है। गृहस्थ मे बालक, और बालिकाएँ दोनों को पृथक् पृथक्-रूप से लक्ष्य बनाइए। दोनों के समतुलन की दृष्टि से कन्यासन्तति ही प्रायः पुत्रसन्तति की अपेक्षा विशेषरूप से बुद्धिमती प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव के अनुकरण में जैसी दक्षता कन्याओं में होती है, पुत्रों में वैसी नहीं। अतएव प्रायः मानव अपनी कन्याओं के प्रशंसक, तथा पुत्रों के अप्रशंक बने रहते हैं। कदापि हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि, कन्याओं की प्रशंसा न की जाय। अवश्य की जाय। स्वयं शास्त्र ने भी '**बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा**' कह कर इनको सम्मान ही प्रदान किया है।

÷ मासा–ब्द–युग–कल्पेषु गतागम्यस्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेति संविदेषा स्वयंप्रभा ॥१॥
कर्त्तारञ्च क्रियां तद्वत् व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ संवित् स्वयंवपुः ॥२॥
—संविदा देयम्'–इत्युपनिषत्

३६०–नारी की भावुकतापूर्णा तात्कालिकता, तथा दिग्देशकालज्ञता, एवं मानव की नैष्ठिकी 'चिरकारिता', तथा कालातीतानुगतित्त्व, और-'चिरकारी प्रशस्यते'—

कहना हमें केवल यही है कि, प्रकृतिभावनिबन्धना सहजा प्रत्युत्पन्नमति के आधारमात्र से, इस प्रत्युत्पन्नमतित्त्व से प्रकृत्या ही वञ्चित पुत्रसन्तति की कन्याओं के समतुलन में हीनता प्रमाणित करना कदापि बुद्धिमानी नहीं है। अपितु प्रत्युत्पन्नमतित्त्व के स्थान में पुत्रसन्तति का चिरकारी बने रहना हीं इसकी प्रशंसा का मुख्य कारण माना जाना चाहिए। कदापि अपनी तात्कालिकी बुद्धि के माध्यम से प्रत्युत्पन्नमतित्त्व के अभाव में पुत्रसन्तति के प्रति हीनभाव नहीं रखने चाहिएँ। दोनों का क्षेत्र भिन्न है, प्राकृत स्वरूप विभिन्न है। पुरुष का चिरकारित्त्व ही प्रशस्त है, तो नारी का प्रत्युत्पन्नमतित्त्व ही अभिनन्दनीय है। गृहस्थक्षेत्रानुगता नारी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से ही थोड़ी ही अवधि में परस्परविरोधिनीं सभी गृहस्थ–व्यक्तियों का सामञ्जस्य स्थापित करते रहने में समर्थ बन जाती है, तो लोकक्षेत्रानुगत पुरुष अपने चिरकारित्त्व से एक लम्बी अवधि में निश्चित निर्भ्रान्त निर्णय के द्वारा परिस्थिति की वास्तविकता का मूल्याङ्कन करता हुआ ही लोकयात्रा के निर्वाह करने में सफल बनता है। अतएव प्रसिद्ध है कि–**'जल्दी का काम शैतान का काम है'**। पुराणपुरुष भगवान् व्यासने तो **'चिरकारी'** नाम से एक स्वतन्त्र इतिहास ही इस सम्बन्ध में उपनिबद्ध कर दिया है। अपने तात्कालिक आवेश में आकर पूर्वापर की स्थिति–परिस्थितियों का विचार–विमर्श–किए बिना हीं, तत्काल ही निर्णय कर डालने वाले, झटिति ही कार्य्यारम्भ, और कार्य्यसमाप्ति कर बैठने वाले भावुक मानवों से हम साग्रह निवेदन करेंगे कि, कृपया एकबार वे महाभारत के तत्प्रकरण को अवश्य ही समन्वित कर लेने का कष्ट उठालें *।

३६१–कार्य्यारम्भे दक्ष, तथा कार्य्यसमाप्ति से वञ्चित भावुक, एवं कार्य्यरम्भे स्तब्ध, किन्तु कार्य्यसमाप्ति से समन्वित नैष्ठिक, तथा भावुक की बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी का स्वरूप-चित्रण—

थोड़ा और भी कुछ प्रासङ्गिक समन्वय कर लेना है यहाँ। नैष्ठिक महापुरुषों का कहना है कि,– **"भावुक मानव कार्य्य आरम्भ करना तो जानता है, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना नहीं जानता"**, जबकि निष्ठा के क्षेत्र में ठीक इससे विपरीत स्थिति है। **'नैष्ठिक मानव आरम्भ करना नहीं**

---

* एवं सर्वेषु कार्य्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ॥
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥१॥
रागे, दर्पे च, माने च, द्रोहे, पापे च कर्म्मणि।
अप्रिये चैव कर्त्तव्ये 'चिरकारी' प्रशस्यते ॥२॥
—देखिए! महाभारत–शान्तिपर्व–मो॰ २६६ अ॰।

जानता, किन्तु उसे साङ्गोपाङ्ग समाप्त करना अवश्य जानता है' । इन वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है । भावुक मानव की बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी बनती हुई मनोमयी बनी रहती है । और इस मानसिक–तात्कालिक–अनुभूति का नाम हीं इसने 'बुद्धि', किंवा 'बुद्धिमानी' मान रक्खा है । मनोमयी यह बुद्धि इन्द्रियद्वारानुगामिनी बनती हुई प्रत्यक्ष-भूतों की ही उपासना में प्रवृत्त रहती है । प्रत्यक्ष भूत, तत्संग्राहक इन्द्रियवर्ग, इन्द्रियाध्यक्ष मन, एवं तन्मयी बुद्धि, सबकुछ उस चान्द्रसम्वत्सरकालचक्र की सीमा से सर्वथा सीमित ही बने रहते हैं, जो चान्द्रसम्वत्सरकाल प्रतिक्षण नवीन नवीन–रूप धारण करता रहता है–**'नवो नवो भवति जायमानः'** इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार । इस चान्द्रपरिवर्त्तन के अनुपात से ही मानव के ऐन्द्रियक, मानसिक, तथा तत्प्रधान बौद्धिक भाव भी क्षण क्षण में बदलते ही रहते हैं । अतएव ऐसे मनोवशवर्त्ती-इन्द्रियपरायण-बहिर्मुख-प्रत्यक्षवादी–भौतिक-प्राकृत-मानवों की बुद्धि भी तात्कालिकी ही बनी रहती है ।

३९२–मनोवशवर्त्ती-इन्द्रियपरायण बुद्धिमान्–प्रत्युपन्नमति–मानवों के महतोमहीयान् आयोजन, किंवा योजनाएँ, एवं उनकी छिन्न-भिन्नता—

इस तात्कालिक क्षणिक आवेश में आकर इनकी बुद्धि, अर्थात् मन तत्काल कार्य्य–आरम्भ तो कर देने की सहज क्षमता रखता है, किन्तु कालपरिवर्त्तन के साथ ही बदल जाने वाले उन मनोभावों के अनुबन्ध से चिरकाल पर्य्यन्त इनकी बुद्धि आरब्ध प्रारब्ध–कार्य्य में स्थिर नहीं रहने पाती । इसे ही कहा जाता है–**'मन का बदल जाना'** । मानसिक वृत्ति के बदलते ही आरब्ध कार्य्य ज्यों का त्यों अपूर्ण ही बना रह जाता है । और यों प्रत्युत्पन्नमति–बुद्धिमान्–भावुक–मानवों के कार्य्यों का आरम्भ जहाँ महता समारम्भेण घटाटोपो–भयङ्करः–रूप से प्रलय मचातासा हुआ ही प्रक्रान्त होता है, वहाँ ऐसा भावुकतापूर्ण आयोजन कदापि सर्वाङ्गीण-रूप से सम्पन्न नहीं होपाता । और फिर यही भावुक बुद्धिमान् आगे चल कर अमुकामुक काल्पनिक कारणों का सर्ज्जन कर, अपने दोषों को दूसरों पर थोप कर इन आयोजनों में, वर्त्तमान–युगभाषा के अनुसार–उन **बड़ी बड़ी योजनाओं में कटौती के प्रस्ताव पास करता रहता है** ।

३९३–संविद्भावानुगत-सहजबुद्धिशाली--चिरकारी-नैष्ठिक--मानवश्रेष्ठ के क्षेमकर स्वल्पारम्भ, एवं तत्संवित्-बुद्धि का स्वरूप–दिग्दर्शन—

ठीक इसके विपरीत नैष्ठिक उसका नाम है, जिसकी बुद्धि मनोवशवर्त्तिनी नहीं रहती, अपितु मन जिसकी बुद्धि के वश में रहता है । कैसे रहता है ? का उत्तर है–संविद्भाव । जिसप्रकार बुद्धि के इस ओर मन प्रतिष्ठित है, तथैव इसके उस ओर **'भूतात्मा'** नामक अव्यक्तात्मा (अनन्तकालरूप स्वायम्भुव आत्मा–प्राकृतात्मा) प्रतिष्ठित है । इस आत्मभाव का नाम ही **'संवित्'** है । इस संवित्शक्ति से समन्विता बुद्धि ही **'संविद्बुद्धि'** है, और इसी का नाम है **'समझ'**, जिसका **'सौरसम्वत्सर'** से सम्बन्ध है, जो कि सौरसम्वत्सर सृष्टिरूप अनन्तकालात्मक है, एवं–**'कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम्'** (म० शा० मो० २१० अ०-१३ श्लोक) के अनुसार प्राणात्मक यह सौरकालचक्र त्रिकालात्मक बनता हुआ अनाद्यनन्त है । अतएव इसका परिवर्त्तन मानव के प्राकृत स्वरूप के समतुलन में सर्वथा अपरिवर्त्तन ही प्रमाणित रहता है ।

३९४–भावुक, तथा नैष्ठिक की सहज-स्थितियों का श्रुति के द्वारा सहज–स्वरूप–चित्रण—

ऐसे स्थिर–सौरसम्वत्सरकाल से युक्ता आत्मस्थिरतारूपा संवित् से युक्ता बुद्धि की प्रेरणा भी स्थिर-भावानुगता ही बनी रहती है । अपने त्रिकालात्मक–पौर्वापर्य्य के कारण संवेदनशीला आत्मनिष्ठा यह सौरीबुद्धि संवित् के प्रभाव से मन पर नियन्त्रण रखती हुई मन को तो मनमाना करने नहीं देती, एवं स्वयं तत्काल बिना पूर्वापर का समन्वय किए सहसा कार्य्यारम्भ करती नहीं । अतएव कहा जासकता है कि, **'नैष्ठिक-मानव कार्य्य आरम्भ करना नहीं जानता'** । किन्तु पूर्वापर के निर्णय के अनन्तर भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान के सत्–असत्–परिणामों का अवधानपूर्वक निर्णय कर लेने के पश्चात् यही बुद्धि जब स्थिरता से कार्य्य आरम्भ कर देती है, तो फिर मन को भी विवश बन कर अनिच्छन्नपि इस कार्य्य में प्रग्रह (लगाम) पाश से आबद्ध रथाश्वों की भाँति जुटा ही रहना पड़ता है उस बौद्धिक कार्य्य में । फिर मन की इच्छा–अनिच्छा का कोई मूल्य नहीं रह जाता । महर्षि कठने बड़ी ही प्राञ्जलभाषा में इन दोनों स्थितियों का निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण किया है–

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति–अप्रयुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि–अवश्यानि–दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ } –भावुकः

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ } –नैष्ठिकः

(१)–यस्त्वविज्ञानवान्भवति–अमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति, संसारं चाधिगच्छति ॥ } –भावुकः

(२)–यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ } –नैष्ठिकः

३९५ नैष्ठिक के कर्त्तव्य-कर्म्म का आध्यात्मिक समन्वय—

"शरीर है रथ, इन्द्रियाँ हैं इस रथ के घोड़े, मन है इन घोड़ों का प्रग्रह (लगाम), और बुद्धि है इस प्रग्रहरूप मन (लगामरूप मन) को हाथ में पकड़े रहने वाला कुशल सारथी, तथा यह संसार, और वह परलोक, ये दो हैं गन्तव्य मार्ग। स्वयं जीवात्मा है यात्री, जो इत्थंभूत रथ में बैठ कर संसारयात्रा करता हुआ परलोकयात्रा की प्रतीक्षा करता रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से जब मन निकल जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो पड़तीं हैं। ऐसे यात्री के लिए न बुद्धि बुद्धि रहती, न मन मन रहता। अपितु इन्द्रियाँ उसी प्रकार दुष्ट बन जातीं हैं, जैसेकि सारथी के हाथ से छूटी हुई लगाम को लेकर घोड़े भाग खड़े होते हैं। परिणामतः रथ (शरीर), सारथी (बुद्धि), प्रग्रह (मन-लगाम), घोड़े (इन्द्रियाँ), सभी अपना स्वरूप खो बैठते हैं। यात्री जीव की न यात्रा पूरी होने पाती, न पारलौकिक सद्गति ही इसे मिलती। ऐसे यात्री के सभी संकल्प केवल संकल्प बन कर ही धरे रह जाते हैं, जबकि बुद्धिरूप सारथि के नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रग्रहरूप मन इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करता हुआ यात्री भोक्तात्मा की सभी यात्राएँ निर्विघ्न पूर्ण करा देता है", यही उक्त मन्त्रों का भावार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि, नैष्ठिक का कार्य्य आरम्भ तो थोड़ा विलम्ब से होता है, किन्तु आरम्भ होने पर समाप्त होकर ही वह उपरत होता है।

एक प्रासङ्गिक लौकिक तथ्य का समन्वय और। परमभाग्यशाली सांस्कृतिक राजस्थान में एक यह भी लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'मोट्यार को खाबो, और लुगाई को न्हाबो, दोन्यूँ बरोबर'**। सूक्ति का अर्थ है– यदि मानव भोजनादि में हीं समय समाप्त कर देता है, तो उसका बाह्य लोकक्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। एवं यदि मानवी शरीरप्रसाधनों में ही अधिक समय खो देती है, तो इसका आभ्यन्तर गृहस्थ क्षेत्र उच्छिन्न हो जाता है। क्या तात्पर्य्य निकला इस उच्छित्ति से ?। समन्वय कीजिए अपनी लोकप्रज्ञा से। सूक्ति का बाह्यरूप जहाँ अत्यन्त सरल दिखलाई पड़ रहा है, वहाँ इसका समन्वय सृष्टि के सुसूक्ष्म समन्वय से ही अनुप्राणित है, जिसका झटिति समन्वय कर लेना कठिन ही है।

३९६–मानव, और मानवी के उभयात्मक स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं मानव-मानवी की स्वरूपानुगता पर्वचतुष्टयी का तात्त्विक-समन्वय—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, मानव में भी मानव, और मानवी, दोनों भाव समाविष्ट हैं। एवं मानवी में भी दोनों समाविष्ट हैं। अतएव दोनों स्वस्वरूप से अपने अपने व्यक्तित्त्व से परिपूर्ण हैं। दोनों में कोई भी एक दूसरे से छोटा, अथवा तो बड़ा नहीं है। वे ही चारों पर्व मानव में हैं, एवं वे ही चारों पर्व मानवी में हैं। मानव के आत्मा–बुद्धि, ये दो पर्व मानवभाव हैं, एव मानव के मन, शरीर, नामक दो पर्व मानव के मानवीरूप हैं। और यही स्थिति मानवी के चारों पर्वों की है। इत्थंभूता समानता के विद्यमान रहते हुए भी मानव, और मानवी में प्रत्यक्षदृष्ट स्वरूपभेद कैसे, और क्यों उत्पन्न हो गया ?, यह प्रश्न है, जिसके–**'क्यों ?,'** का उत्तर तो सर्ज्जक विधाता से ही पूँछना चाहिए। रही बात कैसे ? की, तो तत्सम्बन्ध में भी ऋषिप्रज्ञा ही ठीक ठीक समाधान कर सकेगी, जिसकी उपासना से मादृश–प्राकृत मानव तो इस से अधिक और कुछ भी निवेदन नहीं कर सकेगा इस सम्बन्ध में कि, इसविभेद का कारण **सत्यसौरसम्वत्सरात्मक–पार्थिवसम्वत्सर,** तथा **ऋतभावापन्न चान्द्रसम्वत्सर** का विभेद ही बन रहा है।

३६७-कठिनावयव मानव का आधारभूत सौरसम्वत्सर, तथा कोमलावयवा मानवी का आधारभूत चान्द्रसम्वत्सर—

पार्थिवसम्वत्सरानुगत सौरसम्वत्सर अग्निप्रधान है, यही मानव के भौतिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं चान्द्रसम्वत्सर सोमप्रधान है, और यही मानवी के भौतिक स्वरूप का अभिव्यञ्जक बनता है। सौरसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक है, एवं चान्द्रसम्वत्सर भी अग्नीषोमात्मक ही है। अन्तर केवल प्रधानता, अप्रधानता का है। सौरसम्वत्सर में सोम गर्भ में है, अग्नि अभिव्यक्त है, तो चान्द्रसम्वत्सर में अग्नि गर्भ में है, सोम अभिव्यक्त है। और इन दोनों सम्वत्सरों की अभिव्यक्ति क्रमशः सूर्य्य, तथा चन्द्रमा की साक्षी में अहः, और रात्रि में हो रही है। अहःकालात्मक, सोमगर्भित सौरसम्वत्सराग्नि ही मानव की स्वरूप–प्रतिष्ठा है। एवं रात्रिकालात्मक, अग्निगर्भित चान्द्रसम्वत्सरसोम ही मानवी की स्वरूप–प्रतिष्ठा है। मानव का बाह्य-संस्थान सौराग्निप्रधान बनता हुआ आग्नेय है, कठिन है, कर्कश है, दृढावयव है, जबकि मानवी का बाह्यसंस्थान चान्द्रसोमप्रधान बनता हुआ सौम्य है, मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है।

३६८-बहिःकठिन, अन्तःमृदु मानव, एवं बहिः मृद्वी, अन्तःकठिना मानवी, तथा तदनुपात से सम्वत्सरचक्र का समन्वय—

इसके साथ ही मानव के बाह्य आग्नेय शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शुक्रतत्त्व सौम्य है, मृदु है, कोमल है, शिथिलावयव है, जबकि मानवी के बाह्य सौम्य शरीर की मूलप्रतिष्ठारूप आभ्यन्तर शोणिततत्त्व आग्नेय है, कठिन है, कर्कश है, दृढावयव है। यों मानव भीतर से सौम्य, बाहिर से आग्नेय है, तो मानवी बाहिर से सौम्या, किन्तु भीतर से आग्नेयी है। और इस गौण–प्रधानता से ही दोनों के स्वरूप-संस्थान में महान् मौलिक भेद व्यवस्थित हो रहा है सम्वत्सर–प्रजापति के द्वारा, जिसे आधार बना कर ही शास्त्र ने मानव, तथा मानवी के कर्त्तव्यों की व्यवस्था की है, जिसे न समझ कर ही आज के समानाधिकारवादी इन दोनों का ही स्वरूप विकृत करते जारहे हैं।

३६९-सौर-चान्द्र-सम्वत्सर-भेदभिन्न मानव–मानवी के विभक्त-व्यवस्थित कर्म्म, एवं प्रकृतिविरुद्ध आज के 'समानाधिकारवाद' का स्वरूप-चित्रण—

कहा जाता है कि, जो काम पुरुष कर सकते हैं, स्त्रियाँ भी वे सब काम कर सकतीं हैं, और पुरुष की अपेक्षा भी कहीं अधिक कौशल–योग्यता से कर सकतीं हैं, कर रहीं हैं भारतेतर राष्ट्र की जाग्रत नारियाँ। कदापि इस **'कर सकने का'** प्रकृति विरोध नहीं करती। किन्तु **'करसकना'** अन्य पक्ष है, और **'करना'** अन्य पक्ष है। परिस्थितिवश प्रकृतिविरुद्ध उत्पीड़न के माध्यम से जिसे नहीं करना चाहिए, उस से भी कराया जासकता है, एवं जिसे करना चाहिए, उसे भी नहीं कर सकने की स्थिति में ला खड़ा किया जासकता है। स्वभावविरुद्ध ऐसे 'करसकने' के अन्ततोगत्वा क्या परिणाम होते हैं ?, हो जायँगे ?, प्रश्न की मीमांसा करने के लिए भी आज का भावुक मानव सम्भवतः सन्नद्ध न हो। जहाँ मानव, और मानवी केवल शरीर ही शरीर है, अधिक से अधिक मन पर ही जहाँ दोनों का स्वरूप समाप्त मान लिया गया है, अतएव शरीर से शरीरोत्पत्ति मात्र ही जहाँ के भौतिक दाम्पत्य की एकमात्र परिभाषा है, उनके लिए तो सभी समान हैं, सभी समानाधिकारी हैं।

और फिर मानव-मानवी ही क्यों, पशु-पक्षी-आदि प्राणी भी मानव-मानवी के कर्त्तव्यों की शिक्षा प्राप्त कर यदि मानव का भार हल्का कर सकने में समर्थ बन जायँ, तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। सभी सब बन सकते हैं, बनाए जासकते हैं, बनाए जारहे हैं। किन्तु इस 'सकने' से जो प्राकृतिक विकम्पन हो रहा है, जिस विकम्पन के घोर-घोरतम परिणाम उन समानाधिकारवादियों को भोगने पड़ रहे हैं, गृहस्थजीवनानुबन्धी गार्हस्थ्य सौन्दर्य्य, तथा लोकजीवनात्मक शान्ति-स्वस्तिमय जो लोकसौन्दर्य्य आज पराङ्मुख बन गया है, उसकी कल्पनामात्र से भी भारतीय हृदय तो आज के इस सुधारयुग में विकम्पित ही हो पड़ता है, जिन विकम्पन-गाथाओं का स्मरण न करना हीं श्रेयःपन्था है। इस 'करसकने' के महान् व्यामोहनने हीं दुर्भाग्यवश आज भारतीय नवशिक्षित प्रजा को भी इसी सर्वस्वघातक समानाधिकारव्यामोहन-क्षेत्र में ला खड़ा किया है, जिसका पर्य्यवसान यदि सभी अधिकारों में परिणत होगया, तो मानव, और मानवी के स्वरूप किस अचिन्त्य-भाव में परिणत हो जायँगे ?, नहीं कहा जासकता। आस्तां तावत्। बड़ों की बातें बड़ों तक ही सीमित रहें, यही हम छोटों के लिए ठीक है। अतएव हमें तो अपनी छोटी छोटी बातों का समन्वय 'अपनी' सीमित दृष्टि से ही कर लेना चाहिए, और तदाधारेणैव हमें तो यह मान कर ही चलना चाहिए निष्ठापूर्वक ही कि—

४००-आङ्गिरस-आग्नेय-उत्तरदायित्वों से अनुप्राणित मानव, एवं भार्गव-सौम्य उत्तरदायित्वों से अनुप्राणिता मानवी, तथा उत्तरदायित्व-परिवर्त्तन-व्यामोहनों से अनुप्राणित-मानव-मानवी के सम्भावित लैङ्गिक-परिवर्त्तन—

मानव का आभ्यन्तर सौम्य, तथा बाह्य आग्नेय है, तो मानवी का आभ्यन्तर आग्नेय, तथा बाह्य सौम्य है। अतएव दोनों के कर्त्तव्य भी क्रमशः आग्नेय, तथा सौम्य ही होने चाहिएँ, जबकि गौणरूप से दोनों में हीं विद्यमान सौम्य-आग्नेय-भावों के अनुबन्ध से उत्पीड़नपूर्वक दोनों के कर्त्तव्यों के 'करसकने' की योग्यता भी दोनों में हीं विद्यमान है। वह योग्यता तो ऐसी है कि, अपने मनोभावों के उत्पीड़न-माध्यम से 'कर सकने' की स्थिति में तो, यदि मानव चाहे, तो वह साक्षात् मानवी बन सकता है, और मानवी चाहे, तो वह साक्षात् 'मानव' बन सकती है। स्वयं पुराणशास्त्रमें ऐसे लैङ्गिक-परिवर्त्तनों के अनेक उदाहरण आख्यानव्याज से विस्तार से उपवर्णित हैं। एक स्थान पर तो पुराणपुरुषने ऐसे ही आख्यान के माध्यम से एक ऐसे विलक्षण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि, जिसे देख कर हम सहसा स्तब्ध ही होजाते हैं। पाठकों की कुतूहलोपशान्ति के लिए यहाँ दो शब्दों में उस घटना का दिग्दर्शन करा देना सम्भवतः वर्त्तमान-प्रज्ञाओं को भी अरुचिकर न लगेगा।

४०१-लैङ्गिक परिवर्त्तन का महाभारतीय ऐतिहासिक-उदाहरण, तत्पात्र 'भङ्गास्वन' नामक राजर्षि, इनकी 'मानवी' स्वरूप में परिणति, एवं मानवी-स्वरूप के प्रति 'मानवी'-रूपात्मक भङ्गास्वन का विशेष आकर्षण—

ऐसा सुना जाता है कि, "पुरा सत्ययुग में 'भङ्गास्वन' नामक परम धार्म्मिक राजर्षि ने पुत्रकामना के लिए अग्निप्रधान उस यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिस में इन्द्र का समावेश नहीं होता। अग्निप्रधान यज्ञसे सौ

पुत्रों की प्राप्ति तो होगई राजर्षि को, किन्तु इन्द्र अप्रसन्न होगए। इनकी धर्म्मनिष्ठा के कारण इन्द्र इन्हें पीड़ा पहुँचाने का अवसर न पासके। कालान्तर में एक छिद्र मिल ही गया इन्द्र को इन के विमोहन के लिए। पुत्रप्राप्ति से आश्वस्त राजर्षि अपने दाम्पत्यजीवन में पूर्णतया आसक्त होते हुए मृगया (शिकार) के व्यसन में लगपड़े। नारीभावना के सतत अनुगमन से, तथा मृगया-व्यसन से राजर्षि की धर्म्मनिष्ठा शिथिल होगई। एवं इसी छिद्र से इन्द्रने इनका विमोहन कर डाला। मृगयासक्त राजा इन के द्वारा प्रदत्ता भ्रान्ति से दुस्तर जङ्गलों में विचरते हुए मार्ग भूल गए। इस एकान्त में वही पत्नीकामना-स्त्रीभावना इन्हें निरतिशय-रूपेण पीड़ित करने लगी। व्याकुलेन्द्रियचेतन बने हुए भङ्गास्वन इतस्ततः भटकते हुए किसी सरोवर के तट पर जापहुँचे, जिस में स्वच्छ निर्म्मल जल भरा हुआ था। इसमें सर्वप्रथम राजाने थके हुए घोड़े को जल-पिलाया, घोड़े को वृक्षस्थूण के बाँधकर स्वयं सरोवर में कूदपड़े। जब डुबकी लगाकर राजा बाहिर निकले, तो इन्होंनें अपने आप को स्त्रीरूप में परिणत देखा। लज्जासे अवनत होगए राजर्षि अपने इस लैङ्गिक परिवर्त्तन को देख कर। कैसे तो अश्वारोहण करूँगा, और कैसे स्वनगर पहुँचूँगा, इस चिन्ता ने सन्त्रस्त करलिया स्त्रीरूप राजर्षि को। पुरुषस्वरूपसुलभ कर्कश-काठिन्यादि गुण अभिभूत होगए, एवं स्त्रीसुलभ मृदु-शैथिल्यादि गुण अभिव्यक्त होगए *। निष्कर्षतः कष्टसाध्यप्रयास से राजा अश्वारूढ बन कर राजधानी पहुँचते हैं, बड़ी कठिनता से दुर्घटना का वर्णन कर अपना परिचय देते हैं। एवं अपने पुत्रों को राज्य समर्पित कर पुनः वनकी ओर लौट आते हैं। दैववश उसी वनमें एक तपस्वी से इन का सम्बन्ध हो जाता है, एवं तपस्वी से इन्हें वहीं सौ पुत्र प्राप्त होजाते हैं। इन सौ पुत्रों को साथ लेकर स्त्रीरूप राजा पुनः राजधानी आते हैं, और पूर्वपुत्रों को कहने लगते हैं कि, पुत्रो ! तुम मेरे पुरुषरूप से उत्पन्न हुए हो, तो ये पुत्र वनमें मेरे स्त्रीरूप से उत्पन्न हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि, तुम सब मिलकर राज्यसुख-भोग करो। जब इन्द्र ने यह देखा, तो सोचाकि, "हमनें तो उत्पीड़ित करना चाहा था राजर्षि को दिग्-भ्रान्त करके। किन्तु देखते हैं, ये तो स्त्रीरूप में आकर भी वंशनिस्ताररूप वात्सल्य-सुख का भोग कर रहे हैं"। इत्यादिरूप से कथानक आगे जाकर विस्तार लेता गया है, जिसके इसी अंशपर हमें विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, जब इन्द्र इन से सम्पूर्ण स्थिति का स्पष्टीकरण करते हैं, तो ये इन्द्र से क्षमा माँगते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर जब इन्हें पुनः पुरुषरूप में परिणत करना चाहते हैं, तो राजर्षि यह कह कर पुनः पुरुष बनना नहीं चाहते कि—

स्त्रीत्वमेव वृणे शक्र ! पुंस्त्वं नेच्छामि वासव !
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप !।।

—महाभारत अनु० १२ अध्याय।

---

* **मृदुत्त्वं च, तनुत्त्वं च, विक्लवत्त्वं तथैव च।**
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिभिः ।।
व्यायामे कर्कशत्त्वं च वीर्य्यं च पुरुषे गुणाः ।।

—वही आख्यान।

"स्त्रीभाव में परिणत होजाने के अनन्तर भङ्गास्वन महाभाग ने पुनः पुरुषरूप में परिणत होजाना क्यों नहीं ठीक समझा ?" यही वह एक ऐसा तथ्य है, जो परोक्षरूप से मानवसमाज की स्वरूपरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्त्व 'नारीप्रकृति' को ही देरहा है। वस्तुतः प्राकृत विश्व में 'पुरुष' नामक वास्तविक पुरुष (अव्यय) तो अनभिव्यक्त ही है। सर्वत्र प्रकृति (अक्षर) का ही साम्राज्य है, जिस इस प्रकृतिरूप स्त्रीतत्त्व की ही पूर्व, उत्तर-रूप से दो सवस्था होजाती हैं, जो क्रमशः 'पुरुष' और 'स्त्री' नाम से प्रसिद्ध हो रहीं है व्यवहारभाषा में। इसी आधार पर ऋग्वेद का रहस्यपूर्ण-'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है, जिस का अक्षरार्थ यही है कि, **'जो वस्तुतः स्त्रियाँ हीं हैं, उन्हें भी हम 'पुरुष' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं, प्रकृतिरूपा जिस इस स्त्री की सर्वव्याप्ति को-'पश्यदक्षरवान्, न विचेतदन्धः'** (ऋक् सं० १।१६४ सू० १६ म०)। विश्व अवश्य प्रकृतिमूलक है *। संसार मायामय है, अर्थात् प्रकृतिमय है, अर्थात् दिग्देशकालात्मक है, अर्थात् स्त्रीभावप्रधान है। तभी तो लोकप्रसिद्ध मानव (पुरूष) का स्वरूप-निर्म्माण भी तो नारीगर्भसीमा में हीं पुष्पित पल्लवित होता है। अतएव सभी दृष्टियों से मानव, और मानवी में मानवी--तत्त्व ही प्रधान है।

४०२-दाम्पत्यसुख की प्रमुख अधिकारिणी मानवी, सर्वशक्तिमयी आद्या मातृजाति, तत्प्रति शक्तिस्वरूपवञ्चित मानव के अकाण्डताण्डव, एवं समानाधिकारवादी हितशत्रुओं के मातृशक्तिविमोहक जघन्य कर्म्म—

इसी तथ्य को लोकभावुकता-संरक्षणमूला भावुकभाषा में पुराणपुरुषने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है उसी आख्यान में कि-'दोनों के दाम्पत्य में नारी ही विशेषरूपेण दाम्पत्यसुख की अधिष्ठात्री बनती है। वैसे व्यवहारजीवन में भी-अपने कल्पित व्यक्तित्त्व से सर्वात्मना विमूढ बने हुए पतितशिरोमणि मानवाधम के समस्त अक्षम्य अपराध भी इस मातृशक्ति के सहज वात्सल्यदान से क्षम्य ही बनते रहते हैं, जिसका अर्थ यह मूर्खशिरोमणि अपने कल्पित व्यक्तित्त्व के दम्भ से यह मान बैठता है कि, इसने अपने पौरुष से, बल से ही नारी पर विजय लाभ किया है। बाह्यदृष्टिपरायण इस मूढमति दुर्बुद्धि को यह विदित नहीं हैं कि, जिस आग्नेय पौरुष पर, शारीरिक पौरुष पर यह गर्व करता है, उस आग्नेय पौरुष का भी नारी के अन्तःप्रतिष्ठारूप, शोणिताग्निरूप प्रचण्डरूपेण कर्कश पौरुष के समतुलन में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। पुरुष का बाह्यशरीरात्मक आग्नेय-पौरुष उत्तेजित होकर जहाँ नारी के बाह्यशरीररूप सौम्यभावमात्र को उत्पीड़ित कर उपशान्त हो जाता है, वहाँ दुर्भाग्य से मानव के इसी सीमातीत अपराध से यदि नारी का आभ्यन्तर शोणिताग्निमूलक पौरुष जाग्रत हो पड़ता है, तो एक पुरुष ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के इत्थंभूत आसुर-मानव इस प्रचण्डचण्डिका के कालाग्नि में भस्मसात् ही हो पड़ते हैं। और हम भूल नहीं कर रहे, तो अपने सजातीय मानवबन्धुओं को यह चेतावनी दे देना अपना मानवीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, आज मानव ने कहीं 'देवी'

---

* **अजोऽपि सन्नव्यायात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

—गीता

नाम के छल से, कहीं 'घर की मर्य्यादा' नाम के छल से, कहीं **'समानाधिकारव्यामोहन'** के छल से, तो एवमेव अन्यान्य भी कतिपय अवाच्य–अश्राव्य–कारणों से नारी के उस आभ्यन्तर आग्नेय पौरुष के साथ छीना–झपटी ही आरम्भ कर दी है, जिसमें एकमात्र नारी की मातृत्वानुबन्धिनी सहज कृपा ही अभीतक इस मानव को येनकेन रूपेण शरीतः जीवितमात्र ही रख रही है। यदि अब भी मानव न सँभला, यदि अब भी इसने नारी के बाह्य स्वरूप को ही नारी मानने की भूल प्रक्रान्त रक्खी, तो सभी राष्ट्रों के तथाविध हितशत्रु, तथा वास्तविक शत्रु कालगर्भ में हीं समाविष्ट हो जायँगे।

४०३–स्वैराचारमूलक समानाधिकारव्यामोहन, तद्द्वारा 'सहधर्म्मचारिणी' मानवी का 'सहकामचारिणी' पद पर संस्थापन, तथा कामोपभोगपरायणतामूलक-समानाधिकार का तथ्य–विश्लेषण—

सचमुच सर्वात्मना लज्जित हैं हम अपने जातिबन्धु मानवों के समानाधिकार–व्यामोहन के उन उच्छृङ्खल चरित्रों की गाथा कर्णाकर्णिपरम्परया सुन सुन कर, जिस 'समानाधिकार' का मूल, एकमात्र प्रधान मूल है-मानव की **'स्वैराचारपरायणता'**। अपनी इसी अमर्य्यादिता स्वैरिता को नग्नरूप से समालिङ्गित करने के लिए ही इसने–'समानाधिकार' जैसे छल का आश्रय ले लिया **है**, जिसके माध्यम से आज इसने इस पवित्र-हृदया सर्वशक्तिशालिनी **'सहधर्म्मचारिणी'** नारीजाति को **'सहकामचारिणी'** जैसे निम्न स्तर पर ही ला खड़ा किया है। और यही है इसके-'समानाधिकार' का जघन्य, किन्तु प्रच्छन्न इतिवृत्त, जो आज तो सर्वात्मना अभिव्यक्त ही होगया है। धार्मिक–जीवनपद्धति की उपेक्षा–अवेहलना–तिरस्कार से सर्वप्रथम तो अपने आपको केवल मनःशरीरधर्म्मा कामभोग-परायण बना लेना, तदनन्तर अपनी उद्दामवासनाओं को कार्य्यरूप में परिणत करने की लिप्सा से नारी को भी उसी स्थान पर ला खड़ा कर देना, उसके नारीसुलभ सहजसिद्ध **'निषेध'** का बलपूर्वक निरोध करते रहना, उसके न–न करते हुए भी उसे आपणव्यवसायप्रसाधनसाधनवत् एकमात्र अपनी कामभोगपरायणता का सहायक बना डालना, इसी बिन्दु पर 'समानाधिकार' की घोषणा से अपने आपको नारी की सहानुभूति का पात्र प्रमाणित करने की अक्षम्या धृष्टता करते जाना, एवं इसी धृष्टता के बल पर भारतीय पुरातन–नारीजीवन की अवाच्यवाच्या आलोचना के लिए सदा अपने आपको निर्लज्जतापूर्वक सन्नद्ध बनाए रखना, क्या इससे अधिक भी मानव का और भी कुछ भीषण पतन शेष रह गया है?। स्वयं मानव को ही मुकुलितनयन बन कर इस प्रश्न की अपने अन्तर्जगत् में ही, ईश्वरसाक्षीपूर्वक ही मीमांसा कर लेनी है, अविलम्ब कर लेनी है, इसी क्षण कर लेनी है। एवं तदनन्तर ही इसे 'समानाधिकार' का प्रश्न उठाना है।

४०४–मानव के समतुलन में मानवी के सभी मानवीय गुणों की सर्वमूर्द्धन्यता का दिग्दर्शन, एवं प्राकृत विश्व में प्रकृति की सगुणमूर्त्ति मानवी का ही प्राधान्य–

हम पूँछते हैं इस बुद्धिशिरोमणि मानव से कि, उसने किस आधार पर अपने आपको नारी का समानाधिकारी मान लिया ?, जबकि सभी क्षेत्रों में मानव नारी की अपेक्षा सर्वथा निर्बल ही प्रमाणित होता आया है। स्नेह-दया-करुणा-ममता-वात्सल्य-श्रद्धा-आतिथ्य-दान आदि आदि मानवतानुबन्धी सभी क्षेत्रों में संसार की सभी जातियों में एकमात्र 'नारी' का ही स्थान मानव की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल रहा है, प्रबल

हैं-आज भी। जिस धृति-धैर्य्य-गुण की मानव बढ़ बढ़ कर बातें करता रहता है, उस धृतिगुण में भी सदा से नारी ही विजय लाभ करती आई है। सुनिश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि, यदि नारीवत् मानव को शतांश भी नारी से उत्पीड़न उपलब्ध हो जाते, तो सम्भवतः मानवमात्र का उच्छेद ही होजाता, जबकि नृशंस मानव के द्वारा उत्पीड़न सहती हुई भी नारीने बड़े धैर्य्य से मानव को स्नेहदान से, वात्सल्यदान से अबतक जीवित रक्खा है। कदापि उत्पीड़न मानव के लिए कोई धर्म्मपथ नहीं माना गया है। मानव ने अधिकांश में अनिष्ट ही कराया है अपने इस पापकर्म्म से। लक्ष्य है केवल वह 'धृति' गुण। जिस शारीरिक आग्नेय भाव पर मानव दम्भ करता है, वह भी निस्तेज प्रमाणित हो जाता है नारी के आभ्यन्तर शोणितानुगत आग्नेय तेज के सम्मुख। अब केवल एक दृष्टि से मानव को यह भ्रान्ति है, कि मानो तत्क्षेत्र में मानव ही विजेता हो। स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं की मानसिक-लोकभावुकता के संरक्षण को प्रधान मानने वाली इतिहास की भाषा में पुराणपुरुष ने उस तथ्य के समतुलन में भी मानव को निस्तत्त्व ही प्रमाणित कर दिया है, जिसका समन्वय मानव को स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही कर लेना चाहिए निम्नलिखित वचनों के माध्यम से—

स्त्री-रूपे परिणतो भङ्गास्वन उवाच—

> **स्त्रियास्त्वभ्यधिकः स्नेहो न तथा पुरुषस्य वै।**
> **तस्मात्ते शक्र! जीवन्तु ये जाताः स्त्रीकृतस्य वै॥**
> **स्त्रियाः पुरुषसंयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा।**
> **एतस्मात्कारणाच्छक्र! स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्॥**
> **रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम!।**
> **स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप!॥**
>
> —म० अनु० 'भङ्गास्वनोपाख्यान' १२ अ०।

४०५–सौरसम्वत्सरानुगत आग्नेय मानव, चान्द्रसम्वत्सरानुगता सौम्या मानवी, तथा मानव का मानवीत्त्व, एवं मानवी का मानवत्त्व—

राजस्थान की प्रासङ्गिकी लोकसूक्ति के समन्वय-प्रसङ्ग से मानव, और मानवी के आधिकारिक नहीं, अपितु उत्तरदायित्त्वपूर्ण विभिन्न कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन किया गया। अब पुनः उसी लोकसूक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। मानवसंस्था में भी आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर, चारों मानवीय पर्व हैं, एवं मानवी में भी चारों हीं पर्व हैं। और इस दृष्टि से दोनों का ही स्वरूप समतुलित है, समान है। किन्तु सौर-चान्द्र-सम्वत्सरानुबन्ध से दोनों की इस समानता में विभिन्नता भी समाविष्ट हो रही है, जिसका अर्थ है–**अग्निप्रधान मानव, और सोमप्रधाना मानवी,** जबकि मानव गर्भस्थ शुक्र के सम्बन्ध से सौम्य भी है, एवं मानवी गर्भस्थ शोणित से आग्नेयी भी है। अर्थात् पुरुष को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले चान्द्रसम्वत्सरप्रधान सौम्य स्वरूप का ही नाम मानवी है, एवं स्त्री को स्वसीमा के गर्भ में रखने वाले सौरसम्वत्सरप्रधान आग्नेय स्वरूप का नाम ही मानव है। यों मानव भी मानव-

मानवी-रूप है, तो मानवी भी मानव-मानवी-स्वरूपा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सम्वत्सरार्द्धचक्राकाश ही मानव है, सम्वत्सरार्द्धचक्राकाश ही मानवी है, दोनों की समन्वितवस्था का नाम हीं पूर्ण-कृत्स्न-सम्वत्सरचक्र है, और यही पूर्णताप्रवर्त्तक भारतीय दाम्पत्यजीवस की मौलिक-परिभाषा है, जिसमें अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत नामक तीनों प्राकृत विवर्त्त समाविष्ट हैं।

४०६-आत्मानुगता सौरसम्वत्सरात्मिका बुद्धि, शरीरानुगत चान्द्रसम्वत्सरात्मक मन, एवं बुद्धिनिष्ठ मानव, तथा मनोभावुका मानवी—

मानव क्योंकि अग्निप्रधान है, अतएव आत्मानुगता बुद्धि ही मानव का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि बुद्धि का सौरसम्वत्सराग्नि से ही प्रधान सम्बन्ध है-**'धियो यो नः प्रचोदयात्'**। एवं मानवीय प्राकृत आत्मभाव की आधारभूमि भी सौर प्राण ही है-**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च'**। यों सौराग्नेय तत्त्व ही आत्मा, तथा बुद्धि, इन दोनों पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि सौर अग्नि ही मानव का मुख्य बाह्य (व्यक्त) स्वरूप है। मानवी क्योंकि सोमप्रधाना है। अतएव मनोऽनुगत शरीर ही मानवी का प्रमुख स्वरूप-परिचय है। क्योंकि मन का चान्द्रसम्वत्सरसोम से ही प्रधान सम्बन्ध है-**'चन्द्रमा मनसो जातः-मनश्चन्द्रे ण लीयते'**। एवं मानवीय प्राकृत शरीर भी चान्द्रसम्वत्सर के ब्रह्मौदनरूप पार्थिव सम्वत्सर का ही अंश है। अतएव चान्द्र ऋतुभाव ही पार्थिवाग्नि—माध्यम से शरीर का निर्म्माता बनता है-**'चन्द्रमसाद्रे तो-ऋतव आभृतम्'**। यों चान्द्र सौम्य तत्त्व ही मन, तथा शरीर, इन दो पर्वों का संग्राहक बन रहा है, जोकि चान्द्रसौम्यतत्त्व ही मानवी का मुख्य बाह्य (व्यक्त) स्वरूप है। तात्पर्य्य यह निकला कि, मानव के चारों पर्वों में से सौरसम्वत्सराग्निरूप आत्मा, तथा बुद्धि, ये दोनों तो मानव की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों मानव की परसम्पत्ति (नारीसम्पत्ति) है। तथैव चान्द्रसम्वत्सरसोमरूप मन, तथा शरीर, ये दोनों तो मानवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति है, एवं आत्मा, तथा बुद्धि, ये दोनों मानवी की परसम्पत्ति (मानवसम्पत्ति) है।

४०७-मानव के मनःशरीरपर्वों की स्वत्त्वाधिकारिणी भावुका मानवी, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का स्वत्त्वाधिकारी नैष्ठिक-मानव—

अर्थात् मानव के मनःशरीरपर्वों पर सर्वात्मना मानवी का अधिकार है, तो मानवी के आत्मा-बुद्धि-पर्वों पर मानव का अधिकार है। 'अधिकार' शब्द दोषपूर्ण है, भावुकतापूर्ण है। तत्स्थान में यह कहना नैष्ठिक माना जायगा कि, मानव के मनःशरीरपर्वों के संरक्षण का उत्तरदायित्व मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों पर अवलम्बित है, एवं मानवी के आत्मबुद्धिपर्वों का संरक्षण मानव के मनःशरीर पर्वों पर अवलम्बित है। सहजभाषानुसार-मानव अपने मन, और शरीर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानवी के आत्मा, तथा बुद्धिपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (मनःशरीर) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो जाता है। एवमेव मानवी अपने आत्मा, और बुद्धि का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मानव के मन, तथा शरीरपर्वों के प्रति समर्पित कर अपने इन दोनों (आत्मा-बुद्धि) पर्वों को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ बन जाती है। यों दोनों अन्योऽन्याश्रितरूपेण एक दूसरे के पूरक बनते हुए दोनों दोनों के रक्षक, तथा दोनों दोनों से रक्षित बन जाते हैं।

४०८–मनःशरीरेण नितान्त भावुक मानव, एवं आत्मना बुद्धया च नितान्त भावुका मानवी—

इसी से यह तथ्य भी स्वतः ही संसिद्ध है कि, मानव अपने मनःशरीर से जहाँ भावुक है परावलम्बनता (नारी की अवलम्बनता) के कारण, वहाँ अपने आत्म–बुद्धि–भाव से नैष्ठिक है स्वावलम्बी बनता हुआ। एवमेव अपने आत्मबुद्धिपर्वों से मानवी जहाँ भावुका है परावलम्बनता [मानव की अवलम्बनता] के कारण, वहाँ अपने मनः-शरीर-पर्वों से नैष्ठिकी है स्वावलम्बिनी बनती हुई। अर्थात् मानव अपने आत्म-बुद्धिपर्वों पर मानवी का आक्रमण नहीं सह सकता, तो मानवी अपने मनःशरीरपर्वों पर मानव के आक्रमण नहीं सकती। मानव आत्मबुद्धिस्वातन्त्र्य चाहता है, क्योंकि यही मानव का मुख्य स्वरूप है। तो मानवी मनःशरीरस्वातन्त्र्य चाहती है, क्योंकि यही मानवी का मुख्य स्वरूप है। अतएव मानव के आत्म–बुद्धिस्वातन्त्र्य को अपने मनःशरीरभावों से सुरक्षित रखती हुई ही मानवी मानव के इन दोनों तन्त्रों [आत्म–बुद्धितन्त्रों] की रक्षा का कारण बनती है। अतएव मानवी के मनःशरीरस्वातन्त्र्य को अपने आत्म–बुद्धिभावों से सुरक्षित रखता हुआ ही मानव मानवी के इन दोनों तन्त्रों [मनःशरीरतन्त्रों] की रक्षा का कारण बनता है।

४०९–अत्यन्त सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य मानव–मानवी का प्राकृतिक–स्वरूप, अतएव बुद्धि से अतीता तत्कर्त्तव्य–व्यवस्था, अतएव च तत्सम्बन्ध में शास्त्र-प्रामाण्यैकशरणता—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म है यह प्राकृतिक समन्वय, जिसका यथावत् समन्वय मानव की प्राकृतबुद्धि [बुद्धि-मानी] कदापि नहीं करसकती। प्रकृति का यह सुसूक्ष्म समन्वय तो महर्षियों की अप्राकृता दिव्यदृष्टि के ही अलौकिक उत्तरदायित्व से अनुप्राणित है, जिनकी दृष्टि को समझ लेना भी अस्मदादि प्राकृत मानवों की बुद्धि से अतीत ही माना जायगा। अतएव हमारे लिए तो एकमात्र अशरणशरण आदेशात्मक वह कर्त्तव्य ही है, जिसका शास्त्र के द्वारा विधान हुआ है। कदापि हम अपनी काल्पनिक अनुभूतियों से उन सुसूक्ष्म तत्त्वों के निर्णायक नहीं बन सकते। अतएव मानव, और मानवी के आधिकारिक, किंवा उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यों का अनुगमन ही इनके लिए एकमात्र श्रेयःपन्था है–'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**'।

४१०–मनःशरीरानुगत आहारादि भोगों में मानव का, तथा मनःशरीरानुगत केश–प्रसाधनादि में मानवी का शास्त्र के द्वारा नियन्त्रण—

हाँ, तो हमने यह देखा कि, मानव आत्मबुद्धिनिष्ठ है, तो मानवी मनःशरीरभावुका है (**स्त्रियो हि भावुकाः**–शतपथब्राह्मण)। अतएव आवश्यक है कि, मानव मनःशरीरानुगत अशनपानादि–कर्मों में आसक्त न बने। तो उधर मानवी मनःशरीरप्रसाधनों में हीं आसक्त न बने।। भोजनासक्त, आज की भाषा में अहोरात्र चर्वण–भक्षण में हीं निमग्न अन्नदास–भोजनदास मानव कदापि आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं रह-सकता। एवमेव अहोरात्र स्नान–उबटन–केशपाशविन्यास-शृङ्गारादि प्रसाधनों में हीं रत रहने वाली नारी भी कदापि अपने मानसिक–शारीरिक–उस गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती, जिसके द्वारा ही

मानव के आत्म–बुद्धि–स्वातन्त्र्य की रक्षा हुआ करती है। उधर भोजनासक्त मानव अपनी हीं मनःशरीरा–सक्तियों में डूबा हुआ नारी के आत्मबुद्धिभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाता है, तो इधर मानवी अपने मनःशरीरप्रसाधनों–स्नानादि–केशपाशादि व्यासङ्गों में हीं संलग्ना रहती हुई मानव के मनःशरीरभावों के रक्षण में असमर्थ बन जाती है।

४११–शृङ्गारप्रसाधनैकासक्ता मानवी के, तथा आहारादि–भोगासक्त मानव के स्वैराचार से दोनों का ही समान स्वरूप, एवं तत्सम्बन्ध में राजस्थान की एक महत्त्वपूर्णा लोकसूक्ति—

सत्यं चैतत्। जिस घर की कुलदेवियाँ अहोरात्र अपने स्नानादि शृङ्गारप्रसाधनों में हीं लग पड़तीं हैं, उस घर के कुलपुरुषों की मनःशरीरव्यवस्था भृत्यों के ही आधीन बन जाती है, जहाँ अथ से इति–पर्य्यन्त असन्तोष का ही साम्राज्य बना रहता है। एवमेव जिस घर के कुलपुरुष भोजनपानदास ही बने रहते हैं, वे आत्मबुद्धिस्वरूप–समर्पकक कर्त्तव्यों के लिए समय न निकालते हुए कालान्तर में मनःशरीर-परायण ही बनते हुए निष्ठाबल से वञ्चित ही होजाते हैं। और यों दोनों हीं क्रमशः इस भोजनासक्ति, तथा स्नानाद्यासक्ति से अपनी पारस्परिक–पूरकवृत्ति से पराङ्मुख बनते हुए स्वस्वरूप ही खो बैठते हैं कालान्तर में। इसी तथ्य के आधार पर–**'मोटयार को खावो, और लुगाई को न्हावो–दोन्यूं बरोबर'** यह लोकसूक्ति आविष्कृत हो पड़ी है समझ रखने वाले सहज मानवों की उस सहज बुद्धि से, जिसमें अवक्रता–ऋजुता से स्वतः ही प्रकृति के सुगुप्त भी रहस्य सहजरूपेणैव आविर्भूत होते रहते हैं, जिनका बुद्धिमान् मानव प्रयास करके समन्वय भी तो नहीं कर पाते। **'मोटयार को खावो'**, **मानव की भोजनासक्ति**। **'अर–लुगाई को न्हावो'**,–अर्थात् **'और मानवी की स्नान–शृङ्गार-प्रसाधनाद्यासक्ति'**। **'दोन्यूं बरोबर'**, अर्थात् **'भोजनासक्त मानव, तथा स्नानासक्ता मानवी, दोनों का कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता'**, जिस इस शेषता का समन्वय तो **'समझ'** से ही सम्बन्ध रखता है।

४१२–बौद्धिक–लौकिक–क्षेत्रों में श्रद्धा का समावेश, अलौकिक–बुद्ध्यतीत–क्षेत्रों में बुद्धि का प्रवेश, एवं क्षेत्रविपर्य्ययात्मिका महती भ्रान्ति से समन्वित भावुक मानव —

तभी तो हमने कहा है कि– **'समझ बिना बुध बापड़ी'**। (देखिए पृ० सं० ५८०)। प्राकृत मानव कहता है कि–**"वह, और यह एक ही तत्त्व है"**, यह बात समझ में नहीं आती, अर्थात् बुद्धि स्वीकार नहीं करती। बुद्धिगम्य नहीं है, यह ठीक है। मानव के लिए बुद्धिगम्य क्या है ?, और क्या नहीं है ?, इस समस्या का भार तो हम उस आज के प्राकृत मानव पर ही छोड़ देते हैं, जो बुद्धिगम्य विषयों में तो परम–श्रद्धालु बना हुआ है, एवं श्रद्धास्पद तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धिमानी को, पाण्डित्य को उलेंड देने के लिए आतुर बना हुआ है। जिस लौकिक-दिग्देशकालात्मक–भौतिक–प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत उपवर्णित–व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिक्षण सतर्कतापूर्वक, आँखें खोलकर बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा-निर्वाह की अपेक्षा-आवश्यकता है, उस व्यावहारिक क्षेत्र में तो हम सर्वात्मना गतानुगतिक, परम्परावादी, अन्धानुकरणवादी बने रहते हैं। एवं

दिग्देशकालातीत, अतएव मनः-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-से भी अतीत अव्यावहारिक-अलौकिक, किन्तु सर्वव्यवहाराधारभूत अनन्ततत्त्व के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि का दम्भ अभिव्यक्त करने लग पड़ते हैं। यों मानव की बुद्धि आज क्षेत्रविचलित होती हुई पशुबुद्धि से भी अर्वाक्कोटि में ही समाविष्ट है।

४१३-पशु की दिग्देशकालनिबन्धना जागरूका व्यावहारिकी बुद्धि, एवं तत्समतुलन में भावुक-प्राकृत-मानव की बुद्धिहीनता—

पशु अपने व्यावहारिक-प्राकृत-जगत् में तात्कालिक-बुद्धि को अग्रणी बना कर ही, अपने प्राकृत स्वरूप के हानि-लाभ से सतत सतर्क (चौकन्ना) रह कर ही जीवनयात्रा में प्रवृत्त रहता है। अतएव स्वप्रकृत्यनुरूप भोग ही इसके लिए ग्राह्य होते हैं, एवं प्रकृतिविरुद्ध भोग सर्वथा त्याज्य। जबकि प्राकृत मानव अपनी बुद्धि से इस प्राकृत क्षेत्र में सर्वथा ही तटस्थ बनता हुआ, हानि-लाभ का कोई विवेक न करता हुआ परम-श्रद्धालु आस्तिक बनता हुआ ही मानो-देखा देखी-अनुकरण-से सभी कुछ खाने पीने कहने सुनने-आदि के लिए सन्नद्ध हो पड़ता है। और यों पशुवत् तात्कालिकी परिणामदर्शिता से भी यह बुद्धिमान् 'बुद्धि' को सर्वथा जलाञ्जलि ही समर्पित किए रहता है।

४१४-भावुक मानव की बुद्धि के एकमात्र प्रमाण तथाविध भूतासक्त-बहिर्भावुक लोक-मानव, एवं अलौकिक-दिग्देशकालातीत सत्तासिद्ध तथ्यों के प्रति बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए इसकी आतुरता—

इस सम्बन्ध में इसके लिए एकमात्र प्रमाण उनका वचन ही, उनकी जीवनपद्धति ही बना रहता है, जिन्होंने अपनी लोकबुद्धि से केवल प्राकृत भूतों के आधार पर प्राकृत विधि-विधान बना डाले हैं। यों मानव जहाँ एक ओर अलौकिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में अलौकिक क्षेत्रों के द्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से अनुप्राणित शास्त्रीय-वचन, एवं तदनुगता आचारपद्धति की अवहेलना करता हुआ उनकी बुद्धिगम्या व्याख्या के लिए आतुर हो पड़ता है, और उन शास्त्रीय अलौकिक-क्षेत्रों के लिए जहाँ यह मन्दप्रज्ञ-**'परमात्मा ने हमें बुद्धि दी है। हम समझ लेंगे, तभी मानेंगे, तभी करेंगे'** इसप्रकार बौद्धिक तर्क खड़ा करता हुआ यत्किञ्चित् भी तो लज्जित नहीं होता। तथैव यही प्रज्ञाशील बुद्धिमान् यों शास्त्रीय आचारों के सम्बन्ध में बुद्धिवाद का विजम्भण खड़ा कर लोकक्षेत्र में अन्धश्रद्धालु की भाँति उन बुद्धिमानों के वचनों का ही, उनकी जीवनपद्धति का ही आँख मींचकर अनुकरण करने लग पड़ता है, और कदापि भूल से भी इन लोक-क्षेत्रों में यह 'बुद्धि'-'तर्क'-'विचार' 'परिणाम' आदि का संस्मरण भी नहीं करता।

४१५-बुद्धिमान् मानव की बुद्धि का लोकक्षेत्रों में अन्धानुकरण, और तद्दुष्परिणाम—

अपितु जिसे लोक में **'भेड़ियाधसान'** कहा जाता है, जिसे-**'अन्धानुकरण'** कहा है शास्त्र ने, एवं जिसके आधार पर **'गतानुगतिको लोकः- न लोकः पारमार्थिकः'** यह न्याय अभिव्यक्त हो पड़ा है, तथाकथित वही इन महान्? बुद्धिमानों? का कर्त्तव्यपथ? बन जाता है। कुछ भी तो जानने की, समझने की, विचारपरामर्श की, सदसद्विवेक की कोई भी तो आवश्यता अनुभूत नहीं करते ये बुद्धिमान् इन अपने अनुकरणक्षेत्रों में, जो कि अलौकिक कर्त्तव्यों-वचनों के सम्बन्ध में अपने बुद्धितन्त्र को सम्मुख ला खड़ा कर देने में क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं करते।

४१६–'समझ' रूपा 'संवित्' के अनुग्रह से वञ्चिता बुद्धिमान् की निरीहा (बापड़ी) बुद्धि, एवं–'समझ बिना बुध बापड़ी' लोकसूक्ति का समन्वय—

यों मानवने, प्राकृत मानवने इस क्षेत्रभेद का समतुलन खोते हुए अपना 'वह' और 'यह', दोनों ही अभिभूत कर लिया है। 'यह' अविभूत होगया है बुद्धि की तटस्थता से, तो 'वह' अभिभूत होगया है 'बुद्धि' की सापेक्षता से। सहजभाषानुसार–जहाँ सहजभाव से इसे श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहना चाहिए था, वहाँ तो इसने 'बुद्धि' का भूत खड़ा कर दिया है, एवं जिस लोकक्षेत्र में 'बुद्धि' पूर्वक इसे कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए था–बुद्धि से अतीत प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर, वहाँ यह सर्वथा जड़भरत–बुद्धिशून्य बन गया है। स्थूलभाषानुसार जहाँ–'बुद्धि' प्रवेश ही नहीं कर सकती, वहाँ तो यह बुद्धिमान्–तर्कवादी बनता जारहा है, एवं जहाँ बिना बुद्धिप्रवेश के अनर्थ हो पड़ने की सम्भावना रहती है, वहाँ यह अपनी बुद्धि को जलाञ्जलि समर्पित किए रहता है। परिणाम इस विपर्य्यय का जो हुआ करता है, वही तो हो रहा है आज। और यही **'समझ'**, तथा 'बुद्धि' का वह महान् अन्तर है, जिसके समन्वय के बिना सचमुच ही तो–**'समझ बिना बुध** बापड़ी'।

४१७–'बापड़ी' शब्द के तात्त्विक अर्थ का समन्वय, एवं विद्वान् मानव की मूर्खता, तथा मूर्ख मानव की विद्वत्ता—

लोकसूक्ति का **'बापड़ी'** शब्द बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। **परवशता, पारतन्त्र्य, निरीहता, विवशता**–आदि हीनभाव ही इस शब्द से अभिव्यक्त हो रहे हैं। जो बुद्धि **'समझ'** नामक अलौकिक तत्त्व से वञ्चित हो जाती है, वह बुद्धि सचमुच में हीं तो **'बापड़ी'**, अर्थात् परतन्त्रा बन जाती है। इत्थंभूता विशुद्धा ! बुद्धि को ही तो आज **'स्वतन्त्रता'** मान लिया गया है, जिसके समतुलन में तो मानवेतर प्राणी अपने प्राकृत क्षेत्र में कहीं अधिक बुद्धिमान्, अतएव कहीं अधिक स्वतन्त्र हैं। आत्मानुगता सहज बुद्धि से समन्विता स्थितिमूला निष्ठा का नाम है **'आस्था'**, एवं आत्मानुगत सहज मन से समन्वित स्नेहगुणक सत्यसंग्राहक भाव का नाम है–**'श्रद्धा'**। आस्था–श्रद्धा की सम्मिलितावस्था का नाम ही है–**'संवित्'**, और इस संवित् का ही लौकिक नाम है **'समझ'**, जो बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वानों, वृद्धों में भी नहीं होती, एवं एक साधारण अपठित–ग्रामीण–बालबुद्धि–मानव में भी इस 'संवित्' का अनुग्रह होजाता है। अतएव लोकसूत्र है कि,–**"विद्वान् बुद्धिमान् है, अतएव वह मूर्ख है। एवं मूर्ख समझदार है, अतएव वह विद्वान् है"**। क्योंकि **'समझ बिना बुध बापड़ी'**।

४१८–विद्वान् की बुद्धि के उपभोक्ता मूर्ख, किन्तु समझदार, एवं बुद्धिमान् विद्वान् की मूर्खतापूर्णा परवशता—

बुद्धिमान् विद्वान् इसलिए मूर्ख है कि, यह अपनी बुद्धि से व्यक्तित्वविमोहन के कारण लोक में काम न लेता हुआ यहाँ तो अन्धश्रद्धालु बना रहता है, एवं अलौकिक क्षेत्र में इस की बुद्धिमानी प्रवेश नहीं कर पाती। उधर वह अपठित, किन्तु सहजरूप से ही अपनी परम्परा में आस्था–श्रद्धा रखने वाला मूर्ख भी श्रद्धा से उस अलौकिक ईश्वरभावना से भी समन्वित रहता है, एवं इसी 'समझ' रूपा संवित् से यह अपनी पारम्प-

रिक–लोकपद्धति का अनुगामी बना रहता हुआ प्रवाह में भी नहीं बह जाता। अतएव यह विद्वान् बुद्धिमान् की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् और बुद्धिमान् है। इसीलिए तो यह दूसरा लोकसूत्र आविर्भूत होपड़ता है कि–**"विद्वान् बुद्धिमान् की बुद्धि से लाभ उठा लेजाते हैं अविद्वान्–किन्तु समझदार सहज मानव, जब कि विद्वान् बुद्धिमान् सभी लाभों से वञ्चित रहता हुआ अपने भाग्य को ही रोया करता है यावज्जीवन"**। क्योंकि–'समझ बिना बुध बापड़ी'।

४१९--पुरुषार्थवादी समझदार मूर्ख आद्यन्त का सुखी, एवं भाग्यवादी बुद्धिमान् विद्वान् आद्यन्त का दुःखी, तथा 'संवित्' रूपा 'समझ' का संस्मरण—

मूर्ख, किन्तु समझदार जहाँ पुरुषार्थवादी है, अतएव यह आद्यन्त का सुखी है, वहाँ विद्वान्, किन्तु बुद्धिमान् भाग्यवादी है, अतएव यह आद्यन्त का दुःखी है। मूर्ख भी समझदार सुखी है, सन्तुष्ट है अपने प्राकृत–पुरुषार्थ के अनुग्रह से, एवं विद्वान् भी बुद्धिमान् दुःखी है, असन्तुष्ट है अपने प्राकृत–भाग्यवादानुग्रह से। और निश्चयेन ऐसे विद्वान् बुद्धिमान् मानवधुरीणोंनें हीं अपने बुद्धिवाद के माध्यम से मानव की सहज 'समझ' का तिरस्कार कर ऐसे ऐसे भयावह व्यामोहन खड़े कर लिए हैं, जिन बुद्धिवादात्मक कल्पित–भयों, समस्याओं, विषमताओं से ही सहजरूपेण स्वस्थ, एवं प्रकृतिस्थ भी मानव आज अस्वस्थ, तथा अप्रकृतिस्थ ही बन गया है। और यों एक 'समझ' जैसी लोकातीता 'संवित्' का अपनी बुद्धिगम्या व्याख्याओं से तिरस्कार कर मानवने अपने इस बुद्धिवादात्मक महान् पाप से आज सम्पूर्ण मानवता के ही सुख–शान्ति–स्वस्ति–स्वातन्त्र्य को विकम्पित कर दिया है बुद्धिमानी से अनुप्राणिता दिग्-देश–कालात्मिका–युगधर्म्मानुगता घोषणाओं के छल से।

४२०--'समझ' को 'समझलेने' की आतुरता के सम्बन्ध में समझदारों के सहज उद्गार, तदुद्गारों के ठीक ठीक न समझने से 'समझ' की बुद्धि के लिए दुर्बोध्यता, एवं तदवस्था में--'समझ बिना बुध बापड़ी'—

एवं हि अनुमीयते कि, बुद्धिमान् मानव अवश्य ही **'संवित्'** नामक उस अलौकिक **'समझ'** को समझने के लिए आतुर हो रहे होंगे, जो सुख–शान्ति की अधिष्ठात्री है। यही तो वह व्यामोहन है, जिसका हमें भी सर्वतोभावेन परित्याग कर देना है, एवं इस 'समझ' को 'समझदारी' (बुद्धिमानी) से समझने के लिए आकुल–व्याकुल होने वाले सजातीय, किन्तु बुद्धिमान् मानव–श्रेष्ठों को भी परित्याग कर ही देना **है। समझने के व्यामोहन का आत्यन्तिक परित्याग ही उस 'समझ' (संवित्) नामक अलौकिक तत्त्व को समझ जाने का एकमात्र अन्यतम राजपथ है, जो कि–'समझ' नामक तत्त्व ही ऋषिभाषा में–'समझनेवाला' ('विज्ञाता') कहलाया है। जो 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व स्वयं सबकुछ समझनेवाला है, एवं सब को समझानेवाला (बुद्धिप्रदाता) है, उसे मानव अपनी 'समझ' (बुद्धि) से कैसे समझ लेगा ?। इस के लिए तो इसे उस 'समझ' (विज्ञाता) की यत्किञ्चिदंशरूपा अपनी बुद्धि का दम्भ छोड़ कर सर्वतोभावेन उस 'नासमझीरूपा समझ' (अविज्ञेय-अनन्ततत्त्व)** की शरण में हीं अपने आपको समर्पित कर देना पड़ेगा। और यदि बुद्धिमान् यों

अपने बौद्धिक व्यामोहनात्मक सम्पूर्ण लोकधर्म्मों को, अपनी बौद्धिक मान्यताओं को, भावुकतापूर्ण अनुभूतियों को, तथा कल्पनाओं को सर्वात्मना उस **'समझदेवता' (संविद्देवता)** के अर्पण कर सका, तो निश्चयेन उस 'समझ' को न केवल यह समझ ही लेगा, अपितु फिर तो यह स्वयं ही **'समझ'** बन जायगा, और उस अवस्था में आते ही तो महर्षि गोतमसदृश परीक्षक इस सत्यकाम जैसे 'समझदार' की आकृति को देखते ही कह उठेंगे कि-**'ब्रह्मविदेव सोम्य ! मे प्रतिभासि'**। फिर कदापि इसे न तो इतस्ततः दन्द्रम्यमाण ही बना रहना पड़ेगा, न पाण्डित्यपूर्ण बुद्धिवादों से सन्त्रस्त ही होना पड़ेगा। अपितु उस अवस्था में तो इस समझ के अनुग्रह से सम्पूर्ण भूतासक्तियों से असंस्पृष्ट रहता हुआ कर्त्तव्यबुद्ध्या इस समझ से युक्ता बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण लौकिक अनुष्ठानों को कौशलपूर्वक व्यवस्थित ही बनाए रहेगा। और यों एकमात्र 'समझ' के स्वतः ही 'समझ' जाने के अनन्तर इसके अभ्युदय-निःश्रेयस्-स्वतः ही संसिद्ध होते रहेंगे। यदि इसने ऐसा नहीं किया, अर्थात् यदि बुद्धिदम्भ में आकर, इस कालकुटिलता में आकर उस कालातीत समझ को इसने बुद्धि का आधार नहीं बनाया, तो फिर अन्ततोगत्त्वा हमें एक बार पुनः यही कह देना पड़ेगा कि-**'समझ बिना बुध बापड़ी'**।

४२१-'समझ' के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध में हमारा बौद्धिक व्यामोहनात्मक छल, एवं वस्तुगत्या 'समझ' के सम्बन्ध में 'न स वेद, न स वेद' का उद्घोष—

इस वाग्विजृम्भणात्मक बौद्धिक-व्यामोहन-छल से हम अपने आप को भी सावधान कर देना आवश्यक समझ रहे हैं कि, जिस 'समझ' के समझ ने के लिए 'समझ' नामक अलौकिक तत्त्व के प्रति सर्वार्पण (बुद्ध्यर्पण) रूप जो उपाय हमने पूर्व-में बतलाया है, वह भी वस्तुतः बौद्धिक-व्यामोहन के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। हम स्वयं तो क्या समझ गए इस आत्मार्पण से उस 'समझ' को, और दूसरों को क्या समझा-दिया इस वाक्छलमात्र से 'समझ' का स्वरूप ?। यदि हम अपने आपको **'समझा हुआ'** मान लेते हैं, तो वही बौद्धिक दम्भ। यदि इस से दूसरों को 'समझ' प्रदान कर देने में कुशल मान लेते हैं, तो हमारा आत्यन्तिक पराभव। अतएव मान लीजिए, और हम तो मान ही रहे हैं कि, वह 'समझ' समझने जैसी (बुद्धिगम्या) है ही नहीं। जो यह कहता है कि मैंने उस 'समझ' (विज्ञाता) को-समझ लिया, जान लिया, पहिचान लिया, विश्वास कीजिए-**न स वेद, न स वेद**। उसने सबकुछ समझ कर भी कुछ भी तो नहीं समझा।

४२२-वाक्छल से एकान्ततः असंस्पृष्टा सहज धारणा, तदनुप्राणिता 'संवित्' (समझ), एवं हमारी समझ, और उसकी कर्त्तव्यानुष्ठानात्मिका इयत्ता—

स्मरण रखिए! यह वाक्छल नहीं है। अपितु यही तो वस्तुस्थिति है। उस **'समझ'** का तो **'न समझना ही उस का समझ लेना है'**। क्या तात्पर्य्य ?। यही कि-समझने-समझाने, मानने-मनवाने-जैसे बौद्धिक व्यामोहनों, तर्काभासों, युक्तियों, भूतविज्ञानवादों, लोकचातुर्य्यों, आदि आदि से अपने आप को सर्वात्मना असंस्पृष्ट रखते हुए, यह मान कर ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखते हुए कि-'जिन आप्त महर्षियोंनें हम प्राकृत मानवों के लिए, हमारे अभ्युदय-निःश्रेयस् के लिए जो धर्म्मसम्मत-कर्त्तव्यकर्म्म निश्चित किया है, वह उन्होंनें 'समझ' के किया हो *, अथवा बिना समझे किया हो, हमें तो आस्था-श्रद्धा-

---

*-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'। (कणादसूत्र)।

पूर्वक यावज्जीवन अपनी समझ (बुद्धि), अपना मन, अपनी इन्द्रियाँ, अपना शरीर, इन सब प्राकृत विवर्त्तों को, एवं सर्वतोभावेन अपने आपको भी उस कर्त्तव्यनिष्ठा में हीं केवल कर्त्तव्यबुद्धि से ही समर्पित कर ही देना है। कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान ही हमारी 'समझ' की इयत्ता है। यदि भगवनुदग्रह से यह कर्त्तव्यबुद्धि भी हमारी प्रज्ञा में अभिव्यक्त होगई, तो हम समझ लेंगे, हमने सबकुछ समझ लिया, जान लिया, पहिचान लिया, एवं प्राप्त कर लिया।

४२३-कर्त्तव्यानुष्ठानात्मक आचारधर्म्म से असंस्पृष्ट समझदार दार्शनिकों, तथा सन्तवादों के आचारनिष्ठाशून्य महतो महीयान् उद्गार—

यदि कर्त्तव्यबुद्धि की समझ नहीं आई हमें, तो फिर कोरी 'समझ' हमारा क्या उद्धार कर देगी ?, इस प्रश्न का ठीक ठीक समाधान तो वे दार्शनिक ही कर सकेंगे, जो समझने के लिए आतुर बनते हुए लौकिक (आधिभौतिक), पारलौकिक (आधिदैवक) समस्त कर्त्तव्यकर्म्मों को जलाञ्जलि समर्पित कर कार्य्य-कारण-विमर्शों से स्वयं भी उत्पीड़ित होते रहते हैं, एवं समानधर्म्मा अकर्म्मण्यों को भी उन्निद्र बनाते रहते हैं। अथवा तो फिर वे सन्तसम्प्रदायवादी ही तथाकथित प्रश्न का समाधान करसकेंगे, जो अपनी समझ (बुद्धि) से, अपने गुरु की समझ (कृपा) से सबकुछ समझते हुए अपने भक्तों को अपनी समझ-(अनुभूति) का ही व्याख्यान देते हुए यही समझाते रहते हैं कि,-**'संसारोऽयमसारः' (बच्चा ! सावधान ! ! संसार असार है)**। 'जीवनमिदं **क्षणभङ्गुरम्' (जीवन दो दिन का भी नहीं, अपितु क्षणमात्र का है)। 'सुखदुःखौ-आगमापायिनौ' (सांसारिक सुख-दुःख-विनश्वर हैं, यों हीं बदलते रहते हैं)। 'अतएव सर्वसम्बन्धत्यागः' सब से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए, और एकमात्र ऐसे महान् ज्ञानप्रदाता गुरुभगवान् की शरण में हीं आजाना चाहिए। तभी तुम्हें परमपद मिलेगा)।**

४२४-स्वानुगता समझ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव दिग्दर्शन—

रही बात हमारी, तो तत्सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, उस **'समझ'** के (विज्ञा-**तात्रह्म के**) एकांशात्मक प्रतीक के अनन्तकालात्मक महान् कालचक्र के भी अंशतम-प्रत्यंशतम-रूप-चान्द्र-सम्वत्सरचक्र के निःसीम अनुग्रह से समन्वित अपने जन्मदाता सगुण-ब्रह्ममूर्त्ति माता, पिता के चरणों का श्रद्धापूर्वक, किंवा युगधर्म्मानुसार अश्रद्धा-पूर्वक संस्मरण करते हुए उसी प्राजापत्या कर्म्मनिष्ठा का संस्मरण-मात्र करते हुए भी यदि हम अपना यह प्राकृत जीवन व्यतीत कर सके कालपुरुषानुग्रह से, तो यही हमारे लिए पर्य्याप्त होगा। दूसरे शब्दों में-ऋषिशास्त्र पर हमारी गच्छतः-स्खलनरूपा श्रद्धा-सुरक्षित रहे, प्राकृत-बुद्धिमान् मानवों की कृपा से समुत्पन्ना युगधर्म्मानुगता-विषमा समस्याओं के इस भयावह प्रक्रान्तिकाल में हम यथाकथंचित् ऋषिशास्त्र के दर्शन-स्पर्श-मात्र का महद्भाग्य प्राप्त करते रहें, और यों सर्वथा-अव्य-वस्थितरूपेणापि शास्त्रसंस्मरणपूर्वक भी अपना प्राकृत जीवन व्यतीत करसकें, तो हमारी समझ से तो हमारे लिए यही पर्य्याप्त होगा—

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य-न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

—ईशोपनिषत्

४२५–'स एव' लक्षण अनन्तब्रह्म के स्वरूप–सम्बन्ध में सहज–जिज्ञासा की अभिव्यक्ति, तत्पूरक तद्भिन्न 'मानव' एवं तद्दृष्टिकोण की बुद्धिपथ से अतीतता—

प्रज्ञाशील पाठकों को स्मरण होगाकि, प्रतीकात्मक–अंश, तथा अंशीभावों से असंस्पृष्ट कालातीत अनन्तब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतीकानुगता विप्रतिपत्ति का उत्थापन कर हमने यह जिज्ञासा अभिव्यक्त की थी कि–**'तो क्या उस–'वही'–रूप अनन्तब्रह्म की कोई स्वरूप–परिभाषा नहीं है'**। वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, यदि इस सम्बन्ध में जिज्ञासु का बहुत ही अधिक आग्रह होता है, तो ऋषिशास्त्र प्रतीकव्यामोहनात्मक संपूर्ण दृष्टान्तों को निर्बल प्रमाणित करता हुआ अन्ततोगत्त्वा एकमात्र **'मानव'** को ही उस अनन्तस्वरूपबोध का 'कुछ' मान लेता है। अतएव कहा जासकता है कि, **'जो अनन्तब्रह्म है, वही मानव है, एवं जो मानव है, वही अनन्तब्रह्म है'**। इसी दृष्टिबिन्दु पर प्राकृत, किन्तु बुद्धिमान् मानव सहसा कह उठता है कि–**'बात समझ में नहीं आरही। हमें तो इस तथ्य को बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा समझाओ'**। इसी पर हमें सहजरूप से ही यह निवेदन कर देने की धृष्टता कर देनी पड़ी कि,–**'समझ से तो वह समझ में आसकता है, किन्तु बुद्धि से, किंवा बुद्धिगम्या समझ से वह समझ में नहीं आसकता। यदि बुद्धि में समझ नहीं है, तो फि· वह बुद्धि सर्वथा असमर्था है उसे समझने में, क्योंकि–'समझ बिना बुध बापड़ी'**।

४२६–अनन्तब्रह्म का ही किञ्चित् (कुछ) मानव, एवं इस 'किञ्चित्' की स्वरूपजिज्ञासा, तथा तत्समाधानभूभि उदाहरणविधिरूपा प्रतीकविधि—

ओमित्येत्। जब मानव इस तत्त्वपूर्णा लोकसूक्ति का समन्वय कर लेता है, तो निश्चयेन उसकी समझ में (बुद्धि में) यह आजाता हैं कि, **'वास्तव में उस में, और मानव में कुछ भी विभेद नहीं है'**। सचमुच मानव उसी का 'कुछ' है। 'कुछ' का तात्पर्य्य क्या **'प्रतीक'** है ?। नहीं। इस प्रतीक-व्यामोहन के निराकरण के लिए ही तो हमें 'दिग्देशकालमीमांसा' जैसे प्रतीकात्मक व्यामोहन का अनुगमन करना पड़ा है। बुद्धिमान् मानव चाहता है सबकुछ प्रतीकात्मिका दृष्टान्तविधि से ही समन्वित कर लेना। किसी भी सहज से सहज भी तथ्य को जब भी आप जिस किसी भी मानव के सम्मुख रक्खेंगे, तत्काल उसका प्रथम प्रश्न होगा कैसे ? (मस्लन)। अर्थात् **'उदाहरण दे के समझाइए।'** इस उदाहरणविधि का नाम हीं है–**'प्रतीकविधि'**, एवं स्वयं 'उदाहरण', किंवा दृष्टान्त का नाम ही है–**'प्रतीक'**।

४२७–प्रतीक की बुद्धिगम्यता का आग्रह, एचं तत्पूरक बालोपलालनात्मक–श्रौत उदाहरणों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

प्रतीक भी ऐसा होना चाहिए, जो बुद्धिगम्य हो। अर्थात् जो मानव की बौद्धिक–सीमा में समाविष्ट होसके। अर्थात् बुद्धि जिसे पकड़ सके। अर्थात् प्रतीक होना चाहिए-**दिग्-देश-कालात्मक**, अर्थात् भौतिक, जिसका कोई न कोई भोगकाल निश्चित हो, जो पूर्वादि दिशाओं से समन्वित हो, साथ ही जो सर्वथा देशप्रदेशात्मक हो, अर्थात् धामच्छद हो, स्थानावरोधी (जगँह रोकने वाला)–स्थूल–मोटा–इन्द्रियगम्य–पदार्थ हो। जैसी यह बालबुद्ध्यनुगता जिज्ञासा है, उदाहरण–दृष्टान्त–प्रतीक–जिज्ञासा है, ऋषिशास्त्रने आरम्भ में वैसे

ही उदाहरण इसके सामने रक्खे भी हैं, जैसाकि–इन्द्र–विरोचनाख्यान में विस्तार से प्रतिपादित है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुरुष, जल में प्रतिबिम्बित पुरुष, चक्षुःपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रज्ञानपटल में प्रतिबिम्बित पुरुष, आदि आदि सभी उदाहरण उस आख्यान की भावुकतासंरक्षणपद्धति–लक्षणा दार्शनिक–पद्धति के ही सूचक बन रहे हैं। सभी दृष्टान्त भौतिक हैं, जबकि सृष्टिविज्ञान के अनुसार इन सभी औपनिषद दृष्टान्तों का प्रतीक से सम्बन्ध न होकर तत्त्वतः **'प्रतिरूपता'** से ही सम्बन्ध है, जैसाकि अनुपद में हीं निवेदन किया जाने वाला है। और प्रतिरूपविधि से उपनिषत् के वे सभी दृष्टान्त 'मानवस्वरूप' के अन्तर्गत आते हुए सर्वथा सिद्धान्त ही बने हुए हैं, जिस इस आधिदैविकसर्ग का समन्वय करने में असमर्थ दार्शनिक–प्रज्ञाने सम्भवतः इन औपनिषद प्रतिरूप दृष्टान्तों के आधार पर प्रतीकात्मक–**स्थाणुपुरुष–मृगमरीचिका–शशशृङ्ग–वन्ध्यापुत्र**–आदि आदि–वैसे भौतिक दृष्टान्त ही मध्यस्थ बना लिए हैं अध्यासवाद के व्यामोहन से, जो कदापि उस अमूर्त्त–अनन्त के न तो प्रतिरूप ही हैं, न प्रतीक ही। दार्शनिकों का महान् व्यामोहन यही था कि, वे इन भौतिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्वयं भी उस अनन्त को बुद्धिगम्य बनाने के लिए आतुर हो पड़े थे, एवं दूसरों को भी 'पर' भावानुगता–'दार्शनिकता' के व्यामोहन से बतलाने के लिए आतुर बन गए थे। अतएव 'दर्शन' रूपा परानुगता इसी भावुकताने, इसी बुद्धिवादात्मक व्यामोहनने दार्शनिक के मस्तिष्क में भौतिक–दृष्टान्तरूप व्यामोहन उत्पन्न कर ही तो दिया।

४२८–कालात्मक प्रतीक-दृष्टान्तों के अष्टविध (८) विवर्त्तों का नामसंस्मरण, एवं परम-कालात्मक अनन्तकाल की अन्तिम प्रतीकता का समन्वय—

दार्शनिक मस्तिष्क से उद्भूत दिग्देशकालात्मक–भौतिक–प्रतीकवाद की पर्य्यवसानभूमि था वह चान्द्रसम्वत्सरकाल, जो अपनी 'वर्ष' मर्य्यादा से गणनकालात्मक बनता हुआ सर्वथा भातिसिद्धकाल ही प्रमाणित है। अतएव तत्त्वतः अपने इस केवल भौतिकरूप से तो न इस काल का ही कोई अस्तित्त्व, न दिक् का ही, एवं न देशप्रदेश का ही। यही मानव की बुद्धिगम्या व्याख्या की वह क्रीड़ास्थली है, जिस पर दार्शनिक, तथा तदाधारेणैव आविर्भूत–भूतवैज्ञानिक के सम्पूर्ण कालिक–दैशिक आडम्बर नर्त्तन कर रहे हैं। इसी व्यामोहन की उपशान्ति के लिए इसी चान्द्रसाम्वत्सरिक–**वर्षकालात्मक–मूर्त्तकाल**[1] की प्रतीकता के माध्य से शास्त्र ने इस की अपेक्षया महतोमहीयान् **पार्थिव सम्वत्सरकाल**[2] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् **सौरसम्वत्सरकाल**[3] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान्–महदक्षररूप **पारमेष्ठ्यकाल**[4] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् **पुण्डीरस्वयम्भूकाल**[5] का, तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् **अव्यक्त परोरजामूर्त्ति परमाकाशकाल**[6] का, एवं तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया महतोमहीयान् **अनन्त–अश्वत्थकाल**[7] का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रतीकता का पर्य्यवसान किया तत्प्रतीक के माध्यम से तदपेक्षया अनन्तानन्त प्रमाणित उस महाकालरूप, **कालकालात्मक अनन्तकाल**[8] पर, जहाँ पहुँचते पहुँचते तो मानव की कालिक–दैशिक बुद्धि का व्यामोहन सर्वथा ही धूलिधूसरित होजाता है। और यहाँ आकर शास्त्रने **'कालः स ईयते परमो नु देवः'** रूप से एकबार पुनः बालोपलालन–माध्यम से मानव की प्राकृत–बुद्धि के निःशेषभूत दम्भ को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया इस अनन्तकाल जैसे अनन्तानन्तविवर्त्त को भी उस कालातीत परम अनन्त का एकांशमात्र–यत्किञ्चिदंशमात्र ही बतलाते हुए। यों यह अन्तिम कालरूप परमकाल एकमात्र बुद्धिव्यामोहन को निःशेष बनाने के लिए ही ऋषिदृष्टि में उस

कालातीत अनन्तब्रह्म का प्रतीकात्मक वैसा सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त बन गया, जिस के समतुलन में वहाँ से (परमकाल से) आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल–(गणनकाल) पर्य्यन्त के प्राकृत–कालिक विश्व में और कोई भी दूसरा अमूर्त्त–अव्यक्त–अनन्तभावात्मक सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्तात्मक प्रतीक नहीं था।

४२९–बुद्धिपूर्वक समन्वय का महान् आग्रह, तदुपशमनार्थ ही 'दिग्देशकालमीमांसा' का बौद्धिक–विजृम्भण, एवं वस्तुगत्या दिग्देशकालभावों का निस्सारत्व—

बुद्धिगम्या–दिग्देशकालानुगता–भौतिक–व्याख्याओं को ही परमबुद्धिमानी–समझदारी–मानने–मनवाने वाले प्राकृत लोकचतुर मानव, प्रकृतिविमूढ दार्शनिक मस्तिष्क, तथा भूतविमूढ वैज्ञानिक मस्तिक, इन तीनों वर्गों का (जिन का ही आज सम्पूर्ण विश्व में आधिपत्य है) यही महान् व्यामोहन रहता है कि, मानव की सम्पूर्ण समस्याओं का समन्वय बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिए, दिग्देशकालानुगत–क्रमव्यवस्थापूर्वक ही 'वस्तुनिरूपण' होना चाहिए। यही इन तीनों वर्गों की प्रश्नशैली है। एवं इसी क्रमव्यवस्थानुगता, बुद्धिगम्या दिग्देशकालात्मिका उत्तरशैली से यह सन्तुष्ट होता है। जब कि वस्तुतः तथाविधा प्रश्नशैली, एवं तथाविधैव उत्तरशैली, दोनों हीं महिमामय विवर्त्त के सम्मुख क्षणमात्र भी अपना अस्तित्व सुरक्षित नहीं रख सकती।

४३०–दिग्देशकालनिबन्धना बुद्धि के महतोमहीयान् चमत्कारों से प्रभावित प्राकृत मानव का बौद्धिक–व्यामोहन, एवं तन्निग्रहेणैव कालातीत अनन्तब्रह्म के प्रति तन्निरपेक्षता—

किन्तु मानव मानव जो ठहरा, वैसा प्राकृत मानव जो ठहरा, जिसे 'बुद्धि' जैसा वह अमूल्य ! धन ! प्राप्त है, जिसके माध्यम से, इसी बौद्धिक दिग्देशकाल के माध्यम से, तदनुप्राणिता क्रमव्यवस्थासिद्धा भूत–भौतिकी व्यवस्थाओं के माध्यम से उसने बड़े बड़े राज्यतन्त्र–स्थापित कर डाले (प्राकृत–लोकचतुरमानवों नें), बड़े बड़े तत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसात्मक ग्रन्थ लिख डाले (प्राकृत–लोकव्याख्याता दार्शनिक मानवोंनें), एवं महतोमहीयान् आश्चर्य्यप्रद भौतिक आविष्कार कर डाले (भौतिक–भूतविज्ञानवादी मानवोंनें)। ऐसा सर्वं–शक्ति–सामर्थ्य–भूत–परिग्रह–सत्तापद–सम्पन्न बुद्धिमान् मानव क्या बिना सोचे समझे एक अपठित अन्ध श्रद्धालु की भाँति–**'शास्त्र कहता है'** एतावता ही क्या किसी वैसे तत्त्व की सत्ता स्वीकार कर लेगा, जिसकी न तो कहीं दिग्देशकालमीमामें हीं उपलब्धि हो रही, अतएव न जो समझमें ही आरहा !।

४३१–दिग्देशकालविमूढ प्राकृत बुद्धिमान् मानव के बुद्धिदम्भ पर कालातीता आर्ष–प्रज्ञा का प्रचण्ड प्रहार, तद्द्वारा विमोहनोपशान्ति, एवं तदनुग्रहेणैव–'शाधि मां, त्वां प्रपन्नम्' का प्रणतभाव से अनुगमन—

ऐसे ही बुद्धिगर्विष्ठ प्राकृत मानव पर पहिला, और प्रचण्डतम–घोरघोरतम अनन्तकालात्मक वैसा प्रहार होता है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिसके क्षणिक भ्रूविक्षेपमात्र से उक्त त्रिविध मानव महाभागों का सम्पूर्ण प्राकृत विमोहन उपशान्त होजाता है, और यही ऋषिदृष्टा, एवं अत्र निबन्धे श्रद्धा–आस्था–पूर्वक प्रणतभाव से केवल संस्मृता 'दिग्देशकालमीमांसा' का एकमात्र महान् उदर्क है। इस उदर्कबिन्दु पर प्राकृत मानव अपने

जन्मान्तरीय पुण्य से, सर्वोपरि इष्टदेवानुग्रह से यदि स्थिर होजता है एकबार भी, तो अवश्य ही इस की तथाकथिता बुद्धिव्याख्यानुबन्धिनी प्रश्नोत्तरशैली, एवं समझने-समझाने की आतुरता सर्वथा ही उपशान्त ही होजाती है सदा सदा के लिए। एवं यहाँ आकर यह सहज मानव केवल **'मानव'** रूप से ही अभिव्यक्त हो पड़ता है, और प्रश्नोत्तरविमर्शों के वारुणपाश से अतिमुक्त ऐसे मानव में हीं 'शुद्धबुद्धि' का उदय होता है। यही शुद्धबुद्धि अर्जुनवत् अपने सम्पूर्ण बौद्धिक-व्यामोहनोंसे उपरत होती हुई अब प्रश्न न कर प्रणतभाव से यही कह कर ऋषिप्रज्ञा के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही तो कर देती है कि—

कार्पण्यदोषोपहतः स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि-मां, त्वां प्रपन्नम् ॥
—गीता

४३२-दार्शनिक-भाषाप्रधान उपनिषत्, तथा गीताशास्त्र, एवं सहजभाषा-प्रधान मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, और तद्द्वारा ही उपनिषत्-गीता आदि का सम्भावित- नैष्ठिक--समन्वय—

स्मरण रहे, उपनिषत्, तथा गीता, दोनों की भाषा दार्शनिक है। मन्त्रब्राह्मणात्मिका (ज्ञानविज्ञानात्मिका) सहजभाषा को आधार बनाए बिना उपनिषत्, तथा गीता का सहज समन्वय अन्य प्रयत्न-सहस्रों से भी सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए-उसी 'प्रतीक' भाव को मध्यस्थ बनाइए केवल उक्त गीताभाषा की दृष्टि से। गीता इतिहास की भाषा है, जिस में 'भावुकता' का पदे पदे संरक्षण हुआ है लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा, जबकि ऋषिभाषा (वेदभाषा) में 'भावुकता' का संस्मरण भी निषिद्ध माना गया है। समझनेवाला पात्र है गीता में भावुक, क्षत्रियकुमार अर्जुन। अतएव क्षत्रियोचित दर्प सबकुछ विगलित हो जाने पर भी निःशेष नहीं हुआ अर्जुन का। तभी तो गीतोपदेश के श्रवणानन्तर भी आगे चल कर जयद्रथवध-कर्णवधादि प्रसङ्गों में अनेक बार इस भावुकने धर्म्मव्यतिक्रम कर डाला था, एवं पुनः पुनः भगवान् को ही इस नितान्त भावुक अर्जुन का संरक्षण करते रहना पड़ता था।

४३३-आचारधर्म्मनिष्ठाविरोधिनी सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना हिन्दूमानव की भावुकता—

इसीलिए तो लोकसूत्र है कि-'बुद्धिव्यामुग्ध-व्यक्तित्वमिमूढ-भावुक मानव **पहिले तो कुछ सुनना-समझना-जानना हीं नहीं चाहता। यदि समझ लेता है, जान लेता है, तो उसे कार्य्यरूप में परिणत करना नहीं चाहता अपने इसी व्यक्तित्वविमोहनात्मक दम्भ से, किंवा इस भय से कि यदि मैं करने लग पड़ा, तो संसार के सामने मैं छोटा होजाऊँगा। यदि किसी बलवती प्रेरणा से करने लग भी पड़ा, तो यह कर्त्तव्य चिरस्थायी नहीं बनने पाता।"** ऐसी है सर्वनाशकारिणी दिग्देशकालनिबन्धना, अतएव दिङ्विमूढा-देशविमूढा-कालविमूढा यह भावुकता, जिस ने भारतीय सहज भी आस्तिक हिन्दूमानव को विगत तीन सहस्रवर्षों से तो आत्यन्तिकरूपेणैव पराङ्मुख ही प्रमाणित कर रक्खा है।

४३४–प्रश्न–प्रदर्शनादि भावों से असंस्पृष्ट–नैष्ठिक मानव का आत्मसमर्पण, तदनुबन्धिनी तूष्णींभावानुगता सहज-जिज्ञासा, एवं तद्विपरीत भावुक, किन्तु श्रद्धालु की जिज्ञासा का काल्वालीकृत इतिवृत्त—

आत्मसमर्पण में न तो प्रश्न ही होता, न कोई अन्य प्रदर्शन ही। अपितु यह सब तो यथादेशमूलक 'तूष्णींभाव' से ही सम्बन्ध रखता है। ऋषिभाषानुसार–आर्षपद्धति में कदापि आत्मसमर्ण का ऐसा स्वरूप नहीं है। अपितु तत्र प्रादेशमिता समिधा को प्रतीकरूप से हाथ में लेकर नाम–गोत्र का उच्चारणमात्र कर अन्तेवासी तूष्णींभाव से अभिवादन कर प्रणतमुद्रा से आचार्य्य के सम्मुख ऋजुभाव से खड़ामात्र हो जाता है। न तो कोई प्रश्न, न कोई छटपटाहट, एवं न अश्रुपूर्णाकुलेक्षणता। ऐसी किसी भी भावुकतापूर्णा शिथिलवृत्ति का वास्कविक-जिज्ञासा के क्षेत्र में कोई भी सम्बन्ध नहीं है (देखिए छां० उप०)। इधर अर्जुन महाभाग अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश में आकर इस रूप से जिज्ञासा कर रहे हैं कि–'**मेरी बुद्धि नष्ट होगई है। मैं आपसे पूँछता हूँ। मैं धर्म्मसम्मूढचेता हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे मार्ग बतलाइए ! मैं आपकी शरण में हूँ**''। जैसी भावुकतापूर्णा जिज्ञासा, वैसा ही समाधान, और उसका वैसा ही परिणाम। तभी तो सबकुछ समझ कर भी तो अर्जुन की स्खलनपरम्परा उपशान्त न होसकी सर्वात्मना। इसीलिए तो गीता विधिशास्त्र नहीं है आर्षमानव के लिए। अपितु यह तो लोकसंग्राहक-भावुकतासंरक्षक-कर्म्मकौशलशास्त्र-मात्र ही है। तभी तो कर्त्तव्यविधि के सम्बन्ध में स्वयं भगवान्–'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' रूप से इस महान् उत्तरदायित्व का सम्बन्ध गीता से न मानकर श्रुति–स्मृति-पुराण–शास्त्र से ही मान रहे हैं।

४३५–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त मानव में सहज ब्रह्म-जिज्ञासा का आविर्भाव, एवं तज्जिज्ञासा का धर्म्माचरण पर विश्राम—

तदित्थं–परमकालात्मक अनन्तकाल की प्रतीकता से उपशान्त बने हुए सहज मानव में हीं '**जिज्ञासा**' का उदय होता है, जिसका–'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। और इस सम्प्रश्नात्मिका जिज्ञासा से ही समित्पाणी जिज्ञासु अन्तेवासी मानव अब यहीं से उस '**समझ**' की दीक्षा का अधिकारी बनता है, जिससे बुद्धिव्यामोहनावस्था-पर्य्यन्त तो यह वञ्चित ही प्रमाणित हो रहा था। इस ब्रह्मजिज्ञासा का, और धर्म्माचरण का उपक्रम एक साथ ही हो जाता है आचार्य्यकुल में इस अन्तेवासी का। ध्यान रहे, धर्म्म की जिज्ञासा नहीं होती। **धर्म्म का होता है आचरण, एवं ब्रह्म की होती है जिज्ञासा।**

४३६–जिज्ञासात्मक ब्रह्म, एवं आचरणात्मक धर्म्म, भावुकता के निग्रह से दोनों क्षेत्रों का विपर्य्यय, तथा तन्निबन्धन ब्रह्माचरण-व्यामोहन, और धर्म्मप्रचारव्यामोहन—

ब्रह्म का जिज्ञासा से ही सम्बन्ध है, तो धर्म्म का आचरण से (विधि–कर्त्तव्य से) ही सम्बन्ध है *। दुर्भाग्यवश जब दोनों का क्षेत्र बदल जाता है, तो दोनों हीं लक्ष्य मानव से अन्तर्मुख हो जाते

*–चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः। (पूर्वमीमांसासूत्र)

हैं । मानवबुद्धि जब ब्रह्म के सम्बन्ध में आचरण की घोषणा, एवं धर्म्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की घोषणा करने लग पड़ती है, तो दोनों हीं पराङ्मुख बन जाते हैं मानव से । **ब्रह्म कभी आचार में नहीं आता, तो धर्म्म कभी प्रचार में नहीं आता ब्रह्म अनुशीलनात्मिका जिज्ञासा से ही अनुप्राणित है, तो धर्म्म आचरणात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अनुप्राणित है । जिज्ञासात्मक प्रश्न का ब्रह्म से ही सम्बन्ध है, एवं आचारात्मक प्रश्न का धर्म्म से ही सम्बन्ध है । ब्रह्माचारव्यामोहनानुगत धर्म्मप्रचार-व्यामोहन ने हीं एक ओर जहाँ धर्म्म के आचारपक्ष को शिथिल कर दिया है, तो वहाँ दूसरी ओर इसी से ब्रह्मविचारपक्ष शिथिल होगया है ।** ब्रह्मविचारसारपरमा भगवती शारदा की उपासना से पराङ्मुखा मानव की प्राकृतबुद्धि आज धर्म्म पर तो '**विचार**' का प्रयोग करने लग पड़ी है, एवं ब्रह्म पर आचारात्मक '**साक्षात्कार**' का प्रयोग करने लग पड़ी है । ज्योतिर्द्दर्शनव्यामोहनात्मक कल्पित आचार ही आज के ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्माचाररूप ब्रह्मदर्शन (ईश्वरदर्शन) बन रहा है । ऐसे ब्रह्मसाक्षात्कार-परायण प्राकृत मानव हीं धर्म्म-प्रचारमात्र के लिए आतुर बने रहते हैं । धर्म्मप्रचार के '**व्याज**' ('**छल**') से ये अपनी अनुभूतियाँ, अपने ब्रह्मसाक्षात्कारों से ही भावुक जनता को उन्मुग्ध बनाते रहते हैं, जबकि धर्म्मप्रचार की एकमात्र आधारभूमि मानी गई है–'**धर्म्माचरण**', '**कर्त्तव्याचरण**' ।

४३७–अभिनिवेशनिवारक धर्म्माचरण, तत एव ब्रह्मजिज्ञासा का उदय, एवं सत्यकाम की धर्म्माचरणमूला ब्रह्मजिज्ञासा, और तच्छान्ति—

धर्म्माचरण हीं वह महान् माध्यम है, जिसके द्वारा मानवबुद्धि का व्यक्तित्वविमोहनात्मक अभिनिवेश (दुराग्रह–हठधर्म्मी) हटा करता है । इस अभिनिवेश के हटने से ही मानव में ब्रह्मजिज्ञासा का उदय होता है, जिस जिज्ञासा के उत्तर में इसे उत्तरोत्तर आचारनिष्ठा में ही प्रवृत्त कराते हैं ऋषिमानव । जिज्ञासा का स्वतन्त्ररूप से कोई समाधान नहीं होता । सत्यकाम जाते हैं ब्रह्मजिज्ञासा लेकर महर्षि गोतम के समीप । उत्तर मिलता है गोसेवारूप प्राथमिक उस धर्म्माचरण के रूप में, जो गोपशु सौर वेदतत्त्वात्मक गोप्राण का प्रतिरूप बनता हुआ मानव के प्राकृत दोषों, अभिनिवेशों का परिमार्ज्जक माना गया है । इसी से तो सत्यकाम को कालान्तर में वह शुद्धबुद्धि प्राप्त होजाती है, जिससे स्वतः ही सत्यकाम की ब्रह्मजिज्ञासा उपशान्त हो जाती है, एवं पुनरावर्त्तन पर ऋषि को कहना पड़ता है कि–'**ब्रह्मविद् इव सोम्य ! ते मुखं भाति**' (छां०उप० ४।१४।२।) **स्पष्टतमरूपेण आचार की सीमा में हीं ब्रह्मजिज्ञासा का सफल समाधान सुरक्षित है ।**

४३८–ब्रह्मजिज्ञासात्मक प्रश्नों से असंस्पृष्ट अवतारपुरुषों का धर्म्मात्मक-कर्त्तव्याचार-संस्थापन के लिए ही युग युग में आविर्भाव—

अतएव भारतराष्ट्र के ब्रह्मरूप अवतारपुरुषों तक ने यावज्जीवन धार्म्मिक–कर्त्तव्याचारों का ही स्वयं भी अनुगमन किया है, एवं अपने उपदेशोंसे तत्कालीन समाज का भी उद्बोधन कराया है । ब्रह्मजिज्ञासा के उपशम के लिए भगवान् कभी करुणा करके अवतार नहीं लिया करते । अपितु भगवान् के अवतार का

एकमात्र मुख्य उद्देश्य है धर्म्माचारसंस्थापन *। अतएव अनन्तब्रह्म की जिज्ञासा के समाधान का, तथा अनन्तब्रह्म के महिमामय प्राकृतिक विश्व के सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का, दोनों का मूलबीज धर्म्माचरण में हीं सुरक्षित है–'तस्माद्धर्म्मात् परं नास्ति'। (शतपथ ब्रा० १४।४।२।२६।)।

४३६–ब्रह्मानुगत अभ्युदय–निःश्रेयस्–भावों की सिद्धि का अन्यतम द्वार धर्म्माचरण, एवं तद्द्वारा ही अनन्तब्रह्म, और अनन्त मानव की अभिन्नता का स्वरूप-बोधोदय—

अनन्तब्रह्मानुगत **निःश्रेयस्**, एवं विश्वानुगत **अभ्युदय**, दोनों की सिद्धि धर्म्म पर ही अवलम्बित है–'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः-स धर्म्मः' (कणादसूत्र)। और ऐसे धर्म्मानुशीलनपरायण-धर्म्माचारनिष्ठ-सहज मानव की बुद्धि में हीं **'संविद्'** रूपा वह **'समझ'** स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती है **'हैमवती उमा'** भगवती के अनुग्रह से ÷, जिस समझ के उदित होजाने पर अवश्य ही इसकी समझ में (बुद्धि में) यह बात भी आजती है कि–**'जो वह अनन्तब्रह्म है, वही यह मानव है, एवं जो यह मानव है, वही वह अनन्तब्रह्म है'**। और यों अन्ततोगत्वा यहाँ आकर यच्चयावत् प्रतीकवाद अन्तर्लीन हो जाते हैं, एवं स्वयं मानव ही उस अनन्तब्रह्म का **'किञ्चित्'** (**'कुछ'**) बन जाता है। ऐसी अवस्था में तो अब अनन्तकाल की प्रतीकता का भी कोई अर्थ शेष नहीं रह जाता।

४४०–स्वस्वरूपबोधात्मिका 'संवित्', तदनुग्रहप्राप्तिमूलक धर्म्माचरण, एवं स्वतः आविर्भूता पारिभाषिकी 'समझ'—

"'समझ' की 'समझ' को समझने के लिए सर्वप्रथम 'समझ' का स्वरूप ही समझ लेना अनिवार्य्य माना है समझदारोंनें"। यदि समझदार (बुद्धिमान्) मानव इस लोकसूत्र का समन्वय कर लेता है, तो फिर इसकी–**'समझ में नहीं आता'** यह व्यामुग्धा निषेधभाषा सर्वात्मना समाप्त होजाती है। 'समझ' को लौकिक समझदार कहता है–'बुद्धि'। इस बुद्धिरूप लौकिक समझ की जो **'समझ'** है, उसीका नाम **है–'संवित्'**। समझ की (बुद्धि की) इस 'समझ' (संवित्) को समझने के लिए मानव को 'समझ' का (अर्थात् अपनी बुद्धि का) ही स्वरूप समझ लेना पड़ेगा, जान लेना पड़ेगा। सचमुच यदि मानव अपनी इस समझरूपा बुद्धि का स्वरूप, अनन्तकालचक्रानुगता महिमा के समतुलन में इस अपनी बुद्धि की इयत्ता–परिमाण–जान लेता है, तो इसका बुद्धिव्यामोहन स्वतः ही समाप्त हो जाता है। और तत्क्षण ही समझ में (बुद्धि में) न आने वाली समझ (संवित्) भी इसकी समझ में (बुद्धि में) बिना किसी प्रयास के स्वतः ही आविर्भूत हो पड़ती है।

---

* **यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
—गीता

÷ देखिए ! केनोपनिषत् ४।१।

४४१–स्वस्वरूपबोध की इयत्ता से ही स्वस्वरूपबोध का अनुग्रह, एवं तद्वञ्चित प्राकृत मानव की प्रकृति–पुरुष–स्वरूप-विमूढता—

"स्वस्वरूप का बोध ही इसे उस स्वरूप का बोध करा देता है, जोकि वही स्वरूप इसका वास्तविक स्वरूप है" इस सूत्र का भी वही अर्थ है, जो पूर्व सूत्र का है। मानव का बुद्धिगम्य स्वरूप ही प्रकृति-दृष्ट्या 'स्वस्वरूप' है, और उसी का नाम है 'प्राकृतस्वरूप'। दुर्भाग्य तो इस बुद्धिमान् प्राकृत मानव का यह है कि, यह अपने बुद्धिगम्य इस प्राकृत-स्वरूप को भी तो नहीं जान रहा। प्रकृति से पर अवस्थित अप्राकृत स्वरूप की बात अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम छोड़ देते हैं। केवल बुद्धिगम्य प्राकृत-स्वरूप की ही बात करते हैं। सचमुच महतोमहीयान् भी इस प्राकृत मानवने अपने इस महतोमहीयान् उस प्राकृत-स्वरूप का भी तो चिन्तन नहीं किया है, जिसका चिन्तन, और समन्वय इसकी प्राकृत-बुद्धि से ही सम्भव माना है शास्त्र ने।

४४२–प्रकृति की ६ ठी वैकारिक परम्परम्परा से अनुप्राणित जड़भूतों के प्रति प्रकृतित्व-व्यामोहन, एवं तद्व्यामोहन में ही इसकी भूतबुद्धि की परिसमाप्ति, और उसके भीषण परिणाम—

इसने तो अपने आपको इस सीमापर्य्यन्त छोटा कर लिया है, जिसके सम्बन्ध में कोई भी वक्तव्य शेष नहीं रह जाता। प्रकृति के विकारभूत प्रकृतिविकृतिभाव, तद्विकारभूत वैकारिकभाव, तत्पञ्चीकरणात्मक स्थूलमहाभूतभाव, एवं तत्पञ्चीकरणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट भूत-भौतिक पदार्थ, इस सम्पूर्ण प्राकृत-परम्परा में से मानव की बुद्धि ने आज सर्वान्त के सर्वथा वैकारिक-प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पदार्थों को ही दुर्भाग्यवश 'प्रकृति' मान लिया है, एवं इसकी व्याख्या में हीं अपनी बुद्धि परिसमाप्त कर दी है। और इस सीमापर्य्यन्त समाप्त कर दी है, जिस सीमा से तो कुछ इधर ही पशुओं की भी बुद्धि कुछ अधिक जान लेती है, जानकर इन बुद्धिगम्य-भयों से यथाकाल अपना परित्राण कर लेती है, जबकि मानव अपने पशुसमतुलित इन बुद्धिगम्यभावों से उत्पन्न भयों से भी अपना त्राण नहीं कर पाता। इससे अधिक मानव का, इसकी बुद्धि का, सर्वोपरि इसकी बुद्धिगम्या व्याख्या का, एवं तदनुप्राणित कल्पित व्यक्तित्व-विमोहन का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास और क्या होगा?। इसीलिए हमने कहा है कि, यदि यह अपना प्राकृत स्वरूप भी जान लेता, तो तद्द्वारा भी इसे अपने अकल्पित अप्राकृत स्वरूप का तो बोध हो ही सकता था।

४४३–स्व प्राकृत, और पौरुष--स्वरूप से सर्वथा पराङ्मुख प्राकृत मानव के लिए अविज्ञाता सौर हिरण्यगर्भमूला 'बुद्धि', एवं तत्त्वतः स्थूलभूतों के भी प्राकृत स्वरूप से पराङ्मुख मानव की सर्वविस्मृति—

किन्तु?। इस किन्तु, परन्तु, नच, नुच में हीं यह अपनी बुद्धि को आलोड़ित–विलोड़ित करता रहा। भौतिक रूपों की व्याख्या–समन्वयों में तो यह अहोरात्र प्राणपण से जुटा रहा। किन्तु स्वयं 'वह' क्या है?, इस अपने प्राकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इसने अपनी बुद्धि से क्षणमात्र भी कभी विचार भी नहीं किया *।

* न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। (ऋक्सं० १। ६४ ३७)।

अधिक से अधिक विचार किया भी, तो अपने इस प्राकृत स्वरूप का पर्य्यवसान इसने अपने 'मन' पर ही कर लिया। बुरा तो लगेगा प्राकृत मानव को। किन्तु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, इसने हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण की अंशभूता 'बुद्धि' का÷ भी स्वरूप समन्वित नहीं किया, जिस इस बुद्धि पर ही इसका सम्पूर्ण दर्प प्रतिष्ठित है। जिस मानसिक अनुभूति का आधार **चान्द्र मन** है, जिसमें **प्रज्ञा,** और **प्राण** नामक दो तत्त्व समन्वित हुए हैं, उस मन के इस चान्द्र साम्वत्सरिक स्वरूप का भी यह समन्वय न करसका। और तो और, सर्वान्त के पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के आधारभूत पार्थिव-गायत्र-अग्नि के मर्त्य–चित्याग्निरूप को, तथा अमृत--चिते--निधेयाग्निरूप को भी प्रकृतिसिद्ध चितिक्रम से यह समन्वित न करसका। यों इसने **वैकारिक शरीर, विकारात्मक मन, विकृति-प्रकृतिरूपा बुद्धि,** इन स्थूल पर्वों का भी तो स्वरूपबोध प्राप्त नहीं किया। अपितु केवल अपनी मानसिक अनुभूति का ही नाम, स्पन्दनविशेषात्मिका सूक्ष्मक्रिया-विशेष का ही नाम इसने **'माइण्ड'** रख लिया, इसे ही इसने **'मन'** मान लिया, और यही इसकी बुद्धि की विश्रामभूमि बन गया। ऐसे कल्पित बुद्धिभाव से आविर्भूत कल्पित बुद्धिवाद को आधार बना कर ही इसने अपना अनन्तस्वरूप सर्वात्मना विस्मृत ही तो कर दिया।

४४४ दिग्देशकालभ्रान्त-विस्मृतिपरायण--मानव की कल्पना से आविर्भूता प्रश्नावली, तत्काल्पनिक समाधान, एवं तद्द्वारा इसकी काल्पनिक--तुष्टि—

और इसी विस्मृति को आधार मान कर इसने वैसे वैसे कल्पित प्रश्न खड़े कर लिए कल्पना के माध्यम से ही, जिन्हें यह बुद्धिगम्य प्रश्न मान बैठा, एवं इनके बुद्धिगम्य उत्तर की ही लालसा जागरूक हो पड़ी, जिस इत्थंभूत बुद्धिगम्य प्रश्न का एकमात्र उत्तर इसके बुद्धिगम्य प्रश्न से भी कहीं भयानक बुद्धिगम्य-प्रश्न ही होसकता है। और आश्चर्य्य है कि, उस प्रश्न को ही यह उत्तर मान कर सन्तुष्ट हो जाता है, मानो इसे इस भारान्वित प्रश्न से ही अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान मिल गया हो।

४४५–प्राकृतशैली से अनुप्राणित–'प्रश्न का उत्तर प्रश्न', तद्द्वारा भावुक मानव के विमोहन का प्रयास, एवं उसका सम्भावित उद्बोधन—

इसी शैली को ही 'प्राकृतशैली' कहा गया है, जिसका अर्थ है–**'प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न ही'**। क्योंकि बिना इस शैली के बुद्धि का अजीर्ण उपशान्त ही नहीं होता। प्रकृतिनिबन्धन, अतएव कार्य्य–कारणात्मक, अतएव च बुद्धिगम्य इत्थंभूत प्रश्नों के उत्तर वैसे प्रश्न ही तो होंगे, जो प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न को ही अधिक विस्तृत कर उसके बुद्धिव्यामोहन को और भी अधिक व्यामोहन में डाल देने की क्षमता रखते हैं। और इस बड़े बुद्धिव्यामोहनात्मक बड़े प्रश्न से ही जब छोटे प्रश्न करने वाले की बुद्धि थक जाती है, तो इस थकान को ही मान लेता है वह अपने बुद्धिगम्य प्रश्न का समाधान।

÷ हिरण्यगर्भो भगवान् (सूर्य्यः)'बुद्धि'–रिति स्मृतः।

—महाभारत शा० मो० ३०२ अ०।

४४६–सेर का सवासेर से, बताशे का पन्सेरी से परिमाण–समतुलन, एवं तत्समतुलित उत्तर से ही बुद्धिमान् के बुद्धिदम्भ की उपशान्ति—

सहज–भाषा में यों कह लीजिए कि, वणिक्तन्त्र में सेर को जब सवासेर से तौल दिया जाता है तो तुलवाने वाले की 'सेर' की निष्ठा दृढ़मूल बन जाती है। उदाहरण तो यहाँतक मिलता है लोक में कि–"बताशे को चतुर वणिक् पन्सेरी से तौलकर दिखला देता है। और फिर भी तुलवाने वाले महान् बुद्धिमान् की दृष्टि में बताशा पन्सेरी से भी अधिक भारी ही प्रमाणित हो जाता है।" सचमुच इस उपाय के अतिरिक्त प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान् के प्रश्न का और कोई भी तो उत्तर नहीं हो सकता, जो उत्तर एक महान् प्रश्न के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखता।

४४७–असमाधेय प्रश्नात्मक 'सम्प्रश्न' के द्वारा ही मानव का सम्भावित अनुरञ्जन, एवं सम्प्रश्नशैली का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्योंकि उस बुद्धिमान् की बुद्धि को यह कैसे समझाया जाय कि, श्रीमन् ! वह तत्त्व कार्य्यकारणातीत बनता हुआ आपकी, और हमारी, दोनों की ही समझ से बहिर्भूत है। उसके सम्बन्ध में न कार्य्यकारणात्मक प्रश्न ही खड़े होसकते, न कार्य्यकारणात्मक उत्तर ही होसकते। किन्तु प्रश्नकर्त्ता प्राकृत–बुद्धिमान् मानव उत्तर के बिना क्योंकि सन्तुष्ट ही नहीं होता। अतएव उस के सम्मुख विवश बनकर तटस्थ मानव को एक और बड़ा प्रश्न ही खड़ा कर देना पड़ता है, दुरधिगम्य महान् प्रश्नात्मक जो उत्तर ही वैदिक–परिभाषा में **'सम्प्रश्न'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बन रहा है–**'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद'** (अरे ! तुम हम से सृष्टि के कार्य्यकारण–सम्बन्ध में पूँछ रहे हो। भला हम क्या समाधान कर सकते हैं इन प्रश्नों का। हम हीं नहीं, इस सम्पूर्ण विश्व का जो परमाकाशात्मक कोई अध्यक्ष (अव्यक्तप्रकृतिरूप स्वयम्भू) है, हम तो कहेंगे–वह भी तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान करसकता है, अथवा नहीं, अत्रापि सन्देहः'**। प्रतारणापूर्वक उद्बोधन की ऐसी विशिष्ट शैली, हम समझते हैं, विश्व के और किसी प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकती। अब यह प्रश्नकर्त्ता का अपना विवेक है कि, वह इस सम्प्रश्नात्मक महान् प्रश्न से अधिक बुद्धिव्यामोहन में इसलिए आजाय कि–**'देखा कैसा प्रश्न किया है। मान गए न अब तो उत्तरदाता भी हमारा.........' इत्यादि'**। और यों अपने इस अधिक-व्यामोहन में हीं प्रश्नकर्ता बुद्धिमान् समाप्त हो जाता है। यदि सम्प्रश्न के द्वारा ऋजुतानुग्रह से विवेक जागरूक हो पड़ता है, तो इसी सम्प्रश्न के द्वारा प्रश्नकर्त्ता का सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहन उसी क्षण उपशान्त हो जाता है, एवं वही सम्प्रश्न इसे महान् उद्बोधन प्रदान कर देता है। **'किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्'-'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'-'कस्मै देवाय हविषा विधेम'–'किंस्विद्वनं, क उ स वृक्ष आस०'** इत्यादि श्रुतियाँ इस * **सम्प्रश्नशैली** के माध्यम से

---

* **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्सं० १०।८२।३।

ही प्राकृत बुद्धिमान् मानवों को इनके सम्मुख महान् प्रश्न खड़े कर परोक्षरूपेण उद्बोधन ही प्रदान कर रही है।

४४८–वेदशास्त्र के सम्पूर्ण प्राकृत उत्तरों की रहस्यपूर्ण सम्प्रश्नात्मकता, एवं तदनुगत-'न तं विदाथ य इमा जजान' लक्षण महान् उद्बोधनसूत्र—

निश्चय ही वेदशास्त्र के सम्पूर्ण उत्तर सम्प्रश्नात्मक ही बने हुए हैं, यह हमें इस तथ्य से विदित हो जाता है कि, सम्पूर्ण प्राकृत प्रश्नों का आधिदैविक–प्राकृत–सर्ग–विज्ञान के माध्यम से सर्वात्मना समाधान करने वाला भी वही वेदशास्त्र उस अप्राकृत–अनन्तब्रह्मात्मक–कालातीत–कार्य्यकारणातीत–स्वतः प्रमाणित, स्वतः संसिद्ध उत्तर के सम्बन्ध में अपनी इन विज्ञानात्मिका प्राकृत-व्याख्याओं का विमोहन उपशान्त ही कर देता है, जिस शान्तिसूत्र से तो सचमुच ही मानव का बुध्दिदम्भ एकान्ततः ही विगलित हो जाता है। और उस महान् सूत्र का अविकलरूप है यह कि—

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

—ऋक्सं० १०।८२।७।

४४९–सम्प्रश्नात्मक उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तत्समतुलित औपनिषद-मन्त्र का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

यह उसी ऋग्वेद का महान् सूत्र है, जो भारतीय ज्ञानविज्ञान का, तन्मूलक सम्पूर्ण सृष्टिरहस्यों का महान् कोश है, जिसने सम्पूर्ण प्राकृतिक रहस्यों के उक्थों (मूलकारणों) का विस्तार से विश्लेषण किया है। वही ऋग्वेद स्वयं ही आज उन्हीं उक्थों, तथा उक्थशासों को उस प्रकृत्यतीत अनन्त के समतुलन में उद्बोधन प्रदान कर रहा है। ऋषि कहते हैं स्वयं अपने को ही परोक्षरूप से युष्मच्छब्दरूपेण लक्ष्य बना कर कि–**'तुम लोग सर्वथा यह नहीं जानते कि, जिसने यह सबकुछ उत्पन्न किया है'–'न तं विदाथ–य इमा जजान'। 'तुम्हारे अन्तर्जगत्, में–बौद्धिक जगत् में जो ज्ञानात्मक विजृम्भण बैठा हुआ है, वह कुछ और ही है। अर्थात् जैसा तुमने अपनी इन बुद्धिगम्या व्याख्याओं से उसे समझ रक्खा है, तुम्हारे समझे हुए से वह कुछ पृथक् ही है। अर्थात् वह है कुछ और, एवं समझ रक्खा है तुमने कुछ और ही'– 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव'**। अब ऋषि परोक्षरूपेण ऐसे कारणतावादियों की (अर्थात् स्वयं अपने आप की ही) आलोचना करते हुए आगे चल कर कहते हैं कि,–'जिसप्रकार नीहारिका से, घनीभूत 'कोहरे' से चारों ओर से आच्छन्न–(ढँका हुआ) एक व्यक्ति सब को स्पष्टतम-सीधा–मार्ग बतलाने की भ्रान्ति करता रहता है, ठीक उसीप्रकार प्राकृत–व्याख्यारूप–कार्य्यकारणविश्लेषात्मक महतोमहीयान् नीहार से (कोहरे से) चारों ओर से आवृत-(ढँके हुए), साथ ही अत्यन्त स्पष्टरूप से, निर्णायकरूप से–'यह ऐसा ही है, इसी प्रकार अमुक कारण से अमुक कार्य्य अमुक प्रकार से यों ही बना है, बनता है,

बनता रहेगा (धाता यथापूर्वमकल्पयत्), इसप्रकार की व्यक्ता वाणी से जल्पन * करते हुए, किंवा बार बार अपने कार्य्यकारणात्मक सृष्टिविज्ञानों का बखानरूप जल्पन करते हुए ÷ ऐसे उक्थशास विचर रहे हैं। मूलकारण का ही नाम 'उक्थ' है, जिसके आधार पर ही खण्डात्मिका **उक्थविद्याएँ**, एवं इन सम्पूर्ण-विद्याओं की मूलभूता '**महदुक्थविद्या**' प्रतिष्ठित है वेदशास्त्र में। ऐसी विद्याओं की विस्तार से व्याख्या करने वाले ही 'उक्थशास:' (**कार्य्यकारणविश्लेषका:**) । कहलाए हैं। और हाँ, कैसे हैं ये जल्प्या उक्थशास ?। 'असुतृप:'। अपनी इन व्याख्यों से ये स्वयं अपने आपको, अपने प्राणों को सर्वात्मना तृप्त मान लेते हैं। सन्तुष्ट हो जाते हैं अपनी इन व्याख्याओं से, एवं दूसरों को भी सन्तुष्ट मान लेने की भ्रान्ति करते रहते हैं-'**नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति**'। हम समझते हैं—प्राकृत-व्याख्यात्मक बुद्धिव्यामोहन का स्वयं अपने हीं मुख से इसप्रकार निराकरण कर देना, अपनी उक्थविद्या के सम्पूर्ण प्राकृत विवर्त्तों को यों ऋजुभाषा से उस अनन्त में समर्पित कर देना प्राकृत मानव का तो काम नहीं हो सकता। जो ऐसा कर सकता है, सचमुच वही '**अप्राकृत ऋषिमानव**' है। और अवश्य ही ऐसा ऋषिमानव ही उस अनन्त से अभिन्न बनता हुआ उसका 'कुछ' माना जा सकता है। इसी तथ्य को उपनिषत्ने अपनी दार्शनिकी आक्रोशपूर्ण व्यक्ता भाषा में यों अभिव्यक्त किया है कि—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठोपनिषत्

४५०-दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक महान् सम्प्रश्न के द्वारा स्वविमोहनोपशान्ति का प्रयास, परिणामतः अधिक व्यामोहन का आविर्भाव, एवं तदनुगत निःसीम व्यामोहन-भार से ही सम्भाविता विमोहन-निवृत्ति—

दिग्देशकालमीमांसात्मक प्रस्तुत विस्तृत सन्दर्भ से हमने स्वयं अपने प्राकृत-विमोहन की उपशान्ति का ही प्रयासाभास किया है। इस महान् सम्प्रश्न से हमने अपने प्राकृत-बुद्धिव्यामोहन को और अधिक व्यामोहन से ही समन्वित किया है। क्योंकि अपने प्राकृत भार की अपेक्षा इस कालभार से दबे रहना हीं हमारे उद्बोधन का किसी न किसी जन्म में तो कारण बन ही जायगा, निश्चयेन बन ही जायगा सम्प्रश्नात्मक अनन्तकालात्मक महाकाल की × माता कहाकाली के सहज अनुग्रह से। अभीप्सित नहीं है हमें कालातीत

---

* जप-जल्प-व्यक्तायां वाचि।

÷ 'वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (न्यायसूत्र १।१।)

×-त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि-भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥

स्वरूप । अपितु हमारे लिए तो कालातीत तत्त्व वह महाकाली जगन्माता जगदम्बा ही है, जिसके बिना न तो महाकाल का महाकालत्त्व ही सुरक्षित रहसकता, न कालातीत अनन्तब्रह्म महिमारूप से अपने आपको 'सर्व-व्यापक' उपाधि से ही समलङ्कृत कर सकता । अतएव हम तो इस 'प्राकृतस्वरूप' को ही अपना (मानव का) स्वरूप मानेंगे । एवं इसी को आधार बना कर पुनः उसी पूर्वसूत्र को दोहरा देंगे कि-**'स्वस्वरूप का-(प्राकृतस्वरूप का) बोध ही इसे (प्राकृत मानव को) उस स्वरूप का (मायातीत अनन्त ब्रह्म का) बोध करा देता है, जो कि वह स्वरूप (अनन्तब्रह्मरूप) ही इसका (प्राकृत मानव का) वास्तविक (प्रकृतिसमन्वित अनन्तब्रह्मात्मक) स्वरूप है"** । स्वयं अवतारपुरुषोंनें भी इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम 'माया' दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (सुकृतिनः ÷ इति यावत्)

—गीता ७।१४।

४५१-प्राकृत बुद्धि के द्वारा परिगृहीत दिक्-देश-काल-भावों की वास्तविक-अनन्तता से बुद्धि का पार्थक्य—

बुद्धिगम्या व्याख्या के द्वारा मानव उसे समझना चाहता था । उसके समझने के लिए मानव ने जितने भी प्रश्न किए थे, वे सब अवश्य ही बुद्धिगम्य प्रश्न थे । अतएव मानव के इन दिग्देशकालानुबन्धी-क्रमव्यवस्थासिद्ध, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बुद्धिगम्य प्रश्नों का शास्त्र ने समादर किया, एवं समादरभाव की रक्षा के लिए ही इसके सम्मुख बुद्धिगम्या व्याख्या से ही अनुप्राणित दिक्-देश-काल-भावों का स्वरूप उपस्थित किया गया, जिस इस स्वरूप के माध्यम से अवश्य ही इसकी बुद्धि ने यह स्वीकार कर लिया कि, काल का जैसा गणनात्मक सीमित स्वरूप बुद्धिने समझ रक्खा था, वस्तुतः इसके समझे-समझाए हुए दिक्-देश-काल-की अपेक्षा काल-दिग्-देश कहीं अनन्त हैं । और वह अनन्त ऐसा अनन्त है, जो बुद्धिगम्य बनता हुआ भी बुद्धिग्राह्य नहीं है ।

निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।।
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ।।२।।
महामायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ।।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ।।३।।

—तन्त्रशास्त्रे

÷—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। (गीता)

४५२–बुद्धि के द्वारा अग्राह्या, किन्तु बुद्धिगम्या अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के सम्बन्ध में बौद्धिक-प्रयोगों की आत्यन्तिक असमर्थता, एवं प्राकृत दिग्देशकालत्रयी के माध्यम से अनन्ता कालदिग्देशत्रयी के साथ बुद्धि की अभिन्नता—

बुद्धि तटस्थरूप से समझ लेती है उस अनन्तकाल को। किन्तु जिसप्रकार बुद्धि अपने समझे हुए साम्वत्सरिक दिग्–देश–काल का ग्रहण कर इस पर अपने आचारात्मक प्रयोग कर डालती है, वैसे समझे हुए भी उस अनन्तकाल–दिग्–देश–पर बुद्धि अपना आचारात्मक प्रयोग नहीं करसकती। साथ ही बुद्धि यह भी स्वीकार कर लेती है कि, जिन सीमित दिग्–देश–कालों के माध्यम से इस के भौतिक–व्यक्त–मूर्त–प्रयोगात्मक आचार क्रमव्यवस्थापूर्वक व्यवस्थित हैं, क्रमव्यवस्थात्मक, प्रयोगाचारात्मक यह दिग्देशकाल वस्तुतः उस अनन्तकाल-दिग्देश के समतुलन में सर्वथा ही यत्किञ्चिदंश ही है, एवं वही इस का आधार है, किंवा वही अपने यत्किञ्चिदंश से यह बन रहा है। और अशीरूप वही अश इस का सर्वस्व स्वरूप है। अतएव वह काल,और यह काल अभिन्न है। वही काल यह काल है, किंवा यही काल वह काल है। किंवा 'वही,' और 'यही' में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात् बुद्धिगम्य, बुद्धिव्याख्या–सापेक्ष, बौद्धिक आचार–प्रयोगात्मक इस सादिसान्त दिग्देशकाल में, तथा बुद्धिगम्य, बुद्धिव्याख्या-सापेक्ष, किन्तु बौद्धिक प्रयोगाचारों से एकान्तः असंस्पृष्ट उस अनाद्यनन्त कालदिग्देश में अन्ततोगत्वा कोई भी मौलिक भेद नहीं है। और सच-मुच यों अपने इस बौद्धिक–बुद्धिगम्य–प्राकृत–कालात्मक–स्वरूप से ही सादिसान्त कालात्मक भी प्राकृत मानव इस थोड़े से अन्तर से, सामान्य से विवेक से ही कैसा अनन्त बन जाता है, कैसा महिमामय बन जाता है, यह जान–कर इस की सादिसान्ता भी बुद्धि क्या इस अपने हीं आनन्त्य से प्रभावित नहीं हो जाती ?। हम समझते हैं–हो जाती है, और अवश्य ही हो जाती है। एवं अवश्य ही इस की यह बुद्धि अपने इस प्राकृत कालानन्त्य के संस्मरणमात्र से अपना सम्पूर्ण बौद्धिक व्यामोहन छोड़ कर अपने हीं उस महिमामय प्राकृत कालानन्त्य के लिए–'कालाय तस्मै नमः' इस प्रणतभाव का समर्पण कर देती है।

४५३–ऋजुभावापन्न समर्पण का मूलबीज, तदभिन्न स्वस्वरूपदर्शन, तद्द्वारा कालानन्त्य की अनुग्रहप्राप्ति, एवं तदानन्त्य से समन्विता भूतप्रपञ्चाधारभूता अनन्ता बुद्धि—

कैसे अभिव्यक्त हुआ–मानव में यह ऋजुभावापन्न समर्पण ?। उत्तर है एकमात्र–'स्वस्वरूपदर्शन'। मानव की बुद्धि जबतक 'पर' दर्शन को ही अपना अवलम्ब बनाए रहती है, तबतक इसे स्वयं अपने कालानन्त्यात्मक प्राकृतानन्त्य का भी बोध नहीं होपाता। और इस परदर्शन में मानवबुद्धि स्वदृष्ट विषयों की अपेक्षा अपने आपको बहुत छोटा समझने लग पड़ती है, जबकि वस्तुस्थिति ठीक इस से विपरीत है। प्राकृत–अचेतन–जड़–पदार्थ मानव की प्राकृत–चेतन–बुद्धि की अपेक्षा कहीं छोटे हैं। मानव की बुद्धि में भूत प्रति–ष्ठित हैं। कदापि भूतों में मानव की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव बौद्धिक भूत (बुद्धि की सीमा में प्रविष्ट भूत) ही मानव बुद्धि की तृप्ति के कारण बनते हैं।

४५४–बौद्धिक--ज्ञानानुगत अस्तित्त्व के 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' मूलक तथ्य का स्वरूप–दिग्दर्शन—

जबतक भूत, एवं भूतानुबन्धी भौतिक दिग्देशकाल बुध्दि में समाविष्ट नहीं होजाते, बुध्दि के गर्भ में नहीं आजाते, तबकत कदापि उन भूतों का कुछ भी महत्त्व नहीं है। यह साधारणसी बात ही प्रमाणित कर रही है कि, बुध्दि का क्षेत्र विशाल है बाह्य भूतों की अपेक्षा। क्या बुध्दि के बिना इन भूतों का कोई अस्तित्त्व है ?। कदापि नहीं। **'ज्ञायते, अतः अस्ति'**। **'हम जानते है, इसीलिए ये भूत हैं'**। ज्ञानसीमा से पृथक् होते ही नामरूपकर्म्मात्मक भूतों का अस्तित्त्व विलुप्त हो जाता है। किन्तु पराश्रयता से मानवबुध्दि इस भ्रम में पड़ रही है कि, भूतों से ही, भूतात्मक दिग्देशकाल से ही उसे ज्ञान होता है। अर्थात् भूत ही उस की बुध्दि को ज्ञानप्रदान करते हैं। तो फिर सुप्तावस्था में ये भूत बुध्दि को ज्ञान क्यों नहीं प्रदान करदेते ?। क्योंकि बुध्दि तो मानव में सुप्तावस्था में भी रहती ही है। किन्तु देखते हैं, सुप्तावस्था में सम्पूर्ण बाह्य भूत अपना अस्तित्त्व ही विलुप्त किए रहते हैं। बुध्दि के व्यक्त होते ही, बुध्दि की सीमा में आते ही बौध्दिक अनुग्रह से भूतों का अस्तित्त्व अभिव्यक्त होपड़ता है। यही अवस्था अन्यान्य ऐन्द्रियक विषयों की है। भूतासक्त मानव समझते हैं–बाह्य विषयों में आनन्द है, सुख है, जिनके साथ सम्पर्क स्थापित करके ही इन्द्रियाँ सुखी बनतीं हैं। किन्तु यहाँ भी बात ठीक इस से उल्टी ही है। इन्द्रियानन्दकी सीमा में प्रविष्ट होकर ही विषय सुखरूप बनते हैं। यदि इन्द्रिय की सीमा में विषय प्रविष्ट नहीं होते, तो उनका कोई मूल्य नहीं है। इन्द्रियसीमा में प्रविष्ट विषयों में इन्द्रियानन्द मात्रारूप से प्रविष्ट होजाता है। एवं इस इन्द्रियसुख से समन्वित होकर ही विषय सुखात्मक बनते हैं।

४५५-भौतिक–विषयसुखों का स्रष्टा भूतात्मा, एवं तदनुग्रह से ही भौतिक विषयों की सुखरूपता—

हम विषयसुख के जनक हैं, कदापि विषय हमारे सुखके जनक नहीं है। जिन जिन भूत–भौतिक–विषयसुखों का हम भोग करते हैं, वे सम्पूर्ण भोग, वे सम्पूर्ण विषय, वे सम्पूर्ण सुखमात्राएँ पहिले से ही हमारी इन्द्रियों में विद्यमान हैं। हम अपने हीं सुखका भोग करते हैं। कदापि विषय हमारे सुखभोग के कारण नहीं है। अतएव जबतक हमारी इन्द्रियसुखमात्रा प्रकृतिस्थ बनी रहती है, तभीतक इन की सीमा में प्रविष्ट विषय सुखमात्रा की प्राप्ति के अधिकारी बने रहते हैं।

४५६–भूतात्मानुगता सुखराशि की अव्यक्त–महान्--बुद्धि--मन--इन्द्रिय--आदि अर्वाचीन भावों में ऋणादानपरम्परा का स्वरूप--दिग्दर्शन—

जब हमारा इन्द्रियमात्रासुख अन्तर्म्मुख होजाता है, तो फिर कदापि इन्द्रियसीमा में आए हुए भी विषय अपनी सुखमात्रा सुरक्षित नहीं रख सकते। यही कारण है कि, एक व्यक्ति जहाँ लालमरीचिका (मिर्च) खाते ही आँखों में आँसू भर लाता है, तो वहाँ दूसरा सीत्कार भी नहीं करता। मानना पड़ेगा कि, तिक्तता मिर्च का स्वरूप नहीं है। अपितु वह तो इन्द्रियमात्रा है। जब इन्द्रियप्राण अन्तर्म्मुख हो जाते हैं, तो वे ही विषय सुखरूपता से वञ्चित हो जाते हैं। विश्वास कीजिए ! इन्द्रियाँ जिन वैषयिक रसों का उपभोग करतीं हैं, वे

सम्पूर्ण रस इन्द्रियों की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। जिस इन्द्रिय में जो रसमात्रा जिस तारतम्यानुपात से रहती है, उसी अनुपात से विषयों को ये रसमात्राएँ ऋणरूप से मिलतीं हैं। विषय ऋणी हैं इन्द्रियों के। किन्तु आश्चर्य्य है कि, परदर्शनमूला भावुकता से इन्द्रियोंनें विषयों का ऋणी मान लिया है। भावुकता के आवेश से आविष्ट एक उदारव्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति ऋण में प्रदान कर देता है। इस ऋणदान से का न्तर में वह स्वयं दरिद्री बन जाता है। और आवश्यकता पड़ने पर यह उसी ऋणग्रहीता के समीप जाता है। एवं वहाँसे जो कुछ इसे मिल जाता है, उसी से यह सन्तुष्टि का अनुभव करता है, एवं इस अपने ही ऋण के परावर्त्तन से यह अपने आप को इस भ्रान्ति का अनुगामी मान बैठता है कि, मानो इसे वह अधमर्ण (कर्जदार) सुख पहुँचा रहा है,लाभ पहुँचा रहा है। वैषयिक सुखों की भी ठीक यही अवस्था है। इन्द्रियसुख का ऋण लेकर तो विषय सम्पन्न बने हैं। और इनसे पुनरावर्त्तन कर यह इन्द्रियवर्ग ऐसा मान बैठता है कि, इन विषयों से ही मुझे सुख मिल रहा है। एक व्यक्ति के मुखमें नींबू के नामस्मरण से भी पानी आजाता है, तो दूसरा बड़ी सरलता से इस का निगरण तक कर जाता है। विषय अपने स्वरूप से समान, किन्तु ऐन्द्रियक अनुभूतियाँ प्रत्येक की पृथक् पृथक्। ऐसा क्यों ?। इसलिए कि इन्द्रियानुभूतियाँ स्वयं इन्द्रियों की अपनी सम्पत्ति है। इन का जैसा स्वरूप होता है, तदनुपात से ही विषयों पर इन्द्रियों का अनुग्रह होता है। और यों सर्वात्मना बुध्दिगम्या दृष्टि से ही प्रमाणित है कि, इन्द्रियसुख ही विषयसुख का कारण है, कदापि विषय इन्द्रियसुख का कारण नहीं है।

४५७–सन्तानधाराक्रमसिद्धा सुखमात्राएँ, एवं अन्तोपक्रम से अनन्तान्वेषण के लिए समातुर दार्शनिक का महान् बौद्धिक–व्यामोहन—

अर्थात् इन्द्रियाध्यक्ष मन का सुख ही इन्द्रियसुख का कारण है, कदापि इन्द्रियाँ मानसिक सुख का कारण नहीं हैं। मानसिक सुखमात्रा का ऋण लेकर ही इन्द्रियाँ सुखात्मिका बन रहीं हैं। मन कदापि इन्द्रियों में नहीं है, अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनोगर्भ में समाविष्ट हैं। अर्थात्-मनकी अध्यक्षभूता बुध्दि का सुख ही मानसिक सुखका कारण है। कदापि मानसिक सुख बौद्धिक सुखका कारण नहीं है। बौद्धिक–सुखमात्रा का ऋण लेकर ही मन सुखात्मक बन रहा है। बुद्धि कदापि मन में नहीं है। अपितु मन हीं सर्वात्मना बुद्धि के गर्भ में समाविष्ट है। और ऐसी महिमाशालिनी बुद्धिको तृप्त करने के लिए भ्रान्त मानव न केवल मानसिक सुख को ही, नापि केवल इन्द्रियसुख को ही, अपितु भूतों के प्रति अनुधावन करता रहता है, जो इसकी महिमा के समतुलन में अपना कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहे। और उन भूतों की व्याख्या को ही यह कहने लग पड़ता है बुद्धिगम्या–व्याख्या। एवं सर्वोपरि इन भूतव्याख्याओंसे ही इसे यह भ्रान्ति भी हो पड़ती है कि, 'मैं अब अवश्य बुद्धिमान् हूँ', अर्थात् 'बुद्धि' नामक कोई तत्त्व अवश्य मुझ में है। मानो इन भूतोंनें हीं बुध्दिका अस्तित्त्व स्थापित किया हो। **अन्त से अनन्त को ढूँढने के ऐसे ही तो दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं दार्शनिक–बुद्धि को।**

४५८–यच्चयावत् प्राकृत–खण्डात्मविवर्त्तों के समतुलन में अनन्त–भावापन्न महान् मानव—

'अर्थात्' की सीमा अभी समाप्त नहीं हुई है। बुद्धि का अध्यक्ष है महान्। यह पारमेष्ठ्य महान् ही बौद्धिक सुख का कारण है। कदापि बुद्धि महत्सुख का कारण नहीं है। महद्ब्रह्म की सुखमात्रा का ऋण

लेकर ही बुद्धि सुखात्मिका बन रही है। महान् कदापि बुद्धि में नहीं है। अपितु बुद्धि सर्वात्मना महद्-गर्भ में समाविष्ट है। और आगे चलिए। महान् का अध्यत्त है अव्यक्तभाव, जिस के **पुण्डीराव्यक्त, परोरजा-अव्यक्त, अश्वत्थाव्यक्त,** एवं सर्वान्त का **अनन्त कालात्मक, अव्यक्त,** ये क्रमिक सोपानभाव हैं, जिन इन सब की समष्टि को हम यहाँ-'अव्यक्त' नाम से समन्वित कर लेते हैं। (कर लिया है महर्षि कठने)। वह अव्यक्त सुख ही महत्सुख का कारण है। कदापि महत्सुख अव्यक्तसुख का कारण नहीं है। अव्यक्त-कालब्रह्म की सुखमात्रा लेकर ही महान् सुखात्मक बन रहा है। अव्यक्त कदापि महान् में नहीं है। अपितु स्वयं महान् अव्यक्त के गर्भ में समाविष्ट है। और यहाँ आकर बुद्धिगम्या क्रमव्यवस्था उपशान्त है। भौतिक विषयरूप **अर्थ,** तदनन्तर **इन्द्रियाँ,** तदनन्तर **मन,** तदनन्तर **बुद्धि,** तदनन्तर **महान्,** तदनन्तर **अव्यक्त,** इस बुद्धिगम्या क्रमधारा के सम-तुलन में सर्वान्त के अर्थरूप भौतिक विवर्त्त का इस इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-महान्-अव्यक्त-रूप प्राकृत मानव के समतुलन में क्या महत्त्व शेष रह जाता है ?, प्रश्न का अब तो प्राकृत मानव को मर्म्म विदित हो ही जाना चाहिए, और हो ही गया होगा। क्योंकि अन्ततोगत्वा मानव **'मानव'** है। और निश्चयेन अनन्त है यह 'मानव' इस सम्पूर्ण भौतिक विश्व की तुलना में।

४५६ महाकाल, कालाश्वत्थ, कालाव्यक्त, कालमहान्, कालबुद्धि, कालमन, कालेन्द्रियवर्ग, कालशरीर, आदि आदि यच्चयावत् कालविवर्त्तों के समतुलन में प्राकृत-मानव की कालात्मिका अनन्तता का समन्वय—

अनन्त-अव्यक्त-अमूर्त्त-महाकालात्मक-प्रथम 'अव्यक्त' पर्व के गर्भ में [२] **अश्वत्थाव्यक्तब्रह्म,** तद्गर्भ में [३] **परोरजामूर्त्ति परमकालाव्यक्तब्रह्म,** तद्गर्भ में [४] **पुण्डीरस्वयम्भू-अव्यक्त-ब्रह्म,** और यहाँ तक अनन्त-अमूर्त्त-'अव्यक्त' का ही साम्राज्य, अतएव इन चारों अव्यक्त-ब्रह्मभावों का 'अव्यक्त' नाम से ही संग्रह। इस अव्यक्त के गर्भ में पारमेष्ठ्य [२] **महान्,** इस महान् के गर्भ में सौरी [३] बुद्धि, इस बुद्धि के गर्भ में [४] **चान्द्र मन,** तद्गर्भ में चान्द्रप्राणविभूतिरूप [५] **इन्द्रियाँ,** तद्गर्भ में चान्द्र-पार्थिव-भूतात्मक बाह्य **अर्थ** (विषय)। बाह्य अर्थों की समष्टि का नाम हीं [६] **'शरीर',** और यही प्राकृत मानव का महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप। जैसा महिमामय स्वरूप उस अनन्ताव्यक्तकाल का, वैसा ही स्वरूप इस प्राकृत मानव का। **'वही' 'यह'** है। जो **'वह'** अनन्त कालाव्यक्त ब्रह्म है, वही **'यह'** प्राकृत मानव है। और अवश्य ही बुद्धिगम्या कालदिग्देशात्मिका (दिग्देशकालात्मिका नहीं) व्याख्या से मानव की यह प्राकृत-अनन्तता समन्वित हो रही है, समझ में आ रही है प्राकृत मानव के। यदि अब भी समझ में नहीं आ रही, तो अब कहना पड़ेगा कि, फिर न तो मानव **'मानव'** ही है, एवं न इस की बुद्धि 'बुद्धि' ही है।

४६०-चक्षुरिन्द्रियानुगत-प्रत्यक्षभूतमात्र के प्रति व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव की बुद्धि के प्रति प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित, एवं तन्माध्यम से तत्प्रति-'विद्धि नष्टानचेतसः' का संस्मरण—

यदि चक्षुरिन्द्रिय के ठीक सामने रक्खे हुए स्थूल-भूतपिण्ड को ही मानव अपनी बुद्धि के प्रयोगात्मक आचार का क्षेत्र मानता है, एकमात्र इस प्रत्यक्षभाव पर ही मानव ने अपनी बुद्धिका, किंवा मानवस्वरूप

का अवसान मान रक्खा है, तो फिर हमें कुछ भी कहना सुनना नहीं है ऐसे तात्कालिक-प्रत्यक्षवादी-भूत-मात्रवादी बुद्धिमान् ? मानव के सम्बन्ध में कुछ भी। एवं शास्त्रने कुछ भी नहीं कहा है ऐसे मानव के लिए। शास्त्र बना ही नहीं है ऐसे यथाजात मानवों के लिए, जो अपने प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक जगत् में हीं सर्वात्मना अपने भौतिक स्वरूप को व्यक्त करते फिरते हैं सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक, जैसे कि अन्य जातियों के प्राणियों के लिए कोई भी बौद्धिक मापदण्ड आजतक बना ही नहीं है, जो अन्य प्राणी स्वयं अपनी हीं प्राकृत बुद्धि से केवल प्राकृत-दिग्देशकालानुबन्धी प्रत्यक्षदृष्ट-श्रुत-उपवर्णित-भूतों की उपासना करते हुए ही स्वच्छन्दरूप से आहारविहारपरायण बनते हुए सुखपूर्वक ? जीवन व्यतीत करते रहते हैं-'**सर्वज्ञान-विमूढाँस्तान्- विद्धि नष्टानचेतसः**' । '**अज्ञानं तस्य शरणम्**' । ऐसे ही यथाजात मानवों का पारिभाषिक नाम हैं--'**किंपुरुषमानव**,' जिन का सम्वत्सरप्रजापति अपने साम्वत्सरिक चयनयज्ञ की क्षतिपूर्त्ति के लिए ही उपयोग करते रहते हैं । प्रजापति के विस्रस्त-क्षत-भूत भाग की पूर्त्ति ही इन यथाजात '**भूतमानवों**' (जड़मानवों) का एकमात्र महान् उपयोग माना है भारतीय 'यज्ञशास्त्र' ने, **इत्यालप्यालमेव** ।

४६१-प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक-धर्म्माचरण के महान् उदर्क का संस्मरण, एवं तद्-द्वारा मानव के अभिनिवेश की उपशान्ति—

किन्तु जिस की दृष्टि में 'प्रत्यक्षभूत' ही भूत की परिसमाप्ति नहीं है, इस से भी आगे कुछ और है, एवं वह '**और**' ही जिस की बुद्धि का क्षेत्र बना रहता है, सूक्ष्म प्रकृतिपरीक्षक परोक्षविमर्शक उस बुद्धिमान् के लिए तो पूर्वोक्त प्राकृत-अनन्त स्वरूप सहजरूपेणैव, शास्त्रस्वाध्यायनिष्ठा कि माध्यम से अवश्यमेव विज्ञात बन जाता है । और जब प्रत्यक्षविमोहनात्मक बौद्धिक व्यामोहन से थोड़ा ऊपर उठ कर मानव यों प्रकृति के रहस्यविश्लेषण में प्रवृत्त होता है, तो स्वयं इस की यह ऋजुबुद्धि ही इस के अनन्तमहिमाशाली प्राकृत अनन्त स्वरूप को, अव्यक्तकालस्वरूप को इस के लिए अभिव्यक्त कर देती है * । "**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेन-अव्यक्तकालमाध्यमेन-आत्मनि-प्राकृतस्वरूपे-विन्दति' (गीता)**" । **बुद्धियोगसंसिद्धः-इति यावत्** । प्रकृतिसिद्ध-कर्त्तव्यात्मक धर्म्माचरण का यही तो वह महान् उदर्क है, जिस धर्म्मा-चरण से ही मानव की बुद्धि का अभिनिवेशात्मक प्राकृत व्यामोहन उपशान्त हुआ करता है ।

४६२-अनन्तब्रह्म, एवं अनन्त प्राकृत--विश्व के उभयात्मक आनन्त्य से समन्वित मानव का महान् पुरुषार्थ, तल्लक्ष्यपूर्त्ति-जिज्ञासा, तथा तत्समाधानानुगता दिग्-देशकालस्वरूपमीमांसा—

उक्त सम्पूर्ण स्थिति से अब हमें बुद्धिपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव के सम्मुख **अनन्तब्रह्म, अनन्तप्राकृतविश्व**, ये दो विवर्त्त समुपस्थित हैं, जिन इन दोनों को इसे लक्ष्य बना लेना है, और यही मानव का सम्पूर्ण पुरुषार्थ माना गया है । कैसे ये दोनों लक्ष्य बनें ?, इस महान् प्रश्न के समाधान

***-उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ।**

—ऋक्सं० १०।७१।४।

के लिए ही 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' अभिव्यक्त हुई है बुद्धिनिष्ठ सहजमानवों के सम्मुख । इस मीमांसाने मानव के सम्मुख इसके महतोमहीयान् प्राकृत स्वरूप का ही विश्लेषण किया है । अवश्य ही मानव इस प्राकृत कालदिग्देशस्वरूप के माध्यम से बुद्धिपूर्वक अपने महतोमहीयान् स्वरूप को सर्वात्माना पहिचान सकता है, जान लेता है । एवं इसी प्राकृत स्वरूपबोध से इसके दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण प्राकृत–आचार–(कर्त्तव्य) क्रमव्यवस्थापूर्वक सुव्यवस्थित होजाते हैं । इसी का नाम है **प्राकृत मानव का अभ्युदय, ऐहलौकिक पुरुषार्थ, विश्वस्वरूपानुगता सुख–समृद्धि ।**

४६३–प्रकृति से अतीत अनन्त ब्रह्म की अनुग्रह-प्राप्ति के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता प्राकृतकालात्मक–आचारलक्षण–कर्त्तव्य की अनुगति, तथा आचार के पूर्वबोधात्मक 'शाब्दज्ञान' के 'ज्ञानत्त्व' का, एवं तदुत्तरबोधात्मक 'आचारज्ञान' के 'कर्म्मत्त्व' का समन्वय

अब शेष रह जाता है–अनन्त प्राकृत विश्वाधारभूत, कालातीत अनन्तब्रह्म, जो प्रकृति से अतीत है । और इसीको समझने में प्राकृत मानव की बुद्धि कुण्ठित होजाती है । इसी दृष्टिबिन्दु को लक्ष्य बनाकर ऋषि इसे यह उद्बोधन प्रदान करते हैं कि, 'तुम्हारी यह कुण्ठित मनोवृत्ति तभीतक है, जबतक कि तुम अपने प्राकृत स्वरूप को पहिचान कर तदनुसार कर्त्तव्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त नहीं हो जाते । कर्त्तव्यवञ्चित प्राकृतबोध वस्तुतः प्राकृत बोध है ही नहीं । मिश्री का कितना हीं बुद्धिगम्य वर्णन क्यों न कर दिया जाय । जबतक उसे रसनेन्द्रिय से समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक कदापि वर्णनसहस्रात्मक बोधसहस्रों से भी मिश्री की सहज मधुरता से रसनेन्द्रिय परिचित नहीं होसकती । यही **शब्दात्मक बोध**, तथा **आचारात्मक बोध** में महान् विभेद है । इसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि, शब्दात्मक बोध का कोई महत्त्व नहीं है आचारात्मक बोध के समतुलन में । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, बिना शब्दात्मक बोध के आचारात्मक बोध उपक्रान्त ही नहीं होता । उस एक ही आचार के पूर्वबोध का नाम **शाब्दबोध** है, एवं उत्तरबोध का नाम **आचारबोध** है । शाब्दबोध का नाम हीं **'ज्ञान'** है, एवं आचारबोध का नाम ही **'कर्म्म'** है । शाब्दबोधात्मक प्राकृतज्ञान ही आचारबोधात्मक कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है । और इस दृष्टि से **'ज्ञानपूर्वक कर्म्म'** को ही प्रशस्त माना जायगा, माना गया है * । अतएव च इसी दृष्टि से यह भी कहा, और मान लिया जासकता है कि, **'बिना समझे कदापि कर्म्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए'** । क्या तात्पर्य्य है इस वाक्य का ? ।

४६४–बौद्धिक तर्कजाल से व्यामुग्ध बुद्धिमान् मानव के अभिनिवेश से 'संवित्' रूपा 'समझ', तथा कर्त्तव्य 'काम' भावों की पराङ्मुखता—

प्रश्न इसलिए उपस्थि हो पड़ा कि, इस वाक्य के तात्पर्य्य का समन्वय न करसकने के कारण हीं आज मानव की लोकबुद्धि में एक वैसा व्यामोहन उत्पन्न हो गया है, जिसने न तो मानव को कुछ समझने

---

*–ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत् ।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

हीं दिया है, एवं न कुछ करने हीं दिया है। अपितु एकमात्र–'हम तो समझलेंगे, तब मानेंगे, तभी करेगें' इसी अभिनवेश का सज्र्जन कर मानवबुद्धि समझ, और काम, दोनों से तटस्थ बन गई है। इसप्रकार के तर्क उपस्थित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान बैठने वाले बुद्धिव्यामुग्ध महानुभाव अन्ततोगत्त्वा ऐसे अभ्यस्त होजाते हैं अपने इस दम्भ में कि, फिर न तो समझ से ही इनका कोई सम्बन्ध रहता, न कर्त्तव्य से ही।

४६५–कर्म्मेतिकर्त्तव्यतात्मक शाब्दबोध, एवं तदभिन्न 'संवित्' से मानव की स्वकर्त्तव्य-प्रवृत्ति का समन्वय—

अतएव इस कर्त्तव्यानुगत शाब्दज्ञान की सीमा केवल 'शब्दज्ञान' पर्य्यन्त ही व्यवस्थित हुई है आचार-पद्धति में। शब्द के अक्षरार्थज्ञानमात्र से सम्बन्ध रखने वाली समझ ही पर्य्याप्त है कर्त्तव्यक्षेत्र में, जिस शाब्दबोध में क्यों?, कैसे?, न च–नुच, आदि तर्क कुतर्क सर्वथा ही असंस्पृष्ट माने हैं स्वयं शास्त्रने हीं। आचारकर्त्तव्य की पद्धति का, इतिकर्त्तव्यता का बोध ही शब्दबोध की सीमा है, एवं यही कर्त्तव्यानुगता 'समझ' की सीमा है, जिसमें सीमित रह कर ही मानव कर्त्तव्यनिष्ठ बन सकता है। यदि कर्त्तव्यारम्भ से पूर्व ही मानव अपने बुद्धिव्यामोहन में आकर रहस्यबोध की इच्छा व्यक्त कर बैठता है, तो शब्दशास्त्र तत्काल उसका नियन्त्रण ही कर देता है–'स साधुभिर्बहिष्कार्य्यः–नास्तिको वेदनिन्दकः'।

४६६–आदेशानुगता कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति से ही मानव के प्राकृत-कर्त्तव्य का संरक्षण, एवं तत्सम्बन्ध में शास्त्रीय आदेशों का संस्मरण—

युक्तं चैतत्। यदि एक बालबुद्धि अक्षरारम्भ से पूर्व ही–"इसे ककार ही क्यों कहा जाता है?, मैं लिखूँ ही क्यों?, क्यों अक्षराभ्यास करूँ?। मुझे तो इस क्यों का रहस्य समझा दिया जायगा, तभी लिखूँगा, बाँचूँगा, पढ़ूँगा, करूँगा"–इसप्रकार के कुतर्क करने लग पड़ेगा, तो न तो इसे उत्तर ही मिल सकेगा, न यह कुछ कर ही सकेगा। इस आरम्भ-दशा में तो सर्वत्र, सभी लोकक्षेत्रों में भी साधारण शब्द–बोधात्मक–आदेशजनित-ज्ञान हीं कर्त्तव्य की आधारभूमि बना करता है। और यही–'समझ कर करने लगपड़ना' का अर्थ है। इस कर्त्तव्य में स्वयं में हीं ऐसा बल है, जो स्वस्वरूपविकास के साथ साथ तदनुरूपता से ही शनैः शनैः कर्त्तव्य-रहस्य का बोध भी कर्त्तव्यनिष्ठ मानव को कराता जाता है। निम्न लिखित वचन इसी तथ्य का विस्पष्ट शब्दों में विश्लेषण कर रहे हैं, जिसे आधार बनाए बिना मानव कदापि कर्त्तव्यनिष्ठ बन ही नहीं सकता—

ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा ॥
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्त्वारः पृथगाश्रमाः ॥१॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते 'यथाशास्त्रं' निषेविताः ॥
'यथोक्तकारिणं' विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥२॥

—मनुः ६।८७,८८, ।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥३॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥४॥

—मनुः ४।१६,२०,।

४६७–'विधि' लक्षण धर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं 'आचारः परमो धर्म्मः' का संस्मरण—

'ज्ञानपूर्वक कर्म्म करते रहने से' का अर्थ है–'शब्दज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहने से'। यही प्रारम्भिक 'समझ' का अर्थ है, जो कर्त्तव्यनिष्ठा की मूलप्रतिष्ठा बनती हुई कालान्तर में स्वतः ही उस 'बुद्धिनिष्ठा' के रूप में परिणत हो जाया करती है, जिसे हमने पूर्व में–'संवित्' नाम की 'समझ' कहा है। 'समझ-पूर्वक कर्म्म करते रहने से कालान्तर में स्वतः ही समझ आजाया करती है' इस लोकसूत्र का यही समन्वय-निष्कर्ष है। सर्वथा 'समझ' लेने का व्यामोहन न तो समझने ही देता, न कर्त्तव्यनिष्ठ ही बनने देता। अतएव समझ लेना, और समझादेना कदापि यहाँ धर्म्म नहीं माना गया। अपितु करना, और कराना हीं यहाँ धर्म्म माना गया है। आचरणात्मक आचार ही भारतीय वह 'परमधर्म्म' है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा शब्दशास्त्रानुगता आस्थापूर्णा 'श्रद्धा' ही मानी गई है–'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः–यो यच्छ्रद्धः, स एव सः। अतएव–'श्रद्धावानेव ज्ञानं लभते' *। यही यहाँ के 'आचारः परमो धर्म्मः' इस महान् सूत्र का मौलिक रहस्य है।

४६८–कर्त्तव्यात्मक आचारधर्म्म की अनुगति से कालान्तर में 'अभयब्रह्म' की अनुग्रह-प्राप्ति, एवं तदनुगता 'किञ्चित्' (कुछ) रूपा अभिन्नता का संस्मरण—

कर्त्तव्याचारनिष्ठ बुद्धिशील मानव अवश्य ही इस कर्त्तव्य के माध्यम से ही कालान्तर में अपने महान् प्राकृत स्वरूप का बोध प्राप्त कर लेता है। एवं यही कर्त्तव्य इसे कालान्तर में कालातीत अनन्त से समन्वित कर देता है, जिसे 'अभयब्रह्म' कहा गया है। यों मानव का प्राकृत स्वरूप जहाँ महतोमहीयान् आधिदैविक प्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है, वहाँ इसी मानव का अप्राकृत स्वरूप महतोमहीयान् उस अप्राकृत स्वरूप का 'कुछ' बन रहा है, एवं अब सर्वान्त में पुनः पुनः आलोडित–विलोडित इस 'कुछ'–'कुछ' का कुछकुछ स्वरूप और समन्वित कर लेना है, जिस 'कुछ' के समन्वय के बिना सबकुछ निस्सार ही प्रमाणित होजाता है उसके ही 'कुछ' रूप भी इस मानव का।

---

* श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—गीता ४।३९।

४६९-प्राकृत-व्यामोहनासक्त-प्रत्यक्षवादी मानव की नग्नता, एवं तदनुबन्धेनैव परोक्षभावापन्न भी 'किञ्चित्' (कुछ) भाव की नग्नता का उपक्रम—

कालदृष्टान्त के माध्यम से 'कुछ' का अर्थ प्रारम्भ में हमने 'प्रतीक' ही समझा था। किन्तु काल के स्वरूपने हीं अन्ततोगत्वा हमारा यह प्रतीकव्यामोहन समाप्त कर दिया। एवं तभी से 'प्रतीक' के स्थान में हमने 'कुछ'–'कुछ' कह देना आरम्भ कर दिया, जो कि अभीतक परोक्ष ही बन रहा है। इच्छा तो यही थी कि, इस 'कुछ' की मीमांसा को तो परोक्ष ही बना रहने दिया जाता। तभी इस का अर्थ कुछकुछ समझ में आ भी सकता था। किन्तु वर्त्तमानयुग वैसा आपद्धर्म्मात्मक युग है, जिस में परोक्षता कदापि क्षम्य नहीं है, आज के बुद्धिमान् की अभ्यस्ता नग्नता की कृपा से। आज का मानव सबकुछ नग्नप्रदर्शन ही अभीप्सित मानता है, जब कि भारतीय धर्म्मपद्धति में सबकुछ **परोक्षपद्धति** के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है–**'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'**। तो लीजिए! युगधर्म्मात्मिक आपद्धर्म्मरूप कालधर्म्म के सम्मुख धर्म्मपद्धति को परोक्ष बनाते हुए सर्वान्त में उस 'कुछ' का भी नग्नप्रदर्शन कर लेने की धृष्टता करली जाती है परोक्षप्रिय देवताओं से क्षमा याञ्चा करते हुए ही।

४७०-कुछ के महतोमहीयान् स्वरूप की अभिव्यक्तिमूला महती धृष्टता—

यह 'कुछ' बात है उस मानव की, जिसे मानवशरीर से ही आज हमें निवेदन करना पड़ रहा है। अपनी बात अपने मुख से कभी अच्छी नहीं लगा करती। अतएव हम अपने आपको तो कर लेते हैं सर्वथा परोक्ष। एवं हम से अतिरिक्त परमश्रद्धेय, ब्रह्मविभूतिरूप विश्व के यच्चयावत् पठित–अपठित सभी मानव–श्रेष्ठों को समष्टि, तथा व्यष्टिरूप से बना लेते हैं दृष्टान्तात्मक उदाहरण। एवं उन ब्रह्मरूप मानवों की उदाहरणविधि से ही, उन्हीं के सम्मुख–**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये'** न्याय से उन्हीं के 'कुछ' रूप का 'नग्न', किन्तु महतोमहीयान् स्वरूप रख देने की धृष्टता करली जाती है प्रक्रान्ता दिग्देशकाल-स्वरूपमीमांसा के माध्यम से ही।

४७१-अभिव्यक्तितत्त्व के मूलाधारभूत 'प्राजापत्यशिल्प' का संस्मरण—

सर्वप्रथम आप के प्राकृत स्वरूप के माध्यम से ही 'कुछ' का महत्त्वपूर्ण इतिवृत्त आपके सम्मुख रक्खा जारहा है। अनाद्यनन्त * कलिलरूप महाकालात्मक महाविश्व एक ओर है, एवं आप का प्राकृत स्वरूप एक ओर है। इन दोनों महान् स्वरूपों में कैसी, और क्या समता है ?, क्या साम्य है ?, यही आपको स्वयं अपने प्राकृत–स्वरूप से जान लेना है। क्या आप उस अनाद्यनन्त–प्राकृत–महाकाल के 'प्रतीक' हैं ?। नहीं। क्योंकि 'प्रतीक' का अर्थ तो अवयव–अङ्ग–भाग–अंश–पर्व–एकांश–होता है। क्या आप उस के अङ्ग हैं ?, नहीं। तो फिर आप उस के 'प्रतीक' तो नहीं होसकते। हैं अवश्य ही कुछ न कुछ आप उसके। तो अब आपका ध्यान **'प्राजापत्यशिल्प' (प्रजापति की कारीगरी)** की ओर ही आकर्षित किया जारहा है इस 'कुछ' के समन्वय के लिए।

---

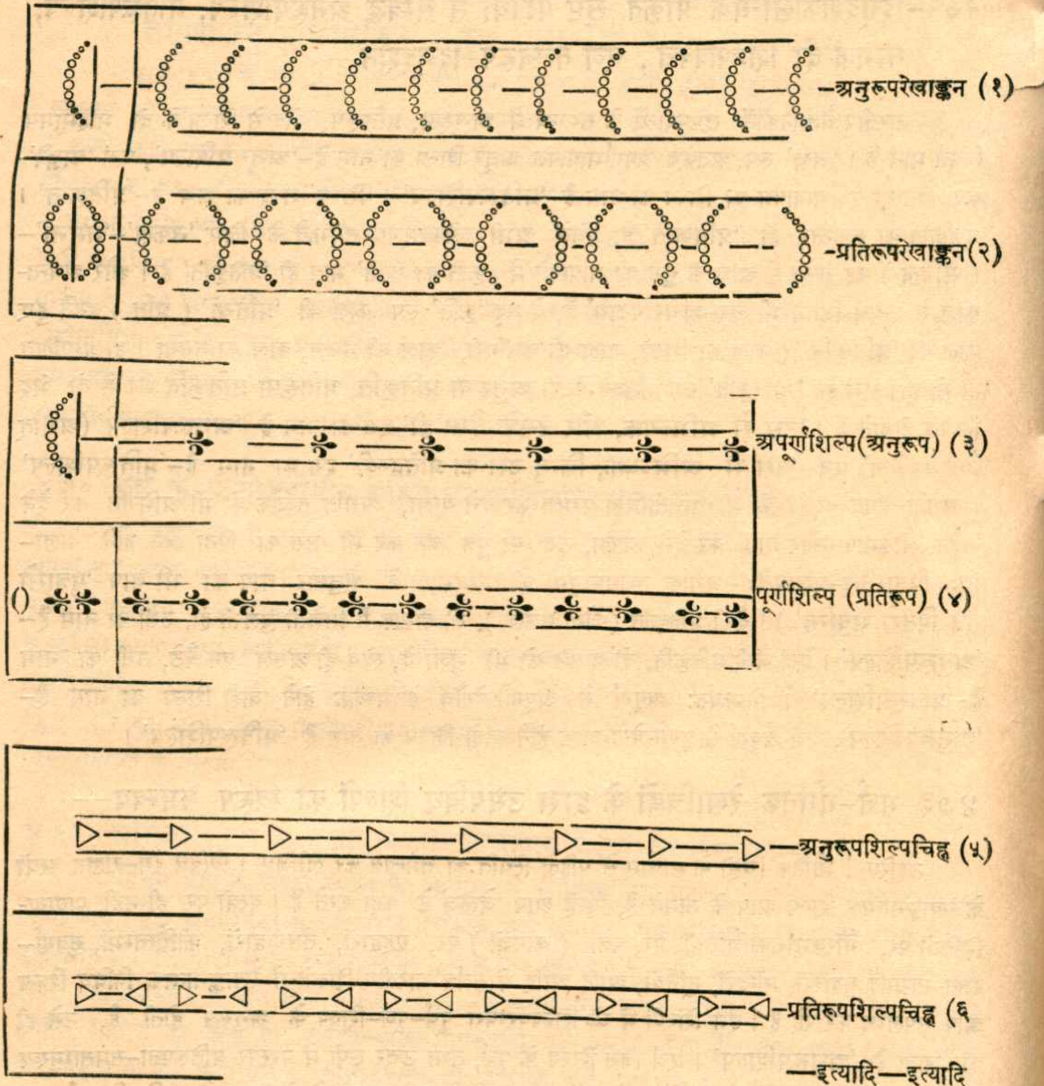
* **सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये** (श्वेता० उप० ४।१४।)।
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये (श्वेता० उप० ५।१३।)।

४७२–दिग्देशकालात्मक–प्राकृत–सृष्ट पदार्थों से सम्बद्ध अनुरूपशिल्प, प्रतिरूपशिल्प, नामक दो शिल्पविवर्त्त, एवं तत्स्वरूप–दिग्दर्शन—

भारतीय वैज्ञानिकोंनें सृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में **अनुरूप, प्रतिरूप,** भेद से शिल्प के दो महिमामय विवर्त्त माने हैं। 'अङ्ग' रूप, अतएव अपूर्णभावापन्न अधूरे शिल्प का नाम है–**'अनुरूपशिल्प'**, एवं **'अङ्गी'**-रूप, अतएव पूर्णभावापन्न पूरे शिल्प का नाम **है–'प्रतिरूपशिल्प'**। 'शिल्प' शब्द का अर्थ है--**'प्रतिकृति'**। मूलकृति का रूपान्तर ही **'प्रतिकृति'** है, जिसे अभी लोकदृष्ट्या समझने के लिए **'नकल'–'नमूना'**–(**मॉडल**) कह सकते हैं आज के युग की भाषाओं में। कृति का 'प्रति' भाव ही 'प्रतिकृति' है। और अनन्तकाल से उत्पन्न जितनें भी चर–अचर पदार्थ हैं, वे सब 'कृति' रूप काल की **'प्रतियाँ'** (**प्रति**) बनते हुए काल की **'प्रतिकृति'** (काल का शिल्प, काल की कारीगरी, काल की नकल, काल का नमूना) ही प्रमाणित हो रहे हैं। एवं इस 'प्रतिकृति' रूप शिल्प के ही **अनुरूपा प्रतिकृति, प्रतिरूपा प्रतिकृति** भेद से दो भेद निष्पन्न होजाते हैं। **'उस से अभिव्यक्त, और उसके जैसा ही'** इस का नाम **है–'अनुरूपशिल्प'** (अर्थात् जैसा का तैसा) एवं–**'उस से अभिव्यक्त, किन्तु उस का प्रतिद्वन्द्वी'** इस का नाम **है–'प्रतिरूपशिल्प'** (अर्थात् अपने सर्ज्जक को भी अन्ततोगत्त्वा परास्त कर देने वाला, अर्थात् सर्ज्जक को भी अभिभूत कर देने वाला, लोकभाषानुसार मात कर देने वाला, उस का पुत्र बन कर भी उस का पिता बन जाने वाला–**'यः पितासीत्–प्रजापतेः'**–अर्थात् वर्त्तमानयुग की नग्नभाषा के अनुसार **बाप का भी बाप-'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति'**)। वैसी प्रतिकृति (वैसी नकल), जो असल से मिलती जुलती हो, उसी का नाम **है–'अनुरूपशिल्प'**। एवं वैसी प्रतिकृति, जो असल को भी भुला दे, स्वयं ही असल बन बैठे, उसी का नाम **है–'प्रतिरूपशिल्प'**। निष्कर्षतः अपूर्ण से अपूर्णरूपेणैव अभिव्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है–**'अनुरूपशिल्प'**, एवं अपूर्ण से पूर्णरूपेण व्यक्त होने वाले शिल्प का नाम है-**'प्रतिरूपशिल्प'**।

४७३–मूर्त्त–भौतिक–रेखाचिह्नों के द्वारा उभयविध शिल्पों का स्वरूप–समन्वय—

ठहरिए ! भौतिक चिह्नों के माध्यम से पहिले स्थिति का समन्वय कर लीजिए। विविध रँग–रञ्जित वस्त्रों के रेखाङ्कनात्मक शिल्प आप के सामने हैं, जिन्हें आप **'बेलबूँटे'** कहा करते हैं। वस्त्रों पर ही नहीं, पाषाण-भित्तियों पर, गैरिकमृत्तिकाभित्तियों पर, पत्रों (कागजों) पर, गृहद्वारों, तोरणद्वारों, कीर्त्तिस्तम्भों, सुवर्ण–रजत–ताम्रादि मुद्राओं, मन्दिरों, मूर्त्तियों, आदि आदि में सर्वत्र भारतीय शिल्पों में रेखाङ्कनात्मक विविध शिल्प आप उपलब्ध कर रहे हैं। इन शिल्पों में जो शिल्पपरम्परा पूर्व–पूर्व–शिल्प के अनुरूप होती है, उसे ही कहा जाता है–**'अनुरूपशिल्प'**। एवं जिस शिल्प के पूर्व, तथा उत्तर रूपों में परस्पर प्रतिरूपता–समसाम्मुख्य होता है, उसे ही कहा जाता है **'प्रतिरूपशिल्प'**। निम्न लिखित रेखाङ्कनों से दोनों का भेद परिलक्षित है—



४७४–मानव की प्राजापत्या शिल्पता, एवं तत्सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

आप की भी अभिव्यक्ति उसी अनन्तकालपुरुष से हुई है, एवं आपसे अतिरिक्त अनन्तकाल से आरम्भ कर इसके अवसानपर्य्यन्त (यदि आप इसका कोई अवसान मान बैठते हैं अपनी कल्पना में, तो) जितनें भी चर-अचर पदार्थ हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति भी उसी अनन्तकाल से हुई है। यों दोनों हीं उसी

की अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी के शिल्प हैं, उसी के पुत्र हैं, उसी की सम्पत्ति हैं, अर्थात् उसी की प्रतिकृतियाँ हैं। और यहीं अब आपको स्वयं यह समझ लेना है कि, आप तथोक्त दोनों प्रकार के शिल्पों में से कौन से 'शिल्प' हैं ?। क्यों ?, क्या इससे भी अधिक नग्न भाषा का अनुगमन किया जाय ?। ओमित्येतत्।

४७५–प्रतिरूपशिल्पात्मक मानव की स्रष्टाप्रजापति से प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्रतिद्वन्द्विता में मानव का विजयश्री के द्वारा संस्मरण—

हाँ, तो आप हैं उसके **'प्रतिरूपशिल्प'**, अर्थात् **'पूर्णशिल्प'**, अर्थात् **'प्रतिद्वन्द्वी'**, अर्थात् उससे अभिव्यक्त होकर उसी की सीमा का अन्ततोगत्वा उल्लंघन कर जाने वाले **'पुरुषार्थवादी मानवश्रेष्ठ'**। मानवेतर यच्चयावत् प्राणसर्ग (ऋषि-पितर-असुर-गन्धर्व-आदि आदि प्राणविवर्त्त), यच्चयावत् प्राणीसर्ग (पशु-पक्षी-कीट-कृम्यादि सर्ग), तथा यच्चयावत् अर्द्धचेतन (ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि) अचेतन-(लोष्ट–पाषाणादि) सर्ग, ये सम्पूर्ण जहाँ अपूर्णशिल्पात्मक अनुरूपशिल्प हैं उस अव्यक्त–अनन्तकालप्रजापति (अक्षरप्रजापति) के, वहाँ एकमात्र मानव ही उसका वैसा पूर्णशिल्पात्मक प्रतिरूपशिल्प है, जो अपने (प्राकृतरूपके) स्रष्टा-विधाता स्वयं कालप्रजापति के साथ इसी की महाशक्ति महाकाली को मध्यस्थ बनाता हुआ न केवल प्रतिद्वन्द्विता ही करता रहता है, अपितु अपनी कालिकमर्य्यादा में यत्किञ्चित् भी स्खलित न होता हुआ एक दिन इस प्रतिद्वन्द्विता में 'विजयश्री' ही उपलब्ध कर लेता है, जोकि उपलब्धि, किंवा विजयावस्था ही इसकी 'कालातीता' अवस्था कहलाई है।

४७६–मानवेतर सम्पूर्ण प्राकृत--भावों की अंशात्मिका प्रतीकता, किन्तु मानव की महिमारूपा प्रतिरूपता—

'विजयश्री' की बात छोड़ते हैं अभी। अभी तो इसे विजित पराजित मान कर ही प्रतिज्ञात इसके 'कुछ' का समन्वय करते हैं। मानवेतर समस्त प्रपञ्च जहाँ अनुरूपशिल्पता से काल के 'कुछ' (अंशमात्र) बनते हुए जहाँ स्वस्वरूप से 'कुछ' भी नहीं है, वहाँ यह मानव उसका प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ उसका **'सबकुछ'** बन रहा है। दूसरे शब्दों में--मानवेतर प्रपञ्च जहाँ तत्तद् विभिन्न कालविवर्त्तों के अंश-प्रत्यंश बनते हुए, उसके अङ्ग--प्रत्यङ्गात्मक अनुरूपशिल्प बनते हुए अङ्गात्मक 'प्रतीक' बन रहे हैं, वहाँ यह प्राकृत मानव अनन्तकाल से (अव्यक्त से)आरम्भ कर चान्द्रसम्वत्सरकाल (व्यक्तकाल) पर्य्यन्त के सम्पूर्ण कालपर्वों की साक्षात-पूर्ण-प्रतिमा बताता हुआ, अतएव स्वयं 'अङ्गी' प्रमाणित होता हुआ उसका प्रतिरूपशिल्प ही प्रमाणित होरहा है। ऋषि-**'ऋषि'** ही हैं, पितर **'पितर'** ही हैं, असुर **'असुर'** ही हैं, देवदेवता **'देवदेवता'** ही हैं, स्वयम्भू **'स्वयम्भू'** ही है, परमेष्ठी **'परमेष्ठी'** ही है। और यों ये सभी विवर्त्त पर्वात्मक–अङ्गात्मक–बनते हुए उसके प्रतीक ही हैं। किन्तु मानव ?। मानव सबकुछ है। इसलिए सबकुछ है कि, मानव कालातीत भी है, एवं काल का भी सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प है। ऐसा है यह कालिक मानव, ऐसी है इसके प्राकृत स्वरूप की महत्ता। और यही है इसके कालानुबन्धी उस 'कुछ' का चिरन्तन इतिवृत्त, जिसे लक्ष्य बना कर ही पुराणपुरुष के मुखपङ्कज से यह विनिःसृत हो ही तो पड़ा है सहजरूप से ही कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

—महाभारत

४७७-शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति केन्द्रीय मनु, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक इन्द्र, तदभिन्न प्रतिरूपात्मक 'मानव', एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' का संस्मरण—

सचमुच मानव का प्राकृत स्वरूप अनन्तकालात्मक कालिक विश्व में महान् है, जिसे बुद्धिगम्य बना लेना तो केन्द्रनिष्ठात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। क्या अर्थ है इस केन्द्रनिष्ठा का ?, एकमात्र उत्तर है वह 'मनु' तत्त्व, जो शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति 'श्वोवसीयस्-अव्ययमनो'रूप हृद्यतत्त्व से अभिन्न है। यह केन्द्ररूप--शाश्वतब्रह्मरूप मनुतत्त्व सम्पूर्ण विश्व में विश्वेश्वरप्रजापति, तथा तदभिन्न, तद्रूप अमुक प्राकृत प्राणी, इन दो स्थलों में हीं पूर्णरूपेण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है। हृद्य मनु का वही रूप 'वह' कहलाया है, एवं उसी हृद्य 'मनु' का अमुक--प्राणी--रूप 'यह' कहलाया है, जोकि 'यह अमुक' इस मनु की अभि-व्यक्ति से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'मनु' है, उसका कालिकरूप मन्वन्तरात्मक अनन्तकाल है, तो यह उस मनु से अभिन्न होता हुआ 'मानव' है, एवं उसका कालिकरूप अनन्तकालात्मक इसका अव्यक्त प्राकृत स्वरूप है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' हीं मानव की तद्रूपता का महान् मूल है। एवं इतर यच्चयावत् प्रतीकात्मक-अनुरूपशिल्पात्मक प्राण, तथा प्राणी बुध्दिगम्या व्याख्यापेक्षया उस अनन्त के 'अङ्ग' हैं, तो एकमात्र मानव ही बुद्धिगम्या कालिक व्याख्या से कालदृष्टया भी प्रतिरूप, तो कालातीत दृष्टया भी प्रतिरूप। अर्थात् 'अङ्गी' ही प्रमाणित हो रहा है उस अनन्त का। इसी प्रतिरूपता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य प्रतिरूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥ (ऋक्सं० ६।४७।१८।)

४७८-प्रतिरूपशिल्पात्मक---मनु-इन्द्राभिन्न--मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिलक्षणमूला परिपूर्णता—

जितनें मानव, उतनें ही उसके रूप, एवं प्रत्येक रूप उसका प्रतिरूप। अर्थात् प्रत्येक मानवरूप सर्वा-त्मना उस अनन्तकाल का सर्वात्मक प्रतिरूपशिल्प बनता हुआ स्व स्व स्वरूपाभिव्यक्ति से परिपूर्ण है, अतएव 'प्रतिरूप' है। कौन इन प्रतिरूपभावों में परिणत हो रहा है ?, मन्त्र बुद्धिगम्या सहज-व्याख्या के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। सम्पूर्ण विश्व का जो केन्द्र है, वहीं केन्द्रात्मक मनु प्रतिष्ठित है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

४७९-इन्द्र-प्राण-अग्नि--रुक्माभ- भावापन्न मनु, एवं तदभिन्न मानव—

और महद्भाग्य से जो विश्व का मनुरूप कालात्मक (अक्षरप्रकृतिरूप-अणोरणीयान्) केन्द्र है, वही सौरमण्डल का भी केन्द्र है। अतएव सौरकाल को अनन्त-मनु-कालात्मक-मन्वन्तरकाल का प्रतीक मान लिया है पुराणपुरुष ने (पुराणशास्त्र ने)। सौर हिरण्यतेज के सम्बन्ध से केन्द्रात्मक मनु 'रुक्माभ'*कहलाए

---

* **प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।**
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात्पुरुषं परम् ॥
—मनुः १२।१२२।

हैं। सौर प्राण का ही नाम 'इन्द्र' है, सौरसावित्रतेज का ही नाम अग्नि है। अतएव इन सौर-भावानुबन्धों से ही अनन्तकालात्मक हृद्यमनु इन्द्र-प्राण-अग्नि-आदि अनेक यशो नामों से प्रसिध्द हो गए हैं ÷ ।

४८०-गतिरूप कालाक्षर, तदभिन्न इन्द्र, तत्सहयोगी विष्णु, एवं तद्द्वारा मायावृत्तात्मक 'पुरभावों' की स्वरूपाभिव्यक्ति—

'ईयते' रूप गतिभाव ही कालाक्षर का सहजधर्म्म है, वही धर्म्म 'इन्द्र' का है। आगति जहाँ विष्णव-क्षर कहलाया है, वहाँ गति इन्द्राक्षर कहलाया है। सम्पूर्ण विश्व कालात्मक है, काल मनु है, मनु इन्द्रत्वेन गतिधर्म्मा है, गतिरक्षर ही सृष्टि का मूल है। यही कारण है कि मनुमूलक सृष्टिविज्ञान के प्रतिपादक ऋग्वेद में अन्यान्य प्राणों के समतुलन में 'इन्द्र' का ही प्रधानरूपेण यशोवर्णन हुआ है, जैसा कि तद्विज्ञों को भली-भाँति विदित है। अथर्वसूक्त का 'कालः स ईयते', एवं यहाँ का 'पुरुरूप ईयते' एक ही अर्थ व्यक्त कर रहे हैं। इन्द्र ही गति है, यही कालाक्षर है, और यही मायावृत्तात्मक पुरभावों का अभिव्यञ्जक है।

४८१-मायावृत्तों की छन्दोमयी दिग्रूपता, तत्र प्रतिष्ठित-'दश शतानि', एवं-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' लक्षण देश-प्रदेशात्मक महिमामण्डल—

छन्दोमय वृत्तों का नाम हीं 'मायावृत्त' हैं, जिन्हें 'दिशः' कहा गया है, जोकि हृदयस्थ हृदयरूप मनु के ही महिमामय स्वरूप हैं। कैसा है वह मायावृत्त ?, किंवा कैसा है वह महिमामण्डल ?, जिसमें कि 'दश-शतानि' भाव प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् 'सहस्र रश्मियाँ' प्रतिष्ठित हैं। सहस्र का अर्थ गणनसंख्यात्मक 'हजार' नहीं है। अपितु-'पूर्णं वै सहस्रम्' ही यहाँ 'शता दश' का अर्थ है, जिसका-'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूपेण निरूपण हुआ है। अपनी सहस्रभावात्मिका इसी पूर्णता से वह इन्द्राक्षररूप अनन्त मनुरूप अनन्तकाल प्रत्येक मानवरूप में 'प्रतिरूप' बन रहा है। प्रत्येक मानव उसी का प्रतिरूपशिल्प है, अर्थात् सहस्रभावात्मक है। अर्थात् पूर्णशिल्प है, और यही मन्त्र का संक्षिप्ततम तात्पर्य्यार्थ-समन्वय है।

४८२-मानवसर्गानुबन्धिनी अर्द्धवृगलात्मिका प्रतिरूपता, एवं तद्रूप मानव की दाम्पत्यलक्षणा प्रतिरूपता का समन्वय —

मानव की प्रतिरूपात्मिका परिपूर्णता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव प्रासङ्गिक निवेदन और। मानव प्रतिरूप है अपने प्राकृत स्वरूप से (अव्यक्तादि, शरीरान्त स्वरूप से) उस अनन्तकालादि-चान्द्रसम्वत्सरकालान्त प्राकृत कालपुरुष का, जिसकी यह प्रतिरूपता अर्द्धवृगलात्मिका ही कहलाई है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय (२)

÷ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परेप्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनुः १२।१२१।

रेखाङ्कनों पर अवधानपूर्वक लक्ष्य दीजिए, जिन में (|) इस रूप से प्रतिरूपता का समन्वय हुआ है। प्रतिरूपशिल्पात्मक द्वितीय रेखाङ्कनों में पूर्व के (इस अर्द्धवृत्त का तो क्या अर्थ है ?, उत्तर के) इस अर्द्धवृत्त का क्या अर्थ है ?, एवं क्या अर्थ है पूर्व–उत्तर–भावात्मिका (|) इस समष्टि का ?। समन्वय कीजिए ! अपनी दाम्पत्यप्रज्ञा से ही इस प्रश्नावली का। पूर्वभावात्मक (इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानव', उत्तरभावात्मक पूर्व–अर्द्ध के पूरक) इस अर्द्धवृत्त का अर्थ है 'मानवी' एवं (१|२) इन दोनों पूर्वोत्तरवृत्तों की समन्वितावस्थारूप पूर्णवृत्त का अर्थ है मानव--मानवी–का 'दाम्पत्य'। अव्यक्तकालानुबन्ध से पूर्णाकाशात्मक–पूर्णप्रतिरूप बनता हुआ भी मानव व्यक्त–सम्वत्सरकालानुबन्ध से अर्द्धाकाशात्मक बनता हुआ 'अर्द्ध वृगल' है, 'प्रतिरूपार्द्ध' है, प्रतिरूप की पूर्वावस्था है, आधाररूप प्रतिरूप है। इसके शेष अर्द्धवृगलात्मक–अर्द्धाकाश की पूर्त्ति अर्द्धवृगलात्मिका मानवी से ही हुई है, जो कि मानव का प्रतिरूपार्द्ध है, इसकी उत्तरावस्था है, आधेयरूप प्रतिरूप है।

४८३–सौर--चान्द्र--सम्वत्सरवृगलद्वयी से सम्पन्ना कृतरूपा मानव--मानवी की दाम्पत्य-रूपा प्रतिरूपता, एवं तदनुगता वंशानुगतिलक्षणा रूपं--रूपं--भावात्मिका महिमा-न्विता प्रतिरूपता—

इन दोनों वृगलों, दोनों सम्वत्सरार्द्धों के समन्वय से ही मानव की प्रतिरूपता पूर्णसम्वत्सरात्मिका, पूर्णव्यक्तकालात्मिका बनती है, और यह साम्वत्सरिकी–पूर्णा–प्रतिरूपता (मानव, और मानवी का दाम्पत्यरूप गृहस्थाश्रम) ही अनन्तकालानुगता पूर्णा--प्रतिरूपता की अभिव्यञ्जिका बनती है। और धार्म्मिक–परिणयानुगता इत्थंभूता दाम्पत्यपरिपूर्णता (जो कि सप्तपुरुषानुगता सपिण्डता की प्रवर्त्तिका बनती हुई वंशानुगतिक्रम से प्रतिरूपता को सन्ततिरूपेण धारावाहिकरूप से अविच्छिन्न बनाती हुई–'रूपं-रूपं-प्रतिरूपो बभूव' को अक्षरशः चरितार्थ करती रहती है) मानवेतर किसी भी सर्ग में नहीं है।

४८४–मानवेतरसर्गानुबन्धिनी अङ्गादङ्गाद्रूपा प्रतीकता, एवं प्रतिरूपभावात्मिका, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना मानवीय--दाम्पत्य की कालातीता-अनन्तपूर्णता-लक्षणा--प्रतिरूपता का समन्वय—

वहाँ की अनुरूपशिल्पात्मिका प्रतीकता 'शरीरेण शरीरोत्पत्तिः'--'प्राणान्–प्राणोदयः'--'अङ्गाद-ङ्गात् सम्भवति' रूपेण तत्रैव परिसमाप्त है। कदापि मानवेतर उस प्राणसर्ग, तथा प्राणीसर्ग में सपिण्डता का,

तदनुबन्धिनी प्रतिरूपता का, एवं तद्रूपा परिपूर्णता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। समस्त आचारधर्म्म का मूल दाम्पत्य-प्रतिरूपात्मक गृहस्थाश्रम * ही माना गया है, जिसके बिना इतर किसी भी आश्रम का कोई भी तो महत्त्व नहीं है। जिस आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म का हम आरम्भ से ही यशोगान करते आरहे हैं, उसकी मूलप्रतिष्ठा यही दाम्पत्य-जीवन है, यही गृहस्थाश्रम है, जिसकी दार्शनिकजगत् में उपेक्षा ही हुई है शुष्कतत्त्वमीमांसन के वाग्विजृम्भण के द्वारा। तभी तो न तो दार्शनिक महानुभाव आचारधर्म्ममूला, गृहस्थधर्म्मनिबन्धना आधि-दैविकी प्राकृत-परिपूर्णता का ही अनुगमन करसके, एवं न तन्मूला अप्राकृता कालातीता अनन्तपरिपूर्णता का ही वे समन्वय कर सके।

४८५–अनन्तकालानुगता प्राकृत--प्रतिरूपता से अतीता अनन्तब्रह्मानुगता कालातीता अप्राकृत--प्रतिरूपता की अविज्ञेयता ही तद्विज्ञेयता—

हाँ, तो अनन्तकालानुगत प्राकृत मानवानुबन्धी उस 'कुछ' के, अर्थात् 'प्रतिरूप' भाव के दिग्-दर्शन का प्रयास हुआ। अब शेष रह जाता है वह कालातीत अनन्तब्रह्म, एवं शेष रह जाता है कालातीत मानवानुबन्धी 'कुछ' का इतिवृत्त, जिसके सम्बन्ध में क्योंकि सभी प्राकृतभाव तटस्थ हैं। अतएव उस कालातीत 'कुछ' के सम्बन्ध में तो हम कुछ भी निवेदन नहीं करसकते। उस से सम्बन्ध रखने वाले इस के 'कुछ' के सम्बन्ध में कहने का उपक्रम करना हीं इसका सबकुछ समाप्त कर देना है। अतएव अनन्त-प्राकृत-कालातीत उस अनन्तब्रह्म के 'कुछ' (प्रतिरूप) रूप इस अप्राकृत 'अहम्' रूप आत्ममानव के सम्बन्ध में, लोकातीत मानव के सम्बन्ध में, इसके महामहिमामय–अनन्तानन्त (अनन्तकाल से भी अनन्त) ब्रह्मस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कहना हीं उसके लिए सबकुछ कह देना है।

४८६–अचिन्त्य--अनन्त--कालातीत--ब्रह्मानुगता मानवीया प्रतिरूपता से अनुप्राणित यच्चायावत् समाधानाभासों की सम्प्रश्नता, एवं तदानन्त्य के सम्बन्ध में परम्परया श्रुतोपश्रुत आप्तपुरुषों की आर्ष--धारणाएँ—

क्योंकि इस आनन्त्य के लिए जो कुछ भी कहा जायगा, वह सब 'सम्प्रश्न' मात्र बन कर ही रह जायगा प्राकृत–शब्दानुगता वाच्यार्थता के अनुबन्ध से। सुनते यह हैं इस 'कुछ' रूप 'अहं' प्रत्यय के सम्बन्ध में (अनन्तब्रह्म के प्रतिरूप–रूपात्मक अप्राकृत मानव के सम्बन्ध में, किंवा प्राकृत मानव के अप्राकृत स्व-रूप के सम्बन्ध में) अपने आप्तपुरुषों से परम्परया यही कुछ कि, अनन्तकाल, अनन्तकाल के सम्पूर्ण अवा-न्तर विवर्त्त, एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, नक्षत्र, ग्रह, आदि आदि यच्चयावत् प्राकृत विवर्त्त,

*–सर्वेषामपि चैतेषां वेद–स्मृति-विधानतः।
'गृहस्थ' उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि॥
यथा नदी–नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
—मनुः ६।८९,९०

इन सब कालविवर्त्तों, तथा कालिक–विवर्त्तों का मूलाधारभूत हृद्य मनुतत्त्व, सबकुछ मानव के 'अहं' रूप अप्राकृत–कालातीत–स्वरूप की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त हैं। और ऐसे 'अहं' का प्रतिरूप, किंवा 'अहं' रूप मानव ही विश्वम्भर के विश्व में ऐसी महती विभूति है, जिसके संस्मरणमात्र से मादृश विकृत–मानव का क्या हो जाता है ?, यह भी तो यह विकृत मानव नहीं जान रहा। कहाँ मानव का महतोमहीयान् विभूतिमय अनन्त स्वरूप, और कहाँ उसी विभूतिशाली मानव का यह बुद्धिव्यामोहन, जिससे आपादमस्तक व्यामुग्ध बनता हुआ ही यह विकृत मानव आज **मानव** जैसी अनन्तविभूति के उद्बोधन की न केवल धृष्टता ही कर रहा है, अपितु 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक महान् छल का आश्रय लेता हुआ स्वयं अपने विकृत–स्वरूप को और भी अधिक विकृत ही प्रमाणित कर रहा है।

४८७–वाग्विजृम्भणविस्मृतिपूर्वक–'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक उद्बोधनसूत्र के प्रति आत्मसमर्पण, एवं श्रौत मूलसूत्रों का संस्मरण —

अतएव अन्ततोगत्वा अपने इस समस्त वाग्विजृम्भण को सर्वात्मना विस्मृत करते हुए, प्रतिरूपात्मक अप्राकृत–ऋषिमानव के निम्नलिखित उद्बोधनसूत्रों का माङ्गलिक संस्मरण करते हुए–**'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः'**। **योऽस्मानद्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः, तं जम्भे दध्मः'** इस वरदा–अभया–वाणी के समन्वय–दिग्दर्शन के अव्यहितोत्तरकाल में ही कालसाक्षी में प्रस्तुत दिग्देशकालमीमांसा उपरत हो रही है।

मूलसूत्राणि

१–अहमिद्धि पितुष्परि मेधाऽमृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि। (ऋक् सं० ८।६।१०) ॥

२–अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् ॥
—ऋक् सं० १०।१८३।३।

३–अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥
—ऋक् सं० ४।२६।१।

*

अनन्तब्रह्म

४–स वाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः। स एवेदं सर्वम्।

*

अप्राकृतमानवः (ब्रह्मणः प्रतिरूपः)

५–अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः, अहमुत्तरतः। अहमेवेदं सर्वम्।

*

प्राकृतमानवः (प्रकृतेः-प्रतिरूपः)

*

६–आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः। आत्मैवेदं सर्वम्।

*

प्राकृतमानवः (फलम्)

*

७–स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्--आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः,–स स्वराट्–भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

*

प्राकृतः कालसर्गः

*

८–तस्य ह वा एतस्य–एवं पश्यतः, एवं मन्वानस्य, एवं विजानतः-आत्मतः प्राणः। आस्मत-ःआशा। आत्मतः-आकाशः। आत्मतः-तेजः। आत्मतः-आपः। आत्मतः–आविर्भाव–तिरोभावौ। आत्मतः–संकल्पः। आत्मतः–मनः। आत्मतो वाक्। आत्मतो नाम। आत्मतः–मन्त्राः। आत्मतः कर्म्माणि। आत्मत एवेदं सर्वम्।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ अध्याय, २५–२६ खण्ड

*

असमर्थ हैं हम दिग्देशकालमीमांसानुगत मानव के प्रतिरूपात्मक संस्मरण से सम्बन्ध रखने वाले उक्त वचनों के अक्षरार्थमात्र-समन्वय में भी। अब तो इस समन्वय का भार मानव की सहज प्रज्ञा पर ही छोड़ते हुए 'दिग्देशकालमीमांसा से अनुप्राणित 'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' इस उद्बोधनसूत्र का मीमांसोदर्कात्मक संस्मरण ही और कर लिया जाता है।

४८८-ऋद्धि–समृद्ध्यादि विविध प्राकृत द्वन्दों के प्रति आकर्षित मानवीय मन, तदनुप्राणित मानवीय मापदण्ड, एवं तदनुगत मानव का महान् प्राकृत स्वरूप—

ऋद्धि-वृद्धि,-सुख-शान्ति, तुष्टि-तृप्ति, समृद्धि-आनन्द, भूमा-अभय ही 'मानव' के प्रमुख लक्ष्य हैं। मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओं का, सम्पूर्ण प्रश्नों का, सम्पूर्ण उत्तरों का, सम्पूर्ण लोकचार्य्यों का, सम्पूर्ण दार्शनिक–मीमांसाओं का, सम्पूर्ण वैज्ञानिक विजृम्भणों का, सम्पूर्ण शास्त्रीय आचारों, कर्त्तव्यकर्म्मों, उपासनाओं, भक्तिमार्गों, ज्ञानयोगों का, किंबहुना सभी प्रवृत्तियों का, और सभी निवृत्तियों का एकमात्र मूल **'सुख-शान्ति-कामना'** ही है, एवं यही एकमात्र एक वैसा मापदण्ड है, जिस के माध्यम से मानव की सदसत्प्रवृत्तियों का, कर्त्तव्याकर्त्तव्यभावों का, शुभाशुभपरिणामों का, पुण्य–पाप–द्वन्दों–का, आदि आदि का मूल्याङ्कन सम्भव बना करता है। महान् है मानव। उस सीमापर्य्यन्त महान् है, जिस सीमापर्य्यन्त सम्पूर्ण विश्व में तो मानव से महान् और कोई भी नहीं है। अतएव महान् हीं नहीं, अपितु महतोमहीयान् है मानव अपने प्राकृत स्वरूप से भी, एवं अपने अप्राकृत स्वरूप से भी।

४८९–स्वानुगत–कारणातीत–अनन्तब्रह्म से अनुप्राणित मानव का महतोमहीयान्–अप्राकृत–अनन्त–स्वरूप, एवं मानव की गुह्यतमा सर्वज्येष्ठता–श्रेष्ठता—

अपने प्राकृत स्वरूप से यही महान् प्राकृत मानव जहाँ प्रकृत्या ही, सहजरूप से ही ऋद्धि, सुख, तुष्टि, समृद्धि, भूमा, आदि आदि अभ्युदयभावों से नित्य समन्वित है सहजरूपेणैव, वहाँ यही मानव अपने अप्राकृत महतोमहीयान् (महान् प्राकृत स्वरूप से ही भी कहीं महीयान्) स्वस्वरूप से वृद्धि, शान्ति, तृप्ति, आनन्द, अभय, आदि आदि निःश्रेयस् भावों से नित्य समन्वित है सहजरूप से ही। अपनी इस उभयभावान्विता सहजरूपता से ही मानव महान् है प्रकृत्या (महदक्षरप्रकृत्या), एवं महतोमहीयान् है प्रकृति से समन्वित, किन्तु प्रकृति से अतीत पुरुषेण (अव्ययपुरुषेण) । अव्ययपुरुषात्मक अभय–भाव जिस महतोमहीयान् अप्राकृत मानव की '**स्वरूपप्रतिष्ठा**' हो, महदक्षर–रूपात्मक प्रकृति–भाव जिस महान् प्राकृत मानव का **स्वरूप** हो। दूसरे शब्दों में–अनन्ता महदक्षरप्रकृति जिस का '**अनन्त–प्राकृत–स्वरूप**' हो, अनन्त महतोमहीयान् पुरुष जिस का '**अनन्त–पौरुष–स्वरूप**' हो, ऐसे प्रकृत्यैव महान्, पुरुषेणैव च महतोमहीयान् मानव से अतिरिक्त सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व में और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

४९०–इतर प्राकृत-परिणामात्मक-कालिक सर्गों के समतुलन में अप्राकृत-कालातीत-प्रमाणित महिमात्मक-मानव-सर्ग की 'महत्ता' के कतिपय प्राकृत-निदर्शन—

महत्ता का इस से अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, जहाँ मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं नष्ट होने के लिए ही, वहाँ मानव अपने महान् प्राकृत स्वरूप से अभिव्यक्त होता है अपने अविनाशी अजर अमर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिए ही। मानवेतर प्राणियों का जन्म होता ही है प्रकृति के महद्-भयात्मक महान् दण्ड का अनुवर्त्तन करने के लिए, जब कि मानव का स्वस्वरूप से आविर्भाव होता ही है इसी प्राकृत स्वरूप के माध्यम से प्रकृति की वरदा अभया छत्रच्छाया से सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्भयरूपेण अभयभाव को अन्वर्थ बनाने के लिए। मानवेतर प्राकृत (वैकारिक) प्राणी उत्पन्न होते ही हैं जहाँ प्रकृति के लीलाविलासात्मक अनुरञ्जन के लिए, जबकि मानव आविर्भूत होता ही है प्रकृति के लीलाविलासों से अपने प्राकृतभाव का अनुरञ्जन करने के लिए। मानवेतर प्राणी वज्रसम महद्भय की प्रवर्त्तिका कालप्रकृति से, प्राकृत कालदण्ड से जहाँ सदा भयत्रस्त बने रहते हैं, वहाँ महान् मानव, महतोमहीयान् मानव इस प्राकृत कालदण्डभय को अपने महान् कालिक प्राकृत स्वरूप से अभिन्न प्रमाणित करता हुआ, अतएव च इस दण्डभय से अपने स्वरूप को सर्वथा ही भयातीत प्रमाणित करता हुआ '**अभयं–वै ब्रह्म**' का ही प्रतिरूप बनता हुआ समस्त प्राणियों को '**मा भैषीः**'–'**मा-कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्**'–'**सर्वे भवन्तु सुखिनः**'–'**सर्वे सन्तु निरामयाः**' यह आश्वासन ही प्रदान करता रहता है अभयब्रह्मवत्।

४९१–मानवस्वरूप को संत्रस्त करने वाले आततायी–वर्ग के प्रति ऋषिमानव का प्रचण्ड उद्घोष, एवं तच्छ्रवणमात्र से आततायीवर्ग का हृद्विकम्पन—

और साथ ही जो दुष्टबुद्धि हिंसक पशुभाव, एवं असुर राक्षस–पिशाच–यक्ष–अश्वादि भाव मानव के इस 'अभयात्मक' स्वरूप पर, मानव के द्वारा प्राप्त वर से अभयपथानुगत निर्भय प्राकृत प्राणियों के निर्भय-

जीवन पर आक्रमण करने की कल्पना का भी अक्षम्य अपराध कर बैठते हैं, महान् मानव, 'अभयं वै ब्रह्म' का प्रतिरूप मानव, 'मा भैषी' जैसा वर प्रदान करने वाला मानव भयप्रवर्त्तक-दुःखप्रवर्त्तक-व्यृद्धि प्रवर्त्तक, उन सब आततायी–द्वेष्टा–असुर–राक्षसों को अपनी करालकालात्मिका महीयसी दुर्दान्ता विकरालदंष्ट्रा में हीं चूर्णित कर डालता है, और यों प्रकृत्या महान्, तथा पौरुषेण च महतोमहीयान् बना हुआ मानवश्रेष्ठ 'अभयब्रह्म' भाव से सम्पूर्ण प्राणियों को 'मा भैषीः' ! (मत डरो) ! यही उद्बोधन प्रदान करता हुआ अपने कालात्मक, दण्डभयात्मक स्वरूप से यह चेतावनी भी देता जा रहा है उन दुष्टों को, जो मानव के इन विश्व भावों को संत्रस्त करने की ही योजनाएँ बनाते रहते हैं कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः-तं जम्भे दध्मः ।

४९२–स्वस्वरूपानुगता करालदंष्ट्रा से आततायी को चूर्णित कर देने में सक्षम भी मानव की भावुकतापूर्णा भयत्रस्तता के सम्बन्ध में महान् प्रश्न—

तदित्थं–पुराणपुरुष भगवान् व्यास के ही–'**गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**' इस उद्बोधन से अपने प्राकृत स्वरूप से महान्, तथा अपने अप्राकृत स्वस्वरूप से महतोमहीयान्, अभयब्रह्मात्मक (अव्ययब्रह्मात्मक), दूसरे शब्दों में अपने महान् प्राकृतस्वरूप से **निर्भय,** तथा महतोमहीयान् अप्राकृत स्वस्वरूप से **अभय** प्रमाणित होने वाला मानवश्रेष्ठ, अपनी प्राकृत निर्भयता से समस्त प्राणियों तक को 'निर्भय' बनाने में सक्षम मानवश्रेष्ठ, भयप्रवर्त्तक दुष्टों को अपनी करालदंष्ट्रा से चूर्णित कर देने की क्षमता रखने वाला मानवश्रेष्ठ, निर्भयस्वरूपात्मक प्राकृत–अनन्तकालाक्षर का प्रतिरूप, तथा अभय-स्वरूपात्मक–अनन्ताव्ययब्रह्म का प्रतिरूप मानवश्रेष्ठ ?, कैसे, क्यों आज इसप्रकार अपनी इस महत्ता को इस गरिमामहिमा को, इस सर्वश्रेष्ठता को सर्वात्मना हीं विस्मृत कर स्वयमपि भयत्रस्त बन रहा है, एवं अपने इन भयों से अपने समान–प्रतिरूप-मानवों को भी भयत्रस्त प्रमाणित करता जारहा है ?, और परम्परया प्राकृत प्राणियों को भी भयार्त्त ही बनाता जा रहा है ?, सचमुच ये प्रश्न आज प्रत्येक प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठ को तो अपनी ओर आकर्षित करते ही जा रहे हैं ।

४९३–दिग्देशकालात्मक, भावुकतापूर्ण युगधर्म्मों से प्रभावित मानव, तन्मानव के त्रास के मूलकारण, तज्जनक स्वयं मानव, एवं तद्द्वारा ही भयनिवारणार्थ विविध प्रश्नों का उत्थान—

आकर्षण कोई नवीन नहीं है । सहज है मानव का यह आकर्षण । सदा से ही मानव प्राकृत–भयों के मौलिक–भेदों की ओर आकर्षित होता आरहा है । किन्तु पुरातन मानवश्रेष्ठने अपनी स्वस्था, तथा प्रकृतिस्था प्रज्ञा को इस आकर्षण–समस्या–के आलोडन–विलोडन–पर ही समाप्त नहीं कर डाला है । अपितु इस आकर्षण के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं इसके प्रतिद्वन्द्वी महान् आकर्षणबल से इस भयात्मक आकर्षण को सर्वथा निर्म्मूल ही बना दिया है इसने, जबकि दिग्देशकालप्रेमी आज का वही मानवश्रेष्ठ स्वयं ही तो ऐसे भयाकर्षणों का 'स्रष्टा' बन रहा है, स्वयं ही अपने द्वारा सृष्ट इन भयाकर्षणों को तत्समानधर्म्मा अगणित भयाकर्षणों से बलप्रदान करता जा रहा है, इस बलप्रधानप्रक्रिया से यों स्वयं ही यह अपने आकर्षणभय

को, भयाकर्षण को उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित करता जा रहा है, और यों अथ से इति पर्य्यन्त स्वयं यही, हाँ एकमात्र मानव ही, महान् मानव ही, बुद्धिमान् मानव ही, अपने आपको सम्पूर्ण प्राणियों के समतुलन में श्रेष्ठ मानने वाला मानव ही तो आज भय के विविध आकर्षण उत्पन्न करता जारहा है, और वही अपने समानधर्म्मा ही भयाकर्षण के जनक-प्रवर्त्तकों से यह प्रश्न भी करता जारहा है कि,-'**मानव आज इसप्रकार भयत्रस्त क्यों बनता जा रहा है ?, एवं अपने साथ सम्पूर्ण विश्व को भी भयत्रस्त क्यों करता जा रहा है**' ? ।

४६४-स्वोत्पन्न भयपरम्पराओं से सन्त्रस्त मानवों के द्वारा अनुदिन भयसम्पर्कभावों का सर्ज्जन-अनुगमन, एवं तत्सहैव भयनिवृत्त्यर्थ प्रश्नों का पारस्परिक आदान-प्रदान, और मानवप्रज्ञा का विडम्बनापूर्ण-महान् विमोहन—

जिसप्रकार एक क्रूरकर्म्मा-हिंसावृत्तिपरायण-प्रचण्ड-आततायी-दस्युराज स्वयं विविध भय परम्पराओं का सर्ज्जन करता हुआ एक दूसरे दस्युराज को उद्बोधन प्रदान करता रहता है, ठीक वही दशा आज मानवने अपनी करली है । भय से सभी सन्त्रस्त, किन्तु काम सभी वैसे ही करते जा रहे हैं, जिनका अथ से इति पर्य्यन्त परिणाम केवल 'भय' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । इच्छा अवश्य भय से परित्राण की है । किन्तु इच्छा तो उस साधारण प्राणी की भी ऐसी ही है, जो भय से त्राण प्राप्त करने के लिए उपाय ढूँढा करता है । और कभी कभी ऐसा उपाय ढूँढ निकाल लेता है वह प्राणी, जिस उपाय से उसका सभी कुछ समाप्त हो जाता है । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, 'इच्छा' करना हीं कोई पुरुषार्थ नहीं है । क्योंकि इच्छा के अनुरूप प्रयास किए बिना तो इच्छाएँ सफल नहीं होजाया करतीं । और आज तो मानव मानो मानव से मूकभाषा में यही प्रश्न कर रहा है कि'-'मित्र ! **क्या सचमुच तुम विश्व में शान्ति के इच्छुक हो ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि, इस शान्ति-मैत्री-सहास्तित्त्व- के मूल में तुम किसी अधिक भय की ही योजना का निम्र्माण करते जारहे हो**' ? ।

४६५-तथाविध विमोहन के सम्बन्ध में हमारा प्रतिप्रश्न, एवं महान् मानव के प्रति तत्सम्बन्ध में प्रणतभाव से किञ्चिदिव आवेदन--

ऐसा सबकुछ क्यों हो रहा है ? । सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव आज क्यों यों मानवस्वरूप के सम्बन्ध में, मानव के उदात्त चरित्र के सम्बन्ध में, इसकी सर्वश्रेष्ठा मानवता के सम्बन्ध में शङ्काशील बनता जारहा है ? । क्या आजके लोकचतुर मानवने, अथवा तो राजनीतिनिपुण मानवने, अथवा तो विज्ञानधुरीण वैज्ञानिक मानवने इन प्रश्नों के वास्तविक-तथ्यों की मीमांसा का प्रयास किया है ? । किया है, करता जा रहा है, करता ही रहेगा । क्योंकि मानव अन्ततोगत्त्वा मानव है, महान् है, श्रेष्ठतम है । अतएव कदापि हमें तो किसी भी मानवश्रेष्ठ के प्रयास पर कोई भी शङ्का नहीं है । अवश्य ही मानव अपनी इस सदिच्छा में, सत्प्रयास में एक दिन सफल भी होगा ही । और अवश्य ही यह स्वयं हीं '**नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**' का पुनरावर्त्तन करेगा ही । अपेक्षित है आजके प्रयासों में 'यत्किञ्चित्' संशोधन । और अत्यन्त प्रणतभाव से '**दिग्देशकालमीमांसा**' रूपेण वही संशोधन विश्वमानव के प्रति समर्पित है—उसकी महत्ता का अन्तःकरण से अभिनन्दन करते हुए ही ।

४९६–निरूपिता 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' के सम्बन्ध में तद्विस्मृतिरूप 'यत्किञ्चित्' संशोधन, एवं दिग्देशकालनिबन्धन--युगधर्म्मों के प्रति जागरूकता का दिग्दर्शन–

और उस 'यत्किञ्चित् संशोधन' का एकमात्र अर्थ है–'मानव अपने महान् स्वरूप से दिग्देशकालमीमांसा का सर्वथा ही बहिष्कार ही करदे'। यही इस महारम्भा दिग्देशकालमीमांसा का एकमात्र 'संशोधित संस्करण' माना जायगा। "यह हमारी दिशा है–हमारी सीमाबिन्दु है। यह हमारा देश है, हमारा प्रदेश है, हमारा प्रान्त है, हमारा राष्ट्र है, और सर्वोपरि यह हमारा काल है, हमारा सत्ताकाल है, हमारा भोग्यकाल है, हमारा समय है (हमारा जमाना है)" इसप्रकार सर्वथा सीमित, परिच्छिन्न दिग्–देश–काल–भाव हीं, दिग्देशकालमीमांसाएँ हीं आज सर्वश्रेष्ठ भी, महान् भी मानव को भयाकर्षणों से विमुक्त नहीं होने देरही। अपने दिग्देशकालानुबन्धी–वर्त्तमान–भूतभावानुबन्धी–भौतिक विज्ञानने हीं वैज्ञानिक-मानवों को, मानव की महत्ता को, दिग्देशकालातीता अनन्तता को आज इसी दिग्देशकाल की सीमा में आबद्ध कर लिया है। भूतविज्ञान के वारुणपाश से आबद्धा मानव की बुद्धि अपनी महिमा से पराङ्मुख बन कर आज इन प्रत्यक्षदृष्ट–मूर्त्त भौतिक–दिग्देशकालों में हीं सीमित हो गई है।

४९७–व्यक्तित्वविमोहनात्मिका 'व्यक्ति' की एषणाओं से अनुप्राणिता दिग्देशकाल-विमूढ़ता, तदनुगता वैय्यक्तिक-स्वार्थमयी मलीमसा दानवता-लक्षणा मानवता—

ठीक यही स्थिति उन लोकचतुर–लोकनिष्ठ–मानवों की है, जिन की दृष्टि में भी इस प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक दिगादि के अतिरिक्त मानव का और कोई भी स्वरूप है हीं नहीं। अतएव वह लोकमानव भी अपनी वैय्यक्तिक सीमा (दिक्), अपने वैय्यक्तिक देश (घर--जमीन -जायदाद--सम्पत्ति), एवं अपने वैय्यक्तिक काल (आयुर्भोगकाल) को ही 'मानव' का स्वरूप मान बैठा है। अतएव इस में भी यही वारुणपाशात्मक वैय्यक्तिक मोह जागरूक हो पड़ा है कि, "मैं अपनी सीमा में अपने लिए अपने जीवनकाल में जो कुछ अर्ज्जित–सञ्चित–करलूँगा, वही मेरे लिए, और अधिक से अधिक मेरे परिवार के लिए पर्य्याप्त होगा"। वैय्यक्तिक–स्वार्थमूलक इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालबन्धनने इसप्रकार इस लोकमानव को मानव के अनन्त-स्वरूप से अभिभूत कर आज 'दानव' कोटि में ही ला खड़ा किया है। अपने इस वैय्यक्तिक–दिग्देशकाल के रक्षण--व्यामोहन में यदि आज इसे सम्पूर्ण मानवों का वध कर देना पड़े, तो इसे भी यह अपना लोकचातुर्य्य ही मान बैठता है। इस से अधिक व्यक्तिवादी के इस वैय्यक्तिक दिग्देशकालव्यामोहन का, तदनुगता क्रमव्यवस्थाओं का, एवं तदनुप्राणिता मावनता ? रूपा दानवता का और क्या मलीमस-जघन्य इतिवृत्त होगा ?।

४९८–राष्ट्रवादी मानव के 'राष्ट्र' की दिग्देशकालनिबन्धना स्वरूप-व्याख्या, एवं तन्निबन्धन महतोमहीयान् कल्पित--विजृम्भण—

अब उस राष्ट्रवादी मानव को लक्ष्य बनाइए, जिसने भी 'राष्ट्र' का अर्थ 'दिग्देशकाल' ही मान रक्खा है। अमुक पर्वतों, नद-नदियों, धातूपधातों, खनिज द्रव्यों, ओषधि–वनस्पतियों, पशु–पक्षि–कृमि–कीटों, आदि आदि असंख्य अगणित अमुकामुक भूत–भौतिक–परिग्रहों के भार से भाराक्रान्त बने रहने वाले

अमुक भूखण्ड का नाम ही क्या-'राजते' लक्षण 'राष्ट्र' है ?। सर्वथा जड़, सर्वथा निष्प्राण भूतपिण्डात्मक भूपिण्ड के एक प्रत्यंशतम भाग का नाम हीं क्या 'राष्ट्र' है ?, जिसके रक्षण के लिए तद्राष्ट्रीय मानव आज अन्य भूखण्डों के मानवों का रक्तपात कर देने का नाम हीं-'राष्ट्र के लिए बलिदान' मान रहे हैं, एवं इसी को 'राष्ट्रसेवा'-'देशसेवा'-'देशहित' आदि अभिधाओं से समन्वित करते जारहे हैं। क्यों मानव में ऐसा व्यामोहन हुआ ?, उत्तर वही 'दिग्देशकालमीमांसा'।

४९९-मानवाविर्भाव से पूर्व का विश्व, और 'राष्ट्र' शब्द के वाच्यार्थ का अन्वेषण, एवं 'मानवस्वरूप' की अभिव्यक्ति से समन्वित 'राष्ट्र' शब्द के 'राष्ट्रत्व' की अन्वर्थता—

सृष्टिनिर्माणानुबन्धिनी उस पुरातना-अतिपुरातना-स्थिति की ओर अपना ध्यान आकर्षित कीजिए, जबकि भूभाग पर 'मानव' नाम की सर्वश्रेष्ठा विभूति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई थी। क्या उस आरम्भिक दशा में यह भूपिण्ड 'राष्ट्र' उपाधि से समलङ्कृत था ?। अथवा जाने दीजिए उस उदाहरण को। क्योंकि वह उदाहरण आपके प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमान दिग्देशकाल की सीमा से अतिक्रान्त बन जाने के कारण सम्भव है आपके लिए प्रामाणिक न हो। यही तो मानव का वह महान् व्यामोहन है, जिस 'वर्त्तमान' लक्षण व्यामोहन के कारण हीं मानव अपने त्रैकालिक महान् स्वरूप को विस्मृत कर बैठा है। हाँ, तो जापान के उस वर्त्तमान भूखण्डदेश को लक्ष्योदाहरण बना लीजिए, जिसे आपने अपने जीवन में यदि देख नहीं लिया, तो भी ऐसे इतिहासों के स्रष्टा समानधर्म्मियों के अनुग्रह से सुन कर भी विश्वास तो कर ही लिया होगा कि, घटना, किंवा घोरघोरतमा दुर्घटना सर्वथा तथ्यपूर्णा ही थी। दिग्देशकालप्रेमी किसी वैज्ञानिक मानव की विमल ? बुद्धि ? से आविष्कृत अमुक दिव्य वरदान ('बम्शङ्कर' नहीं, अपितु 'प्रलयङ्कर बम') के निःसीम अनुग्रह से यवद्वीप का वह सुसमृद्ध भूभाग सदा सदा के लिए 'निर्ऋतिदेवता' का ही लीलाविलासक्षेत्र बन गया। अब आज भी देखिए उस प्रान्तविशेष को, दिक्-कालानुगत उसी देशविशेष को जाकर। क्या अब भी आप मृत्पिण्डात्मक भूखण्ड को ही 'राष्ट्र' कहेंगे ?। क्या मानव की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी 'राष्ट्र' की कोई स्वरूप-व्याख्या है ?। दीप्त्यर्थक 'राजृ' धातु से निष्पन्न 'राष्ट्र' के दीप्तिभाव, प्रकाशभाव, आलोकभाव के अनुबन्ध से एकमात्र 'मानव' को (ऐसे मानव को, जो स्वस्वरूप से, स्वमानवोचिता विभूतियों से प्रदीप्त है, प्रकाशित है) ही 'राष्ट्र' कहा गया है। जिस भूखण्ड में ऐसा 'राष्ट्र' रूप (आलोकरूप) मानवश्रेष्ठ-'राजते', अर्थात् विद्यमान् है, उस भूखण्ड को ही 'मानवरूप राष्ट्र' की उपाधि का सम्मान प्राप्त हुआ करता है।

५००-'राष्ट्र'-रूप मानव के सम्बन्ध से ही भूखण्ड-विशेषों की राष्ट्रीयता, 'राष्ट्र' स्वरूपव्याख्यात्मक मानव, एवं तद्व्यापकता का समन्वय—

'राष्ट्रमानव' से ही भूखण्ड 'राष्ट्र' कहलाया है, न कि भूखण्ड से मानव को 'राष्ट्र' उपाधि मिली है। निष्कर्षतः मानव स्वयं ही 'राष्ट्र' की स्वरूप-व्याख्या है, जिसे कदापि किसी भूखण्ड-भूप्रान्त-देश-विशेषरूप मृत्पिण्ड की सीमा में आबद्ध नहीं किया जासकता। जिस जिस भूखण्ड में राष्ट्ररूप मानव उत्पीड़ित है, जहाँ जहाँ राष्ट्रमानव अपनी 'राजते' रूपा प्रदीप्ति को जलाञ्जलि समर्पित कर मानवों के लिए उत्पीड़क बन गया है,

कदापि उस उस भूखण्ड को 'राष्ट्र' उपाधि से सम्मानित नहीं किया जासकता, नहीं किया गया। मानवशून्य, प्रदीप्तिरूप मानवशून्य, उत्पीड़ित मानवयुक्त, एवं उत्पीड़क मानवयुक्त सभी भूखण्ड अराष्ट्र हैं, मर्त्य-शवशरीरमात्र हैं, जहाँ के उपास्यदेवता माने गए हैं-**'अराजकता'-'विद्रोह'-'विविध रोग'-'अकाल'-'दुष्काल'-'स्वार्थान्धता'-'पदप्रतिष्ठाव्यामोहन'**, जिन इन देवताओं की गणनाने तो त्रिंशत्कोटिमिता देवगणना की सीमा का भी आज उल्लंघन ही कर दिया है।

५०१-आज के बुद्धिमान् मानव के द्वारा 'राष्ट्र' के स्थान में 'विश्व' का प्रतिष्ठापन, राष्ट्रीयता के प्रति आक्रोश, तथा तत्स्थान में 'विश्वमैत्री', 'विश्वबन्धुत्त्व' आदि नवीन भावों का आविर्भाव—

सुनते हैं—आज के बुद्धिमान् मानवने **'राष्ट्र'** के स्थान में **'विश्व'** को प्रतिष्ठित कर अपनी विशालता का परिचय देना आरम्भ कर दिया है, और इसी अनुबन्ध के माध्यम से आज 'राष्ट्र' **'राष्ट्रवाद'**-रूप में परिणत होता हुआ एकप्रकार की प्रान्तीयता का ही सूचक बन गया है। एवं उच्चकोटि के बुद्धिमान् आज 'राष्ट्रीयता' को भी एक हीनता ही मानने लग पड़े हैं। तत्स्थान में प्रतिष्ठित होगए हैं आज-**'विश्वमैत्री'-'विश्वबन्धुत्त्व' 'विश्वहित'** इत्यादि शब्द। स्वागत ही करना चाहिए था हमें इन विशाल अनुबन्धों का। किन्तु एकमात्र 'मानव' की महत्ता के संरक्षण-व्यामोहन से ही हम तो इस विशालता का यत्किञ्चित् भी तो अर्थ समन्वित नहीं कर पारहे। इस 'विश्वमैत्री' का कुछ भी तो अर्थ हमारी समझ में नहीं आरहा। इसलिए समझ में नहीं आरहा कि, दिग्देशकालानुबन्धिनी 'बुद्धि' का तो सङ्केत हुआ है 'मानवशास्त्र' में। किन्तु वैसी **'समझ'** का दिग्देशकाल-सीमा की दृष्टि से मानवशास्त्र में कहीं भी वर्णन नहीं उपलब्ध न करसके हम आजतक, जो 'समझ' यह प्रमाणित करदे कि-'विश्व' भूखण्ड से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र चेतन-विकसित-पदार्थ तत्त्व **है**, जिसे तथाकथिता परिभाषा के अनुसार 'राजते' लक्षणा 'राष्ट्र की उपाधि से समलङ्कृत कर दिया जाय ?। और तब तो हमारा यह व्यामोहन सर्वथा ही विगलित हो जाना चाहिए, जबकि अब तो **'भूविश्व'** की सीमा के 'चन्द्रलोक' के द्वारा कहीं अधिक बड़ी होजाने के शुभसंकल्प किए जारहे हैं।

५०२-भूतव्यासक्तिमूला व्यापकता के भावुकतापूर्ण मलीमस इतिहास से अनुप्राणिता विश्वमैत्रीलक्षणा राष्ट्रीयता का स्वरूप--विस्फोटन--

सुना है—विज्ञाननिष्ठ जापान में तो चन्द्रलोक के प्रदेशों का क्रय—विक्रय—भी आरम्भ होगया है। जहाँतक लोकान्वेषण का सम्बन्ध है, वैज्ञानिक की बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। क्योंकि इस से भूमाभाव की ही अनुगति हुई है। किन्तु उस लोक में रहने का आकर्षण, वहाँ देश-प्रदेशों के क्रय-विक्रय का आकर्षण जब वैज्ञानिक के सम्मुख आ खड़ा होता है, तो हम स्तब्ध होजाते हैं उसके इस दिग्देश-काल—व्यामोहन को देख (सुन) कर। और ऐसा—सा ही नहीं, अपितु यही अर्थ है विश्वात्मिका राष्ट्रीयता का भी, जिसमें दिग्देशकालात्मक भूविवर्त्त ही (भूखण्ड ही) लक्ष्य बन रहा है। यही है उस विश्वबन्धुत्त्व का, विश्वमैत्री का नितान्त छल-पूर्ण मिथ्या-प्रदर्शन, जिसके गर्भ में **प्रत्येक भूखण्डाधिपति की भूखण्डाभिवृद्धि ही प्रधान लक्ष्य बनी हुई है**। दृष्टि के सम्मुख दिग्देशकालातीत अनन्त मानव नहीं है, अपितु दिग्देश-

कालात्मक सादिसान्त विश्व ही इस मैत्री का, किंवा बन्धुत्त्व का आधारस्तम्भ बन रहा है, किंवा बलपूर्वक बनाया जारहा है। इस दिग्देशकालानुबन्धताने हीं तो आज मानव से 'मानव' को परोक्ष कर दिया है।

५०३–अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहनमूला आज की मैत्री, तदनुप्राणित सहास्तित्त्वादि भावों का आटोपपूर्ण स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं तदनुबन्धी दिग्देशकालात्मक वैय्यक्तिक स्वार्थ––

अतएव आज रूस अमेरिका से मित्रता चाहता है, तो भारत रूस की मित्रता के लिए आतुर होता जारहा है, तो मुसलिमस्तान (पाकिस्तान) अमेरिका का अञ्चल थामे हुए है। मानव मानव की मित्रता आज सर्वत्र अनपेक्षित है। मैत्री अपेक्षित है–देश–की देश के साथ, किंवा दिक् की दिक् के साथ, अथवा तो काल की काल के साथ। प्रत्येक देश, अर्थात् प्रत्येक दिग्देशकाल अन्य सभी दिग्देशकालों से लाभ उठाने के लिए मित्रता की उद्घोषपरम्पराओं के माध्यम से नवीन नवीन दैशिक-कालिक-अनुरञ्जनों (आज की भाषा में-सांस्कृतिक–आयोजनों) के आकर्षणों में तल्लीन बनता जारहा है, जैसेकि एक वाराङ्गना अपने इत्थंभूत आयोजनों से परसम्पत्ति के प्रति गिद्धदृष्टि–निक्षेप किए रहती है। कहीं भी तो न उपक्रम में ही तथाकथिता मैत्री में, बन्धुत्त्व में 'मानव' का संस्मरण, न उपसंहार में ही मानव का समावेश। एक देश दूसरे देश से मिल कर करता है–दैशिक–कालिक–भूतभौतिक पदार्थों के पारस्परिक आदान प्रदान का, क्रय–विक्रय का समझौता। यदि इस समझोते में सोदा नहीं पटता, तो फिर तत्-वस्तु परिग्रह के अभाव में तद्देश के मानव भले ही शरीर ही विसर्जित क्यों न करदें, कदापि बिना समझौते, अर्थात् दिग्देशकालात्मक लाभ की तात्कालिक, अथवा तो भावी–आशा के समझोते कार्य्यरूप में परिणत नहीं होते। ऐसी बिडम्बना क्यों ?। उत्तर वही दिग्देशकाल का व्यामोहन। इस व्यामोहन की विद्यमानता में तो वैय्यक्तिक स्वार्थ–पारिवारिक स्वार्थ-सामाजिक-स्वार्थ-राष्ट्रीयस्वार्थ-एवं सर्वान्त का विश्वस्वार्थ, अर्थात् वैय्यक्तिकादि, विश्वान्ता मैत्री, इन सब का एक ही अर्थ है। और उसी अर्थ का नाम है–'दिग्देशकालस्वार्थ', अर्थात् मानवस्वरूप के समतुलन में चरमसीमा का घोरघोरतम 'अनर्थ'।

५०४-तथाविध अनर्थात्मक स्वार्थ के पोषक व्याजधर्म्मात्मक आज के मानवता--अहिंसा–सत्य–दया-करुणा-नैतिकता आदि आदि वाग्विजृम्भण, एवं तदनुगता विलक्षणा भावभङ्गिमा—

इसी 'अनर्थ' की सीमा में आज की वे "मानवता–दया–करुणा–अहिंसा–मैत्री–सहास्तित्त्व–पञ्चशील-सत्यभाषण-परोपकार–त्याग–तपस्या–बलिदान-संयम–नैतिकता-राष्ट्रसेवा-ग्रामसेवा-रचनात्मक कार्य–विकासयोजनाएँ–" आदि आदि समस्त उदात्त-शब्दघोषणाएँ मात्र अन्तर्गर्भित हैं, जिन में सर्वत्र 'मानव' उपेक्षित है, एवं-'दिग्देशकाल ही प्रमुख हैं। दिग्देश कालानुबन्धी स्वार्थ की यत्किञ्चत् भी हानि की सम्भावना-मात्र से भी वे सभी शब्द क्रमशः-'दानवता-क्रूरता-घृणा-हिंसा-शत्रुता–सहविरोध-पञ्चेन्द्रियलोलुपता–मिथ्याभाषण–स्वस्वार्थ–संग्रह–विश्राम–संरक्षण–स्खलन–भौतिकता–राष्ट्रद्रोह–ग्रामद्रोह–रचनाविध्वंस–संकोच योजनाएँ–" आदि आदि विपर्य्ययभावों में परिणत हो जाते हैं। पूर्व-

क्षण में जहाँ यह सुनते हैं कि, "**अमुक देश में अमुक सम्मेलन में अमुकने अमुक की मैत्री के लिए हाथ बढाया**", तो उत्तर क्षण में ही दिग्देशकालात्मक विजम्भणों के प्रचार-प्रसार में धुरीण समाचारपत्रों में यह इतिवृत्त उद्धृत सुन लिया जाता है कि-"**मैत्रीपूर्ण वार्त्ता के बिफल हो जाने से अमुक ने अमुक देशपर गोले बरसाना आरम्भ क दिया**"। **धन्य है यह मैत्री ! और तदपेक्षया भी धन्य है इस की यह भङ्ग-भङ्गिमा ! ! (अर्थात्-मैत्रीविच्छेद)**

५०५-दिग्देशकाल का प्राधान्य, एवं मानव का गौणत्व, तदनुगत एक रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का संस्मरण, तथा भारतीय--सांस्कृतिक--अनुष्ठानों के आधारभूत काल की स्वरूप--परिभाषा—

तथाकथित सभी दिग्देशकालभावों में दिग्देशकाल बन रहे हैं प्रधान, एवं मानव सर्वत्र बन रहा है गौण, एवं अत्रैव 'भारतराष्ट्र' के सम्बन्ध में एक अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण के प्रति आज दिग्देशात्मक राष्ट्रवादियों, तथा विश्ववादियों का ध्यान और आकर्षित कर दिया जाता है। दिग्देशकालातीता **'मानव-संस्कृति'** के आधार पर प्रतिष्ठिता हमें अपनी दिग्देशकालातीता ही भारतराष्ट्र की **'राष्ट्रीय-संस्कृति'** की उस गरिमामहिमा की दिग्देशकालातीतता को देख-सुन कर अणुमात्र भी आश्चर्य्य इसलिए नहीं हो रहा कि, हमारे सभी सांस्कृतिक अनुष्ठान (आचार), आयोजन-आदि आदि किसी व्यक्त-देश-काल से अनुप्राणित न हो कर इन मूर्त्त-भौतिक-व्यक्त-दिक्-देश-कालों से अतीत अमूर्त्त-अभौतिक-अव्यक्त, अतएव महतोमहीयान् अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्तदेश-भावों के आधार पर ही व्यवस्थित हुऐ हैं। वस्तुस्थिति क्योंकि अनन्त प्राणजगत् से सम्बन्ध रखने वाली है, अतएव थोड़ी सूक्ष्म अवश्य है। किन्तु है सहजरूपेणैव बुद्धिगम्य। क्या हम प्रत्यक्ष-दृष्ट श्रुत-उपवर्णित-चान्द्र-सम्वत्सर-वर्ष-कालात्मक सादि-सान्त काल को अपने सांस्कृतिक-अनुष्ठानाचारों में 'काल' (समय) कहते हैं ?। नहीं। अपितु हमारे प्रत्येक अनुष्ठान का आधारभूत संकल्पित काल वह **'संकल्पकाल'** होता है, जो **'ब्राह्मकाल'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस का परिचायक-संग्राहक-बनता है तदंशभूत वह मन्वन्तरकाल, जो उस ब्राह्म अनन्तकाल का अंशमात्र बनता हुआ भी व्यक्त-व्यावहारिक-वर्षात्मक काल से तो सर्वथा अनाद्यनन्त की बना हुआ है, जिसका कि खण्डा-रम्भ में हीं प्रणतभाव से संस्मरण किया जाचुका है। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तरात्मक ब्राह्मकाल ही, वह अनन्तकाल ही भारतीय मानव का संकल्पकाल है, और वही इसके समस्त प्राकृत विधि-विधानों का साक्षी बन रहा है।

५०६-तत्त्वात्मक-मन्वन्तरकालात्मक काल से अनुप्राणित दिग्भाव की स्वरूप-परिभाषा—

यही अवस्था यहाँ के 'दिग्भाव' की है। कदापि हम कल्पित आकारभाव को, इन सादिसान्त अवसान-भावों को 'दिक्' (दिशा) नहीं कहते, जो कि मूर्त्त दिक् सादिसान्त देशों की परिचायिका बनी रहती है। किन्तु हम उसे **प्राची-प्रतीची-उदीची-दक्षिणा-ऊर्ध्वा-अधः-दिक्** कहते हैं, जो क्रमशः **इन्द्र, वरुण, सोम, यम, ब्रह्मा, अनन्त,** आदि अमूर्त्त-अनन्त-प्राणभावों से अभिन्न अनन्त पारमेष्ठ्य छन्दोदेवता ही हैं। कालदेववत् देवप्राणात्मिका ये दिशाएँ भी हमारे लिए पूज्या हैं, आराध्या हैं, उपास्या हैं, जिन का हमारे आचारधर्म्मों में

विस्तार से पूजन–अनुष्ठान विहित है, जो कि प्राची–प्रतीती–उदीची–आदि दिग्देवता दशावयव विराट् प्रजापति, अनन्त प्रजापति की अनन्त विभूतियों के रूप से ही वेदशास्त्र में उपवर्णित हैं *।

५०७–काल, तथा दिक् से अनुप्राणित देशभाव की स्वरूप--परिभाषा, एवं 'भारतदेश' के 'भारतराष्ट्र' नामकरण की मान्यता का तत्त्वदृष्टया मूलोच्छेद—

अब लक्ष्य बनाइए उस 'देश' को, जिस की सादि–सान्तताने ही मानव को कालविमूढ-दिग्विमूढ़–बनाते हुए आज देशविमूढ बना रक्खा है, एवं इस देशविमूढ़ता के माध्यम ने ही जिसमें **राष्ट्रप्रेम, विश्वबन्धुत्त्व**, आदि देशानुबन्धी–भूखण्डानुबन्धी नितान्त–कल्पित–व्यामोहनों का सर्ज्जन कर डाला है। भारतीय परिभाषामें देशसंग्राहक नाम (देशों के नाम) भी कदापि व्यक्त–मूर्त्त–भूत–भावों को प्रधानता नहीं देरहे। अपितु सम्पूर्ण देशनाम अनन्त–अमूर्त्त--प्राण--भावों के माध्यम से ही समन्वित हैं, जिन देशनामों की अनन्तता का तत्त्वविश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। केवल एक समष्ट्यात्मक नाम की अनन्तता--अमूर्त्तता की ओर ही सङ्केतमात्र कर देना है, जिस के माध्यम से स्थालीपुलाकन्यायेन सभी नामों की अनन्तता का समन्वय गतार्थ बन जाता है। और वह पवित्रतम नाम है--'**भारत**', जिस '**भारतदेश**' का कदापि भूखण्डात्मक सादि--सान्त--मर्त्य–'**देश**' भाव से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही वह रहस्यपूर्ण, किन्तु सर्वथा बुद्धिगम्य **दृष्टिकोण है**, जिस एक दृष्टिकोण के समन्वय से भी कम से कम भारतीय राष्ट्रमानव का तो दिग्देशकाल--विमोहन सर्वात्मना उपशान्त हो ही जाना चाहिए। जिस भूखण्डपर भारतीय मानव आवास-निवास-करते हैं, क्या उस का नाम 'भारतदेश', किंवा '**भारतराष्ट्र**' है ?, क्या इसी राष्ट्रीयता का यशोगान हुआ है भारतीयों के राष्ट्रीय--साहित्य--श्रुति--स्मृति--पुराण--शास्त्रों में ? । कदापि नहीं। न तो इस भूखण्डविशेष का नाम 'भारतदेश' ही है, न इसका नाम 'भारतराष्ट्र' ही है, न यहाँ के अनन्तभावानुगत अनन्तशास्त्र में इस राष्ट्रीयता का यशोगान ही हुआ है।

५०८–'भारत' रूप दिव्य--हव्यवाट्--सम्वत्सराग्नि का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं तत्प्रतीक--माध्यम से एतद्देश की लाक्षणिकी 'भारत' संज्ञा का समन्वय—

अपितु 'भारतदेश' नाम है उस **प्राणाग्नि–अमूर्त्ताग्नि–देवाग्नि–अनन्ताग्नि** का, जो प्राणाग्निदेव '**भारत**' नाम से प्रसिद्ध हैं। परिच्छिन्न–भौतिक–देश का नाम कदापि भारत नहीं है। अपितु 'भारत' नाम तो उस प्राणाग्नि का है, जो 'महतोमहीयान्' है। ऐसा महतोमहीयान् है, जिसके गर्भ में न केवल यह भूखण्ड-विशेष ही, अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड भी एक बुद्बुद् जितना ही स्वरूप रख रहा है। यह वह '**भारत–अग्नि**' है, जो ब्रह्मवीर्य्यात्मक बनता हुआ प्राणदेवतानुगत, प्रकृतिसिद्ध, नित्य चातुर्वर्ण्य में '**ब्राह्मणवर्ण**' माने गए हैं। यह वह '**ब्राह्मणाग्नि**', किंवा '**ब्रह्माग्नि**' है, जिस से सम्पूर्ण भूपिण्ड के भूतों का भी, सीमित–प्रदेश–देशों का भी भरण–पोषण हो रहा है, एवं इसी के ऊर्ध्ववितत प्राणात्मक वितान से पार्थिव त्रैलोक्य के द्युलोकीय

---

* तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु (यजुः सं० १६।६५।)। प्राची एव **भर्गः** (गो० पू० ५।१५)। प्रतीची–एव **महः** (गो० पू० ५।४५)। उदीची–एव **यशः** (गो० पू० ५।१५।)। दक्षिणैव **सर्वम्** (गो० पू० ५।१५।) इत्यादि।

साम्वत्सरिक प्राणदेवदेवताओं का भी (पार्थिव हवि के प्रदान से, हविःप्रदानात्मक इस आधिदैविक यज्ञ से) भरण-पोषण होता रहता है। इत्थंभूत ब्राह्मण भारताग्नि इस भरण-पोषण-धर्म्म से ही **'भारत'**, किंवा **'भरत'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्राणदेवों के लिए हव्य (सोमाहुति) वहन करने के कारण हीं ये भारताग्नि **'हव्यवाट्'** नाम से भी प्रसिद्ध हो रहे हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड क्योंकि इस भारताग्नि से ही अनुप्राणित है, अतएव सम्पूर्ण-भूपिण्ड को उस भारताग्नि का प्रतीक होने से 'भारत' नामसे व्यवहृत किया जासकता है इस अनन्तदृष्टिकोण से। और हम समझते हैं, जिस दिन मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमित प्रज्ञा प्रकृति के इस अनन्त रहस्य को वास्तव में समझ लेगी, उस दिन सभी भूखण्डों के मानव अपने अपने सादि-सान्त-दैशिक-प्रान्तीय-कल्पित-राष्ट्रीय-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर एकमात्र **'भारत'** नाम ही रख लेगें, इसी आर्ष अभिधा (नाम) को अन्तःकरण से प्रकृतिसिद्ध मान लेंगे, जैसेकि इस भूखण्ड की अनन्तोपासिका ऋषिमानवप्रज्ञा ने इसी त्रैलोक्यव्यापक **'भारताग्नि'** के नाम से अपने देशविशेषात्मक अमुक भूखण्ड का प्रतीकविधि से नामकरण करते हुए इसे-**'भारतदेश'** नाम से व्यवस्थित-समन्वित कर लिया हैं।

५०९-दिग्देशकालव्यवधानात्मिका 'अनार्य्यता', एवं सर्वव्यापकब्रह्ममूला 'आर्य्यता', तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का तात्त्विक-समन्वय—

जिस पावन शुभ घड़ी में मानव अपने सीमित दिग्दिशकाल-नामों के व्यामोहन का परित्याग कर देगा, उसी दिन दिग्देशकालव्यवधानात्मिका इस की 'अनार्य्यता' (वैकारिकता) क्षणमात्र में विलीन होजायगी। और उस अवस्था में वह अपने सहजसिद्ध-**'आर्य्यत्त्व'** से अभिव्यक्त होजायगा, जिस की इस भारतदेश के आर्य्यश्रेष्ठ ने अपने आर्य्यसाहित्य में-**'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'** रूपेण मुक्तकण्ठ से मङ्गलकामना अभिव्यक्त की है। निश्चयेन उस अवस्था में सम्पूर्ण भूमण्डल बन जायगा **'भारत'**, एवं इस **'अनन्त भारतदेश'** के उपासक अखिलभूमण्डल के मानवमात्र बन जायँगे **'आर्य्य'**, अर्थात् समदर्शनानुगत आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठ, जिस इस सीमित दिग्देशकालात्मिका, किन्तु अनन्तकाल-अनन्तदिक्-अनन्त-देशानुगता-अनन्ता समदर्शनता (प्राकृतात्मसमदर्शनता) के आधार पर व्यवस्थित तत्तद्देशों के विभिन्न भी दिग्देशकालानुबन्धी कर्त्तव्य-कर्म्म कदापि संघर्ष के कारण नहीं बन पाएँगे।

५१०-अखिल भूमण्डलानुगत 'भारत' शब्द, तत्प्रतीकात्मक 'आर्य्यावर्त्त' रूप 'भारत-खण्ड', तदनुप्राणित भारतवर्ष, तत्र प्रतिष्ठित भारतीय ब्राह्मण, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण विश्व की आर्य्यता का संरक्षण—

दिग्देशकालानुबन्धी-स्व-स्व-विभिन्न दैशिक-कालिक-विषम (परस्पर विभिन्न) कर्त्तव्य-कर्म्मों में, स्व-स्व-चरित्रों में प्रवृत्त सभी भूखण्डों के मानव स्व-स्व-विशेषताओं को अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों से सुरक्षित रखते हुए दिग्देशकालातीत अनन्त भारतदेशानुगता-अनन्ता समदर्शनता से निर्विरोध समन्वित होते रहेंगे, इसीको कहा जायगा आत्ममूलक **'साम्य'**,एवं यही भारतानुगत **'साम्यवाद'** की रहस्यपूर्ण व्याख्या होगी,जिसका **'तृतीयखण्ड'** में विस्तार से यशोगान किया जाचुका है। एवं जिस आत्ममूलक साम्यवाद नहीं, अपितु 'साम्य' के आधार पर प्रतिष्ठित स्व-स्व-चरित्र की शिक्षा उस **'ब्राह्मणमानव'** से ही सम्पूर्ण विश्व के मानवों के

सदा से ही मिलती रही है, जिसकी दृष्टि में 'भारत' अनन्त है, आत्मप्रतीक है, केवल भूखण्डविशेष ही नहीं *। जिस इस प्रतीकभूत **भरतखण्ड**, किंवा **भारतखण्ड** (सम्पूर्ण भूमण्डलरूप अनन्त भारतदेश का एक प्रतीकात्मक सुप्रसिद्ध '**भारतवर्ष**' नामक देश) में अभिव्यक्त होने वाले अनन्तभारतराष्ट्र के द्वारा भारतीय मानवने अपने अनन्त '**भारताग्निशास्त्र**', **अपौरुषेय ब्रह्माग्निमूलक वेदशास्त्र**' के आधार पर सदा इतर भूखण्डों के मानवों को उन उन के चरित्रों-कर्त्तव्यों को सुव्यवस्थित बनाते हुए ही उनके लिए '**आर्य्यत्त्व**' की मङ्गलकामना की है। कदापि इसने अपने **भारतखण्ड के विशेष चरित्रलक्षण उस वर्णाश्रमधर्म्मरूप 'स्वधर्म्म'** के प्रति दूसरे भूखण्डों के विभिन्नप्रकृतिक–मानवों के लिए आग्रह-दुराग्रह व्यक्त किया ही नहीं, जैसे कि अनन्तता के इस व्यापक तथ्य से अपने आप को पृथक् रखने वाले अन्य भूखण्डों के प्राकृत मानव अपने अपने विशेष कर्त्तव्यों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए उन्हीं का सर्वत्र–प्रचार–करने का प्रयास करते रहते हैं। और निश्चयेन इसी असम्भव–'**विशेषप्रकृति**' विरुद्ध–प्रयासने मानव को उस संघर्ष पर ला खड़ा किया है, जिससे अनन्तपुरुषमूला (अव्ययब्रह्ममूला) '**मानवता**', तथा अनन्तप्रकृतिसिद्धा '**आर्य्यता**', आज सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बनती जारही है।

५११–स्वधर्म्मात्मक श्रौतस्मार्त्त--विशेषधर्म्म का भावुकतापूर्ण विश्वप्रचार–व्यामोहन, तद्व्यामोहन से भारतीय आर्षधर्म्म की अन्तर्म्मुखता, एवं विशेषधर्म्म, तथा आर्य्यत्त्व के पार्थक्य का तात्त्विक--समन्वय—

सहजभाषानुसार–कभी इस भारतदेश ने प्रकृतिसिद्ध स्वधर्म्मात्मक अपने वर्णाश्रमधर्म्म के 'विश्व-प्रचार' का व्यामोहन किया ही नहीं, जैसाकि आज भ्रान्तिवश सोचा जाने लगा है परानुकरण के माध्यम से। **"वेदधर्म्म का हम सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करदेंगे, वेदधर्म्म से ही सम्पूर्ण विश्व सुखी–शान्त हो सकेगा"**, इत्यादिरूपेण गतानुगतिक–अन्धानुकरण के अनुग्रह से इसप्रकार धर्म्मात्मक–कर्त्तव्य प्राकृतिक-कर्त्तव्य के प्रचार प्रसार के लिए आतुर भारतीय, आज के अभिनव वेदव्याख्याता यह विस्मृत कर देते हैं कि, कदापि यह भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। **कदापि यहाँ 'धर्म्म' प्रचार की वस्तु रहा ही नहीं**। और कदापि इस का प्रकृतिनिबन्धन स्वधर्म्मात्मक यह 'वर्णाश्रमधर्म्म' (वर्णानुगत कर्त्तव्यकर्म्म) भारतातिरिक्त भूखण्डों के प्रति आकर्षित हुआ ही नहीं। यही नहीं, स्वयं यहाँ भी परस्पर व्यतिक्रम सहन नहीं किया **इस** वर्णधर्म्म का भारतीय मानवोंनें, केवल अवतारपुरुषों के अतिरिक्त ×। हाँ, उस '**आर्य्यत्त्व**' की मङ्गलकामना

*** एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुः

×–धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्टः, ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥

—श्रीमद्भागवते

अवश्य ही अभिव्यक्त की है सम्पूर्ण मानवों के लिए इस देश की ऋषिप्रज्ञाने, जो विभिन्नप्रकृतिक सभी विभिन्न मानवों का अविभिन्न–सामान्य–आत्मधर्म्म माना गया है÷। और यही–'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का स्पष्टार्थ है। व्यापक है आर्य्यत्व, एवं सीमारूपेण व्यवस्थित है वर्णाश्रमधर्म्म। अनन्तब्रह्मानुगत है आर्य्यत्व, एवं सादि–शान्ता प्रकृति से समन्वित है वर्णाश्रमधर्म्म। आर्य्यत्व व्यापकधर्म्म है, सामान्य धर्म्म है, जबकि वर्णाश्रमाचार केवल इस विशेष देश भारत के मानव से ही अनुप्राणित है। वेदशास्त्र का अनन्तात्ममूलक आर्य्यत्व ही सम्पूर्ण विश्व से अनुप्राणित माना गया है, जिसका भी प्रचार कदापि अभीप्सित नहीं है। केवल तत्त्वस्थिति का विश्लेषण ही अभीष्ट है, और यही 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का समन्वय है।

५१२–मानवमात्र की प्रकृतिसिद्धा 'आर्य्यता', एवं दिग्देशकालव्यामोहन से 'अनार्य्यता' का उद्गम, और एतद्देशीय मानवों की भी सम्भाविता 'अनार्य्यता', तथा अन्यदेशीय मानवों की भी सम्भाविता–'आर्य्यता'—

आर्य्य किसी को नवीनरूप से बनाया नहीं जाता। अपितु मानवमात्र मूलतः सहजरूपेणैव आर्य्य ही हैं। अनन्तात्मभाव ही तो 'मनु' रूप मानव का सहज स्वरूप है। दिग्देशकाल के विमोहन से जब मानव अपनी इस आत्मानुगता आर्य्यता को अभिभूत कर लेता है, तो वही मानव अपने इस प्राकृतिक व्यामोहन से 'अनार्य्य' बन जाता है। कदापि आर्य्यता–अनार्य्यता–भूखण्ड–विशेषों में सीमित नहीं है। भारतेतर देशों के मानवश्रेष्ठ भी आर्य्यश्रेष्ठ होसकते है, तो भारतदेश के मानव भी अनार्य्य बन सकते हैं, और बन गए हैं आज।

५१३–प्रकृत्यनुगत सीमित वर्णधर्म्म, तथा प्रकृत्यतीता असीमा आर्य्यता, एवं भारतीय मानव की उभयसंम्पत्ति का वर्त्तमान युग में आत्यन्तिक–अभिभव–

भारतीय ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–नामक सभी मानवों की आत्मानुगता, आत्मसाम्यमूला 'आर्य्यता' भी आज अभिभूत है, साथ साथ ही स्वधर्म्मात्मिका 'वर्णता' भी अभिभूत है। न तो प्रकृतिनिबन्धन विशेष-धर्म्मात्मक 'वर्णाश्रमधर्म्म' ही आज सुरक्षित है यहाँ के वर्णमानवों का, एवं न प्रकृत्यतीत आत्मानुगत 'आर्य्यधर्म्म' ही व्यवस्थित है। जबकि आर्य्यत्वमूलक कतिपय सामान्यधर्म्मों में तो आज भारतेतर कतिपय देशों के मानवश्रेष्ठ ही कहीं अधिक अग्रणी माने जायँगे, जिन के समतुलन में आज के भारतीय मानव को यदि 'अनार्य्य' कह दिया जायगा, तो भी अत्युक्ति न होगी। विश्वानुबन्धिनी आर्य्यता न सही उन में। किन्तु स्वराष्ट्रानुगता 'आर्य्यता' तो स्वीकार करनी हीं पड़ेगी उन की, जबकि यहाँ राष्ट्रानुबन्धिनी आर्य्यता भी आज प्रसुप्ता है। भारतीय मानव का वैय्यक्तिक क्षुद्रस्वार्थ आज अपनी इस राष्ट्रीया आर्य्यता से भी पराङ्मुख हो

÷ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
—गीता

चुका है। नामघोषणा अवश्य है राष्ट्रप्रेम की। किन्तु मानवतानुबन्ध से राष्ट्र के प्रति यत्किञ्चित् भी निष्ठा नहीं है आज भारतीय 'व्यक्तिमानव' की। **राष्ट्र-समाज**--आदि शब्द आज केवल यहाँ छलपूर्ण ही प्रमाणित हो रहे हैं। आज ही नहीं, आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व से अद्यावधि–पर्य्यन्त।

५१४–वर्णावर्णाव्यवस्थाओं, आर्य्य-अनार्य्य-भावों के व्यतिक्रम के तात्त्विक कारण का स्वरूप–दिग्दर्शन––

ऐसा क्यों ?, उत्तर वही दिग्देशकाल का विमोहन। अपने अपने देश-प्रदेश-घर-परिवार–की सीमाओं में अपना अपना लाभ उठाने के महान् व्यामोहनने हीं आज उस भारतीय मानव को 'राष्ट्रीयता' से पराङ्मुख ही कर दिया है, जिस की राष्ट्रीयता तीन सहस्रवर्ष पूर्व के नैष्ठिक युगों में विश्वानुगता ही बनी हुई थी। प्रकृत में इस आर्य्यता-अनार्य्यता के प्रसङ्ग से यही निवेदन कर देना था कि, आर्य्यत्त्व व्यापकधर्म्म है, ब्राह्मणात्त्वादि व्याप्यधर्म्म है। **ब्राह्मण 'अनार्य्य' कहला सकता है, जबकि इतर देशीय मानव भी 'आर्य्य' कहला सकता है**। कहला रहा है आज के '**अनार्य्य-ब्राह्मण**' के समतुलन में। किन्तु इतर-देशीय 'आर्य्य' कदापि 'ब्राह्मण' नहीं कहला सकता। क्योंकि 'ब्राह्मण' शब्द वर्णाश्रमानुगत विशेषधर्म्म का ही संग्राहक है, जिसका एतद्देशीय विशेषवर्ग के साथ ही समन्वय हुआ है, जिस इस दुरधिगम्या '**प्रकृतिमूला**' ('**नत्वाकृतिमूला**') वर्ण-विशेषता का समन्वय मानव तभी कर सकेगा, जबकि वह अपने दिग्देशकाल से थोड़ा ऊपर उठ जायगा। तभी वह यह समझ सकेगा कि, एक भारतीय **ब्राह्मण** 'आर्य्य' तो हो सकता है, किन्तु इतर देशीय आर्य्य भी मानव कदापि ब्राह्मण नहीं बन सकता। एवमेव क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि सभी विभाग इसी व्याप्य-व्यापक-भावानुबन्ध से सुव्यवस्थित बने हुए हैं प्राकृतिक प्राणजगत्–प्राणीजगत्–एवं भूतजगत् में। केवल मानवने हीं इन प्रकृतिमूला वर्णावर्णव्यवस्थाओं का व्यतिक्रम कर लिया है दिग्देशकालव्यामोहनों से।

५१५–भारतदेश के मूल अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) त्रैलोक्य-व्यापक दिव्य 'भारत' नामक अग्निदेव का संस्मरण—

हाँ, तो इस देश भारत के इस '**भारत**' नाम की आधारभूमि स्वयं यह सीमित देशविशेष कदापि नहीं है। **अपितु अनन्तप्राणमूर्त्ति-अमूर्त्त** 'भारत–अग्नि' **ही इस देश की** 'भारत' **अभिधा का एकमात्र कारण है**। दौष्यन्ति **भरत** की ही भाँति और और भी अनेक शासकों को **भरतसत्तम ! भरतर्षभ ! भारत !** आदि आदि रूपेण 'भारत' अभिधा के कारण माना जासकता है। किन्तु यह मान्यता केवल यशोऽनुबन्धिनी ही मानी जायगी, जबकि आस्था का सम्बन्ध तो '**भारतअग्नि**' के से ही माना जायगा। और यही इस देश के नामकरण का चिरन्तन इतिहास माना जायगा, जो कि निम्नलिखित मन्त्र–ब्राह्मण–श्रुतियों से सर्वात्मना अभिव्यक्त हुआ है—

'अग्ने ! महाँ २॥ ऽ असि ब्राह्मण भारत' इति। (निगदमन्त्रः)। (अथ मन्त्रव्याख्या) ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह–'ब्राह्मण' इति। स हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्मात्–'भरतो' 'ऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा ऽ इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्त्ति, तस्माद्वेवाह–'भारते' ति। (शत० ब्रा० १।४।२।२)।—कौ० ब्रा० ३।२, (तै० ब्रा० ३।५।३।१)।

५१६–अखण्ड भारत अग्नि से समन्वित भारतदेश की अखण्डता, एवं त्रयीमूलक भारत अग्नि के विस्मरण से अखण्डता की खण्ड-खण्डरूप में परिणति —

यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, जबतक भारतीय मानव अपने इस अनन्तप्राणरूप–'**भरताग्नि**' का, तदनुप्राणित प्राणाग्निरूप '**त्रयीशास्त्र**' का, तन्मूला '**अनन्तात्मसंस्कृति**' का निष्ठापूर्वक अनुगामी बना रहा, तबतक इसका यह सीमित भरतखण्ड सम्पूर्ण भूलोक का संग्राहक बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व को अपनी '**भारत**' उपाधि से, '**अखण्डभारतत्त्व**' से अनुप्राणित करता रहा। जिस दिन से इसने अपनी इस '**भारतप्राणात्मिका**' ('**भारताग्निरूपा**') प्राणप्रतिष्ठा को विस्मृत कर दिया, उसी दिन से इसकी यह अखण्डता खण्ड–खण्ड–रूप में हीं परिणत होने लग पड़ी, जिस खण्डता का अवसान अन्ततोगत्वा कहाँ होगा ?, इस प्रश्न का उत्तर तो वे अखण्डभारतवादी आज के राष्ट्रवादी ही सम्भवतः भलीभाँति कर सकेंगे, जिन की दृष्टि में न भारतीय संस्कृति का कोई महत्त्व, न सांस्कृतिक–आचार का ही कोई स्वरूप, एवं नापि सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का ही संस्मरण ?। अपितु जिन की सांस्कृतिक–आयोजन–भक्ति का एकमात्र आधारबिन्दु बने हुए हैं–आज के वे कल्पित आयोजन, जिन के दुःखपूर्ण इतिवृत्त के लिए ही हमें एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है।

५१७–वर्त्तमान राष्ट्रवादी की कल्पिता अखण्डता का नग्नचित्रण, तदनुबन्धी प्रान्तीयता–व्यामोहन, तद्दुष्परिणाम, और भारत का सम्भावित भीषण-भविष्य—

पुनश्च वे ही अपनी इस कल्पित अखण्डता का समाधान करसकेंगे, जिन की दृष्टि में राष्ट्र के द्वारा प्रान्त, तद्द्वारा ग्राम, तद्द्वारा परिवार, और सर्वान्त में 'व्यक्ति' ही 'अखण्डभारत' की मौलिक परिभाषा बन गई है। इसी दिग्देशकालव्यामोहन से अभी तो महाराष्ट्र-पञ्जाब-आदि कतिपय प्रान्त ही अपने आपको 'अखण्ड-भारत' मानने–मनवाने के लिए आतुर हो रहे हैं। कोई आश्चर्य्य नहीं, कालान्तर में प्रत्येक भारतीय मानव अपने अपने घर को ही 'अखण्डभारत' कह देना आरम्भ करदे। सांस्कृतिक–मूलनिष्ठाओं के प्रारम्भिक स्खलन के ऐसे ही तो दुष्परिणाम हुआ करते हैं। भावावेशमूला–परदर्शनानुगता–अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिव्या-मोहनमूला–दिग्देशकालकलुषिता भावुकता के द्वारा हो पड़ने वाली खण्डता (विभाजन) कदापि आज की इन अनेक–खण्ड–खण्ड–भावप्रवृत्तियों का तबतक नियन्त्रण–निरोध कर ही नहीं सकती, जबतक कि अखण्ड-भारत की मौलिक अखण्डता के आधारभूत '**महान् भारत अग्निदेव**' की मूलसंस्कृतिनिष्टा को इन भारतीयों की आधारभूमि नहीं बना दिया जायगा। आज से तीन सहस्र वर्ष के आरम्भ में दिग्देशकालव्यामोहनमूला तात्कालिकी दया-करुणा-अहिंसा-ने आत्मसंस्कृतिविरुद्धा जिस '**शून्यकल्पना**' का आविर्भाव कर डाला था इसी देश के एक भावुक मानव ने, उसी के कारण भारतीय-संस्कृतिनिष्ठात्मिका ऐकात्म्यनिष्ठा अन्तम्मुर्ख बन गई। और तभी से अखण्डभारत आततायीवर्गों के द्वारा खण्ड–खण्ड–रूपेण तदुदरों में विलीन होता गया। उसी कल्पित अहिंसावाद के व्यामोहनने, उसी तात्कालिकी दिग्देशकालभ्रान्ति ने अन्ततोगत्वा तो वैसी खण्डता का सर्ज्जन कर ही तो डाला, जिसका प्रायश्चित्त भी आज भारतीय मानव के लिए असम्भव बनता जारहा है।

इसलिए असम्भव बनता जारहा है कि, जिस मूलसंस्कृतिनिष्ठा से प्रायश्चित्त सम्भव बना करते हैं, दुर्भाग्यवश आज भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा ही उसी दिग्देशकालव्यामोहन से सर्वात्मना निरपेक्षता ही व्यक्त हो रही है भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के प्रति, इति नु महद्दुर्भाग्यम्-भारताग्निप्रतीकभूतस्य-देशस्यास्य खण्ड-खण्डात्मकस्य--भारतस्येति-अब्रह्मण्यमेव !

५१८–भारत की अखण्डता के मूलाधारभूत सांस्कृतिक-जागरण के सम्बन्ध में प्रश्न, तत्समाधान में प्रतीक, और प्रतिरूप-शब्दों का संस्मरण, एवं प्रतीक-भावानुबन्धी जड़ की मध्यस्थता का स्वरूप-दिग्दर्शन––

कब, किस उपाय से भारतीय मानव की तथाविधा सांस्कृतिक–जागरूकता सम्भव बनेगी ?, बन सकेगी ?, एकमात्र इस प्रश्न के समाधानान्वेषण के लिए ही तो 'दिग्देशकालमीमांसा' प्रवृत्त हुई है, जिसके मूलाधार दो शब्द बने हुए हैं-एक तो **'प्रतीक'**, और दूसरा **'प्रतिरूप'**। जिस दिन भी भारतीय मानव इन दोनों शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्त का सर्वात्मना समन्वय कर लेगा, उसी दिन, और उसी क्षण इसकी प्रसुप्ता भी सांस्कृतिक–निष्ठा जाकरूक होपड़ेगी। सांस्कृतिक–भारताग्नि की प्रतीकताने ही इसे संस्कृतिनिष्ठा से पराङ्मुख बना दिया है। अवश्य ही यह भूखण्ड,–यह भारतभूमि उस भारताग्नि की प्रतीकभूता है। तभी तो इसका–**'भारत'** नामकरण हुआ है। किन्तु 'प्रतीक' सदा ही 'जड़' 'अचेतन' हुआ करते हैं। प्रतीकों का उपयोग एकमात्र यही है कि, तद्द्वारा लक्ष्य की ओर निष्ठा जाग्रत हो जाय। किन्तु जब प्रतीकात्मक दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन जाते हैं, तो लक्ष्य विलीन होजाता है, एवं तत्काल अचेतन–जड़–भौतिक–प्रतीकों से सम्बन्ध रखने वाले सादि–सान्त–मूर्त्त–व्यक्त–दिग्देशकालव्यामोहन जागरूक होपड़ते हैं। एवं प्रतीक-माध्यमेन लक्ष्य की उपासना करने वाले चेतनपुरुष (मानव) का सर्वस्व लक्ष्य प्रतीकात्मक दिग्देशकालानुबन्ध ही बन जाता है। उस समय चेतन विस्मृत हो जाता है अपने ही चैतन्य से, यह स्वयं भी सर्वथा जड़भाव में हीं परिणत होजाता है, एवं इसके सम्पूर्ण लक्ष्य भी जड़ात्मक प्रतीक ही बन जाते हैं। इसी प्रतीकभक्ति ने आज मर्त्य–भूखण्ड को **'भारतराष्ट्र'** मान लिया है, जबकि यह तो केवल 'भारतराष्ट्र' का जड़–माध्यम–प्रतीक–मात्र ही है।

५१९–जड़माध्यमों के विशोधक पुरातत्त्वविदों के द्वारा ध्वंसावशेषों का अन्वेषण, तदनुप्राणित 'पुरातत्त्वानुसंधान', एवं तद्द्वारा ही भारत के अतीत गौरव का संरक्षण-प्रयास—

बात थोड़ी समझने जैसी है। भारतीय इतिहास के, तथा पुरातत्त्वों के विशोधक–संसोशधक संस्कृति-निष्ठ ? विद्वान् आज आतुर हो रहे हैं भूगर्भस्थ, तथा भूपृष्ठस्थ ध्वंसावशेषों–अस्थिकङ्कालावशेषों–मृण्मय–उदशरावादि–खण्डविशेषों (ठीकरों)–सुवर्ण-रजत-ताम्र-आदि की मुद्राविशेषों के अन्वेषण-प्रयास के लिए। क्योंकि इसी अन्वेषण के आधार पर ये 'भारतीय संस्कृति' का मूल–शुद्ध–रूप व्यवस्थित कर देने के सुख स्वप्न देख रहे हैं। जहाँ भी, जब भी, जो भी कुछ टूटा–फूटा–सड़ा–गला–जीर्ण–शीर्ण–भूत–भौतिक पदार्थ इन्हें उपलब्ध हो जाता है, दौड़ पड़ते हैं ये उसकी ओर, एवं अपने परिकल्पित मापदण्डों के अनुपात से इन

पदार्थों के दिग्–देश–काल–की मीमांसा में सर्वात्मना जुट पड़ते हैं। इस महान् भगीरथप्रयास का नाम ही है आज की भाषा में-'विशोधन', और इसी का नाम है-'पुरातत्त्वानुसंधान'। सौभाग्य ही माना जायगा यह इन पुरातत्त्वविदों का कि, आज का सत्तातन्त्र भी न केवल इस कार्य्य में अभिरुचि ही ले रहा है, अपितु इन सब खण्डहरों के रक्षण के लिए, भूगर्भ से निकले हुए उन टूटे फूटे भूत–भौतिक–परिग्रहों की व्यवस्था के लिए मुक्तहस्तता का भी परिचय प्रदान कर रहा है। एवं जब भी कहीं बाहिर से कोई सम्मान्य अतिथि आते हैं, तो सत्ताप्रमुख व्यक्ति अवश्य ही इन अपने विभूतिभावों ? के दर्शन करा देने में अपने आपको गौरवान्वित ही मानते रहते हैं।

५२०-वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा भूत--भविष्यदनुगत 'पुरातन' का प्रचण्ड विरोध, तत्स्थान में 'नवीनता' का उद्घोष, एवं तदपि महान् व्यामोहनात्मक ध्वंसावशेषों के साथ सत्तातन्त्र का समालिङ्गन—

स्मरण रहे, यह वही सत्तातन्त्र है, जो अपनी प्रत्येक दैनिक-चर्य्या में पुराने-सड़े–गले–सभी खण्डहरों का मुक्तकण्ठ से विरोध करता रहता है। "पुराना सब सड़–गल–चुका है। अतएव आज इसी युग के अनुपात से सब कुछ नवीन ही बनाना चाहिए" यही आज का वह महान् उदघोष है, जो सत्तातन्त्र, का तथा तदनुवर्त्मा जनतन्त्र का, दोनों का ही मूल-आदर्शसूत्र बना हुआ है। और स्पष्ट ही इस मूलसूत्र के द्वारा एकमात्र उस प्राच्य भारतीय सांस्कृतिक–कोशात्मक–शब्दशास्त्र की ओर ही संकेत हो रहा है, जिस 'शास्त्र' के नामश्रवण से भी आज का सत्तातन्त्र उद्विग्न हो पड़ता है। कहीं, कभी भूल से भी 'पुरातनसाहित्य' के आधार पर किसी के मुखसे कुछ निकल जाता है, तो तत्काल हमारे कर्णधार अग्निश्च-वायुश्च हो पड़ते हैं। "अरे, फिर वे ही पुरानी बाते। जमाना बदल गया, सब कुछ बदलगया। और तुम वही पुराणपन्थी बने हुए हो। छिः ! छिः ! तभी तुम प्रगति नहीं कर सके। पुराना सबकुछ भूल जाओ। पहिले तो हम यही नहीं मानते कि, उन असभ्य-युगों में कुछ 'अच्छा' भी था। यदि कुछ होगा भी, तो उस जमाने के लिए होगा। आज तो··········इत्यादि-इत्यादि"।

५२१ -दिव्यदृष्टि से समन्वित महामानवों की बौद्धिक सनातन- कृतियो का जीर्ण–शीर्णत्व–प्रतिपादन, तथा दिग्देशकालानुबन्धी भौतिक–ध्वंसावशेषों का सांस्कृतिकत्त्व प्रतिपादन, एवं भारत का आत्यन्तिक सांस्कृतिक-अधःपतन—

तात्पर्य्य क्या निकला ?। तात्पर्य्य निकला यही कि, पुरातन मानवों की प्राणात्मिका 'बुद्धि' से चिरन्तन अध्यवसाय के द्वारा विनिःसृत 'शब्दशास्त्र' तो है-सर्वथा सड़ा-गला, अतएव नितान्त अनुपयुक्त। एवं उसी पुरातन मानव के भौतिक–शरीर से भौतिक द्रव्यों–भूतों के द्वारा बनाए हुए खण्ड–खण्डित–ध्वंसावशेष है–'पुरातत्त्व', अर्थात् 'प्राचीन तात्त्विक वस्तु', संस्कृति के महान्–'प्रतीक'। तभी तो संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों का, अर्थात् पुरातत्त्वविदों का भी इसी ओर आकर्षण है, तो सत्तातन्त्र भी इसी कार्य्य को महान् सांस्कृतिक कार्य्य मान रहा है। कैसा है यह विधि का विचित्र विधान ?। चेतन की कृति सड़-गल चुकी, एवं अचेतनकृतियाँ (ध्वंसावशेष) सड़-गल कर भी 'तत्त्व', अतएव संरक्षणीय प्रमाणित होगईं। क्यों ?, वही प्रतीकव्यामोहन, तदनुगत दिग्-

देशकालव्यामोहन, सर्वोपरि वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा । कहाँ से, कैसे यह एषणा, ये–पुरातत्त्वविजृम्भण इस भारतराष्ट्र की स्वस्था–प्रकृतिस्था भी प्रज्ञा में सहसा प्रविष्ट हो पड़े ?, प्रश्न का एकमात्र प्रधान उत्तर तो है– **'संस्कृति–साहित्य की सत्तासापेक्षता'**, और दूसरा कारण है **'प्रतीच्या भूतदृष्टि का अन्धानुकरण'** । प्रतीच्य-दृष्टि के सम्पूर्ण कार्य्यकलाप भूत से ही उपक्रान्त होते हैं । सर्वव्यापक-अनन्तब्रह्म, तदनुप्राणित अनन्तकाल-अनन्तादिक्–अनन्त–देश–नामक कोई तत्त्व वहाँ आजतक स्पष्ट ही नहीं होसका है । अपितु उनके सम्पूर्ण–परीक्षण भूत से ही उपक्रान्त हैं, एवं भूतपर हीं परिसमाप्त हैं । अवश्य ही शासनकालनिबन्धना 'सभ्यता' के परिवर्त्तनात्मक इतिहासों का मापदण्ड ये ध्वंसावशेष ही बनते आए हैं । किन्तु 'संस्कृति' का कदापि इन भौतिक प्रतीकों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है । **वहाँ सभ्यता ही संस्कृति है,** जबकि यहाँ–संस्कृति के एकांश में **हीं सम्पूर्ण सभ्यता समाविष्ट है ।**

५२२–भारत, तथा भारतेतरदेशों के संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के समन्वय में महान् अन्तर, एवं तदनुपातेनैव भारतीय संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय–प्रयास—

उन की संस्कृति का आधार सभ्यता है, एवं सभ्यता का आधार दिग्देशकाल है, जब कि भारतीय सभ्यता का आधार संस्कृति है, तथा संस्कृति का आधार दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म है । उन की सभ्यता-संस्कृति 'काल' के गर्भ' है, एवं यहाँ का काल 'संस्कृति-सभ्यता' के गर्भ में है । उन को काल लिए चलता है, एवं यहाँ की ऋषिप्रज्ञा काल पर आरूढ है । उनकी आधारभूमि-**'कालो अवश्वो वहति'** है, तो इन की आधारभूमि **'तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः'** है । उनका उद्देश्य दिग्देशकाल, तथा तदनुबन्धी भूत हैं, तो इनका उद्देश्य दिग्देशकालातीत अनन्त ब्रह्म है । अतएव उनके लिए ध्वसांवशेष ही तत्त्व, प्राच्यतत्त्व–पुरातनतत्त्व–पुरातत्त्व है, तो हमारे लिए संस्कृति का सन्देशावाहक दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वकालिक ऋषिशास्त्र ही 'तत्त्व' है, यही पुरातनतत्त्व है, यही प्राचीनतत्त्व है । उन की दृष्टि में ऋषिशास्त्र खण्डहर है, सड़ा गला है, अतएव निस्तत्त्व है, तो यहाँ की दृष्टि में सचमुच में 'ध्वंसावशेष' नाम से ही उद्घोषित, अतएव मानव के प्राकृतिक-भौतिक–व्यवस्थित–जीवन के लिए भी–उनकी दृष्टि में भी अनुपयुक्त–ये सब भूत–भौतिक शेषपरिग्रह निस्तत्त्व ही हैं, गले–सड़े ही हैं । और आज दुर्भाग्यवश ऋषिदृष्टि के स्वरूप को विस्मृत कर देनेवाले, साथ ही प्रतीच्या दिग्देशकालानुबन्धिनी भूतदृष्टि को ही अपना सर्वाराध्य मान बैठने वाले हम भारतीयोंनें भी उन्हीं की मान्यताओं को उन्हीं की भाषा में इन खण्डहर–प्रदर्शन, एवं निगरण–चर्वणात्मक कौशलों को हीं 'पुरातत्त्व' कहना, कहलवाना आरम्भ कर दिया है । जिस दार्शनिकने ऐसा भौतिक–प्रतीकव्यामोहन पुरायुगों में उत्पन्न कर डाला था, उसी को आज के इस प्रतीच्ययुग के भौतिक विज्ञानवादने सर्वात्मना पुष्पित–पल्लवित ही कर दिया है । अतएव आज **'तत्त्व'** नाम से **'दार्शनिकतत्त्व'**, तथा **'पुरातत्त्व'**, ये दो ही तत्त्व भारतीय-प्रज्ञा में प्रधान बने हुए हैं, जबकि दोनों का ही भारतीय-आचारानुबन्धी सांस्कृतिक तत्त्व से तो संस्पर्श भी नहीं है ।

५२३- ऋषिशास्त्र की प्रतीकता के सम्बन्ध में प्रतिरूप—भाव का संस्मरण, एवं प्रतिरूप शब्द के तात्त्विक--चिरन्तन--इतिवृत्त का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ऋषिशास्त्र क्या है ?। अवश्य ही ये भी हैं तो प्रतीक ही। किन्तु किसके, और कैसे प्रतीक ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए ही दूसरा 'प्रतिरूप' शब्द हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका यशोवर्णन पूर्व में किया जाचुका है। जिस भारतदेश को हमने जिस प्राणमूर्त्ति अनन्त–दिव्य–भारताग्नि का प्रतीक बतलाया था, यह प्राणाग्नि-भारताग्नि प्रतीक है सौरसम्वत्सराग्नि का। यह सौरसम्वत्सराग्नि प्रतीक है परमेष्ठी का। परमेष्ठी प्रतीक है अनन्ताकाशरूप स्वयम्भू का, और यहाँ आकर प्राकृतिक-प्रतीकभाव समाप्त है। स्वयं मानव, अर्थात् मानव का प्राकृत स्वरूप क्या है इस प्रकृति में ?, उत्तर दिया जाचुका है। प्राणाग्निरूप भारताग्नि (पार्थिवाग्नि) जैसे सौराग्नि का प्रतीक है *, क्या मानव भी वैसे ही प्रकृति के स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–अग्नि–आदि किसी प्राकृत पर्व का प्रतीक (अङ्ग) है ?। नहीं। सर्वात्मना सम्पूर्ण प्रकृति के दूसरे प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप का, इसी पूर्णस्वरूप का साङ्केतिक नाम है–'प्रतिरूप'--'रूपं–रूपं प्रतिरूपो बभूव'।

५२४-अनन्ता प्रकृति. और अनन्त प्राकृत मानव का समतुलन—

जैसी अनन्तकाल–अनन्तदिक्–अनन्त–देशात्मिका स्वयम्भू[1]–परमेष्ठी[2]–सूर्य्य[3]–चन्द्र[3]–पृथिवी[5]–रूपेण–पञ्चपर्वा अनन्ता प्रकृति, ठीक वैसा ही, वही अनन्त–कालदिग्देशात्मक–अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मनः–शरीर-रूपेण पञ्चपर्वा अनन्त--प्राकृत मानव। यदि उस अनन्ता प्रकृति के समतुलन में भारतप्राणाग्नि छोटा सा प्रतीकमात्र है, तो अनन्त प्राकृत मानव के समतुलन में भी इस की प्रतीकता का वही अर्थ माना जाना चाहिए था। किन्तु माना इसलिए नहीं गया, नहीं हीं माना जाना चाहिए कि, मानव कदापि सादि-सान्त-भावों का अनुगामी नहीं है। अपितु मानव तो है 'अनन्त का उपासक'। अतएव सभी उस की दृष्टि में अनन्त हैं, महान् है, पूज्य हैं, आराध्य हैं। इस उदात्तता के कारण हीं तो

---

*–(१)–प्र ब्रह्मै तु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः।
वि सानुना सस्र उर्वी पृथु 'प्रतीक'–मध्येध्ये अग्निः॥
—ऋक्सं० ७।३६।१।

(२)–स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीलेन्यो गिरा।
स्रुचा 'प्रतीक'–मज्यते॥

(३)–स त्वमग्ने 'प्रतीकेन' प्रत्योष यातुधान्यः।
उरु यत्तेषु दीद्यद्॥
—ऋक्सं० १०।११८।३,८,।

इस में 'अनन्तता' अभिव्यक्त हुई है। आचार का अणोरणीयान्-भाव ही इस मानव के महतोमहीयान्-भाव का एकमात्र महान् बीज (महदक्षररूप बीज) है ।

५२५-भूताधिष्ठाता वैश्वानराग्नि की सांस्कृतिकता, और हमारी गृहस्थाचारपद्धति—

आप प्राणाग्नि की बात करते हैं। भारतीय मानव तो अन्नादि-परिपाककर्त्ता प्रसिद्ध भूताग्नि (चूह्ले के अग्नि) को भी 'वैश्वानर' का प्रतीक मान कर उसे सत्कृत करना (वैश्वानरतर्पण-बैसन्दर जिमाने को +)

+ स्तौम्यत्रिलोकी के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-नामक त्रिवृत् (९)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोमात्मक इन तीन पार्थिव विश्वों के क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्य-नामक** तीन **'नर'** (नायक-अधिष्ठाता देवता) माने गए हैं। इन तीनों नरों के **'तानूनपत्र'** लक्षण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उत्पन्न तापधर्म्मा त्रैलोक्यव्यापक त्रिमूर्त्ति अग्नि का ही नाम-**'विश्वेभ्यः-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्यः-नरेभ्यः-अग्नि-वाय्वादित्येभ्यः-उत्पन्नः-अग्निरेव-वैश्वानरः'**-इत्यादि निर्वचन के अनुसार **'वैश्वानर'** है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"स यः स वैश्वानरः-इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वम्, आदित्यो नरः" (शतपथब्रा० ६।३।१।३।)।

'आ यो द्यां भात्यापृथिवीं, वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार भूलोक से सूर्य्यलोक पर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यप्राणमूर्त्ति वही वैश्वानराग्नि **आधिदैविक-वैश्वानर'** है, जिससे ही प्राणियों के उस **'आध्यात्मिक-वैश्वानर'** की अभिव्यक्ति हुई है, जो 'जाठराग्नि' रूप से चतुर्विध भुक्त अन्न का परिपाक करता रहता है, एवं जिस इस आध्यात्मिक वैश्वानराग्नि का ही भगवान् ने निम्नलिखितरूप से स्मरण किया है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
—गीता १५।१४।

आधिदैविक-आध्यात्मिक-वैश्वानरप्राणाग्नि का ही मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक-तेजोरश्मियुक्त वह तीसरा **'आधिभौतिक-वैश्वानर'** है, जिसे लोकसामान्य में **'अग्नि'** कहा गया है, जिससे कि सूर्य्यास्त पर ज्योतिर्म्मयीं रश्मियाँ प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त होतीं रहतीं हैं। भूताग्निलक्षण इसी आधिभौतिक वैश्वानर अग्नि का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ऋषि ने कहा है—

'अग्निं' तं मन्ये यो 'वस्तु' रस्तं यं यन्ति धेनवः (रश्मयः)।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥
—ऋक्सं० ५।६।१।

अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मानता आरहा है। कभी इसने अपनी इस सांस्कृतिक-आचारपद्धति को गली–सड़ी मानने की भ्रान्ति नहीं की। जिस दार्शनिक भारतीय ने की, उस का आचारात्मक समस्त प्राकृत-सौन्दर्य्य ही उच्छिन्न होगया। बना रह गया वैसा दार्शनिक केवल शून्यवादी–तत्त्ववादी-बुद्धिवादी–दिग्–देशकालभ्रान्त यथाजात मानवाभास। वही अनन्तभावना प्राणाग्नि के प्रतीकभूत भूखण्डात्मक, किंवा सम्पूर्ण भारतदेश (पृथिवी) के सम्बन्ध में विद्यमान है। मृत्पिण्डमात्र ही नहीं है यह पृथिवी। अपितु यह **'मही' है, अमृता है, अनन्ता है, माता है,** और हम हैं इस के पुत्र ÷। पृथिवी, किंवा तदवयरूप भारतराष्ट्र भी बहुत बड़ा है। हम तो अपने जन्मप्रान्त को भी यही सम्मान प्रदान करते हैं–**'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'**।

५२६–अनन्तब्रह्म से समन्विता, 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'-लक्षणा अनन्ता प्रकृति से अनु-प्राणिता-भारतीय संस्कृति, और सभ्यता के आत्म-देव-भावनिबन्धन अनन्त महिमामय माङ्गलिक-विवर्त्त–

यही नहीं, अपितु जिस क्षेत्र में हम रहते हैं, जिस प्रासाद में रहते हैं, वह भी हमारे लिए केवल भूतपिण्ड ही नहीं है। अपितु वह तो हमारे लिए साक्षात् **'वास्तुदेवता'** हैं। बिना इस **'देवप्राण-प्रतिष्ठा'** के, इस अनन्त प्राणाधान के घर भी हमारे लिए आवास-निवास-योग्य नहीं बना करता। और इस दृष्टि से तो आपातालात्, आ च लोका-लोकात्, आपिपीलिका-कीटपतङ्गेभ्यः-आविद्वज्जन-मूर्ख,-आबाल वृद्ध-पर्य्यन्त, सभी कुछ हमारे लिए अनन्त के ही

तदित्थं–अधिदैवत–अध्यात्म-अधिभूत–भेद से वैश्वानराग्नि के तीन महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जो उपाधिदृष्टया पृथक् पृथक् रहते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न हैं। फलतः हमारे दैनंदिनीय भोजनपरिपाक के अधि-ष्ठाता आधिभौतिक–वैश्वानर अग्नि का भी स्वरूप उस दैविक--आत्मिक--वैश्वानर अग्नि से अविभिन्न ही प्रमाणित हो जाता है। उसी का यह प्रतीक है 'भूताग्नि–लक्षण वैश्वानर। प्रत्येक आस्तिक भारतीय सद्गृहस्थ इस अग्नि से भोजनद्रव्यों को सम्पन्न कर सर्वप्रथम इस भूताग्नि का उसी दैवभावना से संतर्पण कर देना अपना महान् माङ्गलिक दैनिक आचार मानता है। हमारी प्रान्तीयभाषा में यह **"वैश्वानरसन्तर्पणकर्म्म'** ही--**'बैसन्दर जिमाना'** नाम से प्रसिद्ध है। सद्गृहिणी जबतक **'बैसन्दर' (वैश्वानर)** नहीं जिमा देती, तबतक किसी को भी भोजनद्रव्य का उपयोग नहीं करने देती, इत्यहो महद्भाग्यशालिनामाचारनिष्ठानां परमवैज्ञानिकानां--भारतीयानां--गरिमामहिमामयी महामाङ्गलिकी चिरन्तना सैषा-आचारपद्धतिः।

÷ **(१)–पृथिवीं मातरं महीम् (तै० ब्रा० २।४।६।८)।**

(२)–इयं वै पृथिवी-अदितिः (शत० ५।३।१।४।)।

(३)–अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः।
बिश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्त्वम् ॥

—ऋक्संहिता १।८९।१०

प्रतिरूप हैं, अनन्त के ही महामहिमामय विवर्त्त हैं, अतएव नमस्य हैं, प्रणम्य हैं, सत्यं–शिवं–सुन्दरम् हैं। अनन्तात्मब्रह्मानुगति ही इस अनन्तमहिमानुगति की एकमात्र आधारभूमि है, जिस का अनात्मवादी, केवल–भूतवादी, अतएव शून्यवादी के साथ तो यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। भले ही ऐसा शून्यवादी परवञ्चकता-मात्र के लिए मानवता-मानवधर्म्म-विश्वहित-अहिंसा-सत्य-करुणा-दया–तितिक्षा–वीतरागता–आदि के भौतिक शाब्दिक प्रदर्शन–करता कराता रहे, कदापि उसे वर्णाश्रमाचारसिद्ध, अनन्तात्मानुगत महिमात्मक सत्यं–शिवं–सुन्दरम्–के तो संस्मरण का भी अधिकार नहीं मिलसकता, जब कि हम तो ऐसे शून्यवादी मानवश्रेष्ठों को भी एकमात्र अपनी आस्था-श्रद्धा-के संरक्षण के लिए अपनी ओर से उन्हें भी अनन्त ब्रह्म के ही महिमामय **'अवतर'** मान लेते हैं। मान लिया है हमारे पूर्वपुरुषोंनें, जिस इस हमारी श्रद्धामूला अवतारमान्यता को देख-सुन कर भी तो अभिनिविष्ट महानुभाव भारतीय ऋषिसंस्कृति के संस्मरण की कृतज्ञता से अपने आप को विमुख ही बनाते रहते हैं, जिन ऐसों को भी हम तो मुहुर्मुहुः अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ हीं समर्पित करते रहेंगे, एवं उन के लिए भी-**'मा कश्चिद्–दुःखभाग् भवेत्'** जैसी मङ्गलकामना ही व्यक्त करते रहेंगे।

५२७–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव से अभिव्यक्त बौद्धिक शब्दात्मक प्रतीक, तथा भौतिक-अर्थात्मक प्रतीक—

वस्तुस्थित्या-प्राकृत मानव अनन्तप्रकृति का प्रतीक नहीं, अपितु 'प्रतिरूप' है। ऐसे प्रतिरूप अनन्त–मानव का प्रतीक है प्राणाग्निरूप भारताग्नि, एवं प्राणाग्निप्रतीक से समन्वित अनन्त प्राकृतिक मानव की दिग्देशकालातीता अनन्ता सहजबुद्धि से सहजरूपेणैव विनिर्गता प्रतीकात्मिका शब्दराशि का नाम है–'शब्द-शास्त्र', एवं इसी अनन्तमानवाग्नि के प्रवर्ग्यरूप–उच्छिष्टरूप–भूतमात्रा–भाग का नाम है प्रतीकरूप–भूखण्ड, भूमण्डल, एवं तदवयरूप भारतदेश। यों अनन्ता प्रकृति के प्रतिरूपात्मक अनन्तमानव से **बौद्धिक प्रतीक, तथा भौतिक प्रतीक** भेद से दो प्रतीकभाव अभिव्यक्त हो रहे हैं। प्राणाग्निप्रधान–बौद्धिक प्रतीक का नाम है–**'शब्दप्रतीक'**, एवं भूताग्निप्रधान भौतिक प्रतीक का नाम है–**'अर्थप्रतीक'**। तदित्थं अनन्तमानवरूप प्राकृतब्रह्म के **शब्द, अर्थ**–रूप से दो प्रतीक निष्पन्न हो जाते हैं।

५२८–प्रतिरूपात्मक अनन्त मानव, तथा प्रतीकात्मक सादिसान्त मानव के स्वरूपभेद का दिग्दर्शन, एवं तदनुगत उभयात्मक प्रतीकभावों का पार्थक्य, और ऋषि-मानव-लोकमानव के विभिन्न-स्वरूप—

अनन्तप्रकृति के अनन्तप्रतिरूप मानवमें, तथा सादिसान्त प्रतीकमानवमें अहोरात्र का अन्तर है। दोनों हीं मानव 'प्राकृत' हैं, दोनों हीं शब्दप्रतीक, तथा अर्थप्रतीक के अभिव्यञ्जक, किंवा स्रष्टा हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। अन्तर दोनों में है केवल **अनन्तता, एवं अन्तता** का। अनन्ता प्रकृतिका अनन्त **'प्रति-रूपमानव'** (आत्म-बुद्धि-मनः–शरीरात्मक मानव) अनन्त कालदिग्देश के माध्यम से अनन्त शब्दों का, तथा अनन्त भावात्मक अर्थों का अभिव्यञ्जक बनता है। एवं अनन्तप्रकृति का सादिसान्तरूप प्रतीकमानव (मनःशरीर-मात्र मानव) सादिसान्त-दिग्देशकाल के माध्यम से सादिसान्त शब्दप्रतीकों का, तथा तथाविध ही अर्थप्रतीकों

का सर्ज्जक बनता है । उस के शब्द वैय्यक्तिक नहीं है, अतएव उस के अर्थ भी वैय्यक्तिक नहीं है । अपितु वह प्रकृति की ही तो भाषा बोलता है, (बोलता नहीं है, अपितु स्वयं बुलती है वह भाषा), एवं तदनुपात से ही प्राकृत अर्थ व्यवस्थित होते हैं अनन्तकाल के लिए । जब कि इस प्रतीकमानव के शब्द भी वैय्यक्तिक हैं, एवं तदनुगत अर्थ भी तात्कालिक ही हैं । अतएव कृत्रिम है इस का शब्दार्थप्रपञ्च, जैसे कि पशु–पक्षी–आदि के शब्दार्थप्रपञ्च सर्वथा तात्कालिक ही बने रहते हैं । अतएव इस के शब्द, और अर्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । शब्दों में भी यदृच्छा, तो अर्थों में भी यदृच्छा । अतएव दिग्देशकालानुबन्धी इस के सभी नाम काल्पनिक हैं, सभी रूप कल्पित हैं, तो सभी कर्म्म कल्पनाप्रसूत हैं । उधर ऋषिमानव के शब्द स्वयं तद्वाच्य अर्थ को अपने गर्भ में रखते हैं, जैसा कि–'भारत'–'मानव'–'अनन्त'–'प्रकृति' 'विकार' 'हृदय'–आदि शब्दात्मक नामों के चिरन्तन–इतिवृत्त से प्रमाणित है । अतएव तत्र शब्दार्थ का **'औत्पत्तिक'** सम्बन्ध ही माना गया है, जब कि अत्र **'उत्पन्न-सृष्ट'** सम्बन्ध ही मुख्य बना रहता है । अत्यन्त ही दुरधिगम्य–है यह शब्दार्थ-समन्वय-सम्बन्ध, जिस का अत्र विस्तार अनपेक्षित है । दिग्देशकाल की मध्यस्थता से समन्विता प्राकृत-बुद्धि कदापि अनन्तमूलक दिग्देशकालातीत इस समन्वय–सम्बन्ध को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकती ।

५२६–संस्कृति, और सभ्यता का स्वरूप--दिग्दर्शन -

अनन्तप्रकृति के प्रतिरूपात्मक मानव के अनन्त प्रतीकरूप शब्दसंग्रह का नाम ही है–**'शास्त्र'**, और यही है इस की—**'अनन्ता संस्कृति का चिरन्तन इतिहास'** । एवं अनन्त प्रतीकरूप अर्थसंग्रह का नाम ही है अनन्त विश्व, एवं उस के अनन्त पदार्थ, और यही है इस की–**'अनन्ता सभ्यता का चिरन्तन इतिहास'** । **शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त**[1], एवं **सिद्धान्तानुगत कर्त्तव्याचरण**[2] **ही संस्कृति**[1]**, और**[2] **सभ्यता है । संस्कृति का तत्त्वात्मक पक्ष ही 'संस्कृति' है, संस्कृति का आचारात्मक पक्ष ही सभ्यता है**, एवं इन दोनों प्रतीक-भावों में तत्त्वात्मक पक्ष आधार है, तथा आचारात्मक पक्ष आधेय है । **तत्त्व में आचार प्रतिष्ठित है**, एवं **शब्द में अर्थ समाविष्ट है । जैसा शब्द, वैसा ही अर्थ । न कि जैसा अर्थ, वैसा शब्द ।** यही ऋषिशब्द, तथा लोकशब्द में वह महान् अन्तर है, जिस का मादृशी लोकबुद्धि कदापि समन्वय नहीं कर सकती * ।

***–लौकिकानां हि साधूनां-अर्थो वागनुवर्त्तते ॥**
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥
—भवभूतिः–उत्तरे रामचरिते

५३०--चिरपुरातन प्रतीकात्मक शास्त्र की चिरनूतनता, एवं इस की शाश्वत- उपयोगिता—

इसी समन्वय के माध्यम से अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, अनन्त मानव के माध्यम से विनि:सृत सहज-नित्यशब्द का नाम हीं '**अनन्त शब्दराशि**' है, इसी का नाम है-'**अनन्त वेदशास्त्र**' (अनन्ता वै वेदाः--ऐ० ब्रा०) । प्रतिरूपात्मक मानव का प्रथम--आधार **वेदशास्त्र** ही '**संस्कृति**' नामक विवर्त्त है, यही भारतीय परिभाषा में प्राच्यतत्त्व--पुरातनतत्त्व, किंवा पुरातत्त्व है, जिस के माध्यम से ही भारतीय **सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजन, सांस्कृतिक-सभ्यता**, आदि आदि यच्चयावत् विवर्त्तों की व्यवस्था हुआ करती है । कदापि ऐसा-शब्दशास्त्र, तदनुगत आचारात्मक कर्त्तव्य गला सड़ा-नहीं करता । चिरपुरातन भी यह समन्वयात्मक प्रतीक (शब्दार्थप्रतीक, तत्त्व, और आचार) चिरनूतन हीं प्रमाणित होता रहता है प्रकृति के सूर्य्य--चन्द्र--पृथिव्यादि प्राकृत प्रतीकों की भाँति । शत-सहस्रादि भी दिग्देशकालातिक्रमण इस चिरपुरातन-चिरनूतन 'तत्त्व' को नष्ट-भ्रष्ट नहीं करसकते । **सनातना है प्रकृति, सनातन हैं उस के नियम, सनातन है-तन्नियमव्यवस्थापक शास्त्र, एवं सनातन है तदनुप्राणित आचारात्मक धर्म्म ।**

५३१--भौतिक-ध्वंसावशेषों की सांस्कृतिक ? प्रतीकता, एवं पुरातत्त्वात्मकता ? का महान् व्यामोहन—

सड़ते गलते-बदलते-नष्ट-होते रहते हैं वे प्रतीकशब्द, जो दिग्देशकाल की सीमा में 'अर्थ' रूप 'स्वार्थ-वैय्यक्तिक-स्वार्थ' को आधार बनाकर ही बोले, और बुलवाए जाते हैं । ध्वंस होता है उन अर्थों-व्यवस्था-ओं-नियमों का, जो तात्कालिक स्वार्थ के लिए ही लक्ष्यीभूत बना करते हैं । ऐसे ध्वंसावशेषों को वे ही प्राचीन-तत्त्व, किंवा पुरातत्त्व कहा-सुना करते हैं, जो चेतनमानव की अपेक्षा-जड़भूतों को ही संस्कृति के प्रतीक मानते रहते हैं । जिन की दृष्टि में मानव का कोई मूल्य नहीं है, मानव की × बौद्धिक रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है । अपितु जिन इन पुरातत्त्ववादियों की दृष्टि में महत्त्व है उन--जीर्ण शीर्ण-भग्नवाशेषों का, जिन का आचारशास्त्र की दृष्टि से कुछ भी तो उपयोग नहीं है प्रदर्शन-उद्घाटन-भाषण-व्यामोहनों के अतिरिक्त ।

५३२--मानवीया सनातन-संस्कृतिका-'प्रतिरूप' मानव, एवं तत्- 'प्रतीक' सनातनशास्त्र, तथा मानव के द्वारा स्वप्रतिरूपता की अभिव्यक्ति--

'**यत्किञ्चित्-संशोधन**' से सम्बन्ध रखने वाले 'अर्थ' के समन्वय--सम्बन्ध में ही 'प्रतीक' तथा 'प्रतिरूप' भेद से प्रासङ्गिक इतिवृत्त उपक्रान्त हो पड़ा, जिस अर्थपूर्णा लक्ष्यीभूता यत्किञ्चिता की ओर पुनः पाठकों

×--**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे** (दार्शनिकसूत्र)

का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है । मानव की संस्कृति का प्रतिरूप जहाँ स्वयं मानव है, वहाँ इस की संस्कृति का प्रधान, तथा प्रथम प्रतीक इस का बौद्धिक 'शब्दशास्त्र' ही है, एवं दूसरा गौण प्रतीक इस का आचारात्मक 'अर्थशास्त्र' (दिग्देशकालानुबन्धिनी कर्त्तव्यनिष्ठा) ही है, यही इस का 'सभ्यता'-रूप प्रतीक है, जो कि 'शाब्दिकसंस्कृति' (शास्त्र) से ही नियन्त्रित रहता है। दिग्देशकाल को दिग्देशकालातीता संस्कृति से नियन्त्रित रखते हुए ही, दूसरे शब्दों में-अनन्तकालदिग्देशात्मक शाश्वत शब्दशास्त्र से सादि--सान्त--दिग्देशकालों को नियन्त्रित रखते हुए ही, यों अनन्तकाल से सादिसान्त काल को पीड़यन्नेव मानव अपने इस यत्किञ्चित् प्रयास से अपनी गुह्यब्रह्मरूपा सर्वश्रेष्ठा 'मानव--प्रतिरूपता' को अन्वर्थ प्रमाणित कर लेता है।

५३३-'यत्किञ्चित्' संशोधन से पराङ्मुख मानव की दिग्देशकालविमूढ़ता, एवं महान् भी मानव की तन्मूला अल्पता का दिग्दर्शन—

यदि दुर्भाग्यवश वह इस संशोधन की उपेक्षा कर सान्तिसान्त दिग्देशकालों के ही व्यामोहनों में आसक्त बना रह जाता है, तो फिर यह भी उस प्रतीकभाव में हीं परिणत हो जाता है, जिस प्रतीकता के ध्वंसावशेष भी शेष नहीं रह जाते-'भस्मान्तं-शरीरम्' रूपेण । मानवेतर भूत-भौतिक-प्रतीक जहाँ मानवीय भूत (शरीर) की अपेक्षा चिरकालिक हैं, वहाँ स्वयं मानव के ये भौतिक प्रतीक तो इन भूतप्रतीकों के समतुलन में भी नगण्य हैं । क्या मानव का यही स्वरूप है !, यही इयत्ता है ! । और इस भौतिक शरीर के परिमार्ज्जन-विशोधन-अभिनन्दन-का नाम हीं क्या मानवस्वरूप का अभिनन्दन है !, क्या यही मानव का व्यक्तित्व है !, जिस लम्बे-चौड़े-मल्लशरीर को देख-देख कर तो एक 'बलीवर्द' (बैल) भी हुङ्कार करता फिरता है ; सचमुच दिग्देशकालव्यामोहन के कारण हीं प्रकृत्या महान् भी मानव आज इसप्रकार छोटा, और बहुत ही छोटा बन गया है, जबकि अपने मानवस्वरूप से यह सभी अवस्थाओं में तत्त्वतः सर्वतः महान् ही है ।

५३४-अनन्ताकाशात्मक मानव की अनन्तता में दिग्देशकाल के द्वारा व्यवधान, तद्द्वारा मनुकेन्द्र का विचलन, तदनुगत भय, एवं तन्निग्रहेण अनन्त-अभयब्रह्म के महिमात्मक अनुग्रह की अन्तर्म्मुखता—

मनुकेन्द्ररूप मानव इस अपने केन्द्रभाव से विच्युत ही होजाता है तथाकथित दिग्देशकालव्यामोहन से इसलिए कि, सादि-सान्त ये दिग्देशकाल मानव के केन्द्रानुगत-महिमारूप अखण्ड स्वरूप में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं, जो व्यवधान सङ्केतभाषा में-'उदर' नाम से व्यवहृत हुआ है । 'भय' का एकमात्र अर्थ है केन्द्रविच्युति, किंवा स्खलन । मानव किसी ऋजुमार्ग (सीधी सड़क-समपथ) से जारहा है । यदि मार्ग सम ही आता रहता है, तो इस की चरणगति केन्द्राभ्यासानुगामिनी बनी रहती हुई अविकम्पिता है, अभया है । मार्गसरणि (फुटफाथ) से यदि दो चार अङ्गुल नीचे के गर्त्त-खड्ड-आदि में भी इस का पैर चला जाता है, तो हृदयसाम्य विकम्पित हो जाता है, और इसी विकम्पन का नाम है 'भय', जिसका अर्थ है-'किञ्चिच्चलन' ।

५३५-भयानुगत मृत्युभाव, तन्मूला विषमता, तदनुगता अराष्ट्रीयता, एवं समदर्शन-मूलक महिमाभाव के प्रति मानव को उद्बोधन-प्रदान—

इस भय की उग्रावस्था का नाम हीं है दुःख, दुःख की उग्रावस्था का नाम हीं है **शोक**, एवं शोक की चरमावस्था का नाम हीं है **हृद्गति**-का अवरोध, अर्थात् 'मृत्यु'। यों प्रारम्भिक भय ही इस अन्तिम मृत्युपथ का कारण बन जाया करता है। प्रारम्भिक भय का एकमात्र अर्थ है-हृदयसाम्य का अभाव, इस साम्याभाव का नाम है विषमता, एवं विषमता का ही नाम है दिग्देशकालव्यामोहन। निश्चयेन अनन्तब्रह्म की अनन्त-प्रकृतिलक्षणा अनन्तकालदिग्देशात्मिका अनन्ता महिमा में, इस अखण्ड-अवारपारीण-पटल में उस समय खण्ड-खण्डता ही आविर्भूत हो जाती है, जबकि तत्प्रतिरूप मानव खण्ड-खण्डात्मक दिग्देशकालभावों का प्रतीक बनता हुआ उस में व्यवधान उत्पन्न कर देता है। यही द्वन्द्वात्मक विषमभाव है, यही द्वन्द्वता **'द्वितीयता'** है, और-**'द्वितीयाद्वै भयं भवति। यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति'** का यही समन्वयार्थ है। **'अपना, और पराया'** यह द्वैतभाव दिग्देशकालनिबन्धन ही माना गया है। **यह मेरा, और यह तेरा, यह मेरा राष्ट्र, मेरा देश, मेरा समय, एवं यह उस का राष्ट्र, उस का देश, उस का समय, यह 'मेरा-तेरा' ही 'मेरे-तेरे'** लक्षण भयात्मक कलहों की मूलभित्ति बनता है। **"सभी मेरा है, सभी उस का है, मैं भी वही हूँ, वह भी वही है। सब उसी एक के महिमामय अनन्त विवर्त्त हैं। सभी अनन्त हैं स्व- स्वरूपेण। कहीं किसी के लिए किसी का अभाव नहीं है। सब परस्पर अपने अपने महिमाभावों के पूरक हैं"**।

५३६-परिणामवादात्मक सर्वविनाशक कार्य्यकारणभाव, तन्मूलक बुद्धिवाद, एवं तद्द्वारा महिमाभाव की अन्तर्म्मुखता—

परिणामवादने, सर्वविनाशक **कार्य्यकारणवादने**, तदाधारभूत दिग्देशकालानुबन्धी **बुद्धिवादने** हीं मानव के अनन्तमहिमाभाव में उदरात्मक व्यवधान उत्पन्न किए हैं। और यह बुद्धिवाद ही सहजरूप से मानव को महिमानन्त्य का स्वरूप समझने हीं नहीं देता। जब भी यह क्षणमात्र के लिए अपने महिमात्मक साम्य-केन्द्र पर आता है, तदुत्तरक्षण में हीं इस की दार्शनिकबुद्धि पुनः कार्य्यकारण के अन्वेषण में प्रवृत्त हो-जाती है। एवं सदैव महिमासाम्य अन्तर्म्मुख बन जाता है। क्यों ?। इसलिए कि इस की बुद्धि आचारनिष्ठा से पराङ्मुख बन गई है। आचार में हीं वैसा बल है, जो इस की बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। आचारहीन की बुद्धि में तो वेद भी शुचिता उत्पन्न नहीं करसकते-**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'**। अवश्य ही सभी आचार भी दिग्देशकालानुबन्धी हीं हैं। किन्तु ये अनुबन्ध उस अनन्तकाल से ही नियन्त्रित हैं। अत-एव रहते हुए भी ये आचारानुबन्धी दिग्देशकाल मानवबुद्धि को व्यामोहन से समन्वित नहीं होने देते। यही शास्त्रीय आचार, तथा लोककल्पित आचाराभासों में वह महान् अन्तर है, जिस अन्तर को सहजबुद्धि से भारतीय ऋषिमानवने समझा, तदनुपात से ही उसने अनन्तब्रह्म का साक्षात्कार किया, एवं तदाधारेणैव आत्मसाम्य-मूलक प्राकृतिक कर्त्तव्य व्यवस्थित किए, और यही ऋषिमानव की दिग्देशकालमीमांसा का चरम उदर्क बना, जिसके आधार पर ही इस मानवश्रेष्ठ के मुख से सहजरूप से ही-**'अभयं वै ब्रह्म। मा भैषीः'** जैसा उदात्त-उद्घोष विनिःसृत हुआ, जिस का समन्वय तो उस तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन पर ही अवलम्बित **है,**

जिस का खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध के मूलाधारभूत निष्ठा, और भावुकता–शब्दों के नीरक्षीरविवेक–माध्यम से भी दो शब्दों में प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना चाहिए।

५३७–दिग् देशकालनिबन्धन–आचारात्मक–कर्त्तव्यकर्म्मों के सम्बन्ध में कर्म्मत्यागमूला भयावहा भ्रान्ति का स्वरूप–दिग्दर्शन—

सम्भव है, और विगत तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली 'भावुकता' के कारण भारतीय भावुक हिन्दू-मानव के लिए तो यही बहुत सम्भव है कि, निर्दिष्ट तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन से हमारी प्राकृत–विमूढता ऐसा कुछ समझ बैठे, मान बैठे कि,-"मानव को अपने अभ्युदय निःश्रेयस् की संसिद्धि के लिए 'वर्त्तमानकाला' त्मक दिग्–देश–काल–भावों की सर्वथा उपेक्षा कर किसी अचिन्त्य, दिग्देशकालातीत, दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य, व्यापक, सर्वातीत अनन्तब्रह्म के अनुध्यान–अनुशीलन में हीं सर्वतोभावेन प्रवृत्त होजाना चाहिए"। किंवा वर्त्तमानयुग के वेदान्त की भाषा के अनुसार ऐसा कुछ समझ बैठे, मान बैठे कि–"दिग्देशकालात्मक सम्पूर्ण वर्त्तमान संसार को, इस के समसामयिक लौकिक–नियमोपनियमों को एकान्ततः मिथ्या मान कर मानव को इन सब लौकिक–वैदिक–दिग्देशकालानुबन्धी यच्चयावत् कर्म्मों का परित्याग कर, परिवार–समाज–राष्ट्रादि के व्यामोहनों को छोड़ छाड़ कर, अपने परलोक के अन्यतम शत्रु इन सब जञ्जालों को तोड़ताड़ कर, यहाँ तक कि अपने शरीर–मन–बुद्धि–जीव–भाव को भी विस्मृत कर कर्म्मत्यागमूला विशुद्धा वैराग्यनिष्ठा में हीं मानव को प्रवृत्त हो जाना चाहिए। यही इस के मानवजीवन का परमपुरुषार्थ है, किंवा अन्तिम पुरुषार्थ है"।

५३८–जगन्मिथ्यात्वानुगता–कर्म्मत्यागात्मिका महती भ्रान्ति के निग्रह से ही भारतराष्ट्र के विद्या–पौरुष–अर्थ–शिल्पादि–वैभवों की अन्तर्मुखता—

और यदि हम भूल नहीं कर रहे (निश्चयेन नहीं हीं कर रहे), तो हमें यह कह देने, और मान लेने में अब यत्किञ्चित् भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए, जिस इस 'महाभूल' ने हीं भारतीय मानव को विगत तीन सहस्र वर्षों से अनवरत–निरन्तर–भूलपरम्पराओं का ही सर्ज्जक, तथा दुष्परिणाम–भोक्ता बनाए रक्खा है। अपनी प्राकृत विमूढता से संसार का, दिग्देशकालानुबन्धी सीमाभावों का, तदनुप्राणित कर्त्तव्य–कर्म्मों का कुछ ऐसा सा ही स्वरूप समझ बैठने वाले, मान बैठने वाले दिगदेशकालभ्रान्त प्राकृत मानवोंनें अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी राष्ट्रीयता, सामाजिकता (जातीयता), पारिवारिकता, एवं व्यक्तिनिबन्धना कर्त्तव्य-निष्ठाओं को इसी भावावेश में आकर छोड़ते हुए, तथा भावावेशमें हीं छुड़वाते हुए विगत तीन सहस्र वर्षों से भारत के सम्पूर्ण साम्राज्यवैभव, समाजवैभव, कौटुम्बिक सौन्दर्य्य, तथा सर्वप्रतिष्ठामूलक वैय्यक्तिक–उत्तर-दायित्त्व को उत्तरोत्तर अभिभूत ही प्रमाणित कर लिया है।

५३९–एक व्यक्ति की भूल से घटित–विघटित परिवार, समाज, तथा राष्ट्र–विकम्पन के ऐतिहासिक–तथ्य —

इस तथ्य से किसी भी युग का प्रज्ञाशील मानव कदापि गजनिमीलिका नहीं कर सकता कि, अनेक व्यक्तियों के सह–समन्वयात्मक एक परिवार के किसी एक व्यक्ति की भी महाभूल से सम्पूर्ण परिवार की सुख–

शान्ति-समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि दुःस्वप्नरूप में परिणत हो जाती है, एवं अमुक व्यक्तिविशेष की भूल से ही सर्वसम्पन्न-सुसमृद्ध भी परिवारों को धूलधूसरित होता देखा गया, और सुना गया है। ठीक यही स्थिति 'समाज' की है, तो यही स्थिति सम्पूर्ण 'राष्ट्र' की है, जिस स्थिति का पर्य्यवसान अन्ततोगत्त्वा सम्पूर्ण विश्व पर ही होता है। ऋषिप्रज्ञा तो इस वैय्यक्तिक-विकम्पन को, व्यक्ति की भूल को आगे चल कर 'त्रैलोक्य' विकम्पन का भी कारण मान लेती है। वृत्रासुर-तारकासुर-विद्युन्माली-शालकटङ्कट-रावण-बाणासुर-कंस-आदि आदि एक एक ही व्यक्ति थे, जिन की भूलसे त्रैलोक्य विकम्पित हो पड़ा था। अतएव व्यक्ति जहाँ अपनी इस अपरिमिता शक्ति से '**महान्**' है, वहाँ इस शक्ति की उपयोगिता में भूल करता हुआ यही महान् व्यक्ति संसार में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ '**अधम**' उपाधि से भी समन्वित हो जाता है। सशक्ता-सशस्त्रा-वयस्का-प्रचण्डा-विजयवाहिनी सेना का प्रत्येक सैनिक महान् है। इन सब महानों की महत्ता के सुपरिणाम-स्वरूप ही प्रतिद्वन्द्वी आततायी पराभूत होते हैं, एवं तद्राष्ट्र सुख-शान्ति का अनुगामी बन जाता है। किन्तु यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, इन सहस्रों महान् सैनिकों में से किसी भी एक भी सैनिक की महत्त्वपूर्णा एक ही भूल से विजयोन्मुख भी सैन्यबल पराजित हो जाता है। और यों केवल एक व्यक्ति की अधमता से सम्पूर्ण राष्ट्र को अधमावस्था में आजाना पड़ता है।

५४०-एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से विकम्पन-शान्ति, समृद्धि, वैभवोदय, एवं मानव-व्यक्ति के महान्, तथा अधम-विवर्त्त--

उदाहरण के विपर्य्यय भी मानव के सम्मुख उपस्थित होते रहे हैं, और हो रहे हैं। एक व्यक्ति के वैशिष्ट्य से निकृष्ट परिवार भी उत्कृष्ट बन जाया करते हैं, एक व्यक्ति की योग्यता से समाज का भी अभ्युदय सम्भव बन जाता है, तो एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का कायाकल्प कर देता है, सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का कारण बन जाता है, जैसे कि सेना के एक सैनिक की तात्कालिक समझ बूझ से पराजय विजयश्री में परिणत हो जाती है। ऐसा है यह व्यक्ति का व्यक्तित्त्व, और ऐसी है इस की **महत्ता**, एवं **अधमता**। क्या रहस्य है इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी धर्म्मों का ?, वही व्यक्तिमानव **महान्**, और **अधम**-इन दोनों विरुद्ध भावों का अनुगामी कैसे बन जाता है ?। '**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**' केवल इस समस्या के चिन्तनमात्र के लिए ही तो प्रवृत्त हुई है, जिसके माध्यम से स्वयं मानव को ही इन प्रश्नों का सम्प्रश्नात्मक समाधान प्राप्त कर लेना है अपने अन्तर्जगत् में हीं।

५४१-संवित्-मूला 'महत्ता', एवं अनुभूतिमूला 'अधमता', तथा सुध-बुध, समझ-ज्ञान, बोध-बुद्धि, इत्यादि द्वन्द्वों का संस्मरण—

इन दोनों विरुध्द-भावों के अर्थसमन्वय के लिए ही [1]**संवित्**, और [2]**अनुभूति**, ये दो शब्द अवतीर्ण हुए हैं शब्दशास्त्र के अनन्तमहिमामय प्राङ्गण में, लोकभाषा में जिनके लिए '[1]**सुध**-[2]**बुध**' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जोकि-'[1]**समझ**-[2]**ज्ञान**'-'[1]**बोध**-[2]**बुद्धि**' इत्यादि अनेक नामों से प्रसिध्द हैं, एवं जिन इन दोनों भावों के लिए ही पूर्व में-'**समझ बिना बुध बापड़ी**'- इस लोकसूक्ति के समन्वय की चेष्टा हुई है।

५४२-मानवव्यक्ति के व्यक्तित्वाधारभूत अनन्तपुरुष, अनन्तप्रकृति, नामक दो विवर्त, एवं तन्मूलक एकत्त्व-अनेकत्त्व-का संस्मरण—

व्यक्ति के वैय्यक्तिक स्वरूप में महतोमहीयान् दो पर्व प्रतिष्ठित-समन्वित हैं, जो **अनन्तपुरुष, अनन्ताप्रकृति**-इन नामों से प्रसिध्द हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्तिमानव अपने पुरुषभाव से भी अनन्त **है**, महान् है। एवं प्रकृतिभाव से भी अनन्त है, महान् है। पुरुषात्मिका महत्ता का नाम ही **है 'संवित्'**--**'समझ'**, किंवा **'बोध'**। एवं प्रकृत्यनुगता महत्ता का नाम ही है--**'अनुभूति'**--**'ज्ञान'**,--किंवा **'बुद्धि'**। इन दोनों में पुरुष की अनन्तता दिग्देशकालातीत 'एकत्त्व' से अनुप्राणिता है, तो प्रकृति की अनन्तता 'दिग्देश-कालात्मक **'अनेकत्त्व'** से अनुप्राणिता है।

५४३-मानवव्यक्तित्वानुगत-पुरुषात्मक-दिगदेशकालातीत आनन्त्य, तथा प्रकृत्यात्मक संख्यानुगत आनन्त्य का स्वरूप दिग्दर्शन—

यों दोनों के आनन्त्य में ('अनन्तता' रूप साम्य के विद्यमान रहते हुए भी) स्वरूपतः अत्यन्त ही विभेद है। दिग्देशकाल से **'अनन्त'**, किन्तु संख्या में **'एक'**, यही **'पुरुष'** का स्वरूप--परिचय है। एवं दिग्-देशकाल से **सादिसान्त**, किन्तु संख्या में **अनन्त**, यही **'प्रकृति'** का स्वरूप--परिचय है। इन दोनों भावों की समन्वितावस्था का नाम हीं है **पूर्ण मानव, अनन्त मानव, महान् मानव** पुरुषेण च, प्रकृत्या च। मानव के पुरुषतन्त्रानुगत सम्पूर्ण तन्त्र **'संवित्'** को आधार बना कर ही प्रवृत्त होते हैं, होने चाहिएँ। एवं मानव के प्रकृतितन्त्रानुगत सम्पूर्ण तन्त्र **'अनुभूति'** को आधार बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं, **होने** चाहिएँ। यदि ऐसा होता है, तो यह मानव है। मानव ही नहीं, उस अनन्त का महान् प्रतिरूप ही **है**, जिससे अधिक महान्, श्रेष्ठ सम्पूर्ण विश्व में दूसरा और कोई नहीं है।

५४४-मानव की 'महत्ता', तथा 'अधमता' की आधारभूता शक्तिद्वयी—

और यहीं मानव की उस महती समस्या के समाधानबीज सुरक्षित हैं, जिनसे अपरिचित रह जाने के कारण, किंवा परिचित होजाने पर भी उपयोगिता में साङ्कर्य्य-विपर्य्य कर देने के कारण महान् भी मानव अधमता का सर्जक बनता हुआ स्वयं भी अपनी इसी अधमता से अधम बन जाता **है**, एवं अपने पारिवारिक-सामाजिक-आदि आदि वातावरणों को भी अधम बना डालता है। **पुरुषमूला संविन, और प्रकृतिमूला अनुभूति**, दोनों हीं मानव की वैसी प्रबल शक्तियाँ हैं, जो ठीक ठीक व्यवस्थित होकर जहाँ मानव को **सर्व-श्रेष्ठ** प्रमाणित कर देतीं हैं, वहाँ अव्यवस्थित दशा में आकर ये ही दोनों महान्-शक्तियाँ मानव को **सर्व--निकृष्ट** बना डालतीं हैं।

५४५-संविन्मूला निष्ठा, तथा अनुभूतिमूला 'भावुकता' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

संविच्छक्ति का आचारात्मक, व्यवहारात्मक स्वरूप **है-''निष्ठा'**, एवं अनुभूतिशक्ति का आचारात्मक स्वरूप **है-'भावुकता'**। 'समझ' का निष्ठा से, एवं 'ज्ञान' का भावुकता से सम्बन्ध है। 'बोध' ही निष्ठा है, एवं 'बुध्दि' ही भावुकता है। अपने संवित्-समझ-बोध-निष्ठा-रूप पुरुषभावों से वही मानव **नैष्ठिक है**, एवं अपने

अनुभूति-ज्ञान-बुद्धि-भावुकता-रूप प्रकृतिभावों से वही मानव 'भावुक' है, और दोनों हीं मानवस्वरूप विश्वेश्वर से समन्वित विश्व की महती विभूतियाँ हैं स्व-स्व-स्थान-क्षेत्रों में व्यवस्थित-प्रतिष्ठित रहतीं हुईं। पुरुषानुगता निष्ठा दिग्देशकालातीता है, तो प्रकृत्यनुगता भावुकता दिग्देशकालनिबन्धना है। तात्पर्य्य-निष्ठा का क्षेत्र दिग्देशकालीत 'पुरुष' है, एवं भावुकता का क्षेत्र दिग्देशकालात्मिका 'प्रकृति' है। क्या तात्पर्य्य निकला इस 'तात्पर्य्य' शब्द का ?, स्वयं अपनी 'संवित्' से हो समन्वय कर लीजिए। क्योंकि तात्पर्य्य के तात्पर्य्य का कोई भी तात्पर्य्य कदापि वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है, तो वह प्राकृत भावुकता--मात्र है।

५४६–प्रकृत्यनुगता भावुकता, तथा पुरुषानुगता निष्ठा के संरक्षणक्षेत्र, एवं विभिन्न क्षेत्रों में दोनों की समादरणीयता का समन्वय—

इस भावुकता की दृष्टि से ही तात्पर्य्य शब्द का यही 'तात्पर्य्य' मान लिया जा सकता है भावुकतासंरक्षणमात्र के लिए कि-भावुकता के क्षेत्र में भावुकता को स्वतन्त्र न बनने देना हीं प्राकृत-भावुकता का क्षेत्र-संरक्षण है। एवमेव निष्ठा के क्षेत्र में निष्ठा को स्वतन्त्र न बनने देना हीं पौरुष-निष्ठा का क्षेत्र संरक्षण है। क्या तात्पर्य्य के पुत्रभूत इस दूसरे तात्पर्य्य के भी पुत्र का, अर्थात् पौत्र का भी अन्वेषण करना पड़ेगा ?। कर लीजिए। क्योंकि यही तो भावुकता की स्वरूप--महिमा है, जो आरम्भ करना तो जानती है, किन्तु समाप्त करना नहीं जानती। हाँ, तो समन्वय कीजिए इस 'तात्पर्य्य' के पौत्र का। दिग्देशकालात्मिका प्रकृति के क्षेत्र में साम्राज्य तो भावुकता का, अर्थात् बुध्दि का, अर्थात् ज्ञान का, अर्थात् 'अनुभूति' का ही है।

५४७–संविन्मूला अनुभूति का, तद्रूपा निष्ठासमन्विता भावुकता का प्राकृत–क्षेत्र में महान् विजय, एवं प्रकृतिमूला भावुकता के प्रति ही श्रेयोऽर्पण—

अनुभवाहित-संस्काररूप ज्ञान, एवं तद्युक्ता बुध्दि ही प्राकृत विश्व के सम्पूर्ण प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्मों की प्रवर्त्तिका बनेगी, बनती ही है। अतएव प्रकृति के दिग्देशकालानुबन्धी सभी कार्य्य हैं तो भावुकतापूर्ण हीं। किन्तु इनकी यह पूर्णता सम्भव तभी बना करती है, जबकि इनके मूल में आधाररूप से पुरुषमूला निष्ठा को, अर्थात् बोध को, अर्थात् समझ को, अर्थात् संवित् को अधिष्ठित-प्रतिष्ठित-कर लिया जाता है, तो। शक्तिमान के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाली शक्ति सर्वप्रथम शक्तिमान् का ही संहार कर डालती है, तदनन्तर वही अनियन्त्रिता स्वतन्त्रशक्ति सम्पूर्ण शक्तिमानों का संहार कर दिया करती है। अतएव धनशक्तिरूपा प्राकृतभावुकता शक्तिमान् पुरुष की निष्ठा से, किंवा निष्ठारूप से नियन्त्रित होकर ही आरब्ध कर्म्म को साङ्गोपाङ्गरूपेण पूर्ण-सम्पन्न करने में समर्थ बना करती है। श्रेय सबकुछ भावुकता को ही है, भावुकता का ही है, दिग्देशकाल का ही है, बुध्दि का ही है, ज्ञान का ही है, अर्थात् प्रकृति का ही है। किन्तु ?। इस किन्तु का उत्तर स्पष्ट है।

६४८–दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में संविन्मूला निष्ठा का साम्राज्य, किन्तु तदाचार से अनुप्राणिता भावुकता का ही आचारपक्ष में प्राधान्य, तथा तद्द्वारा ही नैष्ठिक–पुरुष में ऋजुता का आविर्भाव—

दिग्देशकालातीत पुरुष के क्षेत्र में साम्राज्य तो 'निष्ठा' का ही है, अर्थात् 'बोध' का ही है, अर्थात् 'समझ' का ही है, अर्थात् 'संवित्' का ही है। दिग्देशकालातीता ऋजुता ही अकर्म्मात्मक स्थाणुपुरुष की

प्रतिष्ठा, किंवा स्वरूप माना गया है। यह ऋजुता, कृतकृत्यता, गत्युपशान्तिरूपा स्थिति, नितरां स्थितिलक्षणा 'निष्ठा' ही इसका स्वरूप है, और यही इसकी परिपूर्णता है। किन्तु इस परिपूर्णता की अभिव्यक्ति सम्भव बना तभी करती है, जबकि इसके क्रोड़ में प्राकृत–भावुकता का समावेश होजाता है। भावुकताके समावेश से ही नैष्ठिक पुरुष में स्वानुगता ऋजुता की अभिव्यक्ति होती है, जिस इस दिग्देशकालातीत नैष्ठिक पुरुष के सम्बन्ध में अब इससे अधिक भावुकतापूर्ण तात्पर्य्यान्वेषण की चेष्टा करना निष्ठानुग्रह से अपने आपको वञ्चित ही कर लेना होगा। अतएव–**'मातिप्राक्षीः'**। अन्यथा **'मूर्द्धा ते विपतिष्यति'**। जिसप्रकार भावुकता के मूल में आधाररूप से निष्ठा है, तथैव कदापि निष्ठा के मूल में भावुकता प्रतिष्ठित नहीं है। शक्तिमान् में शक्ति रह सकती है, रहती है। किन्तु कदापि शक्ति में शक्तिमान् समाविष्ट नहीं होता। पुरुष में प्रकृति है, कदापि प्रकृति में पुरुष नहीं है। अर्थात् पुरुष ही आधार है सर्वत्र, सब अवस्थाओं में अपनी दिग्देशकालातीता अनन्तता से–**'न त्वहं तेषु अपितु ते मयि'**। तो फिर इस विपर्य्यय का क्या अर्थ हुआ?। संवित् से ही उत्तर पूँछिए कि, क्या उत्तर हो सकता है इसका?।

५४९–भावुकता की आधारभूता अनुभूति का निष्ठाधारभूता संवित् में अर्पण–समर्पण, एवं निग्रह–अनुग्रहों से असंस्पृष्ट अनन्तपुरुष—

भावुकता का निष्ठा के प्रति प्रणतभाव से समर्पण, प्रकृति का पुरुष में अर्पण, बुद्धि का बोध में, ज्ञान का समझ में, अनुभूति का संवित् में सर्वस्व समर्पण। यही तो वह महान् अर्थ है, जिससे प्रकृति को दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का आश्रय भी उपलब्ध हो जाता है, एवं वह स्वयं भी पुरुष की निष्ठामात्र से अपने आप पर (भावुकता पर) नियन्त्रण करने में समर्थ बन जाती है। दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष, कालातीत पुरुष न तो प्रकृति पर अनुग्रह ही करता, न निग्रह ही करता। अपनी अनन्तता से वह इन दोनों ही प्राकृत–धर्म्मों से पृथक् है।

५५०–निग्रह–अनुग्रह–प्रवर्त्तिका भावुकतात्मिका अनन्ता प्रकृति का अनन्तपुरुष के प्रति समर्पण, एवं समर्पण की स्वरूप–परिभाषा—

निग्रहानुग्रह, स्वातन्त्र्य–पारतन्त्र्य स्वयं प्रकृति के, भावुकता के ही धर्म्म हैं, निष्ठा के नहीं, पुरुष के नहीं। यदि अनुग्रह, और निग्रह उसी के धर्म्म होते, तो फिर कहना हीं क्या था। क्योंकि प्रकृति उसकी सीमा से बाहिर है कहाँ। उस अनन्त के एकांश में हीं तो प्रकृतिदेवी विराजमाना है। आश्रय ले ही तो रक्खा है प्रकृति ने पुरुष का। सबकुछ प्राकृत विवर्त्त उसी में तो बुद्बुद्वत् समाविष्ट हैं। फिर क्या अर्थ है प्रकृति का पुरुष के आश्रित होजाने का?। इस प्रश्न का उत्तर पुरुष कदापि नहीं देता। न तो यह विधि करता, न निषेध करता। विधि, और निषेध, **हाँ**, **और ना**, दोनों इस प्रकृति के ही धर्म्म हैं। वह अनुकूलता में स्वयं ही विधिरूपा बन जाती है, एवं प्रतिकूलता में स्वयं ही निषेधरूपा बन जाती है। **प्रतीकता में सर्वत्र प्रकृति निषेधरूपा ही है, एवं प्रतिरूपता में सर्वत्र प्रकृति विधिरूपा ही है। तभी तो हमने मानव को 'प्रतिरूप' ही माना है उसका।**

५५१–पुरुषलक्षण–'स्व' तन्त्र' में समर्पिता प्रकृति की 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' का तात्त्विक दिग्दर्शन—

प्रतिरूपता से होता यही है कि, प्रकृति की दिग्देशकालात्मिका भावुकता भी सुरक्षित रह जाती है, एवं अनुरूप पुरुष की निष्ठा से इसकी यह भावुकता कर्त्तव्यनिष्ठा से भी नियन्त्रित बनी रहती है। एवं यही 'पर' तन्त्रानुगता (अव्ययपुरुषतन्त्रानुगता) वह **'परतन्त्रता'** है, जिससे प्रकृति **'स्व–(अव्ययपुरुष के) तन्त्र'** में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहती हुई **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा'** बनी रहती है। यही प्राकृत मानव की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता का चिरन्तनेतिवृत्त है। उसका आश्रय लेने से मानवप्रकृति की भावुकता में ॠजुता तो अवश्य आजाती है। और इस ॠजुता से तदाश्रित मानव महान् भी अवश्य ही बन जाता है।

५५२–पुरुषानुशीलनात्मक समर्पण, अनुभूत्यात्मक संस्मरण, एवं दोनों के तारतम्य से अनुप्राणिता वास्तविक–वस्तुस्थिति का स्वरूप-समन्वय—

किन्तु बिना इस आश्रयता के, प्रत्यर्पण के इसकी इस ॠजुभावुकता में निष्ठा का उदय नहीं हो पाता। फलतः ऐसा केवल महान् भावुक अन्ततोगत्त्वा अनुभूतिपरायण ही बना रह जाता है। **उसका संस्मरण दूसरा पक्ष है, किन्तु उसका अनुशीलन अन्य पक्ष है।** संस्मरणात्मक प्रत्यर्पण में निष्ठा का उदय सम्भव ही नहीं है। क्योंकि इसमें संस्मर्त्ता भक्त की अनुभूति, किंवा भावुकता ही प्रधान बनी रहती है। और यहाँ भक्त ही भगवान् से बड़ा मानता रहता है अपने आपको, भगवान् का गुणानुवाद करता हुआ भी। इसी भावना–भावुकता से सम्पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा सर्वथा ही अभिभूत होजाती है ऐसे भावुक भक्तराज की, जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भावुक अर्जुन से बड़ा दूसरा और कौन होगा ?। ठीक इसके विपरीत अनुशीलनात्मक संस्मरण में तत्काल ही निष्ठा का उदय होजाता है। क्योंकि अनुशीलन में अनुशीलनकर्त्ता कर्त्तव्यनिष्ठ मानव का **'कर्त्तव्य'** ही प्रधान बना रहता है। यहाँ अनुशीलनात्मक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का ही अर्पण होता है, जिसमें अनुशीलन-कर्त्ता की भावना–भावुकता-कल्पना–का संस्पर्श भी नहीं है। कर्त्तव्य का निर्द्धारण यह स्वयं अपनी अनुभूति से नहीं करता। अपितु शास्त्र के द्वारा स्वतःसिद्ध निर्द्धारित कर्त्तव्यकर्म्म के माध्यम से ही अनुशीलन-परायण बना रहने वाला यह कर्त्तव्यनिष्ठ मानव अपनी भावना–अनुभूति–जैसी कोई भी कल्पित वस्तु अपने कोश में नहीं रखता।

५५३–भगवान् के भावुक भक्तों, और नैष्ठिक--भक्तों का संस्मरण, तथा--सहज-भावुक अर्जुन की भावुकता का स्वरूप--दिग्दर्शन, और भगवान् के द्वारा तन्नियन्त्रण—

"भगवान्–भक्त–और भावुकता," एवं **"भगवान्–भक्त–और निष्ठा"** दोनों में जो अन्तर है, वही **भावुकभक्त** में, एवं **नैष्ठिकभक्त** में अन्तर है। अर्जुन निःसन्देह भावुक भक्त था, अतएव महान् था। किन्तु इस महत्ता से ही तो मानवता अभिव्यक्त नही होजाती। भावावेश में आकर अश्रुपात करने से, नाच–गा–पड़ने से ही तो कर्त्तव्यनिष्ठा का उदय नहीं हो जाता। अतएव क्या हुआ अर्जुन के लिए भगवान् का आदेश ?, कैसी भक्ति का वरदान मिला अर्जुन को ?, गीताभक्तों से प्रश्नों के समाधान परोक्ष नहीं है।

अर्जुन की, भावुक अर्जुन की भावुकता को निष्ठा का ही वरदान मिला था भगवान् के द्वारा, जिसके बल पर इसने गिरते पड़ते कर्त्तव्यनिष्ठा का निर्वाह किया था। अर्जुनने अपनी इस तात्कालिकी भावुक-प्रकृति का कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका क्षात्रप्रकृति से नियन्त्रण किया। इस नियन्त्रण से (कर्त्तव्यनिष्ठा से) नियन्त्रिता यही भावुकता निष्ठारूप में परिणत होगई। यही निन्त्रण अपेक्षित है प्रकृति के साम्राज्य में, जिसमें मानव के तात्कालिक अनुभवों का कोई भी महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया, जबकि सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का निर्वाह इन अनुभवों से ही हुआ करता है। यदि दुर्भाग्यवश अर्जुन की यह प्राकृत भावुकता, यह करुणा-दया-अहिंसा-आदि लक्षणा कल्पित--मानवता निष्ठावतार भगवान् के द्वारा नियन्त्रित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ न बन जाती, तो क्या होता ?। होता वही, जो गीतोपदेशकाल के दोहजार वर्ष के अनन्तर, एवं तीन हजारवर्षपूर्वारम्भ में हो पड़ा था, एवं जिस होपड़ने के महान् पाप से आजतक भी नैष्ठिक भी भारतराष्ट्र का परित्राण नहीं होसका है।

५५४-नियन्त्रण के अभाव से ही भारतीय--मानवों की भावुकता के द्वारा त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में उत्तरोत्तर--पराभव—

क्योंकि तब से आजतक जो उद्बोधक आविर्भूत हुए भारतराष्ट्र में, सबने अपनी अपनी अनुभूतियों, तत्पूर्णा भावुकताओं के प्रचार-प्रसार को ही मानवता-मानवधर्म्म का प्रचार-प्रसार-अनुभूत मात्र किया अपने मानस--जगत् में। यदि ये महानुभाव आँख उठाकर, अपने अनुभवाहित काल्पनिक जगत् से क्षणमात्र के लिए भी बाहिर आँख उठाकर राष्ट्र पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो, तो इनकी इन अनुभूतियों के, कल्पनाओं के अनुग्रह से सर्वथा क्षत-विक्षत होते रहने वाले राष्ट्र की दुर्द्दशा पर अवश्य ही इनका ध्यान चला जाता। किन्तु चला कैसे जाता ?। अनुभूति जो इनके साथ थी, जो कर्त्तव्य की दृष्टि सर्वथा ही छीन लिया करती है। इनका ईश्वर भी केवल इन्हीं का होता है। वह केवल इन्हीं को चुपचाप आकर 'सत्य'-'**अहिंसा**' आदि का वास्तविक मर्म्म समझा जाता है। और यों ये अपनी अनुभूति के बल पर ही भगवान् के समसम्बन्धी बनकर अर्जुन की भाँति स्वयं हीं निर्णायक बन बैठते है, जिन निर्णयों की अन्धानुसारिणी भावुक प्रजा के कष्ट कम होने के स्थान में उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं भगवान् के नाम पर, एवं भावुक भक्तों की भक्ति के नाम पर।

५५५-'कर्त्तव्यनिष्ठा' वाक्य के 'कर्त्तव्य' पर्व की प्रकृतिपरायणता, एवं 'निष्ठा' पर्व की पुरुषपरायणता, तथा कर्त्तव्य, और निष्ठा के साहचर्य्य से 'अहन्ता' का उदय—

अब उस '**निष्ठा**' का भी विचार करलें, जो केवल दिग्देशकालातीत अनन्तपुरुष का ही 'धन' है, एवं जिसपर मानवप्रकृति का कोई भी स्वत्वाधिकार नहीं है। '**कर्त्तव्यनिष्ठा**' में '**कर्त्तव्य**',और '**निष्ठा**', ये दो पर्व-विभाग हैं। 'कर्त्तव्य' 'प्रकृति' की सम्पत्ति है, तो 'निष्ठा' पुरुष' की सम्पत्ति है। यदि पुरुषात्मिका निष्ठा के साथ प्रकृत्यात्मक कर्त्तव्य का सांकर्य्य होजाता है, तो कर्त्तव्य तो अवश्य सम्पन्न होजाता है। किन्तु इस कर्त्तव्य में 'अहन्ता' का उदय होजाता है। अनन्तपुरुष का जो यत्किञ्चिदंश प्राकृतभाव से समन्वित होकर-'**अहं**' रूप जीव बनता है, वह जब निष्ठा-भावुकता का विवेक करने में असमर्थ बनता हुआ (जिस असामर्थ्य का मूल-कारण प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है) प्रकृति के कर्त्तव्य को इस पुरुषांशरूप

'अहं' ('जीव') का कर्त्तव्य मान बैठने की महाभयानक भूल कर बैठता है, तो इस 'अहं' रूप चैतन्य में प्रकृति की 'जड़ता' का समावेश होजाता है। और ऐसा मानव इस अवस्था में आकर केवल जड़प्रकृति ही प्रकृति बना रहजाता है। स्वयं प्रकृतिका अनन्तकालिक विस्तार भी इस की अहंकारविमूढा विकृतिलक्षणा प्रकृति से परोक्ष ही बन जाता है* ।

५५६–अहन्तामूला--प्रत्यक्षप्रभावात्मिका भूतजड़ता के द्वारा कर्त्तव्यासक्त कुनैष्ठिक की 'विमूढ़ता', एवं कर्त्तव्यच्युत की–'मूढ़ता'—

स्थूलदृष्टि–भावानुगत प्रत्यक्ष दृष्ट भूत–भौतिक पदार्थों का 'स्वार्थ' ही इसकी इस 'जड़ता' का आधार–स्तम्भ बन जाता है। यह अपने सामने की भूतवस्तु को छोड़ कर कल–परसों का भी विचार करने में असमर्थ बन जाता है। इसी को 'सम्मूढ़' कहा गया है, 'विमूढ़' कहा गया है, जब कि केवल भावुक 'मूढ़' नाम से ही व्यवहृत होने योग्य है (नैष्ठिक की अपेक्षा विमूढ़ बनता हुआ भी)। 'अहङ्कारविमूढ़ात्मा' (गीता ३।२७।)–'प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः' (गीता ३।२६।)–'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्०' (गीता ३।३२।)--'इन्द्रियार्थविमूढ़स्य' (मैत्र्युपनिषत् ६।३४।)--'एतैर्विमोहयत्येषः' (गीता ३।४०।)–'इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा' (गीता ३।६।) 'विमूढ़ा नानुपश्यन्ति' (गीता १५।१०।)--इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त वचन तात्कालिक स्वार्थपरायण-इन्द्रियलोलुप-सर्वज्ञानविमूढ़–सम्मूढ़–जड़मानवों के इस स्वरूप का ही यशोवर्णन ? कर रहे हैं, जिन्हें हम अपनी व्यवहारभाषा में 'कुनैष्ठिक'–'दुष्ट'--'क्रूर'--'आततायी'–'असुर'–'राक्षस'-'नराधम'-'पिशाच'–आदि आदि सम्मानित ? उपाधियाँ प्रदान करते रहना अपना मानवोचित कर्त्तव्य ही मानते आरहे हैं।

५५७--परदुःखकातर, अतएव दिग्देशकालविमूढ़ अर्जुन-समतुलित कर्त्तव्यच्युत भावुक मानवों का प्रशंसात्मक, किन्तु दयनीय स्वरूप—

अर्जुन–सदृश कर्त्तव्यविमुख भावुक मानवश्रेष्ठ तो केवल भावुक हैं, निरपराध–सौम्य वैसे मानव हैं, जो सब दुःख स्वयं सहने के लिए अहोरात्र सन्नद्ध ही खड़े रहते हैं। परदुःख से कातर बने रहने वाले, परोपकार की भावनामात्र से समन्वित ऐसे धर्मभीरु भावुक मानव हीं अपनी भावुकतापूर्ण अनुभूतियों, उद्गारों से गद्गद करते रहते हैं स्वसमानधर्म्मा भावुक प्राणियों को। कदापि ऐसे मानवश्रेष्ठ भावुक महामानवों से जगत् के अनिष्ट की कल्पना भी सम्भव नहीं है। अपितु ये तो सदा जगत् के 'कल्याण' की ही कामना किया करते हैं–त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिलक्षण पुरुषार्थ का सतत उद्घोष करते रहने वाले वीतराग संन्यासियों की भाँति, किंवा दार्शनिकों की भाँति। मानवसुलभ इन का सौजन्य, इन की गरिमामहिमामयी वाणी, परदुःखश्रवणमात्र से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन जाने वाली इन की भावुक–आकर्षक–आकृति, इस परदुःख–निवारण–कामना से ही अपने आप को, परिवार को, समाज को, एवं सर्वान्त में राष्ट्र को ही बलिवेदि पर हँसते हँसते चढ़ा देने वाले ऐसे परोपकारी, सत्य–करुणा–दया–अहिंसा–के पुजारी मानवश्रेष्ठ अर्जुन की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। किन्तु ?।

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥
—गीता ३।२७।

५५८–मोहासक्त, अतएव 'मूढ' उपाधि-विभूषित, परदुःखकातर भावुक-मानवश्रेष्ठों के सम्बन्ध में श्रुति के उद्गार—

इस 'किन्तु'-'परन्तु' का समाधान तो भगवान् हीं कर सके थे, जिनके अवतार की आज भी हम भारत वासी वैसी ही, किंवा उस से भी अधिक आवश्यकता अनुभूत कर रहे हैं। इसलिए विशेषरूप से कर रहे हैं कि, उन का प्रतिरूपात्मक सर्वमूर्द्धन्य आचारनिष्ठात्मक–गीताशास्त्र भी आज भावुक भक्तों की भावुकता का उत्तेजक ही प्रमाणित होता जारहा है, किंवा होचुका है। अर्जुन के भावुकतापूर्ण उद्गार ही आज गीताशास्त्र के सिद्धान्तपक्ष माने, और मनवाए जारहे हैं अपनीं अपनीं अनुभूतियों के बल पर उसी भावुकता के आवेश में, **जिन ईश्वरपरायण ऐसे भावुक भक्तों को ही गीताशास्त्र में–'मूढ़' उपाधि मिली है, जैसाकि उसी श्रुति, और स्मृति (गीता) शास्त्र के निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—**

(१)–दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ाः (ज्ञानिनः–पण्डिताः-ब्राह्मणाः)—कठोप० २।५।

(२)–तदिमे मूढ़ा उपजीवन्ति (लोकचतुराः–आस्तिकाः-सत्ताव्यामुग्धाः–क्षत्रियाः)

(३)–प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् (भगवद्भक्ता धनिनः-वैश्याः)—कठोप० २।५।

(४)–यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा (यथाजाताः-आस्तिकाः शूद्राः)–(बृ. उ. ६।१।११।)

(*)–'कवयोऽप्यत्र मोहिताः (१) (गीता ४।१६)–**'मूढ़ोऽयं नाभिजानाति' (२)** (२।२५।)–**'अवजानन्ति मां मूढ़ाः' (३)** (६।११।)–**'तेन मुह्यन्ति जन्तवः':(४)** (५।१५)–**'मूढ़ा–जन्मनि–जन्मनि'** (१६।२०।)।

५५९–कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा 'मूढ़ावस्था', हीनकर्त्तव्यरूपा 'विमूढ़ावस्था', एवं 'मा ते व्यथा'–'मा च विमूढ़भावः' का संस्मरण—

कर्त्तव्य की विस्मृत्यवस्था का नाम है **'मूढ़ता'**, जिस में मानव शोकसंविग्नमानस बन जाया करता है। एवं कर्त्तव्यविस्मृतिरूपा जड़ता, एवं इस जड़ता की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होपड़ने वाली जघन्य–कुकर्म्मप्रवृत्ति से अभिव्यक्ता शोक–व्यथा–विस्मृति–रूपा आत्यन्तिक जड़ता का नाम है–**'विमूढ़ता'**, जिसमें सभी कुछ समाप्त होजाता है। **'मा ते व्यथा'**–यह पूर्ववाक्य शोकानुभूतिरूपा 'मूढ़ता' की ओर सङ्केत कर रहा है, एवं **'मा च विमूढ़भावः'** यह उत्तरवाक्य तदुत्तरभाविनी कुकर्म्ममूला आत्यन्तिक–जड़ता–लक्षणा 'विमूढ़ता' की ओर सङ्केत कर रहा है।

५६०–धर्म्मभीरु–आस्तिक–भावुक की आद्यन्ता दुःखनिमग्नता, एवं तदनुगामी–भक्तों का तथागतित्त्व, किंवा 'तथागतत्त्व'—

निवेदन अत्र यही करना है कि, ईश्वर–परलोक–आत्मा–धर्म्म–कर्म्म–आदि आदि सभी शास्त्रीय भावों के प्रति आस्था रखने वाला, किन्तु परदर्शनमूला भावुकता के कारण **धर्म्मनिष्ठ-शास्त्रनिष्ठ-कर्त्तव्यनिष्ठ**

के स्थान में **धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-कर्त्तव्यभीरु**-बन जानेवाला परदुःखकातरमात्र मानवश्रेष्ठ ही **'भावुक'** कहलाया है, जो परदुःखों की चर्व्वणा में हीं आद्यन्त का दुःखी बनता हुआ एक दिन इन दुःखों में हीं समाप्त हो जाता है, एवं तदनन्तर उसके अन्ध-अनुयायी उसके भावुकतापूर्ण इन **त्याग-तपस्या-विजृम्भणों** के यशोगानमात्र से अपने आपको भी उसी भावुकतापूर्ण पथ के पथिक बनाए रहते हैं।

५६१-ईश्वर-धर्म्म-शास्त्र-भीरु, मान्यताभावों में नितान्तभीरु भावुक-मानवों की परम्परा से ही अनेक शताब्दियों से उत्पीड़ित भारतराष्ट्र—

सचमुच धर्म्मभीरु-शास्त्रभीरु-ईश्वरभीरु,-सर्वोपरि सत्य, अहिंसा, दया, करुणा-मानवता-आदि में नितान्त भीरु ऐसे भावुक मानवों की पारम्परिक-सृष्टि-परम्पराने हीं तीन सहस्र वर्षों से भारत की धर्म्म-शास्त्र-कर्त्तव्य-ईश्वर आदि विमल-निष्ठाओं को विस्मृति के गर्भ में हीं विलीन बनाए रक्खा है। इन की इस भावुकता के ही अनुग्रह से, निःसंशय एकमात्र अनुभूतिमूला इस विशुद्धा भावुकता से ही उन विमूढ़ दुष्टबुद्धि-जड़-स्वार्थी-कुनैष्ठिकों को ही उत्तरोत्तर इस राष्ट्र में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से दृढ़मूल बनाया है, जिनके कारण हीं सबकुछ विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र श्री-समृद्धि-विद्या-शौर्य्य-यशो-विहीन ही बनता आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से।

५६२-कर्त्तव्यनिष्ठासक्तिमूलक व्यामोहन से व्यामुग्ध मानव की तमोगुणान्विता जड़ता, एवं तद्द्वारा भीषण-अकाण्ड-ताण्डव—

निवेदन किया गया है कि, 'कर्त्तव्यनिष्ठा' शब्द के 'कर्त्तव्य' पर्व का प्रकृति से, तथा 'निष्ठा' पर्व का 'पुरुष' से सम्बन्ध है। जब कर्त्तव्यात्मक प्रकृतिभाव निष्ठात्मक पुरुष के क्षेत्र में आता हुआ पुरुष की सम्पत्ति बन जाता है, तो प्राकृत मानव का चैतन्यपुरुषभाव (जीवभावात्मक-अहंभाव) 'अहं करोमि' (मैं करता हूँ) इस मिथ्यादम्भ में आकर कालान्तर में निश्चित कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही होजाता है। यही अकर्म्मण्यता कालान्तर में इसे तमोगुणप्रधान वैसे जड़कर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त कर देती है, जिनका एकमात्र उद्देश्य बना रहता है हिंसक सिंह-व्याघ्रादि प्राकृत जीवों के नृशंसकर्म्मवत् किसी भी उपाय से-छल-बल-कपट-हिंसा-स्तेय-दस्यु-वृत्ति आदि से स्वार्थपोषण करते रहना। यों आरम्भ की **'भावुकता'** ही कालान्तर में **'अधमता'** की जननी बन जाती है। भावुकता ही यों परम्परया अपने वर्ग में से ही मानवाधम उत्पन्न करदेती है। वैसे तो मानवता के क्षेत्र में मूलतः सभी मानव ही हैं। कन्तु इन मानवों की प्रारम्भिक भावुकताने हीं सभी राष्ट्रों में अपनी मानवता के गर्भ से ही दानव-दस्युओं को उत्पन्न कर ड़ाला है, जो दानव-दस्यु अपनी जननी मानवता को खा-खा कर ही अपनी कायवृद्धि करते रहते हैं। क्योंकि-**'जो जिस से उत्पन्न होता है, वह उसी को खाकर जीवित रहा करता है'** इस प्राकृतिक-नियम का अतिक्रमण कदापि सम्भव नहीं है-निष्ठा के अतिरिक्त।

५६३-धर्म्मभीरु भावुक अर्जुन, तथा कर्म्मभीरु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन, एवं इन की धर्म्म-निष्ठा-कर्त्तव्यनिष्ठा-रूपा महती भ्रान्ति—

समझने मात्र के लिए भावुक की पूर्वावस्था को जहाँ हम **'भावुक'** कह सकते हैं, वहाँ इसी की अन्तिम-जड़ावस्थारूपा विमूढावस्था (उत्तरावस्था) को **'कुनैष्ठिक'** कह सकते हैं, एवं आज से पाँच सहस्र वर्ष के

पूर्वयुग में **अर्जुन**, और **दुर्य्योधन** के रूप से इन दोनों वर्गों के दर्शनों का महद्भाग्य, किंवा महद्दुर्भाग्य प्राप्त कर सकते हैं, जो उस युग के सर्वश्रेष्ठ **धर्म्मभीरु**, एवं सर्वश्रेष्ठ **कर्म्मभीरु** ही बने हुए थे, किन्तु अपनी भावुकता, तथा कुनिष्ठा से समझ बैठे थे जो अपने आपको क्रमशः **धर्म्मनिष्ठ**, एवं **कर्त्तव्यनिष्ठ** ही।

५६४–धर्म्म, तथा नीति का व्यवच्छेदात्मक भीषणतम महाभारतयुग, एवं धर्माभिनिविष्ट भावुक अर्जुन, तथा नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक दुर्य्योधन—

एक (अर्जुन) धर्म्म का आचार्य्य बनता हुआ मानवता-सत्य-अहिंसा-करुणा के व्याख्यान झाड़ रहा था आँखों में आँसू भर भर कर, तो दूसरा राजनीति का परमाचार्य्य बनता हुआ, देशकाल का पूर्ण ज्ञाता बनने का दम्भ करता हुआ अपनी राज्यलिप्सा के संरक्षण में प्रयत्नशील बना हुआ था सत्-असत्-सबकुछ को कर्त्तव्यनिष्ठा मानता हुआ। यों धर्म्म,और कर्म्म,किंवा धर्म्म और नीति सर्वथा ही विभक्त होगए थे उस युग में। धर्म्माभिनिविशिष्ट भावुक परमार्थी अर्जुनने नीति को जलाञ्जलि समर्पित करडाली थी, तो नीत्यभिनिविष्ट कुनैष्ठिक स्वार्थी दुर्य्योधनने धर्म्म को जलाञ्जलि प्रदान कर दी थी। कौरव–पाण्डवों का संघर्ष क्या था, धर्म्म और राजनीति का संघर्ष था, भावुकता, और कुनिष्ठा की प्रतिद्वन्द्विता थी। कौन, कैसे, विजयी हुआ इस संघर्ष में ?। क्या अर्जुनने अपने भावुकतापूर्ण धार्म्मिक–व्याख्यानों, मानवोचित अहिंसा–करुणादि धर्म्मों की घोषणाओं से दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन का दलन कर डाला ?। स्वयं ही उत्तर प्राप्त कर लीजिए उसी गीताशास्त्र के माध्यम से।

५६५–'ईश्वरनिष्ठात्मिका' सहज 'कर्त्तव्यनिष्ठा' का स्वरूप दिग्दर्शन. तदभिन्ना शास्त्रनिष्ठा, तद्रूपा 'धर्म्मनिष्ठा', एवं तदनुगत पुरुष-प्रकृति--समन्वयात्मक द्वन्द्वों का निर्विरोध--व्यवस्थापन—

कर्त्तव्यनिष्ठा का 'कर्त्तव्य' पर्व प्रकृति के क्षेत्र में हीं नियन्त्रित रहना चाहिए, एवं 'निष्ठा' पर्व पुरुष के क्षेत्र में हीं, स्वस्वरूप से ही व्यक्त रहना चाहिए। इस से कदापि दम्भ, तन्मूलक मोह (मूढ़ता), एवं विमूढ़ता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। दिग्देशकालानुगत कर्त्तव्य को दिग्देशकालातीता निष्ठा से नियन्त्रित रखने पर जो उभयस्वरूपात्मक तत्त्व सम्पन्न होता है, उसी का नाम है–**'कर्त्तव्यनिष्ठा'**, यही है **'ईश्वरनिष्ठा'**, यही है **'शास्त्रनिष्ठा'**, एवं यही है **'धर्म्मनिष्ठा'**, जिस की ग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदंश अवतीर्ण हुआ करता है। जिस निष्ठा में **पुरुष–प्रकृति, संवित्–अनुभूति' 'समझ–ज्ञान',–'बोध–बुद्धि',–धर्म्म–नीति,–परलोक–इहलोक,–अभ्युदय–निःश्रेयस्,–निष्ठा–भावुकता, दिग्देशकालातीतब्रह्म-दिग्देशकालात्मक** विश्व, इत्यादि दोनों भाव सर्वात्मना समदर्शनरूपेण, तथा विषमवर्त्तनरूपेण निर्विरोध समन्वित रहते हैं। एवं ऐसे ही मानवश्रेष्ठ को कहा जाता है–**'नैष्ठिक'**, जिस का अर्थ है–**अन्तर्भावुकतागर्भित निष्ठावान्**, जैसाकि निबन्ध के अग्रिम परिशिष्ट–खण्डों में लोकसूत्रपरम्परा के माध्यम से विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

५६६–दिग्देशकालधर्म्मों का समादर, एवं तदनुगत 'यत्किञ्चित्' संशोधन—

हम अनुमान करते हैं कि, अब उस 'यत्किञ्चित्' का अर्थ समन्वित होगया होगा–उक्त समन्वय–सन्दर्भ से। कदापि हम दिग्देशकालधर्म्मों का उच्छेद अभीप्सित नहीं मानते। क्योंकि शास्त्रनिष्ठा यह

प्रमाणित कर रही है कि, अनन्तब्रह्म की अनन्तकालविभूति के महिमारूप दिग्देशकालविवर्त्त भी तत्त्वतः अनन्त ही हैं। संशोधन अपेक्षित है सचमुच में यत्किञ्चि –सा ही, जिसे लक्ष्य बना लेने में महान् मानव–श्रेष्ठ को कदापि आपत्ति नहीं होगी, ऐसी हमारी मान्यता ही नहीं, अपितु पूर्ण आस्था है।

५६७–दिग्देशकालनिबन्धना तात्कालिकता से आविर्भूत व्यामोहन, एवं तद्द्वारा अनर्थपरम्पराओं की अभिव्यक्ति—

दिग्देशकाल के व्यामोहनने हीं मानव की महत्ता में तथाकथिता अनर्थपरम्पराओं का सर्ज्जन किया है। दिग्देशकालनिबन्धना कर्त्तव्यनिष्ठा अन्य पक्ष है, तो दिग्देशकालनिबन्धना स्वार्थनिष्ठा (कुनिष्ठा) विभिन्न पक्ष है। सम्मुख अवस्थित भौतिक लाभ को, इस वर्त्तमान दिग्देशकाल–निबन्धन तात्कालिक स्वार्थ को देखकर हमारी तात्कालिक बुद्धि अतीत और भविष्यत् को विस्मृत कर बैठती है। और ऐसा कुछ मान बैठती है इस परदर्शनमूला–विमोहनात्मिका भावुकता के आवेश में कि, यदि अभी, इसी क्षण किसी भी उपाय से, छलसे–बल से हमने इसे अपने अपने अधिकार में नहीं कर लिया, तो आगामी कल में हमें दुःखी ही होजाना पड़ेगा। यही तात्कालिकी दिग्देशकालता हमें वैसे जघन्य संग्रह में प्रवृत्त कर देती है, जो संग्रह अपने सहज आवरणधर्म्म से संग्रहपरम्परा को जन्म देता हुआ इस संग्रह में हीं इसे तल्लीन कर देता है। और यही तल्लीनता इसे आत्ममूलक समदर्शन, एवं तदनुगता महती महानता से पराङ्मुख करती हुई महतोमहीयान् भी इसके 'मानवस्वरूप' को ऐसा छोटा बना डालती है, जिस छोटाई में आकर यह अपने सम्मुख विद्यमान भौतिक अर्थों के साथ हिंस्रक सिंह-व्याघ्रादि की भाँति ही नहीं, अपितु शृगालवत् ही चिपट जाता है। और दुर्भाग्यवश-शवशरीरात्मक क्रव्यादमांससे समतुलित इन निष्प्राण अर्थों की लिप्सा में हीं यह अपनी बुद्धिमत्ता समाप्त कर देता है।

५६८–दिग्देशकालाश्रयतापूर्वक की मानव का तद्व्यामोहन से सम्भावित आत्मत्रा —

कौन मना करता है इसे दिग्देशकाल से लाभ उठाने के लिए, जबकि दिग्देशकाल की सीमा से बाहिर लाभ उठाने जैसा कुछ भी तो नहीं है। जबतक मानव शरीरी है, फिर भले ही वह ऋषि हो, देवता हो, पण्डितराज हो, किंवा तपस्वी वीतराग संन्यासी हो, अवश्य ही सभी को दिग्देशकालात्मिका शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए दिग्देशकालात्मक वर्त्तमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा *। जो समय से लाभ उठाता है, वही बुद्धिमान् है, वही विद्वान् है। कदापि इस प्रकृतिसिद्ध शाश्वत सनातन नियम का अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। जो इस नियम का अतिक्रमण कर जाता है कल्पित जगन्मिथ्यात्ववाद के व्यामोहन में, अपनी दार्श–निकता में, अपनी विद्वत्ता में, अभिनिविष्ट होकर, उसे 'शून्यम्' शून्यम्' के अतिरिक्त और क्या मिलता है ?। दिग्देशकाल–निबन्धना बुद्धिमानी की भावावेश में उपेक्षा करके ही तो अर्जुन यथाधिकारसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित कर बैठा था अपने आपको।

---

* नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः॥
—गीता ३।८

५६९-दिग्देशकालपर्म्मज्ञ, अवसरवादी दुर्य्योधन की धर्म्मशून्या नैतिक--कुशलता, एवं तद्द्वारा लाभान्वित दुर्य्योधन के लोकवृत्त का नीरक्षीरविवेक—

तो क्या दुर्य्योधन का पक्ष ठीक था ? । नहीं । वह तो अर्जुन से भी अधिक बुद्धिमान् ? बन गया था । अर्जुन की बुद्धिमानी एक सीमा में तो थी । वह अपनी इस भावुकतापूर्णा बुद्धि का लक्ष्य दूसरों को तो नहीं बनाना चाहता था । केवल पश्चात्ताप ही कर लिया था इसने अपने आप में हीं दुर्य्योधनादि के लिए÷ । किन्तु कुनैष्ठिक दुर्य्योधन तो इस सीमा का भी अतिक्रमण कर बैठा था । उसने तो कर्ण जैसे महान् धर्म्मिष्ठ तक को अपने जैसा बना ही जो लिया था । उसने भीष्म जैसे धर्म्मज्ञ को विवश कर लिया, द्रोणाचार्य्य जैसे ब्राह्मणश्रेष्ठ को सैनिक बना डाला । और क्या क्या दुष्कर्म्म नहीं करडाले इस दुष्टबुद्धिने अपने राजनैतिक-संघठन के लिए ? । अवश्य ही इसने उन सभी अवसरों से लाभ उठा लिया, जो भी अवसर इसके सम्मुख दिग्देशकालानुपातसे उपस्थित होते गए । यही नहीं, इस चाणाक्षचतुर-कालज्ञ-देशज्ञ-महान् मनोवैज्ञानिक-राज-नैतिक बिडालाक्षने तो उन पाण्डवपक्षपातियों से (शल्यादि से) भी स्वयं हीं उनकी भावुकता से लाभ उठाते हुए पाण्डवों को मूर्ख ही प्रमाणित कर दिया । और उस समय तो हम सर्वात्मना स्तब्ध ही बने रह जाते हैं दुर्य्योधन की लोकनिष्ठा के इस इतिवृत्त को सुनकर कि, जो भगवान् वासुदेव कृष्ण इस के उद्घोषित शत्रु थे, जिन को कौरवसभा में अवाच्य–वाद कहते हुए भी जिस निर्ल्लज पामर की जिह्वा दग्ध नहीं होगई थी, जो इस विराड्विभूति को बन्दी बनाने तक के लिए अक्षम्य साहस कर बैठाथा, ऐसे अपने प्रचण्ड शत्रु श्रीकृष्ण से भी इसने उन की **'गोपसेना'** सहायता के लिए प्राप्त कर ही तो ली थी इस अवसरवादी धूर्त्तराज लोकनीतिविशारद चाणाक्षचतुर धृष्ट दुर्य्योधनने ।

५७०--आततायी दुर्य्योधन के द्वारा प्राप्त 'युद्धसहायता' के सम्बन्ध में धर्म्मशील-मानवों का विकम्पन—

अवश्य ही अपनी सहज भावुकता से कभी कभी हम भगवान् के इस चरित्र से विकम्पित हो पड़ते थे, जो कि विकम्पन उसी कालातीत भगवान् वासुदेव कृष्ण के अनुग्रह से सम्भवत: अब शान्त होता हुआ प्रतीत हो रहा है इस 'दिगदेशकालमीमांसा' के निमित्तानुबन्ध से । भगवान् जैसे नैष्ठिक अवतार भी क्या दुर्य्योधन जैसे लोकनिष्ठ के सम्मुख हार मान गए ?, जिस के कारण दुर्य्योधन जैसा वह आततायी भी उन भगवान् से सहायता प्राप्त कर लेने में सफल होगया, जो भगवान् अवतीर्ण ही हुए थे ऐसे दुष्टों का मूलोच्छेद करने के लिए ही ? । यही वह विकम्पन था, और बहुत सम्भव है-तात्कालिक रूपेण सन्तोष कर लेने पर भी हमारे भावुकतापूर्ण विकम्पन की सर्वात्मना उपशान्ति न कर सकें हम अपनी इस भावुक--बुद्धि से ।

÷ यद्यप्ये ते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥
कथं न ज्ञेययस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्द्दन ! ॥
—गीता १।३८,३९,

५७१–ईश्वर के द्वारा प्राप्त बल से सर्वप्रथम ईश्वरसत्ता पर ही प्रहार के ऐतिह्य निदर्शन, एवं अनीश्वरवादियों के संहारकर्म्म—

सहसा हम चिन्तन करने लग पड़ते हैं कि, सृष्टि के आरम्भ से आजतक इस धराधाम पर जितने भी असुर–राक्षस–दस्यु–आदि बर्बर दुष्ट मानव उत्पन्न हुए, सबने इस विश्व की शक्तियों से ही तो विश्व को विकम्पित किया है। भगवान् के साम्राज्य से ही तो इन सब को सबकुछ मिला है। उसी के बल से तो इन्होंनें उस पर प्रहार करने में भी कोई न्यूनता नहीं की है। यही नहीं, अपितु सर्वप्रथम तो इन के प्रहार का स्थल भगवान् ही बने हैं। ईश्वरसत्ता के विरोध से ही तो इन के प्रचण्ड दुष्कर्म्म उपक्रान्त बनते हैं। उसे न मान कर ही तो ये स्वयं को ब्रह्म मान बैठते हैं अपने प्राकृत स्वरूप से। और यह अनीश्वरता ही तो इन्हें संहारकर्म्मों की ओर प्रवृत्त करती है। उस अनन्तता से अपरिचित रह जाने के कारण हीं तो ये सादिसान्त दिग्देशकालों से तात्कालिक लाभ उठा लेना हीं अपना परमपुरुषार्थ मान बैठते हैं।

५७२–'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का संस्मरण, प्रकृतिपरिपाकानुगत भौतिक-दण्ड, एवं तत्सम्बन्ध में कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति—

और अब हम ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं अपने मानस में हीं कि, यदि भगवान् दुर्य्योधन को भूतपरिग्रह की सहायता नहीं देते, तो सम्भवतः सत्य इतिहास के स्रष्टा–द्रष्टा पुराणपुरुष भगवान् व्यास के मुखपङ्कज से कदापि ऋजुतापूर्वक उन्मुक्तहृदय से–'**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' जैसी नैष्ठिकी आर्षवाणी विनिःसृत ही न होती। भगवान् कदापि अपनी भूतप्रजा को भौकित दण्ड तत्काल ही नहीं दे दिया करते। अपितु भौतिक दण्ड तो उन की ओर से प्रकृतिपरिपाक के उत्तरदायित्त्व पर ही छोड़ दिया गया है। तभी तो भूतासक्त जड़ मानव यह भ्रान्ति कर बैठता है कि,–'**मेरे ऐसे षडयन्त्रों से भी जब कि मुझे भूतसमृद्धि अनायासेनैव उपलब्ध हो रही है, तो व्यर्थ हैं धर्म्म का भय, और निरर्थक है ईश्वरसत्ता का व्यामोहन**'।

५७३–धर्म्माचार्य्यों के द्वारा कुनैष्ठिकों की भ्रान्ति-परम्पराओं का स्वरूप-विश्लेषण—

यह क्यों ऐसी भ्रान्ति कर बैठता है ?, स्वयं धर्म्माचार्य्योंनें इसी तथ्य का ओर भी अधिक उदात्तता से समाधान किया कि,–"जो प्राकृत–जड़ मानव दिग्देशकालनिबन्धन स्वार्थ में अन्ध बन कर धर्म्मपथ का परित्याग करता हुआ, सर्वनियन्ता ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ अधर्म्मपथ का अनुगामी बन जाता है, तत्काल वह मानो बढ़ने हीं लगता है (आज की भाषा में-'**तरक्की**' ही करने लग पड़ता है)। अपने इस 'बढ़ाव' से (पदप्रतिष्ठा–अर्थसञ्चयादि से) यह भूतसमृद्ध (सम्पन्न) मानव नित नूतन भद्र अनुष्ठान (उत्सवायोजन) मनाने लगता है। अपने इन लोकायोजनों के बल पर, तथा समृद्ध अर्थबल पर ही यह नराधम अपने प्रतिद्वन्द्वियों को लोकसंघर्ष में परास्त भी करता रहता है। किन्तु सर्वान्त में ?। सो न कहना हीं अच्छा है *।

---

*–अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४।

५७४-मानवता-सुलभ क्षणिक उद्बोधन की उपेक्षा कर बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक का अन्ततोगत्त्वा बुद्धिशून्यता-लक्षण नाशक्षेत्र पर ही अवसान—

अहो ! यदि यह दुर्बुद्धि आरम्भ में हीं, क्षणमात्र के लिए ही यह अनुभव कर लेता कि, इत्थंभूत मलीमस-प्रवञ्चनापूर्ण पथ में अग्रेसर होते ही अन्तर्य्यामी के द्वारा प्राप्त होने वाली "अरे ! काम तो बुरा कर रहें है,' बुरा हो रहा है' इस परोक्ष-सूचना पर ध्यान दे लेता (जैसा-कि घोरघोरतम पापिष्ठ मानव में भी यदाकदा क्षणमात्र के लिए उस के अन्तःकरण से ही उसे तथाविधा चेतावनी मिलती रहती है, निश्चयेन मिलती ही रहती है), तो सम्भवतः वह आरम्भ में हीं अपनी मानवता का संरक्षण कर ले जाता। किन्तु परदर्शन-मूला भावुकता उत्तरक्षण में हीं इसे उस क्षणिक ईश्वरीय उद्बोधन से पृथक् कर देती है । यों बुद्धिव्यामुग्ध यह धृष्ट उत्तरोत्तर अधिकाधिक उस उद्बोधनवाणी के अन्तःश्रवण से दूर-बहुत दूर ही होता जाता है । अन्ततो-गत्वा 'नास्ति धर्म्मः, नास्ति वा ईश्वरः' इस बुद्धिशून्यता पर ही इस का पर्य्यवसान हो जाता है ।

५७५-भौतिकदण्ड के समतुलन में बौद्धिक दण्ड-विधान की महती भयावहता—

बुध्दि का यह अपहरण तो वैसा दण्ड-विधान है इस भूतवादी के लिए, जिस दण्ड के समतुलन में भूतदण्ड का कुछ भी तो महत्त्व नहीं है । और जिन में बुध्दि का शतांश-सहस्रांश भी शेष रह जाता है (और अवश्य ही रह जाता है, क्योंकि भगवान् के साम्राज्य में किसी भी वस्तु का आत्यन्तिक अभाव नहीं होता, केवल अभिभव ही होता है), तो वह स्वयं अपने अन्तर्जगत् में हीं यह समतुलन कर सकता है कि, बुध्दि के इस सहस्रांश के समतुलन में उस अन्यायोपार्जित-जड़, एवं जड़ताभिवर्द्धक, अतएव अहोरात्र विविध-चिन्ता-ग्लानि-सर्ज्जक-भूतपरिग्रह का कैसा स्वल्पतम (अत्यन्त नगण्य) महत्त्व है ? ।

५७६-बौध्दिक-दण्डानुभूति से अपरिचित जड़भूतवादी मानव की अन्तिम-अवस्थानुगता 'त्राहि माम्' लक्षणा करुणगाथा—

बात केवल इतनी सी है कि, चिरकालिक जड़-भूताव्यासङ्गों की कृपा से बौध्दिक दण्ड की अनुभूति का अभ्यास ही इस जड़वादी को नहीं रहता । इसे तो तत्काल प्रभावित करता है, कर सकता है केवल भौतिक दण्ड ही। वह फिर शारीरिक हो, अथवा तो आर्थिक । तभी तो ऐसे वर्ग के लिए शास्त्रने भौतिक दण्ड का ही विधान किया है, जबकि प्रज्ञापराधवश भूल कर जाने वाले धार्मिक पुरुषों के लिए सामान्य-प्रतारणादि-दण्ड ही पर्य्याप्त मान लिए गए हैं । किन्तु सर्वान्त में जब सर्वस्व के ही अपहरण का समय आता है, जबकि इस के प्राण कण्ठ में अवरुद्ध हो जाते हैं, तो उस समय अवश्य ही इसे 'त्राहि मां त्राहि माम्' ही पुकार उठना पड़ता है, जिस की प्रामाणिकता इस के जीवनकाल में भी रोगादि-स्वजननिधनादि अवसरों पर अभिव्यक्त होती रहती है ।

५७७-दुर्योधन, तथा अर्जुन को प्रदत्ता सहायता के सम्बन्ध में दिग्देशकालभावानु-बन्धी-ऊहापोहों का तथ्यात्मक-स्वरूप समन्वय—

भगवान् क्यों नहीं तत्काल भौतिक-दण्ड प्रदान कर देते ?, क्यों आततायी दुर्योधन जैसे को भी भग-वान् ने भौतिक सहायता प्रदान कर दी ?, और कैसे दुष्टबुद्धि दुर्योधन का साहस हो पड़ा अपने महान् शत्रु भी

भगवान् वासुदेव से सहायता याञ्चा कर बैठने का ?, कैसे इस से ऐसी अक्षम्या धृष्टता हो पड़ी?, इत्यादि प्रश्न गतार्थ हैं उक्त स्पष्टीकरण के माध्यम से ही। किन्तु जैसा कि हमने निवेदन किया है, कालातीत भगवच्चरित्रों के सम्बन्ध में हमारी प्रज्ञा सर्वथा भावुक ही है। अतएव अन्ततोगत्वा पुनः यह भावुकता और जागरूक हो ही तो पड़ती है इसी ऐतिह्य-घटना के सम्बन्ध में कि,–भगवान् ने अपनी पूर्णावतार-निबन्धना भगवत्ता के कारण दुर्य्योधन को भौतिक–सहायता दे दी, यहाँतक तो अमुक दृष्टि से बात समझ में आई। किन्तु उसी अवसर पर सहायता की कामना अभिव्यक्त करने भगवान् के अत्यन्त प्रियसखा अर्जुन भी आए हुए थे। दिग्देशकाल के महान् पण्डित, तात्कालिक लाभ उठाने में अत्यन्त कुशल नैष्ठिक (कुनैष्ठिक) राजा दुर्य्योधन के गुप्तचर पाण्डवों के गुप्त से गुप्त भी प्रतिक्षण के समाचार दुर्य्योधन को पहुँचा रहे थे। अपनी इसी सावधानी से प्रतिक्षण जागरूक बने रहने वाले दुर्य्योधन ने अन्यत्रान्यत्र जहाँ दूत भेजे ÷, वहाँ द्वारिका ये स्वयं पहुँचे। उधर जब पाण्डोंनें यह सुना कि, दुर्य्योधन भगवान् से सहायता लेने द्वारिका जा रहे हैं, तो दिक्देशकालविमूढ पाण्डवों को तब कहीं स्वयं भी वहाँ पहुँचने की सूझी। तत्काल अर्जुनने भी अनुधावन किया दुर्य्योधन का तत्र गमन सुन कर। सौभाग्य से दोनों के प्रवेश में अन्तर थोड़ा ही रहा। पूर्वक्षण में दुर्य्योधन भगवान् के शयनकक्ष में पहुँचे, तो तदुत्तर क्षण में हीं अर्जुन पहुँच गए ❋। दुर्य्योधन अपनी वैय्यक्तिक प्रतिष्ठा के अनुरूप भगवान् के मस्तक की ओर रक्खे हुए बहुमूल्य सिंहासन पर राजोचित सम्मान से सन्नद्ध बन कर बैठ गए, जबकि अर्जुन भगवान् के चरणों के समीप प्रणतभाव से साञ्जलिबन्धरूप से ही खड़े हो गए ÷। कुशल–क्षेमानन्तर बोले सर्वप्रथम दुर्य्योधन हीं इस धर्म्मबुद्धि ? के साथ मन्दहासपूर्वक ही कि,–'इस युद्ध में आप को हमें सहायता देनी चाहिए (१)। क्योंकि आप के लिए हम, और अर्जुन दोनों समानरूप से मित्र हैं। और फिर (मित्रता न भी मानी जाय तो भी) हम दोनों आप के समान-सम्बन्धी तो हैं हीं। (और हाँ, यह स्मरण रखिए कि) हम अर्जुन से पहिले आए हैं आप के सन्निकट। सन्तपुरुषों का यह नियम है कि, पहिले आने वाले की बात पर वे पहिले ध्यान देते हैं (२)। और आप वर्त्तमान समाज में एक श्रेष्ठतम सन्त व्यक्ति हैं। अतएव आप को सन्तानुगत सद्वृत्त का पालन करना हीं चाहिए! (अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!)। (दुष्टबुद्धि को जब किसी

÷-धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः।

❋-ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनः।

÷-उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने (दुर्योधनः)।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत्कृताञ्जलिः (अर्जुनः)॥

(१)-विग्रहेऽस्मिन् भवान्! साह्यं मम दातुमिहार्हति।
—अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वाक्य

(२)-अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन!।
पूर्वं चाभिगतं सन्ता भजन्ते पूर्वसारिणः।
—कैसी धर्म्मभावना है?

धर्म्मनिष्ठ से सहायता लेनी होती है, तो वह उसके सम्मुख धार्म्मिक–कारण का ही छल उपस्थित कर देता है धृष्टतापूर्वक । साथ ही मन्द–मन्द मुसकाता–हँसता हुआ सा ही अपना अभिप्राय इसप्रकार कहना आरम्भ करता है कि, मानो इसे सहायता का प्रयोजन ही नहीं है । अपितु यह तो सामने वाले को धर्म्म-पूर्वक काम करने की प्रेरणामात्र ही देने आया है) ।

५७८–कुनैष्ठिक की धृष्टतापूर्णा अवसरवाणी का मूलोच्छेद, एवं भगवान् के द्वारा उभय पक्ष को साहाय्य--प्रदान—

दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन की इस अवसरवाणी का मानो मूलोच्छेद ही करते हुए भगवान् ने यही उत्तर दिया कि,-"दुर्य्योधन ! आप अवश्य ही यहाँ पहिले आए हैं । सचमुच आपके इस प्रथमागमन में तो कोई तो सन्देह नहीं है (किन्तु आप यह भी जान गए होंगे कि) दृष्टि मेरी सर्वप्रथम अर्जुन पर ही पड़ी है । हाँ, आप पहिले आए हैं, और अर्जुन पर पहिले दृष्टि पड़ी है । अतएव सहायताप्राप्ति के लिए आप आगमनरूप प्राथम्य से, तथा अर्जुन दृष्टिप्राथम्य से, दोनों ही समानाधिकारी हैं । अवश्य ही दोनों को ही सहायता दी जायगी । इसप्रकार दोनों हीं जब आगमन, और दृष्टिरूप से प्रथमश्रेणि में आगए, तो तुम पूँछ सकते हो कि, दोनों में किसके प्राथम्य को प्रथम माना जाय ? । सो तुम स्वयं कह चुके हो कि, हम लोकसमाज में श्रेष्ठ हैं । और तुम्हारे जैसे बुद्धि–मान् को यह बतलाना भी निरर्थक ही होगा कि, हमारी यह श्रेष्ठता धर्म्ममूला ही है । हम श्रुतिसिद्ध आज्ञा से ही, श्रौतधर्म्म के परिपालन से ही तो तुम्हारी दृष्टि में सन्त बने हुए हैं । और निश्चयेन तुम जैसे धर्म्ममर्म्मज्ञ ? से सम्भवतः यह भी परोक्ष नहीं होगा कि, एकसाथ अपना प्राथम्य व्यक्त करने वाले वयस्क–समर्थ–बुद्धिमान्, तथा बालावस्थापन्न, अतएव लोकचातुर्य्य से शून्य-दोनों में से बालभावानुगत व्यक्ति की बात पर ध्यान देने पर ही श्रुति ने बल दिया है—**'प्रवारणं तु बालानां पूर्वकार्य्यमिति श्रुतिः'** (अवस्था में भी, और लोकविचारों की परिपक्वता में भी अर्जुन आपसे छोटे हैं, बालक हैं)" । इसप्रकार अपने आपको लोकचतुर-भाषणकला-कुशल–मान बैठने वाले दुष्टबुद्धि कुनैष्ठिक धृष्ट दुर्य्योधन के धृष्टतापूर्ण वाक्छल का निरतिशयरूपेण मान-मर्द्दन ही तो कर डाला भगवान् ने । और अन्ततोगत्वा परिणामस्वरूप सर्वप्रथम अर्जुन से ही पूँछा गया कि, एक ओर हम निरस्त्ररूप से सहायता के लिए सन्नद्ध हैं, तो दूसरी ओर सर्वशस्त्रास्त्रसुसज्जिता हमारी **'गोपसेना'** है । बोलो अर्जुन ! तुम दोनों में से क्या लेना चाहते हो ? । प्रश्न का उत्तर सर्वविदित है * ।

---

* हमने दिग्देशकालानुबन्ध से स्थितिसमन्वयमात्र के लिए 'भावुकता' के प्रसङ्ग में 'अर्जुन' का नाम स्मरण किया है आक्रोशपूर्वक । किन्तु यह अविस्मरणीय है कि-यह आक्रोश केवल उदाहरणविधि से ही अनुप्राणित है । वस्तुगत्या उस अर्जुन के समान भाग्यशाली और दूसरा कौन होगा, जिसे भगवान् 'बालक' कह कर रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं ले रहेहैं । साथही में प्रकृत्या भावुक भी अर्जुन जैसा ईश्वरनिष्ठ भी दूसरा और कौन होगा, जिसने अपने सम्पूर्ण बौद्धिक दम्भों को भगवान् के प्रति ही सर्वतोभावेन समर्पित करदिया था । भावुकता का यही अंश तो अपेक्षित है प्रत्येक नैष्ठिक के लिए । लोकानुगता भावुकता जहाँ सर्वनाशकारिणी है, वहाँ इष्टदेवानुगता वही भावुकता मानव को स्वतः ही कालान्तर में लोककर्त्तव्यनिष्ठा प्रदान कर देती है । भगवत्-समर्पण का यह अर्थ मान बैठना कि, समर्पणकर्त्ता के शयन–भोजन–पठन–स्वाध्याय–आचारादि सब कर्म्म भी भगवान् ही कर जायँगे, समर्पणानन्तर भक्तराज को कुछ भी करना धरना नहीं पड़ेगा, कदापि भगवत्-सम्मत नहीं है । यदि ऐसा ही होता, तो अपने प्रियभक्त अर्जुन को भगवान् कभी भी क्षत-विक्षत होने के लिए रणक्षेत्र

५७६- कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धि मानवों के लोकचातुर्य्य से ही अन्ततोगत्त्वा इन का समूल-विनाश—

इतिवृत्त का केवल एक अंश मीमांस्य प्रतीत हो रहा है हमें अपनी भावुकता के दोष से यही कि, जब भगवान् की भगवत्ता का यह निर्णयात्मक स्वरूप है कि-"कुनैष्ठिक दुष्टबुद्धियों को भूत से तो वञ्चित नहीं करना

में प्रवृत्त नहीं करते। सबकुछ हुआ भगवत्प्रदत्ता निष्ठा से ही, अतएव सब कुछ किया भगवान्ने हीं, सभी कुछ भगवत्सत्ता से ही तो हो रहा है। इस तथ्य को कर्त्तव्यनिष्ठा के उत्तरदायित्त्व से पृथक् मान बैठना कदापि भगवत्सम्मत तो नहीं हीं है। नैष्ठिकी संविद्बुद्धि भगवान का ही तो स्वरूप है, जो कर्त्तव्यनिष्ठा की ही अधिष्ठात्री मानी गई है। इस सत्य-धर्म्म-ह्री-आर्जव-रूपा सत्यनिष्ठा के माध्यम से ही भगवदनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। अर्जुन में लोकदृष्ट्या सभी भावुकताएँ हीं भावुकताएँ थीं। किन्तु भगवान् के प्रति इसकी अनन्यनिष्ठा थी। समझे, बिना समझे भी-'करिष्ये वचनं तव' जैसी समर्पणमूला निष्ठा थी, जिस आदेशमूला निष्ठा का नाम हीं 'शास्त्र' माना गया है। जब धृतराष्ट्र बार बार पाण्डवों की सैन्यशक्ति के सम्बन्ध में सञ्जय से प्रश्न करने लग पड़े थे, तो सञ्जयने अन्ततोगत्त्वा यही कहा था कि-राजन्, पाण्डवों के सम्पूर्ण सैन्यबल का एकमात्र रहस्य यही है कि, वे सत्य-धर्म्म-ह्री-आर्जवादि भगवद्विभूतियों से ही समन्वित हैं। अतएव स्वयं भगवान् उनकी रक्षा कर रहे हैं। अत्यन्त ही प्रिय है वहाँ का प्रसङ्ग, जिसे निम्नलिखित रूपेण स्मरण कर हम भी अपनी भावुकता उपशान्त कर लेते हैं—

सञ्जय उवाच-भूया भूयो हि यद्राजन्! पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ॥
सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे शृणु ॥१॥
एकतो वा जगत्कृस्नं, एकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥२॥
भस्मकुर्य्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ॥
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्त्तुं जनार्दनम् ॥३॥
यतः सत्यं, यतो धर्म्मः, यतो ह्रीः, आर्जवं यतः ॥
ततो भवति गोविन्दः, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥४॥
अधर्म्मनिरतान्-मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्।
कालचक्रं-जगच्चक्रं-युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् ॥

—महाभारत-उद्योगपर्व ६८ अध्याय

आस्था-श्रद्धा-शील पाठकों से हम आग्रह करेंगे कि, यहाँ का सम्पूर्ण प्रकरण एकबार वे अवश्य ही देख लेने का कष्ट करें, जिसमें सञ्जय के मुख से पुराणपुरुष ने भगवत्सत्ता के सम्बन्ध में महान् उद्बोधन प्रदान किया है मादृश प्राकृत-जड़-जीवों के लिए।

चाहिए, किन्तु 'प्रज्ञा', 'संवित्', तथा 'सन्निष्ठा' से उन्हें अवश्य ही विमुग्ध बना देना चाहिए",तो फिर भगवान् को यह आशङ्का हो ही क्यों पड़ी कि,–'कहीं दुर्य्योधन हमें न माँग बैठे सहयोग में, जबकि हमारा **'अपना स्वरूप'** तो एकमात्र धर्म्मबुद्धिशील अर्जुन के लिए ही सुरक्षित है?'' । क्या इसी आशङ्का से भगवान् ने पहिले अर्जुन का समाधान करना आवश्यक समझा ? । यदि ऐसा है, तब तो यह भगवान् की भगवत्ता पर ही आक्रमण माना जायगा युगधर्म्म का । इस भावुकता-पूर्ण आशङ्का का समाधान स्वयं भगवान् के उत्तरात्मक कतिपय शब्दों से ही होजाता है । भगवान् अपने स्वरूप से भगवान् ही हैं । नात्र सन्देहः । अवश्य ही इस भगवत्स्वरूपानुबन्ध से भगवान् यदि अर्जुन को प्राथम्य देते हुए भी प्रथम दुर्य्योधन की ही इच्छा जानना चाहते, तो कदापि भगवदिच्छा के विपरीत भगवत्स्वरूप से अपरिचित भी दुष्ट दुर्य्योधन भौतिक–सैन्य–सहयोग के अतिरिक्त निरस्त्र भगवान् की स्वप्न में भी कामना नहीं हीं करता । यदि दुर्य्योधन में ऐसी ही सद्बुद्धि होती, तो फिर महाभारत-समर की आवश्यकता ही नहीं रहती । क्या भगवान् की दृष्टि से दुर्य्योधन का भूतैषणात्मक यह मनोभाव परोक्ष था, जिससे भगवान् को आशङ्का हो पड़ी ? । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! ! भगवान् अपने स्वरूप से सर्वतोभावेन भगवान् हीं हैं । न इन्हें अर्जुन का अनुरञ्जन करना है, न दुर्य्योधन का । अपितु दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना है भगवान् को अपने भगवत्स्वरूप से । दुर्य्योधन को **'भूतदान'** करते हुए भगवान् उसे यही परोक्ष उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, "मूर्ख ! जिस भौतिक–सत्ताबल से तू विजयश्री के सुख–स्वप्न देख रहा है, कदापि तू इस बल पर तो विजयश्री लाभ न कर सकेगा । लेजा, हम भी तुझे अपना भूतबल प्रदान कर देते हैं, जिस एकमात्र भूतबल को ही तैनें 'विजयश्री' का आधार मान लिया है" । यदि दुर्य्योधन में थोड़ी भी प्रज्ञा शेष होती, तो भगवान् का उन्मुक्तहृदय से यों सैन्यबल प्रदान कर देना ही इसके उद्बोधन के लिए पर्य्याप्त था । किन्तु दिग्देशकालविमूढ़ दुर्य्योधनने इस सहयोग को भी अपना लोकचातुर्य्य ही समझ लिया, और इस लोकचातुर्य्यने हीं इसका अन्ततोगत्वा समूल विनाश किया ।

५८०–भगवत्सत्ता के समान-दायाद भोक्ता देवता, और असुर, एवं तत्क्षेत्रानुगता भगवत्सत्ता के स्वाभाविक अनुग्रह का समन्वय —

अब प्रश्न रह गया अर्जुन का । अर्जुन निःसन्देह भगवान् के प्रति जहाँ पूर्ण आस्था रखने वाला था, वहाँ सहज भावुकता के कारण प्रत्यक्ष–दृष्ट–घटनाओं से यह विकम्पित भी हो पड़ता था । कई बार भगवान् ने अर्जुन की इस भावुकता का संवरण किया है, और सँभाला है ऐसे प्रत्यक्ष प्रभावावसरों पर इसे । यह निश्चित था कि, भगवान् के सम्मुख प्रणामाञ्जलिपूर्वक तूष्णीं सहायता के लिए 'याचमान' भावुक अर्जुन से पहिले यदि भगवान् दुर्य्योधन की इच्छा पूरी कर देते, तो निश्चयेन ये सौम्य अर्जुन उन्मना बन ही तो जाते । और बहुत सम्भव था कि, इस सामान्य सी घटना से अर्जुन को ऐसा विमोहन होजाता कि-'लो, अब तो भगवान् ने भी हमारी उपेक्षा करदी, जिनके बल पर ही हम पाण्डव युद्ध में प्रवृत्त हो रहे हैं' । युद्ध सन्निकट आरहा था । भगवान् पाण्डवों को निष्ठात्मक उद्बोधन प्रदान करते जारहे थे । ऐसे अवसर पर भावुक अर्जुन का उत्तेजित हो पड़ना कदापि उस पाण्डवपक्ष के लिए हितप्रद नहीं था, धर्म्मपक्षानुबन्ध से जिनका हित ही भगवान् को प्रत्येक दशा में इष्ट था । एकमात्र अर्जुन की इस भावुकता के संरक्षण के लिए ही भगवान् ने अर्जुन को प्राथम्य दिया, जैसाकि–**'प्रवारणं हि बालानां पूर्वकार्य्यमिति श्रुतिः'** के–**'बालानाम्'** शब्द से स्पष्ट है । इस 'बालानाम्' से एक ओर जहाँ दुर्य्योधन की उपेक्षा है, वहाँ अर्जुन के प्रति अपेक्षा

है । अतएव कदापि भगवद्भावों में भावुकतापूर्णा किसी भी आशङ्का–कुशङ्का का कोई भी अवसर नहीं है । भगवान् के साम्राज्य में **सुबुद्धि, दुर्बुद्धि**, दोनों हीं जीवित रहते हैं । दोनों को ही भगवान् का अयाचित सहयोग मिलता रहता है । **देवता**, और **असुर**, दोनों हीं प्रजापति की सन्तान हैं । प्रजापति की भूतसम्पत्ति के दोनों हीं समानरूप से दायादभोक्ता हैं । अन्तर केवल '**दृष्टि**' का है । दुष्ट–असुरबुद्धि–सन्तान केवल '**भौतिक दायाद**' की ही अधिकारिणी बनती है, जबकि प्रजापति पिता की सृष्टिमर्य्यादा का धर्म्मपूर्वक निर्वाह करने वाली सत्त्वबुद्धियुक्ता-सुसन्तति को भूतदायाद के साथ साथ पिताप्रजापति की '**अनुग्रहदृष्टि**' भी अयाचितरूपेणैव प्राप्त हो जाती है । **और** ऐसा ही, सर्वात्मना ऐसा ही हुआ **है** विश्वम्भर–विराट्प्रजापति भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के प्राङ्गण में इन की इन दोनों सन्ततियों के लिए । एक (दुर्य्योधन) को केवल '**भूत**' मिला, तो दूसरे को दृष्टि–अनुग्रह–माध्यम से स्वयं '**भूतपति**' प्राप्त हो गए । दृष्टि का अनुग्रह, वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह तो परमभागधेय भाग्यशाली उस भावुक अर्जुन को ही प्राप्त हुआ, जिसने मूकभाव से प्रणतिपुरस्पर भगवान् के चरणपङ्कज में सर्वात्मना समर्पित ही कर दिया था अपने आप को, जिस इस तथ्य का पुराणपुरुष की–"**दृष्टस्तु प्रथमं राजन् ! मया पार्थो धनञ्जयः**" इस दिव्या वाणी के '**दृष्टः**' (**दृष्टिः, अनुग्रहदृष्टियुक्तः**) इस शब्द से सर्वात्मना समन्वय होजाता है ।

५८१–संवित्–मूला निष्ठा, एवं अनुभूतिमूला भावुकता से समन्वित महान् मानव के प्रकृति–पुरुष–निबन्धन स्वरूपों का समन्वय—

बात चल रही है उस 'यत्किञ्चित्' संशोधन की, जो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' से वाञ्छित है । इसी यत्किञ्चित् संशोधन के प्रसङ्ग की अपेक्षा से पुरुषभाव से अनुप्राणिता संवित्–**मूला निष्ठा**, तथा प्रकृतिभाव से अनुप्राणिता अनुभूतिमूला **भावुकता**, इन दोनों उन महान् तत्त्वों का यत्किञ्चित् समन्वय उपक्रान्त हो पड़ा, जो खण्डचतुष्टयात्मक प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है । दिग्देशकालातीता पुरुषानुप्राणिता '**निष्ठा**' भी मानव का ही स्वरूप (स्वस्वरूप) है, एवं दिग्देशकालात्मिका प्रकृत्यनुप्राणिता '**भावुकता**' भी मानव का ही स्वरूप है । क्योंकि प्रकृति–पुरुष के समन्वितरूप का ही नाम महान् मानव है । मानव का निष्ठारूप पुरुषभाव इसी का लोकातीतभाव है, तदनुबन्धेनैव मानव **अप्राकृत–अलौकिक–मानव** है, एवं यह '**महतोमहीयान्**' (प्रकृतिरूप महान्, किंवा महदक्षररूपा प्रकृति से भी महान्) है । तथा मानव का भावुकतारूप प्रकृतिभाव इसी का लोकात्मकभाव है, तदनुबन्धेनैव मानव **प्राकृत लौकिक मानव** है, एवं यह '**महान्**' है । पुरुषरूप लोकातीत क्षेत्र में मानव दिग्देशकालातीत ही बना रहता है, एवं प्रकृतिरूप लोकात्मक क्षेत्र में मानव दिग्देशकालात्मक ही बना रहता है । यों मानव के दोनों स्वरूपों के दोनों क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं । और यहीं मानव उस यत्किञ्चित् से संशोधन की उपेक्षा कर अपनी सहज मानवता, किंवा महत्ता से पराङ्मुख बन जाता है । अतएव यहीं वह यत्किञ्चित् संशोधन वाञ्छित बन रहा है ।

५८२--प्रकृतिभावनिबन्धना मानव की विषमा समस्या—

दिग्देशकालात्मक प्राकृत क्षेत्र भावुकतापूर्ण **है**, इस में तो कोई सन्देह नहीं । अतएव इस में मानव का मूढ, किंवा विमूढ बन जाना भी अप्रत्याशित नहीं कहा जासकता । न तो प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र के बिना

मानव के प्राकृत स्वरूप का संरक्षण ही सम्भव, एवं न प्राकृत–भावुकता के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले सहज विमोहन से परित्राण प्राप्त कर लेने का उपाय ही प्राकृत मानव की प्राकृत बुद्धि में विद्यमान। क्या करे मानव इस महती विषमा परिस्थिति में ?।

५८३–विषमावस्था की उपक्रममूला मूढ़ता, उपसंहाररूपा विमूढ़ता का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं दोनों के समतुलन में 'मूढ़ता' का ही प्राचुर्य्य—

ऐसी विषमा परिस्थिति मानव में आती कब है ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है-जब कि मानव अपनी प्राकृतबुद्धि के अपने प्राकृत अनुभव, तात्कालिक–ऐन्द्रियक–अनुभव के आधार पर ही कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का निर्णय कर डालता है तातकालिक हानि–लाभ–के समतुलन से। इसी तात्कलिकता का नाम रख लिया गया है **मूढ़ता**, एवं **विमूढ़ता**। विषमा परिस्थिति की पूर्वावस्था–अपरिपक्वावस्था का नाम है–मूढ़ता, जिस में मानव कर्त्तव्य से पराङ्मुख ही बन जाता है। दिग्देशकालात्मिका परिस्थितियों के समन्वय में असमर्थ ऐसे प्रकृतिपरायण, अनुभूतिपरायण मानव की कर्त्तव्यगति सहसा कुण्ठित हो जाती है, वह हक्का बक्का सा बना रह जाता है। और संघर्षात्मक, उत्तरदायित्वपूर्ण सभी प्राकृत-कर्म्मों से इसे भय सा लगने लगता है। यही इस की **भावुकतापूर्णा मूढा प्राकृत अवस्था** हैं। एवं ९९ प्रतिशत मानव इसी मूढावस्था की उपासना ! में तल्लीन बने रहते हैं। न इन का अपना कोई निश्चित मन्तव्य ही रहता, न निर्णयात्मक कर्त्तव्य ही सुनिश्चित रहता। अपितु दिग्देशकालप्रवाह के अनुपात से ये उसीप्रकार कालयापन करते रहते हैं, जैसेकि प्रचण्डवेगात्मिका नदी के प्रवाह से प्रवाहित तृणकाष्ठादि नदीवेगानुपात से ही कालयापन करते रहते हैं।

५८४–मूढ़ मानव की मूढ़ता की 'विमूढ़ता' में परिणति, तत्परिणामभूता उग्रकर्म्मानुगति—

ऐसे ही मूढ भावुक मानवों में से कोई सा भावुक मानव अपनी मूढता से विमूढावस्था में आजाता है। मूढ़ की संशयवृत्ति आरम्भ में मूढ़ को गतानुगतिक बना देती है। इस गतानुगतिकता से थक कर यही मूढ (कोई सा मूढ ही) कालान्तर में गतिशून्य-सर्वथा अकर्म्मण्य ही बन जाता है। इसी का नाम है **'जड़ता'**, जिस में आत्यन्तिकरूप से गत्यवरोध है। इसी जड़ावस्थता का नाम है मूढ़ता की उत्तरावस्था, किंवा **मूढता की परिपक्वावस्था**, और इसी का नाम है **'विमूढता'**। 'भावुकता' में जो एकप्रकार की प्रच्छन्ना सहृदयता रहा करती है, जो कि मूढ मानवों का एकमात्र प्रत्यक्ष धन बना रहता है, इस विमूढता में वह भावुकता-सहृदयता भी सर्वथा अभिभूत ही हो जाती है। एवं यहीं से उस क्रूरता–हिंस्रकता–मत्सरता–का जन्म हो पड़ता है, जिससे यह अकर्म्मण्य विमूढ जड़ मानव सहसा अपने गत्यवरोध को प्रचण्ड रूप से गत्यात्मक ही बना देता है।

५८५–लोकक्षोभप्रवर्त्तिका-जड़तानिबन्धना-कुनिष्ठा से अनुप्राणित महान् साहस, एवं तत्सम्बन्ध में ऐतिह्य उदाहरण—

किंवा इस की यह आत्यन्तिक अकर्म्मण्यता–जड़ता ही इसे वैसे असम-साहसों की ओर (प्रतिक्रिया के रूप में) प्रवृत्त कर देती है, जिससे लोक में क्षोभ उत्पन्न होजाता है। भावुकता जनिता मूढता की परिपाका-

वस्थारूपा विमूढता–लक्षणा जड़तामिश्रिता प्रतिक्रियात्मिका इस उत्तरावस्था का नाम हीं रख लिया जाता है–'कुनिष्ठा,' जो प्रचण्ड साहस से ही सम्बन्ध रखती है । अपने आरम्भ के जीवन में (अनुचित पितृवात्सल्य के कारण) बार बार रूठ पड़ने वाला, मचलने वाला, मुँह बिगाड़ लेने वाला, इतस्ततः पलायित होते रहने वाला नितान्त भावुक वही मूढ़ दुर्योधन कालान्तर में शकुनि–जैसे कुनैष्ठिकों के सङ्गदोष में आकर अन्ततोगत्वा वैसा '**विमूढ़मानव**' ही बन गया था, जिस की इस आत्यन्तिक जड़ताने हीं इसे उस युग का सर्वमूर्द्धन्य कुनैष्ठिक ही तो प्रमाणित कर दिया था ।

५८६–आत्ममूढ भावुक अर्जुन का भगवान् के द्वारा परित्राण, तत एव अर्जुन का विमूढ़ता से संरक्षण—

जब कि भावुक, अतएव मूढ़–अपरिपक्व अर्जुन को महद्भाग्य से भगवान् कृष्ण जैसे नैष्ठिक महापुरुष का अनुग्रह प्राप्त हो गया था । अतएव अर्जुन की भावुकता कालान्तर में सन्निष्टा की ही अनुगामिनी बन गई थी । यह सच मान लीजिए कि, यदि अर्जुन की भावुकता को भगवान् की निष्टा का प्रश्रय न मिलता, तो यह प्रथम तो स्वयं अपनी भावुकता से अपना स्वरूप ही खोबैठता । यदि दुर्भाग्यवश इसे शकुनि जैसा कोई कुनैष्ठिक परामर्शदाता मिल जाता, तो यह दुर्योधन से भी कहीं अधिक ही कुनैष्ठिक प्रमाणित होजाता । क्योंकि अर्जुन प्रारम्भक के भावुक दुर्योधन की अपेक्षा भी कहीं अधिक भावुक थे ।

५८७--भावुकता, तथा निष्ठा के प्रतिरूपात्मक महान् उदाहरण—

जो जितना हीं अधिक भावुक होता है, अधिक अनुभूतिपरायण होता है, केवल काल्पनिक विचारों में हीं डूबा रहता है, वह अवसर मिलने पर उतना हीं अधिक कुनैष्ठिक बन जाता है–यदि भावुकता के आवेश में वह मर खप नहीं जाता, तो । आरम्भ का भावुक जिस आवेश से परोपकार की, परदुःखहरण की जितनी अधिक घोषणा करता है, उत्तर का वही कुनैष्ठिक उसी उच्च घोषणा के अनुपात से उतना हीं अधिक वैय्यक्तिक–जघन्य स्वार्थलिप्सु बन जाता है । और यों निश्चित कर्त्तव्यपथ की विच्युति से आविर्भूत हो पड़ने वाली मूढतामूला भावुकता की कृपा से ही इस प्राकृत विश्व में कर्त्तव्यनिष्ठावाञ्चत–स्वानुभूतिपरायण–प्राकृत भावुक–मानवों के हीं **भावुकमानव, कुनैष्ठिकमानव**, ये दो वर्ग बन जाते हैं, जिन में प्रथमवर्ग अधिक संख्याओं से अनुप्राणित है, जबकि दूसरे वर्ग में संख्या सीमित ही रहा करती है । एवं इन दोनों के ही प्रतिरूपात्मक उदाहरण क्रमशः **अर्जुन**, और **दुर्योधन** बने हुए हैं ।

५८८–अव्ययात्मनिबन्धन अस्तित्त्व के स्वरूप से अपरिचित महान् अर्जुन, एवं अव्ययास्तित्त्व के प्रति आकृष्ट महान् दुर्योधन, और दोनों पात्रों के माध्यम से चिकित्स्य–अविचिकित्स्य--भावों का दिग्दर्शन—

यदि अर्जुन अपनी भावुकता में महान् था, तो दुर्योधन अपनी कुनिष्ठा में महान् था । दोनों हीं लोकोत्तर थे अपने अपने अनुभूति–क्षेत्रों में । दोनों हीं प्रकृतिनिबन्धन–'**निषेध**' के परमाचार्य्य बने हुए थे,

जैसाकि दोनों के-**'न योत्स्ये'** *, **'नैव दास्यामि''** ÷ इन सुप्रसिद्धा निषेध-घोषणाओं से स्पष्ट प्रमाणित है। एक (अर्जुन) **दिग्देशकालमूढता** से पुरुषानुगता अस्तित्त्व को विस्मृत कर बैठा था, तो दूसरा (दुर्य्योधन) **दिग्देशकालविमूढता** से पुरुषानुगत अस्तित्त्व का शत्रु बन गया था। एक काल्पनिक 'आस्तिकता' में प्रवाहित था, तो दूसरा काल्पनिक 'नास्तिकता' के वारुणपाश में आबद्ध हो चुका था। यों तत्त्वतः दोनों हीं प्रकृत्या भावुक ही थे, लक्ष्यविहीन ही थे। भगवान् ने समानरूप से दोनों को ही उद्बोधन प्रदान करना चाहा था। किन्तु दूसरा उद्बोधन की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था, जबकि अर्जुन उद्बोधन की सीमा में हीं विद्यमान था। यत्किञ्चित् संशोधन के लिए भगवान् ने दुर्य्योधन को भी अन्तिम क्षण पर्य्यन्त समझाने में कोई कमी नहीं की थी। किन्तु भावुकता की चरमसीमा—परिपाकावस्था—रूपा कुनिष्ठाने दुर्य्योधन का परित्राण होने हीं नहीं दिया, जबकि भावुकता की अपरिपक्वावस्था से समन्वित अर्जुन इस उद्बोधन से सँभल गया। कहते हैं—कच्चे घड़े पर ही संस्कार सम्भव है। अपरिपक्वा भावुकता की ही चिकित्सा सम्भव है। यदि वह समय निकल जाता है, तो फिर सभी उपाय निरर्थक ही प्रमाणित हो जाते हैं।

तथ्य यही है कि, भावुकता की अपरिपक्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाली मूढावस्था में मूढ मानव के मन में **'अभिभूता श्रद्धा'** (जिसे **'अन्धश्रद्धा'** कहा गया है) विद्यमान रहती है, जिस इस श्रद्धारस के कारण हीं ऐसा अपरिपक्व मूढ भावुक आंशिकरूपेण धर्म्मभावनाओं से समन्वित रहता है, जिसे हम **'धर्म्मभीरुता'** ही कहा करते हैं। अवश्य ही सन्निष्ठा का तो उदय नहीं होने पाता इस धर्म्मभीरुता में। किन्तु धर्म्म—ईश्वर—आस्तिकता—आदि आदि की प्रतिद्वन्द्विनी कुनिष्ठा का भी प्रवेश नहीं होपाता ऐसे धर्म्मभीरु भावुक मूढ मानव में। अतएव, इसी धर्म्मभावना के कारण यह **दुराग्रह (हठधर्म्म)** रूप सर्वविनाशक उस **'अभिनिवेश'** से बचा रह जाता है, धर्म्मभावनाविरोधी, धर्म्माचरणप्रतिद्वन्द्वी जिस अभिनिवेश को सुनैष्ठिक आचार्य्योंनें **'अविचिकित्स्य'** ही माना है ×, जिसका ज्वलन्त उदाहरण ही प्रमाणित हो रहा है महाभारतयुग का अभिनिविष्ट **विमूढ**, अतएव **कुनैष्ठिक दुर्य्योधन**, तथैव च वर्त्तमानयुग के तत्समानधर्म्मा वे सभी मानव, जिन्होंनें धर्म्माचरणपद्धतियों से अपने आपको निरपेक्ष, किंवा पराङ्मुख, अथवा तो प्रतिद्वन्द्वी बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना 'लोकाभिनिविष्ट' ही प्रमाणित कर लिया है।

---

*—एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
'न योत्स्ये'--इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥
—गीता २।६।

÷—सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव! (महाभारत)।

×लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीड़यन्, पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः॥
कदाचिदपि पर्य्यटञ्छशविषाणमासादयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥१॥
प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्राङ्कुरात्, समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्म्मिमालाकुलम्॥
भुजङ्गमपि शिरसि पुष्पवद्धारयेत्, न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥२॥ (भर्तृहरिः)

५८६-कालातीत के द्वारा काल का नियन्त्रण, एवं तदनुग्रहेणैव भावुक की सन्निष्ठाप्रवृति-

क्या था वह यत्किञ्चित् सा संशोधन ? । अर्जुन की भावुकता–दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी अनुभूति–बुद्धिमानी का उत्तरदायित्व अर्जुन की प्रकृति से हटा कर भगवान् ने इसके पुरुषभाव पर ही इस के उत्तरदायित्व का समर्पण करा दिया । अर्थात् प्राकृत–भावुकता का आधार पौरुष–निष्ठाबल बना दिया गया । अर्थात्-पुरुष से प्रकृति को नियन्त्रित कर दिया गया। अर्थात् कालातीत से काल को मर्य्यादित कर दिया गया । अर्थात् अनुभूति को संवित् के आश्रय में, ज्ञान को समझ के आश्रय में, बुद्धि को बोध के आश्रय में ला खड़ा किया । गीता के शब्दों में–प्राकृत–भावुक–बुद्धि को प्रकृत्यतीत नैष्ठिक अव्ययपुरुष से युक्त करा दिया, जबकि इसकी यह बुद्धि प्राकृत–दिग्देशकालभावों से युक्त होरही थी इससे पूर्व ।

५६०–नियन्त्रणात्मक संशोधन से समन्वित लोकोत्तर--'बुद्धियोग'—

यही संशोधन अव्यय–पुरुषानुगतिरूप से 'बुद्धियोग' (बुद्धि का अव्ययपुरुष से योग) कहलाया, इसी बुद्धियोगात्मिका अव्ययनिष्ठा से अर्जुन के दिग्देशकालनिबन्धन–प्राकृत–क्षात्रकर्त्तव्य में 'निष्ठाबल' (निश्चयात्मिका बुद्धि) अभिव्यक्त होगया । इसी अव्ययपुरुषनिष्ठा के अनुग्रह से, इसी बुद्धियोगनिष्ठा के नियन्त्रण से नियन्त्रिता इसकी दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृतबुद्धि ने विजयश्री का संवरण कर लिया अपने आपको दिग्देशकालनिबन्धना–भावुकता के व्यामोहनों से बचाते हुए ।

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन, कालानलं परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ।।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा, यो दुर्ज्जनं वशयितुं तनुते मनीषाम् ।।३।।
—भामिनीविलासे

अरण्यरुदितं कृतं, शवशरीरमुद्वर्त्तितं, स्थलेऽब्जमवरोपितं, सुचिरमूषरे वर्षितम् ।।
श्वपुच्छमवनामितं, बधिरकर्णजापः कृतः, कृतान्धमुखमण्डना यदबुधो जनसेवितः ।।४।।

ज्ञानी समुझत सहज में पर जिन नर अभिमान ।।
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नाहिं सुजान ।।५।।

सत्यं चैतत् । मानव प्रयास करने पर बालू मिट्टी से तैल निकाल सकता है, मृगतृष्णाजल से पिपासु (प्यासा) अपनी प्यास बुझा सकता है, घूमते फिरते शशशृङ्ग (सुस्से का सींग) भी मिल सकता है, भयानक मकर (मगर) की करालदंष्ट्रा से मणि भी निकाल ली जासकती है, प्रचण्ड तरङ्गायित समुद्र को भी तैर कर पार किया जासकता है, विषधर प्रचण्ड सर्प को भी पुष्पवत् शिरोभूषण बनाया जासकता है, और यों इन सभी असम्भव भी क्षेत्रों को तो सम्भव बनाया जासकता है, किन्तु अभिनिविष्ट–विमूढ–कुनैष्ठिक–आवेशाविष्ट–अभिमानी–क्रूरकर्म्मा–दुष्टबुद्धि को कदापि प्रसन्न नहीं किया जासकता, जैसाकि तथाविध दुर्य्योधन किसी भी उपाय से सन्तुष्ट न होता हुआ 'समूल–विनाश' का ही निमित्त बन गया था, इत्यालप्यालमेव ।

५६१–दिग्देशकालात्मक-लौकिक-बुद्धिवादात्मक-'बुद्धियोग', तथा दिग्देशकालातीत-अलौकिक-अबुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' के स्वरूप का तात्त्विक-निदर्शन—

दुर्य्योधन में भी 'बुद्धियोग' था। उसका भी प्रत्येक कार्य्य बुद्धिपूर्वक ही होता था, जबकि अर्जुन का तो प्रत्येक कार्य्य आरम्भदशा में बुद्धिव्यामोहनों से ही समन्वित रहता था। फिर क्या बात थी कि, बुद्धिमानी-पूर्वक, पूर्ण कौशलपूर्वक सतत जागरूक रहते हुए क्षत्रियोचित कर्त्तव्यनिष्ठा (युद्धकर्म्म) में प्रवृत्त रहने वाले भी दुर्य्योधन को विजयश्री नहीं मिली ?। इस 'कौशल' शब्द के गर्भ में हीं इस प्रश्न का उत्तर सुरक्षित है। दुर्य्योधन की बुद्धि का योग तात्कालिक–स्वार्थ के ही साथ था, 'अर्थ' पूर्ण जो स्वार्थ **'अकर्म्म'** कहलाया है। फलांश में ही उसकी बुद्धि निमज्जित थी। कर्त्तव्य की अपेक्षा कर्त्तव्य का 'फल' उसकी दृष्टि में प्रमुख बना हुआ था। तभी तो थोड़ा सा भी पराजय होते देख कर यह भीष्म जैसे सर्वश्रेष्ठ सम्मान्य सेनापति पर भी बिखर पड़ता था। फलांश की यत्किञ्चित् सी भी निराशा इसे इसके वास्तविक भावुक–स्वरूप (चाञ्चल्य) पर ला खड़ा कर देती थी। उस आतुरता के आवेश में तो यह ऐसा अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ता था, जैसा 'अमर्य्यादित-अशिष्ट-अभद्र-अमङ्गल-अशुचि' प्रलाप कभी अर्जुन ने भी नहीं किया। अर्जुन की भावुक-बुद्धि उद्बोधन से पूर्व जहाँ कर्त्तव्य से अयुक्त थी, वहाँ दुर्य्योधन की बुद्धि प्रधानरूप से फल से ही युक्त थी। अर्जुन का तो किसी से 'योग' ही नहीं था। न उसे साम्राज्यफलभोग की ही इच्छा थी, न ऐसे फल के सर्ज्जक कर्त्तव्य (युद्ध) में ही उसकी बुद्धि का योग हो रहा था। अपितु वह तो अवारपारीणरूपेण 'भावुक' ही प्रमाणित हो रहा था। किन्तु दुर्य्योधन तो फल के साथ दृढ़रूप से आसक्त होरहा था। इस राज्यलिप्सा के लिए वह अच्छा–बुरा, पाप–पुण्य, सबकुछ कर डालने के लिए सन्नद्ध बना रहता था। कर्त्तव्यविवेक से उसकी बुद्धि का कोई सम्बन्ध, कोई योग नहीं था। अपितु योग था केवल फल से। इसी फलासक्ति ने, फलयोग ने इसकी कर्त्तव्यनिष्ठा में शिथिलता उत्पन्न करदी। इसी एषणाने इसके हितैषियों को भी इसकी ओर से उदासीन बना दिया, जिस उदासीनता के सुपरिणाम ? स्वरूप ही इसे अन्ततोगत्वा पराभूत ही हो जाना पड़ा। फल के साथ बुद्धि का आसक्त्यात्मक योग हो नहीं, कर्त्तव्य के साथ बुद्धि का अनन्य योग रहे, इस योग का नाम हीं 'कर्त्तव्यकौशल' माना गया है, जिसका एकमात्र अवलम्ब अव्ययपुरुष के साथ योग कर लेना हीं है। जबतक बुद्धि (प्रकृति) उस पुरुष के साथ योग नहीं कर लेती, तबतक इसमें योगात्मक ऐसे कौशल का योग हो ही नहीं सकता, जिसके द्वारा कि, यह कर्त्तव्यनिष्ठ भी बनी रहे, फल का भी आगमन होता रहे, एवं प्राप्त फल में यह बुद्धि आसक्त भी न हो।

५६२–कर्त्तव्यनिष्ठात्मक-बुद्धियोगात्मक-'बुद्धियोग' से अनुप्राणिता कालातीता स्थिति, अनन्तकालगति, एवं अनन्तकालस्थिति-रूपा भावत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय–

'कर्त्तव्य' 'कर्म्म' है, कर्म्म 'क्रिया' है, क्रिया 'गति' है, गति 'प्राण' है। प्राण 'अमूर्त्त' है, एवं इस अमूर्त्त तत्त्व का ही नाम है 'अक्षरकाल', जिसे हम 'अनन्तकाल' कहा करते हैं। प्राणाक्षरमूर्त्ति अनन्तकालात्मक गतिभाव से ही 'कर्त्तव्य' का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाङ्मय भौतिक–क्षर का ही नाम है सीमित–दिग्देशकाल, जिसे हम 'चान्द्रसम्वत्सरकालात्मक–वर्षकाल' कहा करते हैं। यही वाङ्मय व्यक्त–मूर्त्त काल है, जिसका नाम है–मूर्त्तिरूप भौतिक पदार्थ, इन्हीं को कर्त्तव्य का 'फल' कहा जाता है।

अमूर्त्तगति से मूर्त्तभूत ही अभिव्यक्त होते हैं। कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल 'प्रकृति' है, कर्त्तव्यफलरूप सादिसान्तकाल 'विकृति' है। **अनन्ता है प्रकृति, सादि-सान्त है विकृति। सादिसान्त विकृति का आधार है अनन्ता प्रकृति।** एवं **इस अनन्ता प्रकृति का आलम्बन है अनन्ताऽव्यय पुरुष।** यह अनन्तपुरुष भी स्थितिरूप है, एवं अनन्ता विकृति भी स्थिति रूपा है। दोनों के मध्यम में अनन्ता प्रकृतिरूपा गति प्रतिष्ठित है। इस सहज स्थिति को समन्वित किए बिना 'यत्किञ्चित्' संशोधन को यत्किञ्चिद्रूप से भी समन्वित नहीं किया जासकता। अव्यय पुरुषरूपा स्थिति **चिद्घना** है, अनन्तप्रकृतिरूपा मध्यस्था गति **'चेतना'** है, एवं सादिसान्तविकृतिरूपा अन्तस्था, स्थिति **'अचेतना'** है। इन तीनों का नाम रख लेते हैं क्रमशः—**कालातीतास्थिति, अनन्तकालगति-सान्तकालस्थिति,** ये। तत्त्वभाषा में ये ही तीनों हैं क्रमशः—**अव्ययपुरुष, अक्षरपराप्रकृति, क्षरअपरा–, प्रकृति।** व्यवहारभाषा में ये ही तीनों हैं—**'कर्त्तव्यसाक्षी, कर्त्तव्य, कर्त्तव्यफल'।** **कर्त्तव्यकाल,** एवं **कर्त्तव्यफलकाल,** इन दोनों के माध्यम से हीं मानव के भाग्य का (प्राकृत जीवन का) अच्छा–बुरा निर्णय हुआ करता है। कर्त्तव्य यदि फल का दास बन जाता है, तो कर्त्तव्य का बल शिथिल हो जाता है, फल की प्रधानता हो जाती है। फलतः फल की सम्भावना निष्फल प्रमाणित होजाती है, फलरूपा आसक्ति जड़ता और उत्पन्न कर देती है। ठीक इसके विरीत—यदि फल कर्त्तव्य का दास बन जाता है, तो फल का आसक्तिबल शिथिल हो जाता है, कर्त्तव्य प्रधान बन जाता है। फलतः कर्त्तव्य की फलानुगति भी निश्चित बन जाती है, एवं फल अपनी जड़ता से कर्त्तव्य को प्रभावित भी नहीं कर पाता। और यही यत्किञ्चित् संशोधन की स्वरूपगाथा का उपसंहारनिष्कर्ष है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में उद्घोष हुआ है—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (गीता)।

५९३--आत्मानुगता स्थिति, तथा कालात्मिका गति का स्वरूप--समतुलन—

एक **'स्थिति' के साथ कर्त्तव्य का सङ्ग ही इसे दूसरी 'स्थिति' से असङ्ग बनाए रहता है।** पुरुषाव्यय भी स्थितिरूप है, जिसे हमने चिद्घन कर्त्तव्यसाक्षी कहा है। क्षरभूत–विश्व भी स्थितिरूप है, जिसे हमने अचेतन कर्त्तव्यफल कहा है। कर्त्तव्यफल भी 'स्थिति' रूप 'अकर्म्मभाव' है, तो कर्त्तव्यसाक्षी भी स्थितिरूप 'अकर्म्मभाव' है। यदि मानव (अर्थात् प्राकृत जीव) अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्य-फलात्मिका स्थिति से समन्वित कर देता है, तो फलस्थित्यासक्त यह मानव जड़भाव में आता हुआ कुनैष्ठिक बन जान जाता है दुर्य्योधनवत्। यही यदि अपने कर्त्तव्य को अकर्म्मरूपा—कर्त्तव्यसाक्षिरूपा स्थिति से समन्वितत कर लेता है, तो साक्षीस्थित्यनुगत यह मानव चिद्घनभाव से समन्वित होता हुआ सुनैष्ठिक बन जाता है उद्बुद्ध अर्जुनवत्।

५९४–सुनिष्ठा, और कुनिष्ठा का समतुलन, एवं--'कालं कालेन पीड़यन्' का संस्मरण—

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' के **'अकर्म्मणि'** का अर्थ है-**'फले ते सङ्गो मास्तु'।** कर्म्म का फल **'अकर्म्म'** ही तो होगा। अतएव कर्म्मफल की सहज संज्ञा 'अकर्म्म' बन गई है। उधर कर्म्मसाक्षी अव्ययपुरुष भी अपने

सहज स्थिर भाव से 'अकर्म्म' है। यों दो 'अकर्म्म' मानवके सम्मुख उपस्थित हैं। पुरुषसङ्ग इसे फलासङ्ग बना देता है, तो फलसङ्ग इसे पुरुषासङ्ग बना देता है। पुरुषसङ्गता का नाम ही सुनिष्ठा है, एवं फलसङ्गता का नाम ही कुनिष्ठा, किंवा भावुकता है। कैसे मानव को पुरुषसङ्गता प्राप्त हो ?, कैसे इसमें बुद्धिनिष्ठा उदित हो ?, प्रश्न का एक मात्र उत्तर है-'कालं कालेन पीड़यन्'।

५९५-'कालं कालेन पीड़यन्' सूत्र के तत्त्वात्मक समन्वय-विवर्त्त—

काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव कालान्तर में 'बुद्धियोगनिष्ठा' प्राप्त कर सकता है। कालातीत अनन्ताव्यय-पुरुष की साक्षी में अनन्तकालरूपा प्रकृति से सादिसान्तकालरूपा विकृति को संघर्ष से आवृत करता हुआ ही मानव 'अभ्युदय-निःश्रेयस्' का अधिकारी बन सकता है। कालातीत-सर्वातीत-सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता में पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखने वाला मानव अपने सुनिश्चित (शास्त्रसिद्ध) कर्त्तव्य से कर्त्तव्यफल को पीड़ित करता हुआ ही 'सुखी, एवं शान्त' बना रह सकता है। कालदिग्देश से दिग्देशकाल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'प्रकृतिस्थ' बना रह सकता है। अनन्त से अन्त को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'नियन्ता' बना रह सकता है। एक से अनेक का संवरण करता हुआ ही मानव 'अभिव्यक्त' होसकता है। ज्ञान से विज्ञान का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'विज्ञाता' बन सकता है। अमृत से मृत्यु का अनुगमन करता हुआ ही मानव 'अमृतलाभ' कर सकता है। सम्भूति से विनाश को आबद्ध रखता हुआ ही मानव 'भूति' का अनुगामी बन सकता है। भूत से भवत् (वर्त्तमान) का समतुलन रखता हुआ ही मानव 'भविष्यत्' का निर्म्माण कर सकता है। स्रष्टा से सृष्टि को समन्वित रखता हुआ ही मानव 'संसृष्टि' का प्रवर्त्तक बन सकता है। निष्ठा से भावुकता को नियन्त्रित रखता हुआ ही मानव 'भावुकता' से लाभ उठा सकता है। यों सर्वात्मना काल से काल को पीड़ित करता हुआ ही मानव 'कालातीत' बना रहता हुआ सम्पूर्ण कालिका-भावों की समृद्धि का असपत्न उपभोक्ता बन जाता है-अभयरूपेण।

५९६-दिग्देशकालत्रयी से उत्पीड़ित भूत-भौतिक-पदार्थ, एवं तद्द्वारा भावुक-मानव का कालिक-उत्पीड़न—

स्मरण रखिए ! 'उत्पीड़ितता' ही आपको उत्पीड़क बनाती है। उत्पीड़न से पहिले आप स्वयं उत्पीड़ित हो जाते हैं। यही उत्पीड़ितता आगे चलकर प्रतिक्रियारूप से आपको उत्पीड़क बना देती है, जिससे

आप दूसरों को उत्पीड़ित करने लग पड़ते हैं। वस्तुतः आप न तो उत्पीड़क ही हैं, न उत्पीड़ित ही। उत्पीड़ित हैं दिग्देशकालात्मक वे मूर्त्त-भूतभौतिक जड़पदार्थ, एवं जड़ताप्रधान वे पशु-पक्षी-आदि भौतिक प्राणी, जो उत्पीड़नरूप इन भूतभावों से पहिले तो स्वयं उत्पीड़ित बनते हैं। तदनन्तर प्रतिक्रियारूप से अपने समानधर्म्मा प्राकृत प्राणियों को उत्पीड़ित करते रहते हैं। और यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पश्वादि प्राणी अपनी सीमित दिग्देशकालता से, इस उत्पीड़नधर्म्म से इसी की अहोरात्र उपासना करते हुए परस्पर उत्पीड़ित-उत्पीड़क ही बने रहते हैं।

५६७-अमूर्त्तकाल के द्वारा उत्पीड़ित मूर्त्तकाल—

क्यों ये पश्वादि प्राणी उत्पीड़ित, तथा उत्पीड़क बने रहते हैं ?, इस प्रश्न पर क्या कभी आपने विचार विमर्श किया है ?। नहीं, तो अब कर लीजिए। इस पशुसर्ग के लिए वर्त्तमानकाल के अतिरिक्त न तो कोई भूतकाल है, न भविष्यत्काल, जिस भूतभविष्यत्काल को अव्यक्त-महदक्षररूप 'अनन्तकाल' कहा जाता है। उस अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित यह सादिसान्त सम्वत्सर-मूर्त्त-व्यक्त-वर्त्तमानकाल ही पशुसर्ग का सर्वस्व बना रहता है। उत्पीड़न ही इसका प्रभवस्थान है, उत्पीड़करूप उस अनन्त-भूत-भविष्यत्-अक्षरकाल से सतत उत्पीड़ित यह पीड़ितकाल ही तो इस पशुसर्ग का प्रभव है, यही प्रतिष्ठा है, यही परायण है। व्यवधानात्मक भय ही इस उत्पीड़ित काल का स्वरूप है।

५६८-मूर्त्तकाल से निरन्तर उत्पीड़ित-भयत्रस्त-शङ्कातङ्कितमानस-मूर्त्त-भौतिक-कालिक-पशुसर्ग—

अतएव महद्भयरूप इस पीड़ितकाल से उत्पन्न, अत्रैव प्रतिष्ठित, एवं अत्रैव लीन होजाने वाले पशुसर्ग को उत्पत्तिक्षण से आरम्भ कर विलयनक्षण पर्य्यन्त सदा सब ओर से शङ्कातङ्कितमानस बन कर ही, सदा भयभावों से सतर्क-विकम्पित रहते हुए ही जीवनयापन करते रहना पड़ता है। शान्ति-निर्भयता-अभय-स्थिरता-जैसा कोई भी शाश्वत स्थिरधर्म्म आप इनमें उपलब्ध नहीं कर सकते। इनका गमन-शयन-अशन-पान-आदि आदि सम्पूर्ण भौतिक कर्म्मकलाप सदा शङ्का-भय-आतुरता-विकम्पन-आदि मर्त्यभावों से ही आक्रान्त रहता है, जिसे आज के पशुविज्ञानवेत्ता, प्राणीशास्त्रवित् तो भलीभाँति जान ही रहे होंगे, जिस इस सहज भय, सहज उत्पीड़न को ही सम्भवतः वे-'**आत्मरक्षा की सहज स्फूर्त्ति**' नाम से व्यवहृत कर रहे होंगे, जबकि तत्त्वतः न इस पशुसर्ग में भारतीय-पशुविज्ञान की दृष्टि से आत्मस्वरूप ही अभिव्यक्त है, न तद्रक्षा जैसी त्रिकालानुबन्धिनी जागरूकता का ही इनके साथ कोई सम्बन्ध है।

५६९-आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से असंस्पृष्ट, अतएव आत्मरक्षाधर्म्म से पराङ्मुख पशुसर्ग की दिग्देशकाल-निबन्धना भयातुरता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अपितु आद्यन्तरूप से सर्वात्मना वर्त्तमानदिग्देशकालनिबन्धन सहज उत्पीड़न-सहज भय ही इनका सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिस इस भय के विविध परिवर्त्तनों के ही आज के भूतदृष्टिप्रधान प्राणिशास्त्र ने चैतन्य-आत्मा-आत्मत्राण-रक्षा की स्फूर्त्ति-आदि आदि विविध कल्पित नाम रख लिए गए हैं। इस कल्पना का

एकमात्र आधार है–**इन प्राणियों के माध्यम से मानव की प्रवृत्तियों का अध्ययन-व्यामोहन**, जिससे बड़ा बुद्धिव्यामोहन मानव का और कुछ हो ही नहीं सकता। तभी तो दिग्देशकालभक्त इन अन्वेषकोंनें मानव को विकासशील–प्राणीमात्र ही मान लिया है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

६००–पशुसर्गासक्त भावुक मानवों के द्वारा मानव के स्वरूप-समतुलन की महती भ्रान्ति, एवं तन्निवृत्ति की मङ्गलकामना—

तभी तो इनकी दृष्टि में मानवने प्राकृत पशु–पक्षी–आदि प्राणियों से ही नहीं, अपितु ओषधि–वनस्पति–लतागुल्म–पर्वत-नद-नदी-सागर-आदि आदि जड़-भूतों से भी प्रेरणा ले लेकर ही क्रमशः अपनी मानवता ? का विकास किया है। और आज तो भूगर्भस्थ–भग्न-त्रुटित-मृण्मय भाण्डादि, जीर्ण–शीर्ण कन्थादि भी मानव की बुद्धि के प्रेरक प्रमाणित कर दिए गए हैं पुरातत्त्वविशारदों के द्वारा। सचमुच इस पशुसर्ग–व्यामोहनने, तदनुबन्धी वर्त्तमानकालविमोहन ने हीं तो मानव को उस 'भय' पर ला खड़ा किया है, जिसका मूलत: सर्ज्जन हुआ था इसी देश के अन्तदृष्टिवादी दार्शनिक के अनुग्रह से, एवं जो पुष्पित पल्लवित हुआ आजके भूतविज्ञान की कृपा से, तथा तत्पथानुवर्त्मा विशोधकों के विशोधनों से, और इनके सांस्कृतिक ? परिणामों से। इसीलिए हमें मानव से अत्यन्त प्रणतभाव से यही निवेदन करने की धृष्टता कर लेनी पड़ी कि, वह मानव की **'मानवता'** पर अनुग्रह कर अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी भावुकतापूर्णा–पशुसर्गनिबन्धना मान्यताओं में तथाकथित 'यत्किञ्चित्' संशोधन कर ही डाले, अविलम्ब कर डाले। अन्यथा जिस काल्पनिक भय का उसने केवल अपने प्रज्ञापराध से इस दिग्देशकाल के द्वारा सर्ज्जन कर डाला है, वह महद्भय इसे कालान्तर में निःशेष ही बना डालेगा। और महत्सौभाग्य है यह मानवता का कि, अब मानवने अंशत: अपनी यह भूल स्वीकार करना उपक्रान्त कर दिया है। **क्योंकि अन्ततो गत्त्वा मानव 'मानव' ही है, 'महान' ही है, दिग्देशकालातीत सनातनतत्त्व ही है। अतएव न यह उत्पीड़ित ही रह सकता, न उत्पीड़िक ही बना रह सकता अधिक समय पर्य्यन्त। अवश्य ही इसे स्वयं अपना निष्ठा से ही (बिना हीं पशु–पक्षी–आदि की प्रेरणा के) अपना यह कल्पित भय निर्म्मूल बना हीं डालना होगा।**

६०१–अनन्तकालात्मक महान् भय के स्वरूपबोध से ही सादि-सान्त दिग्देशकालभयों से सम्भावित-आत्मत्राण, एवं 'महद्भय' का माङ्गलिक संस्मरण—

और इस भयत्राण के लिए मानव को सर्वप्रथम स्वयं अपने उस **'महान् भय'** का ही स्वरूप समझ लेना होगा, जिस महान् भय के गर्भ में हीं दिग्देशकालात्मक अणोरणीयान् भय समा रहा है। उस महान् भय के स्वरूपबोध पर ही इसका यह दिग्देशकालानुबन्धी स्वल्पभय पलायित होसकेगा उसी प्रकार, जैसे कि सिंहभय के सामने शृगालादि भय क्षणमात्र में विलीन होजाया करते हैं। **आपके उस महान् भयस्वरूप का ही नाम है अनन्तकाल, अनन्तदिक्, और अनन्देश, जिस इस अनन्त कालदिक्देश के सम्मुख यह सादि-सान्त-दिक्देशकालभय क्षणमात्र भी तो नहीं ठहर सकता।** सम्वत्सरकालात्मक-वर्त्तमानदिग्देशकालात्मक पशुभय आपका स्वरूप (प्रकृति) नहीं है, जैसाकि आपने भूतदृष्टिमूला भावुकता से भ्रान्तिवश मान लिया है। अपितु आपका प्राकृत स्वरूप तो है महदक्षररूप वह अनन्तकाल, जिसके आप सर्वात्मक प्रतिरूप हैं,

जिसका पशुसर्ग तो यत्किञ्चित् प्रतीकमात्र ही बना हुआ है। अङ्गी से अङ्ग उत्पीड़ित हुआ करते हैं। स्वयं अङ्गी कदापि अङ्गी से उत्पीड़ित नहीं होता। प्रतीकात्मक, अतएव अङ्गरूप पशुसर्ग उस अङ्गी से अवश्य ही उत्पीड़ित, भयत्रस्त है। किन्तु आप तो उसके अङ्ग, किंवा प्रतीक नहीं है, जो उस अङ्गी अनन्तकाल से पशु-सर्गवत् आप उत्पीड़ित होते रहें ?। आप तो उसके प्रतिरूप हैं, स्वयं अङ्गी हैं। अतएव वही हैं। आप से, आपकी नियति से, दण्डभय से तो सम्पूर्ण विश्व भयपूर्वक सञ्चालित है *। आप स्वयं महाकालरूप हैं, शिवस्वरूप हैं। आप सब को अभयपद देने वाले हैं अपने इस अनन्तकालस्वरूप से। फिर आपको भय कैसा ?। अभय ही आपका मौलिक स्वरूप है अनन्त प्रकृति की दृष्टि से भी, एवं अनन्तपुरुष की दृष्टि से भी।

६०२–प्राकृत–विश्व से अनुप्राणिता-भावुकतापूर्णा-भूल के विविध-शाखा-प्रशाखा-विवर्त्तों का स्वरूप–दिग्दर्शन, एवं 'यत्किञ्चित्' संशोधन के द्वारा तन्निवृत्त्युपाय–प्रदर्शन—

भूल कहाँ हो पड़ी आप से ?, बस इतना सा, यत्किञ्चित् सा ही समझ लेना है आपको बुद्धि से नहीं, अपितु समझ से, जिस **'समझ'** का गुणानुवाद पूर्व में किया जा चुका है। सादिसान्ता विकृति को अपनी प्रकृति मान बैठना **पहिली भूल**, इस प्रत्यक्षदृष्टा विकृतिरूपा दिग्देशकालात्मिका मूर्त्ता भूतप्रकृति के विकृति–तम–वैकारिक–पशुसर्ग के, विकारकूटात्मक जड़सर्ग के माध्यम से अपनी भूतप्रकृति के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त हो जाना **दूसरी भूल**, इन दो भूलों से प्रकृतिविमूढ (विकृतिविमूढ) बनते हुए अपनी इस भ्रान्त मान्यता में हीं अभिनिविष्ट हो जाना **तीसरी भूल**, अभिनिवेश के निवारक धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाना **चौथी भूल**, धर्म्मनिरपेक्षतामूलक काल्पनिक अनुभवों के बलपूर्वक (सत्ताबलमाध्यम से) प्रचार–प्रसार करने के लिए आतुर हो पड़ना **पाँचवीं भूल**, इस आतुरता से मानव के मौलिक अनन्त–स्वरूप के प्रति विद्रोही बनते हुए, प्रतिक्रियावादी बनते हुए अपने आपको ही सर्वज्ञ मान बैठना **छठी भूल**, इस काल्पनिक सर्वज्ञता के व्यामोहन से एकान्ततः व्यक्तित्वविमोहन का अनुगामी बन जाना **सातवीं भूल**, मानवसुलभ उद्बोधन का अपने अन्तर्जगत् में अनुभव करते हुए भी अपने व्यक्तित्वविमोहनरूप इत्थंभूत काल्पनिक **'व्यक्तित्व'** के पतनभय से जानते हुए भी नहीं जानना, मानते हुए भी नहीं मानना, यही **आठवीं महाभूल**, और और भी ज्ञात–अज्ञात परशतः छोटी बड़ी भूलपरम्पराओंसे आपादमस्तक ओतप्रोत मानव ने इस यत्किञ्चित् सी भूल से अपने महान् प्राकृतस्वरूप को कैसा छोटा कर लिया है ?, कितना छोटा करा लिया है ?, इस कल्पना–मात्र से भी मानव की मानवता आज विकम्पित हो पड़ी है। **'यत्किञ्चित् सी भूल'** इसलिए कि, क्षणमात्र ही तो लगता है अपने इस कल्पित व्यक्तित्वविमोहन का चोला उतार फैंकनें में। यत्किञ्चित् सी ही तो ऋजुता–सरलता–अवक्रता अपेक्षित है अपने आपकी इस कल्पित इयत्ता के यत्किञ्चित् से स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त करने के लिए।

*** भीषास्माद्वातोदेति, भीषोदेति सूर्य्यः।**
भीषादग्निश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
उपनिषत्

६०३–मानव के आत्मबुद्धिनिष्ठ महान् मानव-स्वरूप के द्वारा सम्पूर्ण भूलों का शरद–अभ्रवत्–विलयन—

क्या मानव को यह समझने में बहुत बड़ा प्रयास करना पड़ेगा कि, केवल **मन**, और **शरीर** का ही नाम मानव नहीं है ?, मानसिक **काम**, तथा शारीरिक **भोग** ही मानव की मानवता के मापदण्ड नहीं है ?, किंवा अपने मानसिक--शारीरिक--भोगों की इयत्ता--पर्य्याप्ति ही मानव का चिरन्तन इतिहास नहीं है ? । क्या मानव ने कुछ ऐसा मान लिया है कि, केवल इस एक मानव के आगे पीछे, भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान में और कोई मानव है ही नहीं ? । किंवा अपनी कामभोगपरायणता की सिद्धि के लिए अपने समाज को, राष्ट्र को, किंवा सम्पूर्ण विश्व को एक महा भयानक गर्त्त में डाल देना हीं इसका चरम सुख है ? । हम समझते हैं, मानवमात्र समझ रहे हैं कि, इस 'यत्किञ्चित्' सी, जरा सी भूल को समझने जैसी प्रज्ञा तो आज भी मानव में शेष है ही । अवश्य ही इस यत्किञ्चित् सी भूल को समझ कर तथाकथित यत्किञ्चित् से संशोधन से मानव अवश्य ही विश्वमानवता का परित्राण कर सकता है, करेगा ही, करता ही आया है सदा सदा से ही । कदापि कोई भी भयाशङ्का नहीं है महान् मानव के उस अभय-अनन्तरूप महान् प्राकृतस्वरूप के लिए, एवं अनन्त पौरुषस्वरूप के लिए, जिस अनन्तस्वरूप के बोधोदय पर सम्पूर्ण भूलें--भ्रान्तियाँ-विमोहन--मूढताएँ--विमूढताएँ--शरदभ्रवत् क्षणमात्र में हीं विलीन हो जाया करतीं हैं । और तब स्वयं मानव ही यह उद्घोष करने लग पड़ता है कि—

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

६०४–सर्गात्मक–पशुसर्ग, तथा असर्गात्मक मानवसर्ग के तत्त्वविवेकानुग्रह से आत्म–बोधोदय, तदनुग्रह से अभयब्रह्म का संस्पर्श, एवं--'अभयं वै ब्रह्म' का संस्मरण—

और तब मानव स्वयं ही यह मान लेता है कि, वर्त्तमानकालात्मक दिग्देशकालव्यामोहन तो पशुसर्ग का ही क्षेत्र है, मन और शरीर तो प्राकृत (वैकारिक) प्राणियों की ही स्वरूप-व्याख्या है, काम–भोग–परायणता तो विशुद्ध पशुधर्म्म ही है, दृष्टि के सम्मुख उपस्थित भौतिक लाभ से अभिभूत होजाना तो प्रत्यक्षदृष्टिपरायण पशु-पक्षी-आदि प्राणियों का ही सहज स्वभाव है, भूत-भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों से अपरिचित बने रहते हुए वर्त्तमान को ही सर्वस्व मान बैठना तो पशुओं का ही जीवनवृत्त है, तात्कालिक लाभ की सिद्धि के लिए अपने परिजनों को, सामूहिक व्यक्तियों को चीर–फाड़ फैंकना तो पशुओं का ही तात्कालिक धर्म्म है । मानव, हाँ मानव ऐसा नहीं है, कदापि नहीं है, ऐसा रह ही नहीं सकता मानव । अपेक्षित है–केवल यत्किञ्चित् सा संशोधन । और अब उस यत्किञ्चित् से संशोधन का निष्कर्षार्थ है—"**मनःशरीरानुबन्धी–दिग्देशकालात्मक–वर्त्तमानकालात्मक अपने पशुरूप वैकारिककाल को बुद्धि-आत्मानुबन्धी–अपने पशुपतिरूप प्राकृत-काल से, अनन्तकाल से सदा ही उत्पीड़ित करते रहना। एक क्षण के लिए भी इस दिग्देशकालात्मक मनःशरीररूप 'काल' को उस आत्मबुद्धिरूप महाकाल के निमन्त्रणपाश से पृथक् न होने देना** । दूसरे शब्दों में शारीरिक **अर्थ**, तथा मानसिक **काम** का क्रमशः बौद्धिक **धर्म्म**, तथा आत्मिक **मोक्ष** से नियन्त्रण करते रहना हीं वह यत्किञ्चित् सा संशोधन **है** । यही काल से काल का उत्पीड़न है, यही मानव की मानवता का एक मात्र रक्षासूत्र है, **यही अथर्ववेदीय कालसूक्त का आचारात्मक समन्वय है**, यही

मन्वन्तरकाल का चरम उदर्क है,एवं यही है दिग्देशकालमीमांसारूप वाग्विजृम्भण का एकमात्र वह लक्ष्य, जिस लक्ष्य की मूलप्रतिष्ठा है–'अभयं वै ब्रह्म', **मा भैषीः, योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः–तं जम्भे दध्मः।**

६०४–दिग्देशकालात्मक भयों से असंस्पृष्ट अभयमूर्त्ति महान् मानव, एवं महान् मानव की दिग्देशकालातीता अनन्तता का माङ्गलिक-संस्मरण—

ब्रह्म अभय है। अतएव मानव को कदापि, कभी भी, कहीं भी, किसी से भी, कुछ भी भय नहीं करना चाहिए। कदापि किसी भी दिग्देशकाल के प्रभाव में नहीं आना चाहिए। कदापि किसी भी युगधर्म्मानुगता जगद्धर्म्मानुगता, एवं कालधर्म्मानुगता * प्रत्यक्षप्रभावमूला तात्कालिकी भावुकताओं, प्रदर्शनों, आयोजनों, योजनाओं, आदि से प्रभावित होकर अपना सनातन कर्त्तव्यनिष्ठात्मक लक्ष्य विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन सर्वविनाशक भूत–भौतिक संहारास्त्रों से कदापि मानव को विकम्पित नहीं होजाना चाहिए। दिग्देशकालनिबन्धन, गन्धर्वनगरलेखासमतुलित, तात्कालिक चमत्कारपूर्ण, तात्कालिक–अनुकूलता–सुख–सुविधा–जनक, किन्तु परिणामतः मानवीय जीवनरस के सर्वविनाशक भौतिक आविष्कारों से कदापि मानव को प्रभावित नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानवता अजर है, अमर है, शाश्वत है, सनातन है, सत्य है, कालातीत है। अतएव किसी भी प्रकार का दिग्देशकाल–विजृम्भण उसे विकम्पित नहीं कर सकता, नहीं कर सका आजतक नहीं कर सकेगा कभी भी। उस अनाद्यनन्ता दिग्देशकालातीता **'मानवता'** का ही हम पुनः पुनः माङ्गलिक संस्मरण कर रहे हैं।

६०५–सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त विरोधी तत्त्वों को निष्फल प्रमाणित करते रहने वाले महान् मानव की महती निष्ठा का ऐतिहासिक–संस्मरण—

दिग्देशकालानुबन्धी, अतएव मनःशरीरप्रधान 'मानवेतिहास' ही इस दिशा में ज्वलन्त प्रमाण है कि, सृष्टि के आरम्भ से वर्त्तमानक्षण पर्य्यन्त तत्तद् विभिन्न सृष्टिकालों, सत्ताकालों, सभ्यता–संस्कृति–युगों में मानव की मानवता के अन्यतम शत्रु जिन जिन भी आततायी–बर्बर–दस्युओंनें जैसे जैसे भी प्रचण्ड–नृशंस–आक्रमण किए इस मानवता पर, उन सब घोरघोरतम घातक आक्रमणों से केवल अपने बाह्य–दिग्देशकालानुबन्धी मनः-शरीरभावों को ही सहर्ष समन्वित करते हुए 'मानवता' ने अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन मौलिक–'मानवता' पर्व को तो असंस्पृष्ट ही बनाए रक्खा। और वे धारावाहिक भी नृशंस आक्रमण मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना **'मानवता'** का संस्पर्श भी नहीं कर सके आजतक। अवश्य ही तत्तद्युगों में तत्तद्युगों के कालिक प्रभावों, अनुबन्धों से मानव की मनःशरीरनिबन्धना भावुकता यथायुगानुपात से प्रभावित भी होती रही। किन्तु कदापि, किसी भी युग में आत्मबुद्धिनिबन्धना निष्ठा, तदभिन्ना **'मानवता'** यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं हो सकी किसी भी तात्कालिक युगधर्म्म से।

***–कालचक्रं–जगचक्रं–युगचक्रं च केशवः।**
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम्॥
—महाभारत उद्यो० ६८ अ०।

६०७–ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–आग्नेयास्त्र-वायव्यास्त्रादि महाभारतयुगीय संहारक–महतो-महीयान् प्राकृतिक–विजृम्भणों से अप्रभावित अविकम्पित महान् मानव—

'हमारे समय के वैज्ञानिक चमत्कार' जैसी दम्भपूर्ण घोषणा करने वाले, अपने चमत्कारोंसे 'मानवता' को अभिभूत करने का व्यर्थ-प्रयास करते रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेनैव यह विस्मृत ही कर जाते हैं कि, और किसी भूखण्ड के मानव के लिए भले ही भौतिक-विज्ञान के ये विजृम्भण अदृष्ट–अश्रुत–पूर्व ही हों। अतएव सम्भव है–उन भूखण्डों के प्राकृत मानव इन वैज्ञानिक विजृम्भणों से प्रभावित, अतएव विकम्पित होगए हों। किन्तु दिव्यप्राणमूर्त्ति **'भारत अग्निदेव'** के प्रतीकरूप इस भरतखण्ड-**आर्य्यावर्त्त** नामक भूखण्ड के आत्मा-देवप्राणप्रधान, अतएव आत्मबुद्धिनिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में तो इन भूतविज्ञानों का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसने अपने पूर्व-युगों में आज के भूतास्त्रों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली **ब्रह्मास्त्र–वारुणास्त्र–वायव्यास्त्र–आग्नेयास्त्र–** जैसे सर्वस्वसंहारक शस्त्रास्त्रों का न केवल नाम हीं सुन रक्खा है, अपितु निकटपूर्व के पाँच सहस्र वर्ष के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में इन का आचारात्मक उपयोग भी कर लिया है, एवं इनके मानवताविरोधी भीषण परिणामों का साक्षात्कार भी कर लिया है।

६०८–सौभविमान, हर्य्यश्वविमान, नगरविमान आदि देवयुगीय भौतिक-वैज्ञानिक-आविष्कारों का भी उपहास करने वाला चिरपुरातन, चिरनूतन महान् नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ—

एवमेव **सौभविमान, हर्य्यश्वविमान, नगरविमान,** पुष्पकविमान-ऋभु-विभ्वा-वाज-नामक सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत **कामगवी, दिव्य चमस, दिव्य नौका, दिवि च भुवि चव्याहतगतियुक्त अश्वयुग्म,** आदि आदि परःशत भौतिक आविष्कारों का भी साक्षात्कार कर लिया है इस देश की मानवताने। खगोलशास्त्र के परपारदर्शी विद्वान् मयासुर के **नवीन चन्द्र-सूर्य्य-निर्म्माण** के युग भी देख लिए हैं इस देश की मानवताने। निष्कर्षतः-आज जिन्हें–अद्भुत–असम्भव–विलक्षण–चमत्कार माना, और मनवाने का प्रया–सदम्भ किया जा रहा है, इन्हीं दम्भों के माध्यम से जिस निर्म्ममता के साथ आज **'मानव'** की **'मानवता'** को विकम्पित करने के सुख-स्वप्न देखे जा रहे हैं, एतद्देशीय मानव की मानवताने अपने पूर्वयुगों में ऐसे दर्प-दम्भों से भी कहीं महतोमहीयान् दर्पदम्भों का सान्निध्य प्राप्त कर रक्खा है, जिन की महत्ताकी तो कल्पना करने मे भी आज के भूतविज्ञानवादी को अभी अनेक शताब्दियाँ हीं लगसकतीं हैं। उन यचयावत् वैज्ञानिक विजृम्भणों को, तदनुप्राणित संहारास्त्रों को, अनुकूलता–सुखसुविधा-जनक आविष्कारों को कदापि अपने युगों में इस देश–की मानवताने सर्वसुलभ नहीं होने दिया एकमात्र **'मानवता'** के हितानुबन्ध से ही। अपितु इन भौतिक–कालिक-चामत्कारिक-विजृम्भणों पर **'महाकालात्मिका' 'मानवता'** का नियन्त्रण ही रहा इस देश की ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। कदापि वह उन्मुक्तता से इन विजृम्भणों को सार्वजनिक बनाने की अनुज्ञा प्रदान नहीं करसकी एकमात्र 'मानवता' के अनुरोध से ही। भारतीय-महर्षिप्रज्ञा-प्रतिभाने जिन विशिष्टतम शिल्पों-लोकवैभवों-साम्राज्य--राज्य--व्यवस्थाओं का सर्ज्जन किया, यथाशास्त्र यथाकाल जैसा नियमन--व्यवस्थापन किया इन लोकानुबन्धों का, साथ ही इन सब महान्–समारम्भों का सर्ज्जन करते हुए भी इसने अपनी **'मानवता'** को जिस

कौशल से ऋजुतापूर्वक अक्षुण्ण बनाए रक्खा, उन सब महत्ताओं के, तथाविध समन्वयात्मक कौशलों के समतुलन में तो यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है आज की स्वल्पतमा नगण्या इन भौतिक-विभीषिकाओं का ।

६०६–मानव की मानवता से नियन्त्रित सर्वोत्पीड़क मूर्त्तकाल, एवं नियन्त्रित-मूर्त्त-कालानुबन्धी इष्टकामधुक्-विश्वशान्तिकर इसका यज्ञविज्ञान—

इसी 'मानवता' ने एक ओर जहाँ–'कालं कालेन पीड़यन्' के माध्यम से भौतिक विजृम्भणों को नियन्त्रित–सीमित रक्खा, तो दूसरी ओर मानव की 'मानवता' के अलङ्करणरूप उन **आत्मसंरक्षक-ब्रह्मविज्ञानोंका**, तदनुबन्धी **लोकसंरक्षक यज्ञविज्ञानों** का सार्वजनिकरूप से विस्तार भी किया, जिस ब्रह्मविज्ञानात्मक यज्ञविज्ञान के बलपर ही भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण लोककामनाएँ प्रकृतिस्थतापूर्वक प्रक्रान्त रही। अतएव संरक्षक जो यज्ञविज्ञान प्रजा के लिए **'इष्टकामधुक्'** ही बना रहा * । विध्वंसक सभी विज्ञान यहाँ सदा से ही नियन्त्रित रहे, तो रक्षक सभी विज्ञान यहाँ सदा समादरणीय रहे, जबकि प्रभावित यह कभी भी दोनों से ही नहीं हुआ । इसकी **'मानवता'** तथाकथित **भूतविज्ञानों**, तथा **प्राणविज्ञानों (यज्ञविज्ञानों)**, दोनों से ही ऊपर ही उठी रही÷। कदापि इस देश की **'मानवता'** किसी भी दिग्देशकाल के किसी भी भौतिक–प्राणात्मक–अनुबन्ध से प्रभावित नहीं हुई । फलस्वरूप कदापि दिग्देशकालानुबन्ध इसकी **'मानवता'** को विमोहित न करसके । दिग्देशकाल इसकी **'मानवता'** के गर्भ में रहते हुए इसकी **'मानवता'** से नियन्त्रित ही रहे । कदापि इस की **'मानवता'** दिग्देशकालधर्म्मों के गर्भ में समाविष्ट न होसकी । दिग्देशकाल इसके अतिथि बने रहे, किन्तु इसने कभी दिग्देशकाल का आतिथ्य स्वीकार नहीं किया ।

६१०–कालातीत अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में एकान्तनिष्ठ, तन्नियन्त्रिता कालप्रकृति के उत्तरदायित्व से समन्वित पुरातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की अनन्ता 'मानवता' के साथ दिग देशकालासक्त आज के मानवों का समतुलन—

और एकमात्र इस मानवता के अनुबन्ध से ही यह भारतीय मानव, ऋषिप्रज्ञा के प्रतिरूपात्मक **श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र** के प्रति, तत्संसिद्ध **सत्ताब्रह्म** के प्रति, तदनुप्राणिता आचारात्मिका **कर्त्तव्यनिष्ठाओं** के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा सुरक्षित रखने वाला, शाश्वत–सनातन–ब्रह्म का अनुगामी यह आस्तिक भारतीय मानव, आर्य्यायणीय मानवश्रेष्ठों के द्वारा सम्मान में प्राप्त 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत यह भारतीय **हिन्दू–मानव**, दिव्यप्राणाग्निरूप भारत अग्नि के प्रतिरूपात्मक परम धन्य पावन भारतराष्ट्र का यह **आर्ष सनातन मानव** सृष्ट्यारम्भ से अद्यप्रभृति **'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** अपनी इसी सनातन–मानवता का सम्पूर्ण विश्व

*** सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता

÷ **प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः** (कठोपनिषत्)

में उद्घोष ही करता हुआ अपनी **'अमृतस्य पुत्रा अभूम'** इस निष्ठा को अक्षरशः अन्वर्थ ही प्रमाणित करता आरहा है, जब कि इत्थंभूता अनेक वे मानवजातियाँ तत्तद्दिग्देशकालानुबन्धिनी तत्तत्–सामायिक–भावुकताओं के प्रवाह में प्रवाहित होतीं हुई, तत्तद्युगीय भौतिक-विजृम्भणों के प्रभाव से अपनी मानवता को प्रभावित करतीं हुई असमय में हीं विस्मृति के गर्भ में हीं विलीन हो गई, जिनका नाम भी इतिहास के पत्रों से धुल–पुँछ गया है । मानते हैं--अपनी मानवतानुबन्धिनी सहजनिष्ठा की 'सनातनता' के साथ विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय 'हिन्दूमानव' भी अपनी 'मानवता' को भावुकता की अनुगामिनी बनाता आ रहा है। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही हमें इस जाति की इस 'आस्था' पर भी पूर्ण निष्ठा है कि, भावुकता की चरमसीमा पर पहुँचते ही इस जाति की मानवतानुबन्धिनी सनातननिष्ठा सहसा पुनः प्रचण्डरूप से जाग्रत हो ही तो पड़ती है, जिसका आसन्नपूर्व के राष्ट्रीय-आन्दोलनों में हमें अपने वर्त्तमान भौतिक काल में हीं प्रत्यक्ष दर्शन हो चुका है ।

६११–आत्मधृतिपरायण, सुसांस्कृतिक भारतीय 'हिन्दू-मानव' के सम्बन्ध में दिग्देश-कालभ्रान्ता-प्रज्ञाओं की भ्रान्तिपूर्णा कल्पनाएँ, तन्निकारण, एवं इसकी महती सन्निष्ठा का संस्मरण—

मानवता के साथ अपनी निष्ठा को अन्तर्य्यामसम्बन्ध से दृढमूल बनाए रखने वाले भारतीय हिन्दू-**मानव** के आत्मसमदर्शनमूलक साम्य को भी कभी कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाले मन्दप्रज्ञ इसे निरा भावुक ही मान बैठने की भयानक भूल कर बैठते हैं । इसका यह सहज सौजन्य, सर्वभूतहितरति, विश्वहितैषिता ही कभी कभी इसके निर्बल पक्ष मान लिए जाते हैं दिग्देशकालविमूढ़ दुर्य्योधन–सदृश कुनैष्ठिकों के द्वारा । इसी भ्रान्ति से यह जाति उत्पीड़ित–उपेक्षित भी मान ली जाती है कालविमुग्ध लोकचतुर–चाणाक्षों के द्वारा, जैसाकि ब्रिटिशसत्तातन्त्रने ऐसा ही कुछ मानने, मनवाने की भ्रान्ति कर डाली थी, जिस भ्रान्ति के दुष्परिणाम उसे शीघ्र ही भोग लेने पड़े । **और हम भूल नहीं कर रहे, तो उस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के दिग्देशकालात्मक-तात्कालिक-भौतिक विधि-विधानों को ही अपना 'संबिधान' मानने मनवाने के लिए प्रतिक्षण आतुर बने रहने वाला भारतराष्ट्र का वर्त्तमान 'सत्तातन्त्र' भी 'मानवता' के एकमात्र सन्देशवाहक, किन्तु कुछ समय से बहिर्भावुक बने रहने वाले 'हिन्दूमानव' के प्रति वैसी सी ही कुछ भूल करता जा रहा है, जिस बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ इस हिन्दूमानव के सर्वस्व-दान से ही तो वर्त्तमान सत्तानन्त्र का जन्म हुआ है, जिसके अनुग्रहदान से ही जो सत्तातन्त्र जोवित है, एवं जिसकी कृपा से ही जो जीवित रह सकता है, जीवित रहेगा, निश्चयेन जीवित रहेगा ही ।**

६१२–सनातन भारतीय 'हिन्दू-मानव' की सनातना-संस्कृति, सनातना-शिष्टता, तद्‌-नप्राणिता धृति, एवं तदनुग्रह से ही इसके सांस्कृतिक-कालातीत-स्वरूप का सुरक्षित सनातन-प्रवाह—

हमारी आस्था है कि, यह **'सनातन-हिन्दूमानव'** वर्त्तमान सत्तातन्त्र की इत्थभूता निरपेक्षता से अपनी मानवता को ही उद्बुद्ध करेगा । कदापि यह अपनी उस मानवता को इस दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक

विजम्भृण से विकम्पित न होने देगा, जिस मानवताने हीं इसे 'अमृतपुत्र' की उपाधि से आजतक समन्वित रक्खा है। कदापि इसे तात्कालिक उन प्रतिक्रियाभावों का संस्मरण भी नहीं हीं करना होगा, जो उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया 'मानवता' के लिए अभिशाप ही मानी गई है। अपितु अपने इस मानसिक-शारीरिक उत्पीड़न को भगवान् का वरदान ही मानते हुए अपनी उस भावुकता का परित्याग ही कर देना चाहिए इसे, जिस भावुकताने हीं इसे विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित कर रक्खा है। तदर्थ इसे अपने उत्तेजन को अपने निष्ठाबल के जागरण में हीं समर्पित कर देना है, एवं तदर्थ दिग्देशकालानुबन्धों का संरक्षण करते हुए दिग्देशकालातीता उस 'मूलसंस्कृति' के ही अनुशीलन में इसे अविलम्ब ही प्रवृत्त हो ही जाना है, जिसके स्वरूपबोधाभाव से ही यह आज इतर जातियों की भाँति सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो तात्कालिक युग-प्रभावों से अभिभूत हो ही पड़ा है। यही अभिभूति इसे आज उत्पीड़ित किए हुए है। अपने इस उत्पीड़न को उत्पीड़ित वर्त्तमान काल के प्रति ही सधन्यवाद समर्पित करते हुए इसे उस अनन्तकाल, अनन्त दिक्, अनन्त देशरूप महाकाल को ही अपना लक्ष्य बना लेना है, जिसके नियन्त्रण से नियन्त्रित कालिक उत्पीड़न कदापि नैष्ठिक मानव को उत्पीड़ित नहीं करसकता। 'दिग्देशकालमीमांसा' के माध्यम से-**'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'** नामक उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के प्रस्तुत चतुर्थखण्ड के द्वारा भारतीय आस्तिक सनातन हिन्दूमानव की महती मानवता का ध्यान हम अत्यन्त प्रणतभाव से इसी तथाकथित **'यत्किञ्चित्-संशोधन'** की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जिस संशोधनका रहस्यात्मक समन्वय मानवता-नुबन्धी महान् मानवधर्म्म के सर्वश्रेष्ठ विधाता भगवान् मनु के-**"कालं कालेन पीड़यन्"** इस महान् उद्-बोधनसूत्र के गर्भ में हीं पिनद्ध-सुरक्षित है। इस सूत्र के समन्वय की भावुकतापूर्ण धृष्टता करने के लिए ही हमें **'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** जैसे गहन-गम्भीर तात्त्विक विषय में प्रवृत्त होना पड़ा है उसी महान्-काल की प्रेरणा से।

६१३-'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन्' का संस्मरण—

'कालं कालेन पीड़यन्' यह यत्किञ्चित्-संशोधन सापेक्ष बन रहा है। **'काल से काल को पीड़ित करता हुआ'** वाक्य अपनी अपेक्षा से **'कौन पीड़ित कर रहा है काल से काल को' ?'** इस सप्रश्न का ही प्रेरक बन रहा है, जिस इस सम्प्रश्नात्मक अपेक्षाभाव के समन्वय के लिए हमें एकबार पुनः राजर्षि मनु की उस सूक्ति का सर्वात्मना संस्मरण कर लेना चाहिए निम्न लिखितरूप से, जिससे स्वतः ही वाक्य की सापेक्षता उपशान्त हो जाती है—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ॥
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन् ॥

—मनुः १।५१।

६१४-'आत्मन्यन्तर्दधे' वाक्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

श्लोक का अक्षरार्थ यही है कि-'अचिन्त्य पराक्रमशाली वह प्रजापति इस सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर, तथा मुझे (मनु को) उत्पन्न कर काल से काल को पीड़ित करता हुआ स्वयं अपने आप

में हीं अन्तर्लीन होगया"। "उसने सम्पूर्ण शिव को उत्पन्न किया, मनु को आविर्भूत किया, उसी ने काल से काल को पीड़ित किया, और यह सब विधि-विधान व्यवस्थित कर वह स्वयं परोक्ष बन गया", क्या तात्पर्य्य निकला ?। इस रहस्यपूर्ण सूक्ति के समन्वय के लिए ही तो 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' का आश्रय लिया गया **है**। कालात्मक इस विश्व का सर्ज्जक जो कोई भी कालातीत अनन्त तत्त्व है, वही अचिन्त्यपराक्रम-शाली वह अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अप्रज्ञात-अलक्षण-सर्वविलक्षण-तत्त्व है, जिसका हम अपनी सापेक्षा भाषा में **'प्रजापति'** नाम रख लेते हैं, जबकि **'प्रजासापेक्ष प्रजापति'** नाम से भी कदापि उसका संग्रह सम्भव **नहीं है**। अतएव अन्ततोगत्वा उसका नाम **'सः' ('वह')** ही रख लिया जाता है, जो **'सः'** शब्द अमुक सीमापर्य्यन्त सापेक्ष बनता हुआ भी अमुक सीमापर्य्यन्त निरपेक्ष भी बन रहा है। विश्वातीत-निर्विशेषानन्त-रूप सर्वनिरपेक्ष तत्त्व ही 'वह' (सः) है, जिससे **मनु,** और **विश्व,** ये दो भाव अभिव्यक्त हुए। अणीयांसमणो-रूप हृद्य तत्त्व का ही नाम 'मनु' है, जिसका नाम **है मूलप्रकृति,** इसीका नाम है **परमकालात्मक परमदेव,** एवं यही है पराकृतिरूप **'अक्षरकाल'**। इस अक्षरकालात्मक मनु की व्यक्तावस्था का नाम ही है **क्षरकाल,** यही **है व्यक्तकाल,** एवं इसी का नाम **है विश्व**। इसप्रकार उस विश्वातीत-कालातीत **अनन्तब्रह्मपुरुष से मनुरूप अक्षरकाल, विश्वरूप क्षरकाल,** ये दो विवर्त्त ही आविर्भूत हुए। इन दोनों को उत्पन्न कर इन दोनों के लिए उसने क्या तो व्यवस्था की ?, एवं स्वयं अपने लिए उसने क्या निश्चय किया इनको उत्पन्न करने के अनन्तर ?-**'आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीड़यन्'** यह उत्तर-वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। **"मनुरूप अक्षरकालात्मक अनन्त--अव्यक्त--अमूर्त्त काल अपनी अनन्तमहिमामण्डलात्मिका महिमा के एक देश में महिमा के एकांशरूप से अभिव्यक्त होने वाले मन्वन्तररूप क्षरकालात्मक सादिसान्त व्यक्त-मूर्त्त-विश्वकाल को पीड़ित करता रहे"** यह व्यवस्था, यह विधि-विधान तो उस अनन्तब्रह्म की ओर से **मनु,** और **विश्व** (**मनु,** और **मन्वन्तर, अनन्तकाल,** एवं **विश्वकाल**) इन दोनों प्राकृत विवर्त्तों के लिए व्यवस्थित हुआ, एवं स्वयं अपने आप के लिए उसी की ओर से यह विधान व्यवस्थित हुआ कि-**'आत्मन्यन्तर्दधे'**। अर्थात् **'वह स्वयं अपनी महिमा में हीं विलीन रहे'**।

६१५-मानवीय-वचन के 'सः'-'माम्'-'इदं सर्वम्'-पदों का तत्त्वार्थ-समन्वय—

उक्त मनुवचन में **'सः', 'माम्', 'इदं सर्वम्'** इन तीन विवर्त्तों की ओर सङ्केत हुआ। है 'सः' को राजर्षि ने **'अचिन्त्य'(अचिन्त्यपराक्रमः)** बतलाया है। **'इदं सर्वम्'** को सृष्टिरूप **'अव्यक्ततत्त्व'** **(सृष्ट्वेदं सर्वम्)** बतलाया है, **'माम्'** का अर्थ तो स्वतः ही **'मनु'** है ही, जिसे अन्यन्त्र स्वयं राजर्षिने **अणी-यांसमणोरपि अव्यक्त** कहा है। यों व्यक्त-अव्यक्त से **अतीततत्त्व,**[1] **अव्यक्ततत्त्व,**[2] **व्यक्ततत्त्व,**[3] ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं सहजरूप से ही सः[1]-मां[2]--इदंसर्वम्[3]-इन तीन शब्दों से। स्पष्ट ही **'कालं-कालेन'** का क्रमशः 'व्यक्त[1]-अव्यक्त[2]' से सम्बन्ध प्रमाणित होजाता है। **क्योंकि 'महान्' हीं 'अल्प' का उत्पीड़क बना करता है। अव्यक्त मनु 'महान्' है, व्यक्त विश्व (इदं सर्वम्) स्वल्पतम है-अव्यक्तमनुरूप मां के समतु-लन में।** अतएव उत्पीड़ककाल **अव्यक्तमनुकाल** ही हो सकता है, एवं उत्पीड़ितकाल **व्यक्तविश्वकाल** ही होसकता है। फलतः **'कालेन'** का अर्थ **'मनुरूपेणाव्यक्तकालेन'** होता है, एवं-**'कालं'** का अर्थ **'विश्वरूपं-व्यक्तकालम्'** होता है। इस प्रक्रिया का सर्ज्जक, इस अपेक्षा का पूरक वही अचिन्त्यपराक्रम-व्यक्ताव्यक्तातीत-

कालातीत सनातनतत्त्व है । और यों मनुसूक्ति के इन तीनों शब्दों से क्रमशः **अव्ययपुरुष, तत्पराप्रकृतिरूप अक्षरकाल (मनु), तदपराप्रकृतिरूप क्षरकाल (मन्वन्तररूप विश्व)**, ये तीन निष्कर्ष निकल आते हैं । **कालातीत**[1], **अव्यक्तकाल**[2], व्यक्तकाल[3], किंवा **अव्यय**[1], **अक्षर**[2], **क्षर**[3]', किंवा **श्वोवसीयसमन**[1], **मनु**[2], **मन्वन्तर**[3], किवा * **पुरुष**[1]-**प्रकृति**[2]-**विकृति**[3], किंवा **अनन्त**[1], **अव्यक्त**[2], **व्यक्त**[3], किंवा **सः**[1]-**मां**[2]-**इदं**[3] **सृष्टम**, किंवा-**अचिन्त्यः**[1]--**कालेन**[2]--**कालम्**[3] , इन सब त्रित्त्वों का एक ही अर्थ है ।

६१६-'कालं कालेन पीड़यन्' का रहस्यात्मक समन्वय—

अब प्रश्न शेष रह जाता है-'पीड़यन्' का । उस अचिन्त्यने मनुर्लक्षण '**कालेन**' रूप काल के लिए, तथा मन्तवन्तरलक्षण 'कालं' रूप काल के लिए यह व्यवस्था की कि '**काल काल को पीडित करता रहे**' । इस पीड़न का क्या अर्थ ? । इसी 'अर्थ 'का नाम है वह '**यत्किञ्चित्-संशोधन**', जिसका पूर्व में अनेक प्रकार से यशोगान किया जाचुका है । पीड़न का एक ही अर्थ है-'**छन्दोमयी मर्य्यादा**' । "**महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित 'अल्प' अपने आपको 'महान्' के गर्भ में हीं अनुभूत करता हुआ सर्वात्मना अपने आपको महान् में हीं समर्पित रक्खे**", यही पीड़न का अर्थ है । इस से होता क्या है ? । होता यही है कि, इस मर्य्यादात्मक समर्पण से अल्प का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है, अल्पताप्रयुक्त अल्प लक्ष्य भी सम्पन्न हो जाते हैं, एवं अल्पताप्रयुक्त सीमात्मक-बन्धनात्मक-मर्त्यभाव भी इस अल्पता में नहीं रहने पाते-महान् के प्रति समर्पण से । यों दिग्देशकालात्मक अल्पभाव उस अनन्त-कालमहिमा से सीमाबद्ध रहते हुए, उसकी अनन्तमहिमा को साक्षी बनाते हुए स्वानुगत तात्कालिक उद्देश्य भी पूरे कर लेते हैं, एवं तत्साक्षी के अनुबन्ध से इनकी अल्पता से भी ये अल्पभावबच जाते हैं ।और ऐसा ही कुछ कालपर्वात्मक सम्पूर्ण सृष्टिधाराओं का सहज क्रम है, जिस क्रम का ही नाम है-'**महिमाविवर्त्त**' । कालसाक्षी कालातीत अनन्ताव्ययब्रह्म, कालसाक्षी (विश्वसाक्षी) अव्यक्ताक्षररूप अनन्तकाल, इन दोनों साक्षियों के साक्षित्व में सीमारूपेण-मर्य्यादारूपेण-व्यवस्थित स्व-स्व-व्यक्तकालभावों में मर्य्यादित बने रहने वाले मूर्त्तकालभाव, व्यक्तकालभाव स्व-स्व-मूर्त्त-व्यक्त-दिग्देशकालानुबन्धी-कालिक-दैशिक-स्वरूपों को भी व्यवस्थित बनाए रखने में समर्थ होजाते हैं, एवं उस **अनन्तकालमहिमा**, तथा **अनन्तानन्ता ब्रह्ममहिमा** के महिमात्मक अनुग्रह से इनका तदनुबन्धी अनन्तमहिमाभाव भी सुरक्षित बना रह जाता है, एवं यही '**उत्पीड़क**' का एकमात्र अर्थ है ।

६१७-कालपुरुष के प्रकृति-निबन्धन विविध महिमा-विवर्त्तों का तात्त्विक-संस्मरण—

कालातीत अनन्तब्रह्म की साक्षी के अनुग्रह से अनन्तमहिमारूप में परिणत रहने वाले अनन्त-अव्यक्त-अक्षरकाल से (**परमाकाशात्मक स्वयम्भूकाल से**) परमेष्ठीकाल पीड़ित है । स्वयम्भूकाल की अनन्तमहिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव '**महदक्षरकाल**' नाम से प्रसिद्ध हो जाने वाले **परमेष्ठीकाल**

---

*-**यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।**
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥
मनु १।११।

से सौरसम्वत्सरकाल पीड़ित है, मर्य्यादित है। परमेष्ठीकाल की महिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव विश्व हृदयकालात्मक **'मन्वन्तरकाल'** नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले **सौरसम्वत्सरकाल** से पार्थिवसम्वत्सरकाल पीड़ित है, मर्य्यादित है। अनन्त सौरकाल की महिमा से अनन्त बने रहने वाले, अतएव **'विराट्काल'** नाम से प्रसिद्ध होजाने वाले **पार्थिवसम्वत्सरकाल** से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' पीड़ित है। अनन्त पार्थिवकाल की महिमा से महान् बने रहने वाले, अतएत **'महान्काल'** * नाम से प्रसिद्ध **'चान्द्रसम्वत्सरकाल'** से अयन–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्र–निमेषादि सब कालपर्व अणिमा-महिमारूपेण–पूर्व-पूर्व से उत्तर–उत्तर उत्पीड़ित हैं। एवं इन चान्द्रकालोत्पीड़नों का ही अन्तिम परिणाम है–भूत–भौतिक पदार्थ, जो इस पारम्परिक पीड़न के रहस्य–समन्वय के माध्यम से जहाँ मानव के लिए अनन्त के महिमारूप बनते हुए अनुत्पीड़क हैं, वहाँ इनके इसी मर्त्य–सीमारूप से इन्हीं में आसक्त–व्यासक्त होजाने से ही भूत–भौतिक काल अपने इस मर्त्य परिणामभाव से मानव के लिए सर्वथा उत्पीड़क, क्लेशावह ही बन जाया करते हैं। **अतएव मानव को अपने प्रक्रान्त भौतिक जीवन में इन सब भूतों को, व्यक्तकालों को उस अनन्तकाल से पीड़ित करते हुए ही कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहना चाहिए कालातीत–अनन्तब्रह्म के अनुशीलन में सतत जागरूक रहते हुए ही।**

६१८--'अनन्त' से सतत उत्पीड़ित 'अन्त' की 'अन्ततोगत्त्वा' अनन्तता में परिणति, एवं तत्सम्बन्ध में आचारात्मक पक्ष का स्वरूप-दिग्दर्शन —

'**अन्त**' जब '**अनन्त**' से उत्पड़ित होता रहता है, तो उस दशा में **अन्ततोगत्त्वा अन्त को 'अनन्त' ही बन जाना पड़ता है**। सतत, निरन्तर **अव्यक्त-अमृत-अक्षर-अमूर्त्त**–से प्रभावित **व्यक्त–मर्त्य–क्षर–मूर्त्त**–को अवश्य ही एक दिन **अव्यक्ताक्षरामूर्त्तानन्तामृतरूप** में परिणत हो ही जाना पड़ता है। **विद्या** से सतत उत्पीड़िता **अविद्या** को अवश्य ही कालान्तर में **विद्यारूप** में परिणत हो ही जाना पड़ता है। **सम्भूति** से निरन्तर उत्पीड़ित **विनाश** को एक दिन विवश बन कर **सम्भूतिरूप** में परिणत हो ही जाना पड़ता है। अन्त से कदादि **अनन्त** का उत्पीड़न सम्भव नहीं है, क्योंकि सीमित **अन्त** की दृष्टि से **अनन्त** असीम है। **इस में यह है, किन्तु यह उसे कदापि स्वसीमा से सीमित नहीं कर सकता,** अतएव कदापि उसे उत्पीड़ित नहीं कर सकता, **अतएव च कदापि अन्त से अनन्त ही प्राप्ति नहीं हो सकती। अपितु अनन्त से ही अन्त की अनन्तरूप में परिणति हो जाया करती है** कालपरिपाकदशा में। इस 'कालपरिपाक का एकमात्र अर्थ है-**अनन्त से निरन्तर अन्त को उत्पीड़ित पीड़ित करते रहना**'। **इस 'पीड़ित करते रहना' का अर्थ है-अनन्त की साक्षी में अन्त को मर्य्यादित बनाए रखना। अर्थात् अन्त को अन्त न मान कर, कार्य्यकारणात्मक न मानकर, दिग्देशकालात्मक-न मान कर उस अनन्त का महिमामय विवर्त्त मानते हुए इसे मर्य्यादित-बनाए रहना। अर्थात् मर्य्यादापूर्वक–दिग्देशकालक्रमव्यवस्थापूर्वक–यथाकाल–यथादिक् यथादेश–तद्रूप से ही कर्त्तव्यनिष्ठ बने रहते हुए उस अनन्तकाल के माध्यम से अनन्तानन्त ब्रह्म के अनुशीलच में प्रवृत्त रहना। अर्थात यही कि–सम्पूर्ण बुद्धिव्यामोहनात्मक**

***–चन्द्रमा वै महान्–देवः**(श्रुतिः)

आरम्भ से अबतक के दिग्देशकाल-स्वरूप मीमांसात्मक व्यामोहनों से एकान्तः असंपृष्ट बने रहते हुए स्व स्व-प्रकृतिसिद्ध-शास्त्रसिद्ध-कर्त्तव्यकर्म्मों में जागरूकता-पूर्वक यावज्जीवन प्रवृत्त रहना।

६१६-प्रकृतिसिद्ध-उत्तरदायित्त्वपूर्ण-स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्म के द्वारा सतत कालोत्पीड़न से ही उत्पीड़क काल की पीड़ाप्रवृत्ति का उपशम—

अर्थात् कभी एक क्षण के लिए भी इस वर्त्तमान-भौतिक काल को विश्राम नहीं लेने देना। अपितु सदा ही काल को कर्त्तव्य से पीड़ित ही करते रहना। यह सुनिश्चित है कि, ईश्वरार्पणभावबुद्धया अपने भौतिक जीवनात्मक व्यक्तकाल को कर्त्तव्यरूप अनन्तकाल से जो मानव सतत पीड़ित करता रहता है, उसका कभी अन्त नहीं होता। वह मानव अपने कालातीत स्वरूप से अजर-अमर है-सनातन है —यहाँ भी, और वहाँ भी, जिस इस लोकातीत तथ्य का 'लोकबुद्धि' से कदापि समन्वय नहीं किया जासकता। बौद्धिक तर्क, विचार-मीमांसा, शास्त्रार्थ, विचारपरामर्श प्रश्नोत्तरविमर्श, कार्य्यकारणविमर्श, आदि आदि किसी भी बौद्धिक विजृम्भण से यह तथ्य समन्वित नहीं होसककता। इस तथ्य के समन्वय का तो एकमात्र राजमार्ग है-'कालं कालेन पीड़यन्'। अर्थात्-ईश्वरसाक्षी में-अनन्तकर्त्तव्य से सादिसान्त भौतिक जीवन को सतत-उत्पीड़ित करते रहना"। अकर्म्मण्यता ही बौद्धिक-दार्शनिक-विचारों की उद्गमभूमि बन जाया करती है, जिस दार्शनिकता में कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा का संस्पर्श भी नहीं है। तत्त्वमीमांसा के परपारदर्शी उस महान् दार्शनिक की अपेक्षा तो उस सद्गृहस्थ को ही 'महान्' माना जायगा, जो उत्तरदायित्त्व-पूर्ण सहज कर्त्तव्यनिष्ठा से इष्टदेवसंस्मरणपूर्वक अपने लोकजीवन का निर्वाह करता हुआ दार्शनिक की भाँति समाज के लिए आर्थिक-उत्पीडन का कारण तो नहीं बनता।

६२०-कर्त्तव्य-कर्म्म की स्वरूपपरिभाषा—

आचारात्मक कर्त्तव्य का नाम हीं धर्म्म है, जो उस अनन्त-शाश्वतब्रह्म का प्रतिरूप बनता हुआ 'शाश्वतधर्म्म' बन रहा है, अतएव जो-'सनातनधर्म्म'-'आर्षधर्म्म' आदि नामों में प्रसिद्ध है। धर्म्मात्मक कर्त्तव्य ही महाकाल है। इस काल से जो अपने भौतिक काल को उत्पीड़ित करने के कौशल से परिचित हो जाता है, निश्चयेन धर्म्म उसका रक्षक बन जाता है,-यतोधर्म्मस्ततो जयः। हम अनुमान करते हैं कि-'कालं कालेन पीड़यन्' से अनुप्राणित 'यत्किञ्चित्-संशोधन' का पर्य्याप्त स्पष्टीकरण होचुका। यदि अब भी सन्तोष न हुआ हो, तो हमें कुछ एक वैसे सूत्रों का निरन्तर अनुशीलन करते रहना चाहिए, जिनके माध्यम से अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के अनुग्रह से अवश्य ही दिग्देशकालानुबन्धी उस 'यत्किञ्चित्-संशोधन' से हमारी लोकबुद्धि भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही समान्वित हो जायगी।

परिचायिका–'कालं कालेन पीड़यन्' मूला अनुशीलनात्मिका–
नवधेया–'शतसूत्री'—

– 'अचिन्त्य' की साक्षी में 'माम्' से 'इदं सृष्टं' को पीड़ित-नियन्त्रित-मर्य्यादित ही रखना चाहिए

२—'अव्यय'	,,	'अक्षर' से 'क्षर' को	,,
३—'पुरुष'	,,	'प्रकृति' से 'विकृति' को	,,
४—'अनन्त'	,,	'अनन्त' से 'अन्त' को	,,
५—'कालातीत'	,,	'अमूर्त्तकाल से 'मूर्त्तकाल' को	,,
६—'सनातन'	,,	'अव्यक्त' से 'व्यक्त' को	,,
७—'परात्पर'	,,	'पुरुष' से 'प्रकृति' को	,,
८—'प्रकृति'	,,	'विकृति' से 'विकार' को	,,
९—'विकृति'	,,	'विकार' से 'भूतों' को	,,
१०—'सुसूक्ष्म'	,,	सूक्ष्म' से 'स्थूल' को	,,
११—'सत्ता'	,,	'मन' से 'प्राण' को	,,
१२—'मन'	,,	'प्राण' से 'वाक्' को	,,
१३—'वाक्'	,,	'नाम' से 'रूप' को	,,
१४—'काम'	,,	'तप' से 'श्रम' को	,,
१५—'अव्यक्त'	,,	'महान्' से 'बुद्धि' को	,,
१६—'महान्'	,,	'बुद्धि' से 'मन' को	,,
१७—'बुद्धि'	,,	'मन' से 'इन्द्रियवर्ग' को	,,
१८—'मन'	,,	'इन्द्रियप्राणों' से 'विषयों' को	,,
१९—'इन्द्रिय'	,,	'विषयों' से 'भौतिक जीवन' को	,,
२०—'अनुपाख्यतम'	,,	'अनिरुक्ततम' से 'निरुक्ततम' को	,,
२१—'विश्वातीत'	,,	'विश्वचर' से 'विश्व' को	,,
२२—'कालातीत'	,,	'काल' से 'दिक्' को	,,
२३—'काल'	,,	'दिक्' से 'देश' को	,,
२४—'दिक्'	,,	'देश' से 'प्रदेश' को	,,
२५—'शाश्वतधर्म्म'	,,	'प्राकृतधर्म्म' से 'अभिनिवेश' को	,,

२६—'सनातनज्ञान'	की साक्षी में 'प्राकृतज्ञान' से 'अज्ञान' को पीड़ित ही रखना चाहिए	
२७—'सनातनवैराग्य'	,, 'प्राकृतवैराग्य' से 'आसक्ति' को	,,
२८—'सनातन ऐश्वर्य्य'	,, 'प्राकृत ऐश्वर्य्य' से 'अस्मिता' को	,,
२९—'विभूति'	,, 'सम्भूति' से 'विनाश' को	,,
३०—'वित्ति'	,, 'विद्या' से 'अविद्या' को	,,
३१—'त्रिकालातीत'	,, 'भूतभविष्यत्' से 'वर्त्तमान' को	,,
३२—'सौरसम्वत्सरकाल'	,, 'पार्थिवसम्वत्सर' से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' को	,,
३३—'पार्थिवसम्वत्सरकाल'	,, 'चान्द्रसम्वत्सकाल' से 'अयनकाल' को	,,
३४—'चान्द्रसम्वत्सरकाल'	,, 'अयनकाल' से 'ऋतुकाल' को	,,
३५—'कालातीत'	,, 'अनन्तकाल' से 'अन्तकाल' को	,,
३६—'अनन्तकाल'	,, 'स्वायम्भुवकाल' से 'पारमेष्ठ्यकाल' को	,,
३७—'स्वायम्भुवकाल'	,, 'पारमेष्ठ्यकाल' से 'मन्वन्तरकाल' को*	,,
३८—'पारमेष्ठ्यकाल'	,, 'मन्वन्तरकाल' से 'सौरसम्वत्सरकाल' को	,,
३९—'मन्वन्तरकाल'	,, 'सौरसम्वत्सरकाल' से 'पार्थिवसम्वत्सरकाल' को	,,
४०—'सोरसम्वत्सरकाल'	,, 'पार्थिवसम्वत्सरकाल' से 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' को	,,
४१—'पार्थिवसम्वत्सरकाल'	,, 'चान्द्रसम्वत्सरकाल' से 'अयनकाल' को	,,
४२—'चान्द्रसम्वत्सरकाल'	,, 'अयनकाल' से 'ऋतुकाल' को	,,
४३—'अयनकाल'	,, 'ऋतुकाल' से 'मासकाल' को	,,
४४—'ऋतुकाल'	,, 'मासकाल' से 'पक्षकाल' को	,,
४५—'मासकाल'	,, 'पक्षकाल' से 'अहोरात्रकाल' को	,,
४६—'पक्षकाल'	,, 'अहोरात्रकाल' से 'निमेषकाल' को	,,
४७—'अहोरात्रकाल'	,, निमेषकाल' से 'प्राणकाल' को	,,
४८—'निमेषकाल'	,, 'प्राणकाल' से 'जीवकाल' को	,,

---

* मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥
—मनु १।८०।

अर्थात्–लोकपक्षे—

४९—पुरुषार्थ से भाग्य को उत्पीड़ित–नियन्त्रित करते ही रहना चाहिए

५०—कर्म्मठता से अकर्म्मण्यता को ,,

५१—जागरण से निद्रा को ,,

५२—अमृत से मृत्यु को ,,

५३—सत् से असत् को ,,

५४—सदाचार से दुराचार को ,,

५५—शील से अविवेक को ,,

५६—अदः से इदं को ,,

५७—ब्रह्मौदन से प्रवर्ग्य को ,,

५८—काल से यज्ञ को ,,

५९—यज्ञ से प्रजा को ,,

६०—नीति से ब्राह्मण को ,,

६१—अनुशासन से क्षत्रिय को ,,

६२—गणता से वैश्य को ,,

६३—संघ से शूद्र को ,,

६४—संवित् से ब्रह्म को ,,

६५—अनुशासन से क्षत्र को ,,

६६—उपदेश से विट् को ,,

६७—आदेश से पौष्ण को ,,

६८—समता से विषमता को ,,

६९—समदर्शन से विषमवर्त्तन को ,,

७०—स्थिति से गति को ,,

७१—मर्य्यादा से स्वतन्त्रता को ,,

७२—मानवता से दानवता को ,,

७३—एकता से अनेकता को ,,

७४—ज्ञान से विज्ञान को ,,

७५—आर्जव से कुटिलता को ,,

७६—लज्जा से निर्लज्जता को उत्पीड़ित नियन्त्रित करते ही रहना चाहिए
७७—अनग्नता से नग्नता को ,,
७८—सत्ता से भाति को ,,
७९—परोक्ष से प्रत्यक्ष को ,,
८०—शील से अविवेक को ,,
८१—संवित् से अनुभूति को ,,
८२—बोध से बुद्धि को ,,
८३—समझ से ज्ञान को ,,
८४—तथ्य से कल्पना को ,,
८५—महिमा से परिणामवाद को ,,
८६—तितिक्षा से कष्टों को ,,
८७—मोक्ष से काम को ,,
८८—धर्म्म मे अर्थ को ,,
८९—विवेक से मूढ़ता को ,,
९०—वृषा से योषा को ,,
९१—प्राण से रयि को ,,
९२—अग्नि से सोम को ,,
९३—स्वाध्याय से पशुता को ,,
९४—आदर्श से यथार्थ को ,,
९५—संस्कृति से सभ्यता को ,,
९६—सभ्यता से सभा को ,,
९७—सभा से समाज को ,,
९८—समाज से लोकजीवन को ,,
९९—पर्वों से उत्सवों को ,,
१००—उत्सवों से सम्मेलनों को ,,

और अवधानपूर्वक मर्य्यादित रखना विस्मृत न कीजिए !

(क)—सम्मेलनों से समारोहों को ,,
(ख)—प्रतिरूपों से प्रतीकों को ,,
(ग)—निष्ठा से भावुकता को ,,

और सर्वान्त में पारिशेष्यात्--

(अ)–शास्त्र से सदा शिल्प को उत्पीड़ित रखिए !

(आ)–कौशल से सदा कला को उत्पीड़ित रखिए !

(इ)–वाणिज्य से सदा अर्थ को उत्पीड़ित रखिए !

(ई)–राष्ट्रीयता से सदा अन्तर्राष्ट्रीयव्यामोहन को उत्पीड़ित रखिए !

तदर्थ–(ऊ)–आत्माभिव्यक्तित्व से सदा शरीराभिव्यक्तित्व-विमोहन को उत्पीड़ित रखिए !

तदर्थ–(ऋ)–कर्त्तव्यनिष्ठा से सदा सर्वदा तत्फलात्मिका भावुकता को सतत उत्पीड़ित करते रहना कदापि विस्मृत न कीजिए, और--

६२२--अनुशीलनात्मिका 'शतसूत्री' से अनुप्राणित--दिग्देशकालस्वरूपमीमांसानुगत--'यत्किञ्चित्' संशोधन की समन्वयनिष्ठा से समन्वित मानव की कृतकृत्यता, एवं दिग्देशकालानुगत--माङ्गलिक--संस्मरणपूर्वक प्रतिज्ञात--निबन्धोपराम---

उक्त 'शतसूत्री' के समन्वय–तथ्य के अनन्तर स्वयं हीं अपनी सहजप्रज्ञा, नैष्ठिकी प्रज्ञा से 'दिग्देश-कालस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से-'कालं कालेन पीड़यन्' से अनुप्राणित-'यत्किञ्चित्-संशोधन' की समन्वयनिष्ठा से अपना मानवजीवन धन्य--कृतकृत्य प्रमाणित करलीजिए, जिस इस प्रमाणन के लक्ष्य से ही, भारतीय हिन्दूमानव के दिग्देशकालनिबन्धन-व्यामोहन के प्रति उद्बोधननिष्ठा से ही यह 'दिग्देशकालस्वरूप--मीमांसा, उपनिबद्ध हुई है कालप्रेरणा से ही। इसी दिग्देशकालोद्बोधन के माध्यम से समदर्शनानुगता विषमवर्त्तनशीला भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने भारतीय आस्तिक हिन्दूमानव के निमित्त से सम्पूर्ण विश्व के मानवों को आत्मसाम्यमूलक, प्रकृतिभेदात्मक वैसे उद्बोधनसूत्र प्रदान किए हैं, जो उद्बोधनसूत्र ही इस की आचारात्मिका ज्ञानविज्ञानसमन्विता 'मानवसंस्कृति' के चरमफल माने गए हैं। उन्हीं चरमफलों के माङ्गलिक संस्मरण के साथ प्रस्तुत 'दिग्देशकालमीमांसा' राष्ट्रमानवनिमित्तेन 'विश्वमानव' के सम्मुख--उपस्थित हो रही है कि—

१–संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

२–सङ्गच्छध्वं ! संवदध्वं ! सं वो मनांसि जानताम् !।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

३–समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

४–समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः–'सुसहासति' ॥

—ऋक्संहिता १०।१६१ अन्तिमसूक्त ।

उक्त मन्त्र–चतुष्टयी के–**'संसममिद्युवसे'**० इत्यादि प्रथम-मन्त्र के द्वारा ऋषि ने उन माङ्गलिक **'अग्निदेव'** का ही संस्मरण किया है, जिन के **स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौर देवाग्नि, पार्थिव–भूताग्नि,** इन तीन महिमामय विवर्त्तों से ही सप्तलोकात्मक-त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप महान् प्राकृत-विश्व का विराट् स्वरूप व्यवस्थित है, एवं जो कि अग्निदेव अपने न्योकसखा * सोम के सम्बन्ध से अग्नीषोमात्मक यज्ञ के प्रवर्त्तक बनते हुए इसी यज्ञ के द्वारा यच्चयावत् इष्टों, कामनाओं के पूरक ÷ हैं। इसी कामवर्षण के कारण जो अग्निदेव **'वृषन्'** (**कामवर्षक, इष्टकामधुक्**) अभिधा से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होने से ही जो अग्निदेव **'अर्य्य'** नाम से प्रसिद्ध हैं। **'इड़ा'** नाम से प्रसिद्धा महिमापृथिवीरूपा उत्तरावेदि में आन्तरिक्ष्य दाह्य सोम की आहुति से प्रचण्डरूप से प्रज्ज्वलित हो पड़ने वाले इन्हीं अग्निदेव के कारण सम्पूर्ण प्राकृतिक भूत अपनी संश्लिष्टलक्षणा, सम्मिश्रणलक्षणा **'यागात्मिका'** सृष्टि के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण भौतिक जगत् **'अग्नीषोमात्मक'** ही कहलाया है, जैसा कि–**'अग्नी-षामात्मकं जगत्'** इत्यादि बृहज्जाबालश्रुति से प्रमाणित है। ये ही अग्नि तत्प्रतीकभूत हमारे इस पावन भारतराष्ट्र के भाग्यविधाता हैं। **'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति'** इत्यादि श्रुति के अनुसार लोकाधिष्ठाता ये ही **'भारत अग्नि'** हमारे इस **'आर्य्यावर्त्त'** नामक पवित्रतम-धन्यतम-यशस्यतम-**'भारतवर्ष'** की **'भारत'** अभिधा के सर्वाधार प्रमाणित हो रहे हैं। ऋग्वेद के द्रष्टा महर्षियोंने–**'अग्निमीळे पुरोहितम्'** इत्यादि उपक्रमात्मक मन्त्र (१ मण्डल, १ सूक्त, १ मन्त्र) से आरम्भ कर **'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्'** इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्र (१० मण्डल, १६० सूक्त, ३ मन्त्र) पर्य्यन्त सम्पूर्ण ऋग्वेद में महामहिमशाली, सोमगर्भित सर्वमूर्त्ति इन अग्निदेव की ही ज्ञानविज्ञानात्मिका महिमा का यशोगान किया है। इत्थंभूत सृष्टिविज्ञान के मूलाधाररूप उसी अग्निदेव का सर्वान्त में महर्षि ने 'संसमिद्युवसे०' इत्यादि मन्त्र से महान् माङ्गलिक संस्मरण करते हुए तत्–साक्षी में इसी भारताग्नि के प्रतीकभूत भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवश्रेष्ठ के लिए **'आचारात्मक'** जो माङ्गलिक उद्बोधन प्रदान किया है, सूक्त के–**'सङ्गच्छध्वम्०'** इत्यादि शेष तीनों मन्त्रों से उसी **'राष्ट्रीय आचार'** का माङ्गलिक उद्घोष हुआ है, जिस का **राष्ट्रभाषा** में वर्त्तमान **राष्ट्रमानव** के लिए इत्थंरूपेणैव समन्वय समीचीन होगा कि—

***–अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।**
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्सं० ५।४४।१५।

÷–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

—गीता

(१)–हमारे राष्ट्र का–'**गन्तव्यपथ**' एक हो ! (सङ्गच्छध्वम् !)।

(२)–हमारे राष्ट्र की–'**भाषा**' एक हो ! (संवदध्वम् !)।

(३)–हमारे राष्ट्र के–'**विचार**' एक हों ! (सं वो मनांसि जानताम् !)।

(४)–हमारे राष्ट्र की–'**मननशैली**' एक हो ! (समानो मन्त्रः !)।

(५)–हमारे राष्ट्र की–'**विधानसमिति**' एक हो ! (समितिः समानी !)।

(६)–हमारे राष्ट्र के–'**मनोभाव**' एक हों ! (समानं मनः !)।

(७)–हमारे राष्ट्र की–'**प्रज्ञा**' एक हो ! (सह चित्तमेषाम् !)।

(८)–हमारे राष्ट्र की '**गुप्तमन्त्रणा**' एक हो ! (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः !)।

(९)–हमारे राष्ट्र के '**आभ्यन्तर संकल्प**' एक हों ! (समानी व आकूतिः !)।

(१०)-हमारे राष्ट्र का '**केन्द्रबिन्दु**' एक हो ! (समाना हृदयानि वः !)।

(११)-हमारे राष्ट्र का '**अन्तर्जगत्**' अभिन्न हो ! (समानमस्तु वो मनः !)।

श्वेतक्रान्तिमूला उक्ता 'एकादशासूत्री' की '**राष्ट्रीय-घोषणा**' के माध्यम से ही हम सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र **भारतराष्ट्र** की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए, सम्पूर्ण **राष्ट्रीय-मानवों** के लिए उन की मनःशरीरनिबन्धना **योग-क्षेमात्मिका 'हविः'** (अन्न-वस्त्र) की **समानरूप** से ही व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक-समदर्शनमूलक उस-'**साम्यवाद**' पथ के ही पथिक बने रहें, जिस आत्मसाम्य के महिमामय विशाल प्राङ्गण में विभिन्न प्रकृति-सिद्ध विभिन्न गुणकर्म्मात्मक–'**स्वधर्म्म**'-लक्षण विभिन्न भी प्राकृतिक कर्त्तव्य-कर्म्म निर्विरोध समन्वित हैं। समान–**हविःप्रदान** से सम्बन्ध रखने वाले इसी '**सहास्तित्त्व**'-रूप माङ्गलिक–विधान का सर्वान्त में प्रचण्ड उद्घोष करते हुए ही महर्षि ने कहा है—

'समानेन वो हविषा जुहोमि–यथा वः सुसुहासति'

सर्वान्ते च भारतराष्ट्र की इसी '**मङ्गल-कामना**' के साथ '**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**'–नुगत यह बालोपलालन तत्पाशमुक्ति-कामनयैव उपरत हो रहा है कि—

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेव च !
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नो ऽस्तु !
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथींश्च लभेमहि !
याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

अर्थात्–हमारे राष्ट्र में 'दाता' मानवों की अभिवृद्धि हो !
हमारे राष्ट्र में 'वेदतत्त्व', एवं तदनुगता 'सुसन्तति' अभिव्यक्त हो !
हमारे राष्ट्रीय-जनमानस से 'श्रद्धा' कभी पलायित न हो !
हमारे राष्ट्रीय कोश में दान के लिए 'प्रभूतसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !
हमारे राष्ट्र में प्रचुरमात्रा में 'अन्नसम्पत्ति' सुरक्षित रहे !
हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित 'अतिथि' प्राप्त करता रहे !
हमारे राष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र सदा 'मांगते' ही रहें !

किन्तु

हमारा भारतराष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याञ्चा-अभिलाषा न करे !

आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरंधिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः !
सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम् !
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !
योगक्षेमो नः कल्पताम् !

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां 'सर्वमानवाः ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः ! सर्वे सन्तु निरामयाः !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ! मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् !
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ओं शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

दिग्देशकालानुबन्धी-आचारात्मक
तृतीयप्रकरण उपरत

—३—

उपरता चेयं दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा—

(ककारविभागात्मिका)

चतुर्थखण्डानुगता--प्रथमस्तम्भात्मिका (१)

(पूर्वक्रमानुगतस्तु--एकादशस्तम्भः (११)

प्रीयतामनया परमकालदेवोऽनन्तः परमाकाशलक्षणः

ओं—शमित्येतत्

श्रीः

खण्डचतुष्टयात्मक

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता'

नामक

उद्बोधनात्मक सामयिक-निबन्धान्तर्गत

'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसात्मक'

'क' कारविभागात्मक–११ स्तम्भात्मक

चतुर्थखण्ड

उपरत

